श्रीरामचरितमानस

अयोध्याकाण्ड

(प्रथम खण्ड)

रामचन्द्र स्मृति (शास्त्रीय व्याख्या)

व्याख्याता

श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार

श्रीविश्वेश्वरः शरणम्

श्रीरामचरितमानस

अयोध्याकाण्ड

(प्रथम खण्ड)

(भावार्थ) अन्नपूर्णासहित रामचन्द्रस्मृतिः (शास्त्रीय व्याख्या)

●

व्याख्याता

पं० श्रीविश्वनाथ शास्त्री दातार

(शास्त्ररत्नाकर, विद्याभूषण, न्यायप्रभाकर, न्यायकेसरी, नीतिशास्त्रप्रवीण)

●

लेखक

श्री सीताराम मिश्र

हिन्दी विशारद

●

श्रद्धेय गुरुद्वय, पंडितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ एवं पंडित हरिराम शास्त्री शुक्ल, न्यायसार्वभौम द्वारा आशीर्वादप्राप्त, 'शान्ति का अग्रदूत' (भारतीय राजनीति का दिग्दर्शन) के प्रकाशनक्रम में चौथा पुष्प।

●

प्रकाशक

विश्वनाथ शास्त्री दातार-पुस्तक समिति

के० २०/८१ ब्रह्माघाट, वाराणसी

प्रकाशक :
विश्वनाथ शास्त्री दातार पुस्तक समिति
के० २२/८१ ब्रह्माघाट, वाराणसी

मूल्य : पचीस रुपये

प्राप्ति स्थान :
गीर्वाणवाग्वर्धिनी सभा, सांगवेद विद्यालय, रामघाट, काशी
श्रीविश्वनाथ शास्त्री दातार परिवार (उक्त-समिति-सदस्य)
के० २२/८१ ब्रह्माघाट, काशी
श्री सीताराम मिश्र रामघाट के० २४/२८ वाराणसी (उक्त समितिसदस्य)
श्री रामकिशोर मुंदड़ा चौखम्भा सी० ४/२३ वाराणसी (उक्त समितिसदस्य)
श्री केसरीनन्दन रस्तोगी राजादरवाजा काशी (उक्त समितिसदस्य)

मुद्रक :
शीला प्रिण्टर्स,
लहरतारा, वाराणसी

प्रथम संस्करण :
प्रतियाँ : ११००
भाद्र शुक्ल पक्ष ४,
संवत् २०८४

श्री गुरुःशरणम्

व्याख्याता का प्राक्कथन

प्रस्तुत व्याख्या में शास्त्रप्रामाण्य की प्रधानतया चर्चा करते हुए बाल्यकाल की घटना याद आती है। प्रायः २०वें वर्ष आयुष्य के पूर्व ही मुझे राजनीति विषय में लिखने की प्रवृत्ति हो रही थी। उसी आवेग में मैंने स्व० सदाशिव शास्त्री बापट महोदय से लेखनकार्य आरम्भ करने के लिए मुहूर्त्त पूछा था। उनके द्वारा निर्दिष्ट मुहूर्त्त में कागज कलम लेकर लेखन का उपक्रम श्री गणेश से किया। पर बुद्धि प्रतिभादि के अभाव में कलम आगे न बढ़ सकी। कदाचित् स्व० गुरुजी (श्री पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्रविड) ने मेरा पुत्रयोग देखने के लिए भृगुसंहिता निकाली तो उसमें भी ग्रन्थकर्ता का योग देखा गया। गुरुजी के निकट राजनीति का अध्ययन चल ही रहा था, दैवविलास से गुरुजी के साथ देशभ्रमण का अवसर मिला। उसमें राजनीति का व्याख्यान सुनने-सुनाने का सुयोग प्राप्त हुआ। गुरुजी के आदेश से उन व्याख्यानों का संकलन 'शान्ति का अग्रदूत' नाम के तीन भागों में लिपिबद्ध करने से ग्रन्थकर्तृत्व का अनुभव हुआ, पर वह अनुवादमात्र था।

कालगति से पितृवियोग पुत्रवियोग का दुःख आ पड़ा। भारतीय राजनीति के चिन्तन में पूज्य गुरुजी रामचरितमानस का अभ्यास करते थे जिससे मेरी भी श्रद्धा उस ग्रन्थ पर बढ़ गयी। पुराण कथा के श्रोता मेरे प्रिय शिष्य श्री रामकिशोर मुँदड़ा रामचरित्र के विषय में शंकाएँ उठाते मुझे उनका उत्तर न्याय प्रणाली के आधार पर सोचकर देना पड़ता तब उनको समाधान होता। उसी समय यह विचार आया कि गुरुजी की आत्मतुष्टि के लिए राजनीति के पुनरुद्धार हेतु से रामचरितमानस की नीतिपरक व्याख्या को क्यों न लिखा जाय ?

गृहस्थी की समस्या, कनिष्ठ पुत्रवियोग भ्रातृवियोग गुरुवियोग का वातावरण मनोवियोग में विक्षेप कर रहा था, उसी समय विचार आया कि मानस की शास्त्रीय टीका के बहाने से ही श्रीराम की शरण में जाकर क्यों न शान्तिलाभ किया जाय ? ऐसा सोचकर गुरुकृपा से प्राप्त शास्त्रबोध का उपयोग मानस की चौपाइयों-दोहों के अर्थविचार में करने का निश्चय किया, तदनुसार (शास्त्रीय व्याख्या) लेखन आरम्भ हुआ। स्फुट विचारों को पुस्तक का रूप देने के लिए क्रमानुसार लेखनबद्ध करने की समस्या थी। तभी दैव ने अवकाशप्राप्त श्री सीताराम जी मिश्र महोदय की संगति का सुयोग प्राप्त करा दिया। उनका संक्षिप्त परिचय संलग्न है। चार वर्ष से अधिक उनके सतत परिश्रम से अयोध्याकाण्ड की शास्त्रीय व्याख्या दो खण्डों में प्रकाशित हो सकी है।

पुस्तकप्रकाशन में दूसरी मुख्य समस्या अर्थव्यय की थी। श्री रामकिशोरजी टीकाप्रकाशन के लिए न केवल उत्साहित ही कर रहे थे, बल्कि प्रकाशन के प्रारम्भिक व्यय का भार भी वहन करने को तत्पर हो गये। 'शुभस्य शीघ्रं' प्रकाशन कार्य आरम्भ होते ही श्री गौरीनाथ शास्त्री (तत्कालीन उपकुलपति सं० सं० वि० वि०) के द्वारा शास्त्रचूड़ामणि योजना के अन्तर्गत जो वृत्ति की व्यवस्था हुई उसका बल लेकर प्रकाशन कार्य कथंचित् सफल हो सका।

चार वर्ष पूर्व इस व्याख्या के नामकरण का उत्सव स्व० सौ० मनोरमा गुणे के द्वारा प्रसिद्ध वणिक् श्री भागवतदास जी की रामघाट स्थित कोठी में सम्पन्न किया गया था। (स्व० सौ० मनोरमा गुणे के जीवन का संक्षिप्त परिचय संलग्न है)।

पाठकों की सुविधा के लिए यह भी कहना अपेक्षित है कि गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित रामचरितमानस के मूल पाठ के आधार पर व्याख्या में चौपाई, दोहा, छंद की संख्या का उल्लेख किया गया है।

इस प्रकाशन में जो भी अज्ञता प्रयुक्त पाठकों को कठिनाई का अनुभव होगा व त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होंगी उनका समाधान कृतज्ञता प्रकाशन नमन आदि द्वितीय खण्ड में द्रष्टव्य हैं।

लेखक का परिचय

पं० सीताराम मिश्र काशी के प्रतिष्ठित गौड़ ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए हैं। पिता का नाम स्व० पं० बटुकप्रसाद मिश्र, माता का नाम स्व० बच्चो देवी था। उनके पूर्वज काशी के प्रसिद्ध राय खानदान के कुल पुरोहित थे इस परम्परा का निर्वाह मात्र आज भी है। मातृवंश में उनके नाना पं० गौरीदत्त मिश्र काशिराज के दानाध्यक्ष थे।

श्री मिश्र जी ने इंटर तक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके कुछ समय तक बाबूराव विष्णु पराड़कर (तत्कालीन आज सम्पादक) के संरक्षण में सम्पादकीय विभागों में काम किया। फिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, कालेज आफ् टेकनालॉजी के प्रिंसिपल आफिस में दो वर्ष काम किया अन्त में रेलवे के लेखा विभाग में कार्यरत हो गये। सन् १९७८ में काशी के मडुआडीह स्थित डीजल लोको कारखाना से रिटायर होकर रामघाट में निवास करने लगे।

देवपूजन एवं कथा में आपकी स्वाभाविक रुचि थी। भाग्यवशात् साधु संतों का संग भी होता रहा। उपरोक्त डोजल लोको कालोनी में रहते रामचरितमानस के अखण्ड पाठ का नवाह्नायोजन नियमित रूप से होता रहा जिसका फल हुआ कि भोसला मन्दिरस्थ (व्याख्याता) की भागवतकथाश्रवण में रामायण की चर्चा सुनकर उसके तात्त्विक विवेचन में श्री मिश्र जी की रुचि जागृत हो गयी और स्वेच्छानुसार शास्त्रीय टीका लेखनकार्य में दत्तचित्त हो अवकाश का सदुपयोग करते हुए प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में सहायक हुए। इंटर तक दी शिक्षा में संस्कृत विषय के सामान्य ज्ञान से इन्होंने शास्त्रोय तर्क मोमांसा सिद्धान्त को मेरे साथ बैठकर समझने का जो प्रयास किया है उसको सामान्य भाषा में व्यक्त करके पाठक के समक्ष उपस्थापित किया है।

प्रभु से यही प्रार्थना है कि वे श्री रामचरितमानस की शेष शास्त्रीय व्याख्या के लेखन में आपको समर्थ रखें।

स्व० सौ० मनोरमा गुणे का परिचय

आपका जन्म महाराष्ट्र प्रान्त के रत्नागिरि स्थान में हुआ था। पति का नाम वैद्य मनोहर पंत गुणे था जो संगमनेरनिवासी थे। अपनी माता उमा बाई ताँबे के सुशिक्षण से आपकी रुचि बाल्यकाल से ही वर्णाश्रमधर्मप्रधान रही। आपने पातिव्रत्य से दोनों कुल की मर्यादा को उज्वलित किया। पुराण इतिहास, धर्मग्रन्थ के श्रवण-पठन में जीवन बिताते हुए तत्सम्बन्धी विषयों की कविता मराठी भाषा में लिखने में आप अभ्यस्त रहीं जिसका परिचय द्वितीय खंड में उद्‌भूत मराठी पद से प्रकाशित है। आपने बाबा साहिब पुरन्दरे द्वारा रचित शिवाजी-चरित्र को अपनो कविता में लिखा है।

वानप्रस्थ के संकल्प में घर-परिजन आदि से असंग होकर आप काशीवास के लिए मंगलागौरी स्थित अपने भाई अग्निहोत्री ताँबे जी के पास आकर रहीं, मनस् सन्यास की ओर रहा। श्री दातारजी की भागवत कथा की नित्य श्रोत्री रहीं। अन्त तक आपका जीवन धर्मपरतन्त्र रहा। अन्त में गंगाजल मात्र पीकर प्रायोपवेशन करते हुए आपने शरीर त्याग किया। [बापू साहेब ताँबे]

–विश्वनाथ शास्त्री दातार

आमुख

श्री गुरुचरन सरोजरज निज मनु मुकुट सुधारि।
बरनउ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि॥

पूज्य पाद गोस्वामी तुलसीदासजी ने बालकाण्ड के मंगलाचरण में 'नाना पुराण निगमागम' उपदिष्ट मतों का समन्वय-संग्रह 'क्वचिदन्यतोऽपि' के द्वारा अपनी गुरुपरम्पराप्राप्त मति के अनुसार विवेकपूर्ण युक्तियों से रामचरित को प्रबन्धकाव्य (रामचरितमानस) के रूप में प्रकाशित किया है। 'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवासन भाषा संभुप्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी' के अनुसार गोस्वामीजी ने 'संवत सोरह सौ इकतीसा। नौमी भौमवार मधुमासा अवधपुरी यह चरित प्रकासा' के अनुसार ग्रन्थारंभ का क्रम दिखाया है।

रामचरित्र के वर्णन में ग्रन्थकार की दृष्टि श्रीराम के प्रभुत्व एवं मानवता से विशिष्ट (कारणमानुषः)—इन दो तत्वों के प्रकाशन पर केन्द्रित है। श्रीराम को प्रभुता का स्थापन व सर्वप्रथम शिवचरित्र के स्पष्ट-लिंगक वर्णन से उपक्रमभूमिका में कहे 'मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी' द्वारा स्थापित सिद्धान्त का उपस्थापन करके वचनप्रमाणप्रमित हितकारित्व में 'भक्ति विवेक धर्म नीति' का योग दिखाया है। उसमें ज्ञातव्य यह है कि शास्त्रवचन के हितकारित्व में विश्वास रखकर शास्त्रविधि का पालन धर्म है, विद्याओं के बलाबल का विचार विवेक है, उसमें प्रत्यक्षानुमान का पुट देना नीति है। सबके रक्षकरूप में भक्ति प्रमुख है।

'रामः प्रभुः' की पहचान में शिवजी ने अपने अभिनयात्मक वचन से जो युक्ति सती के समक्ष प्रकट की उससे सती के मनस् का संशय नहीं मिटा जैसा बालकाण्ड के शिव चरित्र में कहा गया है—

सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥
संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुरनर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानन्द परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥
ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद॥
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥

श्रीराम के प्रभुत्व की पहचान में उसी युक्ति को लोकवेद्य बनाने के लिए कवि (शिवजी) तापस-प्रसंग में दो० ११० के अन्तर्गत 'जे तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने' से भरद्वाज आश्रम के समीप यमुना तीर वासियों के मध्य में स्फुट करेंगे जिसमें पार्वतीजी के प्रश्न ("रामु सो अवधनृपति सुत सोई की अज अगुन अलख गति कोई") तथा भरद्वाज मुनि के ("प्रश्न रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपा-निधि मोही") का समाधान होगा।

वनवास (चित्रकूट वास) तक का चरित्र रामचरित्र का पूर्वार्द्ध कहा जायगा जिसमें श्रीराम का प्रभुत्वप्रतिपादक चरित्रविशेष है। रामचरित्र का उत्तरार्ध लंकाविजय तक है जिसमें 'मैं कछु करबि ललित नर लीला' के अनुसार सत्यसंध पिताश्री के वचनप्रमाण के अनुगमन में भक्ति-विवेक-धर्म से युक्त मानवताविशेष है जिसकी पूर्णता 'जौ जनतेउँ बन बंधुविछोहू। पिताबचन मनतेउँ नहिं ओहू' (चौ० ६ दो० ६१ लं० का०) से स्फुट है। शिवजी के उपरोक्त सिद्धान्त को लोक में नीतिसम्मत बनाने के लिए सत्यसंध हितकारी पिताश्री के वचनप्रामाण्य को दो० १०३ में कहे गंगाजी के 'अपौरुषेय वचन' से पुष्ट कराकर श्रीराम के नरचरित्र की विशेषता को दर्शाया गया है। मानसकार का उद्देश्य यही है कि ईश्वरत्व का बोध कराते हुए चातुर्वर्ण्यसमाज को रामभक्ति में स्थिर कराना तथा रामचरित्र से मानव जीवन के प्रति व्यापक दृष्टि देना।

नीति को राजनीति कहने का अर्थ इतना ही है कि शासक होने के नाते राजा द्वारा भक्तिसम्वलित सम्पूर्ण धर्मों एवं विद्याओं का रक्षण नीति के अन्तर्गत है। इसी कारण राजा की प्रतिष्ठा सर्वमान्य है। नीतिच्युत होनेपर राजाओं की आदरपात्रता सन्त, महात्माओं, विद्वानों की दृष्टि में समाप्त हो जाती है। ऐसे राजाओं के पतन का इतिहास पुराणप्रसिद्ध है।

गोस्वामीजी की कलापूर्ण कृति में कुछ स्थल ऐसे हैं जिनका गूढ़ार्थ समझने में बुद्धि चकरा जाती है अतः ग्रन्थ का ही सहारा लेकर व्याख्या में उनका आशय यथामति प्रकाशित करने का स्वल्प प्रयास किया गया है। उदाहरणार्थ विमल बंस यह अनुचित एकू प्रेमु सप्रेम पछितानि आदि।

प्रस्तुत व्याख्या में निम्न विशिष्ट स्थलों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना है :—

१. त्रिकालज्ञ होते हुए मुनि वसिष्ठ ने रामराज्योत्सव के समर्थन में 'राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार। फल अनुगामी महिपमनि-मन-अभिलाषु तुम्हार' (दो० ३) कहकर राजाश्री को क्यों उत्साहित किया ? जब कि रामराज्याभिषेक में विघ्न होनेवाला था इस शंका के समाधान में 'सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु' तथा 'जौ बिधि कुसल निबाहै काजू' की व्याख्या द्रष्टव्य है।

२. मन्थरा द्वारा कहे 'भयउ पाखु दिन सजत समाजू' में 'पाखु दिन' की संगति शास्त्र के आधार पर दिखाने का प्रयास किया गया है।

३. 'देखहु काम प्रताप बड़ाई' से कामप्रताप की प्रसक्ति में राजा दशरथ की सामयिक चेष्टा को दिखाते हुए धर्मशील राजा में कामुकतादोष का परिहार भी किया गया है।

४. दो० २६ के अन्तर्गत राजाश्री की गर्वोक्ति का आभास होता है, पर उसका वास्तविक उद्देश्य राज्य में निरपराध-स्थिति को सूचित करना है—इसका स्पष्टीकरण व्याख्या में देखें।

५. कैकेयी की वरयाचना में 'पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी' में मनोरथ का औचित्य न्यायप्रणाली से किसप्रकार सम्मत है ? इसका विचार किया गया है।

६. श्रीराम की चौ० १-२ दो० ४६ में 'पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू' आदि उक्तियों की व्याख्या करते हुए तरुणताप्राप्त पुत्र के प्रमाद का मनोवैज्ञानिक विवेचल युवकों के शिक्षार्थ महत्त्व का विषय है।

७. दो० ४७ के अन्तर्गत कहे स्त्री जाति के दुर्गुणों से स्त्रीविरोधी भावनाओं को लेकर जो आक्षेप किया जाता है, उसका समुचित समाधान व्याख्या में किया गया है।

८. सीताराम-सम्वाद में पातिव्रत्य (प्रथम कल्प) एवं उसके अनुकल्प का निरूपण करते हुए पतिव्रता का स्वभाव बताया गया है। सीताजी के पातिव्रत्य-आचरण की प्रतिष्ठा गंगाजी के वचन से सिद्ध की गयी है। राजा के सन्देश में सीताजी के लिए कहे 'फिरइ त होइ प्रान अवलंबा' का तात्पर्य दिखाते हुए वनवास में सीताजी की 'नहिं मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरे' की स्थिति को स्पष्ट किया गया है।

९. सीताजी और लक्ष्मणजी को दिये श्रीराम के उपदेश का साथंक्य 'हेतूपन्यास' न्याय से सिद्ध किया गया है।

१०. सुमन्त्र द्वारा सुनाये राजा के द्वितीय आदेश की प्रसक्ति का अभाव न्याय की कसौटी पर कहाँ तक मान्य है, इसका विस्तृत विचार व्याख्या में किया गया है।

११. सुहाई रहहु भगत मनकै कुटिलाई, (चौ० ९-८ दो० १०)। ऊँच निवास नीच करतूती। चली बिचारि बिबुध मति पोची' के निराकरण में सरस्वती के 'आगिलु काजु बिचारि बहोरी। करिहहि चाहु कुसल कवि मोरी' चौ० ५ से ९ दो० १२ से व्यक्त तात्पर्य, 'पुनि कछु लखन कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी' (चौ० ४ दो० ९६) आदि आदि की उपपत्ति चिन्तित है।

१२. लक्ष्मणजी से उर्मिला की भेट न होने की उपपत्ति में पति का 'सेव्यत्वासमानकालीन सेवकत्व' व्रत चिन्तनीय विषय है।

१३. केवट की प्रार्थना 'फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा' को प्रभु के आकाश मार्ग से लौटने पर पूर्ण करने की अपेक्षा मीमांसा न्याय से निरत है, जो व्याख्यायें में स्पष्ट है।

१४. शास्त्र को भगवान् का चरण कहा गया है। शास्त्र ही भगवान् का आदेश है। जैसा दो० ३२५ में भरतजी के सम्बन्ध में 'नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति। माँगि-माँगि आयसु करत राजकाज बहु भाँति' से स्पष्ट है। मानव अवतार लेकर प्रभु भी शास्त्र के अधीन हो जाते हैं जैसे कैकेयीजी की धर्मसंबद्ध वरयाचना को शास्त्रसम्मत मानकर 'पितु आयसु बहुरि सम्मत जननी तोर' से प्रभु ने वनवास को सहर्ष स्वीकार किया तथा सत्यसंध पिताश्री के वचन-प्रामाण्य को गंगाजी की अपौरुषेय वाणी से सिद्ध करा दिया। (दो० १०३)। शुभ-अशुभ कर्म का निर्णायक शास्त्र है, पर फलभोग ईश्वर के अधीन है। शास्त्रविधि एवं फलभोग में उक्त वैषम्य की विचित्रता को रामवनवास में देखकर राजा दशरथ ने श्रीराम के प्रभुत्व का अनुमान किया वह दो० ३९ की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

वर्णाश्रम को लेकर शास्त्रीय व्याख्या में भक्ति, धर्मनीति का विवेचन किया गया है। मानव जीवन का अन्तिम ध्येय भगवत्पदप्राप्ति है। वर्तमान समाज में फैली नीच जाति या शूद्र विरोधी भावना के प्रत्युत्तर में कहना है कि वर्णाश्रम धर्म के अनुगमन में भक्ति की सुलभता सब वर्ण व तदनुगामियों को एकसमान है, उसमें ऊँच-नीच की मर्यादा अवरोधक नहीं किन्तु साधक है। गुह, केवट, गीध, शबरी आदि से लेकर मुनि महर्षि तक की कृतार्थता में प्रभु का पक्षपातरहित अनुग्रह 'भक्ति सुतन्त्र सकल गुन खानी' से संगत 'सुरसरि

तीर आपु चलि आए' की व्याख्या में प्रभु के स्वतन्त्र कर्तृत्व में दर्शाया गया है। उसमें ध्यातव्य भक्ति का मूल साधन 'प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती' है जिसको केवट की उक्ति तुम्हार मरमु मैं जाना'' । व्याख्या में स्पष्ट किया है। भक्ति की उक्त स्वतन्त्रता या नाममाहात्म्य के नाम-पर निरंकुश हो वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा करना प्रभु को इष्ट नहीं है किंबहुना नीति दृष्टि से समाज की सुव्यवस्था में वर्णाश्रम की उपयोगिता विचारणीय है। भारतीय राजनीति की सफलता का आधार वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा पर ही निर्भर है जैसा उत्तरकाण्ड में रामराज्य के वर्णन में कहा गया है —

सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधर्मनिरत श्रुति-नीति ॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं ॥
रामभगतिरत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी ॥

१५. चित्रकूट पहुँचने तक बीच में श्रीराम के निवास की प्रयोजकता तत्तत् स्थलों में व्याख्यात है।

अन्त में स्व० परम पूज्य गुरुजी (श्री राजेश्वर शास्त्री द्रविड़) का स्मरण करते हुए उनके द्वारा कहे मानस की चौपाइयों में 'एहा-एहू' के बहुल प्रयोग का सार्थक्य आन्वीक्षिक्युक्त तर्कानुभाव को स्फुट करने में समझना है जहाँ ग्रन्थकार को सिद्धान्त रूप में यथार्थ तत्वबोध कराना अपेक्षित है वहाँ-वहाँ 'एहा-एहू' से नीति आदि विद्याओं से पोषित भक्तिसिद्धान्त का स्थापन तर्कयुक्त अनुमान के आधार पर समझाना है। इसको ध्यान में रखते हुए मानस-पाठजिज्ञासुओं व शोधकर्ताओं के लिए यह शास्त्रीय व्याख्या मननीय है।

प्रस्तुत शास्त्रीय व्याख्या में शास्त्रों के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इसलिए हुआ है कि बिना दुर्ग में रहे तर्कपूर्वक प्रमाणसिद्ध अर्थ का समन्वय करना सम्भव नहीं था तावन्मात्रेण पाठकों को असन्तोष हो तो उनसे व्याख्याता व लेखक अपनी त्रुटि के लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

प्रस्तुत व्याख्या में साहित्यिक विषय पर चर्चा न करके शास्त्रीय गूढार्थ पर ही विशेष बल दिया गया है जिसका उद्देश्य यही है कि धर्मनीति एवं भक्ति के साधन में शास्त्राधारित तत्वों को समझकर पाठक कल्याण मार्ग (धर्मनीति संबलित भक्ति) को अपनावें अन्यथा निगमानुशासनविहीनता (मारग सोइ जा कहुँ जो भावा) का परिणाम 'मिथ्यारंभ दंभ रत' सिद्ध होगा जिसका फल उत्तर काण्ड में कथित ("तामस धर्म करहि नर जप तप व्रत मख दान") अशुभ की प्राप्ति है।

—सीताराम मिश्र

श्रीविश्वेश्वरः शरणम्

श्रीगुरुः शरणम्

अथ अयोध्याकाण्डम्

अन्नपूर्णा (भावार्थ) सहितम्

रामचन्द्रस्मृति (शास्त्रीयव्याख्या) समेतञ्च

भूमिका

प्रमाणका वलावल तथा प्रमेय विचारकी सामान्य रूपरेखा "लक्षणप्रमाणाभ्यां हि प्रमेयसिद्धिः[1]" इस न्यायसिद्धान्तके अनुसार ग्रन्थकारने बालकाण्डके शिव और रामजीके संवादमें परमहितकारी प्रभुके वचनको प्रमाण मानकर शिवजीके द्वारा प्रमेयसिद्धि स्थापित की है। जैसा कि निम्नलिखित चौपाइयों से स्पष्ट है—

"मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिअ सुभ जानी॥
तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी॥
प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना। भक्ति-विवेक-धर्मजुत रचना"॥

प्रमाणभूत वचनपर दृढ़ निष्ठा हो तो प्रमेयसिद्धिमें कोई संशय करना या वचनके पालनमें हिचकिचाहट होना भक्तिपंथके विरुद्ध है[2]।

शिवजीके उपर्युक्त वचनोंमें यही तर्क भक्ति-विवेक-धर्मसे संबंधित भक्तिपंथका संस्थापक है और इसीमें प्रभु पूर्ण संतुष्ट हैं। भक्तोंके लिए ऐसा ही भक्तिपंथ शुभदायक बताया गया है। बालकाण्ड के इसी धर्म-विवेक-भक्तिके सम्बन्धको प्रकट करते हुए ग्रन्थकार अयोध्याकाण्डका स्थापन कर रहे हैं। मन्थरा-कैकेयीके पक्षने प्रमाणपरतन्त्र व्यक्तियों जैसे राजा दशरथ, श्रीराम आदि के प्रति जो शंकाओंका बीजारोपण किया उसका प्रभाव या आक्रमण संपूर्ण राज्यमें और चोर डाकुओंपर भी पड़ा। इस भेद-नीतिके द्वारा संपूर्ण राज्य विनाशके कगार पर पहुँच गया। ऐसी विकट परिस्थितिसे अपनेको बचानेके लिए राजा दशरथ, श्रीराम और भरतने उन शंकाओंका उन्मूलन कैसे किया? इसका तर्कयुक्त विवेचन करना प्रस्तुत काण्डका विषय है।

श्रीरामके चित्रकूटमें विराजनेतकका वर्णन अयोध्याकाण्डका पूर्वार्ध और भरत-चरित्रका वर्णन उत्तरार्ध है। इसमें प्रमाणके बलाबलके विचारके साथ समस्त विद्याओं सहित भारतीय राजनीतिका रक्षण और इन्हीके माध्यमसे भक्तिका पोषण होगा, जिसको दशरथ-कैकेयी-संवाद, कौसल्या-सीता-राम-संवाद, राम-लक्ष्मण-संवाद और अन्तमें भरतचरित्रके निरूपणसे ग्रन्थकार प्रस्तुत करेंगे।

कहीं दशरथका वचन सर्वथा और कहीं सापेक्ष रूपमें प्रमाण माना गया है—उदाहरणार्थ, श्रीराम वन-गमनमें राजा दशरथका वचन पूर्णतया प्रमाण मानते हैं पर सुमन्त्र द्वारा राजाके सन्देशको सुनकर भी वनसे लौटाने संबन्धी राजवचन पर ध्यान नहीं देते। सीताका भी ऐसा ही चरित्र है। इसी प्रकार

---

१. लक्षण और प्रमाणोंके द्वारा ही प्रमेय-सिद्धि होती है।

२. देखिये अयोध्याकांड दो. २०५ चौ. ६ और लंका कांड दो. ६१ चौ. ६

श्रीराम वनगमनमें कैकेयीके वचनको प्रमाण मानते हैं। उसीके वचनको राज्यस्वीकार करनेमें भरत अप्रमाण मानते हैं। पर चित्रकूट पहुँचने पर राज्य-संचालन करनेमें उन्हीं वचनों का आदर करते हैं। कौन वचन सापेक्षरूपमें किस रीतिसे अनुष्ठेय होता हैं, यह चित्रकूट तकके श्रीरामवन-गमन-चरित्रमें दर्शाया गया है।

विद्याओंके बलाबलसे वचनप्रामाण्यका सूक्ष्म विचार भरतचरित्रमें युक्तियों द्वारा किया गया है। उन उन वचनोंको विद्याके बलाबलविचारसे जिस प्रकार अनुष्ठानतः प्रमाण बनाया गया है उसी प्रकार साधु-सन्तोंके वचनोंके धर्म-भक्ति-विवेक-पूर्वक तात्पर्यको समझकर कार्य करनेमें ही हित है, उसमें शंका करना ठीक नहीं है, यह भी दिखाया गया है।

प्रमाणोंको अपनानेमें प्राणबलि

बालकाण्डमें वचनप्रमाणको स्थिर रखनेके हेतु अप्रमाण मानने वालोंको बलि होना पड़ा जैसे मां सतीद्वारा शिवजीके वचनोंपर अश्रद्धा, नारदद्वारा शिवजीके वचनोंकी अवहेलना आदि। अयोध्याकाण्डमें वचनप्रमाणको स्थिर रखनेवालोंको भी बलिवेदी पर चढ़ना पड़ा है। जैसे—

"जीवन मोर राम बिनु नाहीं। जीवन राम दरस आधीना"। इत्यादि।

अपने इस वचनको रखनेके लिए दशरथको प्राणत्याग करना पड़ा। अन्यथा उनके वचनप्रामाण्य के अभावमें प्रमेयसिद्धि (राक्षसोंके विनाशके बाद लंकाविजय और सकुशल अयोध्या लौटना और त्रिलोकव्यापिनी कीर्ति) न होती, किंबहुना प्रमेय सिद्धिके लिए प्रभु रामको अपने प्रभुत्वके बलपर कार्य करना पड़ता। शास्त्रवचनका प्रामाण्य प्रकट करनेमें मर्यादापुरुषोत्तमकी शास्त्रानुयायिता और शास्त्रकी प्रतिष्ठाका रूप सामने नहीं आता।

प्रमेयसिद्धि

त्रयी (वेद, वेदांग, मीमांसा, न्याय धर्मशास्त्र और पुराण,) के अधीनस्थ श्रीरामका गृहस्थाश्रममें प्रवेश होनेपर वार्ता विद्या प्रसन्न हो घर-घरमें अर्थप्रदान कर रही है। जैसा अयोध्याकाण्डके प्रारंभमें "जब ते राम ब्याहि घर आये"........." से कविने वर्णन किया है। त्रयीके प्रामाण्यको उपेक्षित कर आन्वीक्षिकीका उपयोग करनेवाले नानाविध तर्क-कुतर्क करते हैं तो आन्वीक्षिकी विफल होती है। यह मन्थरा-कैकेयीसंवादमें स्पष्ट है। कैकेयी स्वयंके द्वारा राजा दशरथके साथ किये तर्कमें अपनी सफलता समझती है किन्तु त्रयीके विरोधमें उसका तर्क सफल नहीं हो सका। दूसरी ओर राजा त्रयी-प्रामाण्यके अधीन रहकर आन्वीक्षिकीके माध्यमसे तर्कपूर्वक विचार करके अपना अन्तिम निर्णय सुनाते हैं। यही निर्णय सफल होकर रहा।[1] प्रभुने भी वनवासकी सफलतामें पिताके वचनको ही प्रमाण माना उसके प्रमेयसिद्धिकी अभिव्यक्ति ग्रन्थकारने लंकाकाण्डमें लक्ष्मणशक्तिके अवसरपर दिखायी है (लंकाकाण्ड दो० ६१ चौ० ६)।

कैकेयी, कौसल्या और गुरु वसिष्ठ तथा सभासदोंके सामने कहे वचनोंसे भरतने अवधवासियों की शंकाका उन्मूलन करके आन्वीक्षिकीकी स्थापना की है, अपना विनय प्रदर्शित करके दण्डनीतिकी

१—"१ सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुन धाम राम प्रभुताई॥
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुं पुर राम बड़ाई॥
तोर कलंकु मोर पछिताऊ। मुएहुँ न मिटिहि न जाइहि काऊ॥
(बा० चौ० ३ दोहा ३६)।

सफलता दिखायी[१]। जिससे अयोध्यावासी और वनप्रान्तवासी प्रजाजनोंका स्नेह अपने प्रति भरतने बना रखा तथा सभी प्रजामे भक्तिपंथको फैलाकर उसके स्नेहकी स्थिरता अपनेमें प्राप्त की। सबका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने सब भाइयों के लिए पिताकी अनुकंपा द्वारा प्रमेयसिद्धिका मार्ग प्रशस्त किया।

मन्त्रशक्तिहेतु शिववन्दना

सर्वशक्तिसम्पन्न नीतिमान् व्यक्ति ही नैतिक कार्यको पूर्ण करनेमें सक्षम होता है। शास्त्रोंमें नीतिमानोंके लिए शक्तियोंका त्रैविध्य बतलाया गया है। मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति एवं उत्साहशक्ति। ये ही शक्तियां नीतिका सर्वांगीण विकास करनेमें हेतु मानी गयी हैं।

रामायणके नायक प्रभु श्रीराममें उक्त तीनों शक्तियाँ प्रकट हैं। उसीका चित्रण करना सन्त शिरोमणि श्री गोस्वामी तुलसीदासजीका लक्ष्य है। तीनों शक्तियोंमें अर्थशास्त्रने मन्त्रशक्ति (विचारणा) को सर्वश्रेष्ठ माना है। वह कुण्ठित न हो एतदर्थ नीतिमानोंके लिए निर्विकारिता अपेक्षित है, जो राजशास्त्रमें सत्त्वके नामसे पुकारी गयी है, उसके अभिवृद्धयर्थ तपस्या, पूजा, वन्दना आदिकी अपेक्षा है। मन्त्रशक्तिका स्रोत विद्यापति श्रीशिवजीकी वन्दनासे उपलब्ध होता है। ऐसा सोचकर अयोध्याकाण्डके आरंभमें गोसाईंजी शिवजीकी वन्दना कर रहे हैं।

मंगलाचरणमें शिवजीको नमन करनेका कारण यह भी है कि गोसाईंजी भक्तिसे संपृक्त भारतीय शास्त्रसम्मत नीतितत्त्वका प्रकाशन करनेके लिए कृतसंकल्प हैं। इसमें शास्त्रविरोध, वैराग्यके नामपर रागकी स्थिति, नीतिसे च्युत होकर विरक्तिके नामपर नीतिमानोंको प्रभुके चरित्रमें विपरीत बोध एवं दम्भमें साधुत्वकी परिणति आदि दोषोंकी संभावनासे बचनेके लिए गोसाईंजी वैयक्तिक रूपमें शिवजीकी प्रार्थना कर रहे हैं:—

श्लोक—यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके।
भाले बालविधुर्गले[१] च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा।
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करःपातु माम्॥ १॥

भावार्थ:—जिनकी गोदमें हिमालय पर्वतकी पुत्री पार्वती विराज रही हैं, जिनके सिरपर देवनदी गङ्गा, ललाटपर द्वितीयाके चन्द्रमाका तिलक, गलेमें विष, हृदयपर सर्पराज वासुकिका यज्ञोपवीत और शरीर पर आभूषण रूपमें भस्मको अपनाये—जो देवोंमें श्रेष्ठ महादेव, सबके अधीश्वर, संहार करनेवाले, साक्षी रूपमें सबके अन्तःकरणमें निवास करनेवाले, सर्वव्यापी, मंगलके स्वरूप और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वर्णवाले हैं, वे शंकरजी सदा मेरी रक्षा करें।

ज्ञानतत्त्व और कामतत्त्वका समन्वय

शास्त्रीय व्याख्या—शिवतत्त्व बोधात्मक है, जैसा बालकाण्डमें श्रीशङ्करजीकी वन्दनासे स्पष्ट है—"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुम्—" आदि। उनके वामाङ्कमें स्थित 'भूधर-सुता' आदि विशेषणोंसे शिवजीकी निर्विकारितामें कमी प्रतीत होती है। किन्तु इस संबंधमें शास्त्र सिद्धान्त यह है कि ज्ञानकी पूर्णता होने

१—अयोध्याकाण्डमें वर्णित चरित्रोंमें मानसकार आन्वीक्षिकी, त्रयी तथा वार्ता विद्याकी प्रतिष्ठाके विचार में अर्थशास्त्रोक्त निम्न वचनोंका समन्वय दर्शा रहे हैं:—

"दण्डमूलाः तिस्रो विद्याः। विनियमूलो दण्डः। आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। तस्य नीतिर्हि दण्डनीतिः"॥

के अनन्तर कामतत्त्वके समालिंगनकी सुखानुभूतिमें ऊर्ध्वरेतस्क ज्ञानी यदि अपना समय कतिपय दिनोंके लिये व्यतीत करते हैं तो भी उनका निर्मल ज्ञानतत्त्व उच्छिन्न नहीं होता न तो कामतत्त्वकी अधीनतामें ज्ञानी व्यक्ति अनुचित कार्य ही करता है। अतः ज्ञानी शिव जैसे सर्वज्ञके लिए भूधरसुता का अंकमें रहना भूषण है न कि दूषण।

गङ्गाजीको मस्तकपर रखनेसे शिवको कामतत्त्वका दास नहीं समझना चाहिये। बल्कि कामतत्त्व उनके (ज्ञानी के) अधीनस्थ होकर स्वयं दास बना रहता है। इसको गोसाईंजीने ललाटस्थ चन्द्रमा के वर्णनसे स्फुट किया है कि कामजनित उष्णताके संपर्कमें चन्द्रमा मलिन भावको नहीं प्राप्त हो रहा है—बल्कि सात्त्विकता एवं निर्विकारिताका इतना अत्यधिक उत्कट प्रभाव है जिसके संपर्कसे कण्ठमें निवास कर रहा विष भी अपनी तीक्ष्णताको छोड़ बैठा है। उसी शीतलताकी खोजमें घूमता हुआ सर्पराज प्रभुके कण्ठमें पहुँचकर जब सुखानुभूतिमें आया तबसे सदाके लिए प्रभुके वक्षस्थल को उसने अपना निवासस्थान बना लिया, इतना ही नहीं वह स्वयं यज्ञोपवीतकी शोभाको बढ़ा रहा है।

मन्त्रशक्तिका अंतिम मूर्तरूप विरक्ति ही देखी जाती है। उसीको शास्त्रकारोंने "भूति" शब्दसे व्यवहृत किया है। वही उनका अलंकार है। स्थावर, जंगम आदि जितने प्राणी हैं उन सभीकी मंगल-कामना करना तथा न्यायोचित रीतिसे उनका योगक्षेम करते रहना प्रभुका स्वभाव है। अतः वे सर्वाधिप हैं। उन्हींके नेतृत्वमें पशुस्थानापन्न प्राणी अपने स्व (सम्पत्ति) को भोगमें लाता है। तभी उसका मंगल होना नियत है। अतः वे 'पशुपति' हैं। बोधात्मक चेतनस्वरूपमें रहकर प्राणिमात्रके 'हृदयमें (साक्षी रूपमें) प्रभु निवास करते रहते हैं इससे वे 'सर्वगत' हैं। भगवान् शंकर ही शिव अर्थात् मंगलरूपमें प्रतिष्ठित हैं।

बोधसहचरित योगज तेज जिस प्रभुके शरीरमें पूर्ण दीप्तिमान् होता हुआ बाहर शशिरूप में प्रकट है वह प्रभु हमारी रक्षा करें।

उत्साहसंघटित विरक्ति

विद्वत्संगतिमें स्थित व्यक्ति ही अकार्यसे निवृत्त तथा वैराग्यसम्पन्न होकर न्यायोचित कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, ऐसा अर्थशास्त्रने विधान किया है। उसीका अनुसरण मर्यादापुरुषोत्तम राम और भरत दोनों कर रहे हैं। राजा दशरथके बाद अयोध्यावासियोंके रक्षणमें यही दो तट माने गये हैं। इन पर विद्यापति श्रीशिवजी की पूर्ण अनुकम्पा है। उन्हींके स्रोतसे श्रीराम एवं भरतकी मन्त्रशक्ति भविष्यत्कालीन संपूर्ण उत्थानका मूल आधार हो रही है। उसका मूर्तस्वरूप, नीतियुक्त उत्साहशक्ति संघटित (समन्वित) विरक्ति ही है। वह चरित्रनायक दोनों भाइयों के मुखश्रीपर सदा प्रकट है। अतः शिवजीकी वन्दनाके बाद गोसाईंजी श्रीराम एवं भरतकी विरक्तिपरिपूर्ण मुखश्रीसे मंगल कामना कर रहे हैं।

श्लोक—प्रसन्नतां या न गताऽभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदा ऽस्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥२॥

भावार्थ—जिनके मुखकमलकी शोभा राज्याभिषेक होनेमें न तो प्रफुल्लित है और न वनवासके दुःखसे विकृत है, ऐसे हर्षविषादसे रहित श्रीरघुनन्दनकी (श्री राम और भरत, श्री राम) मुखश्री शोभायमान होती हुई सदा मेरे लिए कल्याणकारिणी रहे।

राजनीति में अभ्युदयके मूलतत्त्व

शा० व्या०—कैकेयी माताके प्रयत्न तथा अनुकंपासे राज्यश्री भरतको वरण करनेके लिए उद्यत है। वनश्री भी जयमाला रघुनन्दन श्रीरामको समर्पण करनेके लिए प्रस्तुत है। परन्तु गुरु वसिष्ठ के

द्वारा उपलब्ध-आन्वीक्षिकी 'त्रयी', वार्ता' एवं 'दण्डनीति'की शिक्षाका प्रभाव है कि दोनों भाइयोंके चेहरोंपर हर्ष या विषादका प्रभाव स्वल्पमात्रामें भी प्रकट नहीं हो रहा है, बल्कि वैराग्य ही दोनों भाइयोंके रूपमें मूर्तिमान् होकर जनताको समुल्लसित कर रहा है। ऐसा होना ही राजनीतिके मतसे उन्नतिका बीज है। विकारिता, हर्ष एवं शोकमें हेतु बनकर अपने अधीनस्थको अवनतिकी ओर अग्रसर करती रहती है। इसको प्रभुने अनुपादेय समझाते हुए अभ्युदयकी साधकताको सिखाया है। इसलिए गोसाईंजी ने दोनों रघुनन्दन (श्री राम और भरत) की मुखाम्बुजश्रीका ध्यान किया है[१]। यह मुखाम्बुजश्री ही अयोध्या काण्डका प्राण है तथा उत्साह एवं प्रभुशक्तिकी प्रेरिका है, कार्य-सफलता की कुंजी है, शत्रुपक्षको मोहमें फँसानेका महान् अस्त्र है, मित्रोंकी अर्जिका है, सखाओंको प्रीतिमें आबद्ध करनेकी सघन ग्रंथि है, यथार्थप्रतिभा में आवरणविदारिका है, स्थायि कीर्त्तिकी मूल भित्ति है, भारतीय राजनीतिकी प्रथम सोपानपरंपरा है, अनुगामी वर्गोंके लिए शीतलताकी लहरी है, पूज्योंके लिए प्रेमास्पद है, कामिनियोंका सर्वस्व है, ऋषियोंके लिए आराध्या है।

इसके अनन्तर गोसाईंजी प्रभुशक्तिसंवलित उत्साहशक्तिका परिचय देते हुए अपने इष्ट देव नीतिकुशल रामकी वन्दना कर रहे हैं।

श्लोक—नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥३॥

भावार्थ—जिनका अंग नील कमलके समान श्याम और कोमल है, जो अपने वाम भागमें सीताजीको बैठाये हैं, और जिनके दोनों हाथोंमें अमोघ बाण और शोभादायक धनुष्य है। ऐसे रघुवंशके नाथ श्रीरामको प्रणाम करता हूँ।

नीतिप्रतिष्ठाहेतु तर्कसंबलित वैराग्य

शा० व्या०—रघुवंशके स्वामी राम, अपने अनुशासनमें प्रत्येकको वर्णाश्रमधर्ममें प्रवृत्त कराते हुए निग्रहानुग्रहमें समर्थ हैं और उनकी प्रभुशक्ति ही पारस्परिक प्रीतिमें जनमानसको आबद्ध रखती हुई कर्तव्यके प्रति प्रेरित कर अकर्तव्यसे निवृत्त कराती है। इस शक्तिमें कर्तव्याकर्तव्यकी मर्यादा 'शास्त्र' है। प्रभुने उसीको अपनाया है। अतः वे रघुनाथ हैं। कवि उन्हींको प्रणाम करते हैं। प्रभुशक्ति-सम्पन्नको सदाके लिए नीतिके प्रति, प्रीति व निष्ठा बनाये रखना उत्साहशक्तिका काम है। इन दोनों शक्तियोंको गोसाईंजीने 'पाणौ महासायकचारुचापम्' कहकर व्यक्त किया है। 'सीता-समारोपितवामभागम्' इस विशेषणसे प्रभुको सीतास्पर्शप्रयुक्त न तो उद्वेग है, न तो योगियों जैसी वैराग्य की धारणा ही। अपितु तर्कात्मक योग के साथ कामसंबंधित वैराग्यको ध्वनित किया है। यही नीति-प्रतिष्ठामें हेतु है।

'नीलाम्बुज श्यामलकोमलांगम्' विशेषणसे आयुर्वेदसिद्धान्त ज्ञात होते हैं। इसके अनुसार शरीरकी श्यामलतासे सेवकोंके प्रति भगवान्का अनुराग एवं उनकी दानशीलता प्रकट होती है। अंबुजरूपकसे यह भी स्पष्ट किया कि पूर्वोक्त वैराग्ययुक्त मन्त्रशक्ति प्रभुमें पूर्ण जागृत है।

इस प्रकार राज्यकी प्रतिष्ठामें मूलभूत मन्त्रोत्साहप्रभावशक्तिरूपमें शिव एवं राम दोनोंको प्रणाम करनेके अनन्तर पूर्वोत्तरकाण्डमें अपेक्षित समन्वयात्मक संगतिका निरूपण करेंगे। इसके पूर्व गोसाईं जीने गुरुकी वन्दना करना उचित समझा है।

---

१. अयोध्याकाण्डके पूर्वार्धमें रामचरित्र और उत्तरार्धमें भरतचरित्र गाया है। अतः जिन विशेषणोंसे गोसाईंजी रघुनन्दनका स्मरण यहाँ कर रहे हैं उनसे रघुनन्दन राम और भरत दोनोंकी स्तुति उनको इष्ट है, ऐसा कहना असंगत नहीं होगा।

दोहा—श्री गुरुचरण सरोज रज निजमनु मुकुरु सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि ॥ १

भावार्थ—गुरुके चरणकमलकी धूलको अपने मनोरूपी दर्पणमें धारण करके अर्थात् अन्तःकरणको निर्मल करके श्रीरघुवर रामके उज्ज्वल यशका वर्णन करता हूँ, जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों फलोंका देनेवाला है। जिसके चरित्रमें पूर्ण शास्त्रानुयायिता है उसका यश उज्ज्वल है।

विवेकवृत्त्यवच्छिन्नगुरुकी वन्दना

शा० व्या०—इस काण्डमें दशरथ, कैकेयी, कौसल्या, सीता, प्रभु, भरत, तापस आदि पात्रोंकी गूढ़तम मन्त्रणाओंका निरूपण कर्तव्य है। इसके लिए विवेकवृत्ति एवं शास्त्रकी मर्यादा अपेक्षित है। गुरुतत्त्व विवेकवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यात्मक है। गुरुके चरणोंकी वन्दनाके विना गुप्त मन्त्रणाएं कविके हृदयमें प्रकट नहीं हो सकतीं ऐसा वालकाण्डमें निर्दिष्ट है—

श्री गुरुपद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिंय होती।
सूझहि रामचरित मनिमानिक, गुपुत प्रकट जँह जेहि खानिक ॥

॥ वालकांड १=५, = ॥

आदि चौपाइयोंसे। उसीको ध्यानमें रखकर गोसाईंजी गुरुजीकी वन्दना कर रहे हैं।

रामचरित्रकी उपादेयता

गुरुचरण सरोजके रजसे मनोरूप दर्पणका सुधार करनेमें ही इष्ट-सिद्धि होती है। इसका नैतिक अर्थ यह है कि विवेकवृत्त्यच्छिन्न गुरुके चरणरजमें मन प्रीतिमान् है तथा प्रमाणत्रयसमन्वित गुरूपदेशोंको सुनकर वह असंदिग्ध हो गया है तो यही मनका सुधार है। ऐसे मनकी सहायतासे ही रघुवरके विभिन्न चरित्रात्मक शास्त्रीय नीतिसिद्धान्तको प्रकाशित करना इष्ट है। यह प्रकाशन जनमात्रके हितमें उपेक्षणीय नहीं है। इसलिये कि वेद प्रथमतः शास्त्रोंके द्वारा उद्दिष्ट तत्त्वकी उपलब्धिके साधनोंको समझाते हैं, परन्तु असंभावना व विपरीतभावनाकी कल्पना आनेपर उसके निरसनहेतु साधुओंके लिए प्रकाशक प्रभु श्रीरामका चरित्र है।

चारों पुरुषार्थों की-सिद्धि

गोसाईंजी कह रहे हैं कि रामायणमें प्रभु रामके वर्तमान चरित्र चतुर्विध पुरुषार्थके साधक हैं :—

१. रामायणमें निर्दिष्ट कर्तव्य रामचरित्रसे अनुप्राणित होनेके कारण सत्त्वगुणात्मक है यही 'धर्म' है।

२. प्रभुने उन्हीं चरित्रोंके माध्यमसे मित्रार्जन, शत्रुविजय आदि दृष्टफलोपलब्धि प्रकट की है। अतः ये सभी अनुमान एवं प्रत्यक्षसे प्रमित अर्थरूप पुरुषार्थके साधक एवं सुखसाध्य हैं।

३. निष्कामतामें ही कामनासिद्धि पूर्ण होती है। सकामतामें रोगोंका शिकार होना पड़ता है। इस विषयमें राजनीतिशास्त्र का कहना यह है कि शरीरको उसकी इच्छापर छोड़ दिया जाय तो शरीरका लालन नहीं, द्वेष होगा। निष्कामतामें मनोरथसिद्धिका हेतु त्याग है। इसको रामायणमें यथार्थतया समझाया गया है। श्रीराम, भरत, लक्ष्मण एवं सीता इन चारोंने त्यागमय जीवनको अपनाते हुए कामसिद्धि पूर्ण की है। अतः मानसोक्त रामचरित्रमें कामकी साधकता निर्विवाद है।

४. भगवान्‌के सेवक होकर स्वतन्त्रताको अपने कर्तव्योंमें से दूर करके मानसवर्णित चरित्रको अपनाने पर मोक्षको प्राप्ति सहज साध्य है।

इस प्रकार अयोध्याकाण्डके नायकका चरित्र चतुर्विध पुरुषार्थसाधक होनेसे स्पृहणीय है। काम-हेतुतया भगवानके चरित्र निर्णीत होनेपर भी उनके द्वारा प्रतिष्ठापित चरित्र निष्कामताकी ही ओर ले जाने में अग्रसर हैं।

रामचरित्रकी विमलता

प्रभु श्रीरामके चरित्रकी विमलता (शास्त्रानुयायिता) इतनी अद्‌भुत है कि महान् से महान् दैवशक्ति-सम्पन्न योद्धा भी उनके समक्ष प्रतियोद्धाके रूपमें खड़े होनेका सफल साहस नहीं कर सकता।

प्रभुका इष्ट

प्रश्न—प्रभु अवतीर्ण होकर शास्त्राचार्याभिमत चरित्रके प्रदर्शनमें कौनसा अपना इष्ट समझ रहे हैं ?

माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवामें जीवोंको (मनुष्यों) प्रवृत्त कराना प्रभुका इष्ट माना जाय तो इसके समाधानपर शंका यह हो सकती है कि जब प्रभु ही जगत्‌को मर्कटके समान नचाते हैं और जीवमें अपनी स्वतन्त्र (पृथक्), स्वतन्त्रता है ही नहीं। तब माता-पिता आदिकी शुश्रूषामें जीवको प्रवृत्त कराना प्रभुका इष्ट कैसे माना जाय ? यदि ऐसा माना जाय कि जिन जीवोंको उपर्युक्त शुश्रूषा में प्रवृत्त कराना इष्ट है; उनके लिए ही प्रभुके चरित्र हैं तो प्रभु का परिश्रम व्यर्थ ही प्रतीत होता है। यतः वैसे जीव तो प्रभुकी इच्छासे प्रवृत्त होंगे ही।

जीवका प्रवर्तकत्व एवं स्वातन्त्र्य

उत्तर—शास्त्रकारोंके अभिमतसे मानवोंमें सर्वथा स्वतन्त्रताका अभाव नहीं है। यह सत्य है कि शरीर जड़ होनेसे उसका प्रवर्तक सर्वसाक्षी चेतन ही है तथापि जीव चेतन अपनी मलिनतामें हो शरीरको कुपथ की ओर भी प्रवृत्त कर सकता है। उस दशा में जीवका स्वातन्त्र्य-रूप कर्तृत्व शास्त्रकारोंको अभिमत है। वैसे तो जीव कर्ममें स्वतन्त्र होकर जन्मान्तरीय वासनाओंकी चपेटमें व्यसनासक्त होकर माता-पिता गुरुजनों आदिकी शुश्रूषासे विमुख होते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका स्वतन्त्र होना तो दूर रहा, तर्क शक्तिके अभावमें जड़ताका इतना बोझ हो जाता है कि वे चिरकालके लिए परतनन्त्रतामें फँस जाते हैं। अतः जड़ताको दूर करने एवं स्वतन्त्रताके हेतु उपयोगी सत्कर्मको बतलाने के लिये जीवोंको मार्ग-प्रदर्शक 'रामचरित्र' है। यही प्रभु को इष्ट है।

बालकाण्ड व अयोध्याकाण्ड की संगति

बालकाण्ड में उपवर्णित विवाहचरित्रके साथ उत्तरचरित्रका सम्बन्ध अब कवि जोड़ रहे हैं। तदनुसार गृहस्थोचित धर्मका निरूपण करना आवश्यक है। गृहस्थाश्रमप्रवेशके बाद अनुष्ठीयमान कर्तव्योंके संकेतसे अयोध्याकाण्डका शुभारंभ मंगलाचरणके बाद कवि कर रहे हैं।

चौ०—जब ते राम ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए ॥१॥

भावार्थ—श्रीराम सीताको ब्याह कर जबसे अयोध्यामें आये हैं तबसे नित्य नये मंगल आनन्द उछाह होने लगे—
(जिनका स्वरूप अग्रिम चौपाइयों में द्रष्टव्य होगा।)

संगति—बालकाण्डके अन्तमें दोहा ३५९ में जो 'मंगल मोद उछाह' की अधिकता दिखायी गई हैं उसका स्थायित्व सीताकी उपस्थितिसे हुआ है, इसको बतानेके लिए ग्रन्थकार यहाँ उसकी पुनरुक्ति कर रहे हैं।

शा० व्या०—गार्हस्थ्य धर्ममें रहकर शास्त्रमर्यादा में पञ्चमहाभूत वलि, भूतरक्षण आदि नित्योचित कर्मकी यही सफलता है कि जिसके आश्रयमें जड़ चेतन आदि सभी वर्गोंको सन्तोष हो वह हो रहा है। अतः उन सभीको प्रीति प्रभुमें वृद्धिंगत होने लगी।

मिथिलाराजा के मोदका स्थायित्व

जवसे श्रीराम श्रीसीताके साथ व्याहकर अयोध्यामें आये तवसे मंगल-मोद छा गया। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मिथिलामें सीताके न रहनेसे मंगल मोदका नित्यत्व नहीं रहा। '**या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता**' के अनुसार शास्त्र-मर्यादाका नीतिपूर्वक पालन करनेवाले राजा जनकको बुद्धिशक्ति रूपमें 'सीता' सदा आनन्द देनेवाली है। सीताकी विदाईके समय राजा जनककी जो अधीरता दिखायी पड़ी वह अतिशय प्रेमकी द्योतिका है, जो अवसरके अनुकूल प्रशंसनीय है। सीता की विदाईके वाद राजा जनकके मोदकी स्थिति में कोई कमी नहीं है जैसा कि राजा दशरथ और श्रीराम को मिथिलासे विदा करते हुए राजा जनकके वचनोंसे स्पष्ट है। (दो. ३४० से ३४२ वा. का.)

चौ.–भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ वरषहिं सुख वारी ॥२॥
रिद्धि सिद्धि संपति नदी सुहाई। उमगि अवध अंबुधि कहुँ धाई ॥३॥

भावार्थ—चौदहों भुवनरूप वड़े बड़े पर्वतोंपर पुण्यरूप मेघों की वर्षासे सुखकी धाराएँ वह रही हैं जो सिद्धि ऋद्धि संपत्ति रूप नदियोंका सुहावना रूप लेकर उमड़ती हुई अवधरूपी समुद्रकी ओर आकर उससे मिल रही हैं। अर्थात् राजा दशरथके पुण्यसे अयोध्यामें सीतारामके मिलनसे संपत्ति छा गयी है।

गृहस्थ धर्मका फल मंगल

शा० व्या०—यह स्मरणीय है कि प्रभु रामने महर्षि वसिष्ठके संकेतपर विद्याकी उपलब्धि की है। उसीके प्रभावसे आत्मगुण-सम्पन्न होनेसे वे राजत्व से (राजोचित गुण) विभूषित कहलाने लगे। उसीका यह प्रत्यक्ष परिणाम है कि प्रत्येक वर्गको प्रति दिन स्वकीय इष्टका दर्शन होने लगा। जैसे कोपक्षय का परिहार, कोषवृद्धि आदि। प्रत्येक व्यक्तिके शरीरपर नये-नये आभूषण भी दृष्टिगोचर होने लगे। ये सभी आरोग्य (सम्पन्नता) के विधायक होनेसे मंगलमय हैं। इस प्रकारसे मंगलमय वातावरणमें सुकृत (मेघरूप से) सर्वत्र देशमें उत्तम शुभ-दायक वर्षा कर रहा है।

सुकृत वढ़नेसे मंगल मोदका भार इतना अधिक हुआ कि इसके परिणाममें चौदहों भुवन तथा भूधरोंपर मेघोंने मंगलमय वर्षाका प्रारंभ कर दिया। यहाँ तक कि घृतकुल्या, मधुकुल्या, अन्न, ऋद्धि-सिद्धि आदि सवके लिए सुलभ हो गई।

निष्कर्ष यह कि मंगलमय कर्त्तव्य, पूज्योंका आदर आदि सत्कर्म देशमें होता रहता है तो वृष्टि (विभिन्न सम्पदाएँ) भी अत्युत्तम रीतिसे प्राप्त होती रहती हैं। जैसे-जैसे सर्वत्र आय दृष्टिगोचर होने लगा उसी प्रकार वैसे वैसे आयधनका विनियोग (सत्पात्रप्रतिपत्ति) वढ़ने लगा। इसीको प्रभुने गार्हस्थ्यधर्ममें प्रवेश करके प्रकट किया है।

चौ.–मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भांती ॥४॥
कहि न जाइ कछु नगर त्रिभूति। जनु एतनिअ बिरंचि करतूती ॥५॥

भावार्थ—जैसे समुद्रमें जाति-जातिके मणिरत्न होते हैं, वैसे ही अयोध्यापुरीमें चारों वर्णोंके नर-नारी रत्नोंके समान सुशोभित हैं। जैसे स्वच्छ रत्न अमूल्य होते हैं वैसे ही ये शुचि नरनारी सब प्रकारसे सुन्दर हैं। अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार स्वधर्ममें स्थित होना ही सब भाँतिका तात्पर्य है।' सुन्दर अयोध्या नगरका ऐश्वर्य कहा नहीं जा सकता। मानो ब्रह्माकी कार्यकुशलताकी इतनी ही सीमा हो अर्थात् अयोध्याके वाहर इससे वढ़कर ब्रह्माकी सृष्टिकुशलता दिखायी नहीं देती।

चतुर्दश भुवनमें मंगलकी आशा।

शा० व्या०—रावणके भयसे चतुर्दश भुवन आतंकित हैं। उससे मुक्ति मिले यही सबकी कामना है। वह अभीतक पूर्ण नहीं हो रही थी। परन्तु श्रीरामके गृहस्थाश्रम-प्रवेशसे उपर्युक्त व्यथासे छुटकारा पाने की आशाकी किरणें जैसे-जैसे फैलने लगीं वैसे वैसे चतुर्दशभुवनमें आनन्दातिरेक बढ़ने लगा। क्योंकि अयोध्यापुरीमें नीतिमान् राम अवतार लेकर अयोध्यावासियोंको मंगलमय एवं सुखी बना रहे हैं। उनको देखकर चतुर्दश भुवन इस निश्चय पर पहुँच रहा है कि भविष्यत् में सर्वत्र मंगलमय शास्त्रसम्मत दृश्य उपस्थित होगा। समय भी सुखदायी आवेगा। इस निश्चयसे सभी जनमानस प्रसन्न है। अयोध्याकी संपूर्ण जनता उत्तम मणिसमूहके समान सर्वत्र देदीप्यमान प्रतीत हो रही है, अर्थात् सभी निरातंक, प्रमुदित एवं हर्षोल्लसित हैं। किसीके चेहरेपर दुःखकी झलक देखनेमें नहीं आती। आत्मसम्पन्न नीति-मान् रामके द्वारा न्याय. स्वमण्डलका पालन, एवं समस्त बाधाओंका निरसन अति सुलभ हो गया।

रावण-वधमें हेतु मानवता

प्रश्न—रघुवंशमें पूर्ववर्ती राजा नीतिमान्, धर्मज्ञ और वाग्मी मानव थे। फिर वे रावणवध में समर्थ क्यों नहीं हुए ?

उत्तर—ब्रह्माजीके वरसे दृप्त रावणका आतंक इतना अधिक था कि उसके विरोधमें तप करना किसीके लिए संभव नहीं था। न तो वरदृप्त से लड़ने का विधान है।[1]

अथवा इतिहास व पुराणोंसे यह प्रसिद्ध ही था कि रघुवंशमें मानुषरूपमें अवतीर्ण प्रभुके द्वारा ही रावणका वध संभव है। अतः श्रीरामके पूर्ववर्ती रघुवंशी राजा रावणसे युद्धके लिए प्रवृत्त नहीं हुए।

अयोध्यादिनगरीमें प्रभुत्व

प्रश्न—राक्षसोंके आतंकसे सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ था फिर भी अयोध्या नगरीमें राजाओं के प्रभुत्वकी स्थिरता कैसे बनी रही ?

उत्तर—जिस स्थानमें अशुचिता रही उसका लाभ रावणने पूर्णरूपेण उठाया। फलतः उन उन स्थानों पर अपने अधिकारियोंकी नियुक्ति भी उसने की थी। हठात् अयोध्याके राजा भी अशुचि भूभागसे अनधिकृत होकर राजधानी (दुर्ग) में ही टिके रहे। राक्षसोंके आतंकके भयसे वे भी प्रमाद न करते हुए शुचिताको प्राणपण से अपनाकर धर्मकी प्रतिष्ठामें सजग रहे। परिणाम यह हुआ कि सुख सम्पदा दुर्गमें स्थिर हो गयी। देव भी आकर वहाँ बसे।[2] जहाँ जहाँ शुचिता एवं अप्रमाद रहता है वहाँ वहाँ दुष्टों (राक्षसों) की दृष्टि पड़ती नहीं अथवा आक्रमणमति होती ही नहीं।

---

१. **अकालदैवयुक्तेन न कुर्यादेव विग्रहम्।** (का० नी० १०।२३)

तप द्वारा बल अर्जन करनेमें रावण विघ्न करता था। बिना देवताओंकी आराधनाके रावणका संहार होना संभव नहीं था। देवता रावणके प्रतापसे निस्तेजस्क हो गये थे। देवबल-निरपेक्ष होकर केवल नीतिमात्रके अनुष्ठानसे (जैसे सत्यसंध माता पिता गुरुजन आदिकी शुश्रूषा तथा उदासीनभावमें वनवास करना आदि) अधिष्ठित मानव ही रावणके संहारमें समर्थ हो सकता है ऐसी भावना भी लुप्त हो गयी थी। अर्थात् मानवताको वे भूल गये थे। जैसे राजा दशरथने विश्वामित्रसे कहा है।

"कहँ निसिचर अतिघोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा" ॥

(चौ० ६ दो० २०८ बा० का०)

२. "देवानां पूरयोध्या"।

कलियुगमें भी धर्म-नीतिका प्रभाव

उपर्युक्त व्याप्तिके प्रभावसे ही अयोध्यामें उत्तमोत्तम मणि आदि रत्नोंको स्वयं रत्नाकर पहुँचा रहे हैं। कवि भी अयोध्याकी सुख सम्पदाके वर्णनमें शब्दोंकी कमीका अनुभव कर रहे हैं। अयोध्यामें विरिंचि (ब्रह्मा) की संपूर्ण कृति दृष्टिगोचर हो रही है। यह धर्म एवं नीति की प्रतिष्ठाका प्रभाव है। अतः त्रयीधर्मका अनुष्ठान राक्षसोंके आतंकमें (कलियुग में) भी व्यर्थ या अप्रामाणिक नहीं ठहरता। धर्मनीतिमें निपुण राजाके अनुशासनमें प्रजा धर्मकी अभिवृद्धिकी ओर उन्मुख रहती और शास्त्रपूत विवेकको समाप्त नहीं करती।

लोकतन्त्रमें राजत्वाधिकारयोग्यता

आत्मगुणसम्पत्तिसे युक्त श्रीरामको देखकर महाराजा दशरथ उनको युवराजपदमें अधिकृत करना चाहते हैं। अब राजा योगके इच्छुक हैं। पर लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के अनुसार संवासिमतको न समझ-कर प्रभु रामका राज्याभिषेक करना (केवल अपने मन से) नीतिविरुद्ध मानते हैं। यतः अर्थ शास्त्रमें एकराज्यवादमें भी लोकतन्त्रको पूर्ण मान्यता दी गयी है। उसके अभिमतकी जानकारीके लिए ही उत्तराधिकारी श्रीरामकी सेवामें राजाने दास दासियों, पुरजनवासियों, सखीसहेलियोंकी नियुक्ति करके रखी है।

चौ.—सब विधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुख चंदु निहारी ॥६॥
मुदित मातु सब सखीं सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ बेली ॥७॥
,, राम रूप गुनु सीलु सुभाउ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ ॥८॥

भावार्थ—चौ० ३ में अवधको 'अवध अंबुधि' कहा है। जिस प्रकार समुद्र पूर्ण चन्द्रको देख उमंगित होता है उसी प्रकार अयोध्यावासी श्रीरामचन्द्रके मुखचन्द्रका दर्शन करते हुए सब प्रकारसे सुखका अनुभव कर रहे हैं।

अपने मनोरथरूपी वेलको फलते देख सब माताएँ और उनकी सखी सहेलियां आनन्दित हैं। राजा दशरथ श्रीरामके गुणशीलस्वभावको देख-देख और सुन सुन कर आनन्दित होते रहते हैं।

'मनोरथवेलि'

शा० व्या०— "प्रजा-सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च प्रियं हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां च प्रियं हितम् ॥
(कौ० अ० १--१९)

इस उक्तिके अनुसार सब माताओंका मनोरथ प्रजासुख है जो' 'सब विधि सब लोग सुखारी' से स्पष्ट किया है। ऋद्धि सिद्धि संपत्तिसे युक्त सब प्रजाको देखना ही 'फलित मनोरथ वेली' कहा है।

संवासिमतकी उपादेयता

सभी सहवासी दास दासियाँ बुद्धिशक्ति-सत्वगुण-सम्पन्न श्रीरामके मुखावलोकनेच्छु हुए। श्रीराम भी आत्मत्वेन सबके हृदयमें निवास करने लगे। उनकी स्नेहवल्ली लोकमें उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होने लगी (यही श्रीराम के ईश्वरत्व का परिचायक चिह्न दृष्टिगोचर होता है)। माता एवं सखियाँ परिचारिकाके रूपमें रहती हुई ज्येष्ठपुत्रके व्यवहारसे प्रसन्न दिखाई पड़ती हैं। नीतिमान् 'व्यक्ति का शील ही, संवासियोंके प्रमोदकी समृद्धिके लिए, नीतिशास्त्रमें कारणतावच्छेदक माना गया है न कि

व्यक्तिका व्यक्तित्व। सौतेली माताएँ भी श्रीरामके स्वरूपसौन्दर्य एवं गुण प्रभावसे अत्यन्त प्रमुदित हैं। वे अपने सौतेलेभावका परित्याग कर चुकी हैं।

लोकमतप्राप्तिकी कुंजी

शीलके अन्तर्गत दातृत्व भी महान् गुण माना गया है। दातृत्व गुणसे युक्त राजा अर्थार्थियों के लिए कल्पवृक्षके समान माना जाता है। अतः अपेक्षा इस बातकी है कि अनुजीवीवृत्त प्रकरणके अनुसार सेवकोंकी दृष्टिमें स्वामीका कल्पवृक्षसम दातृत्व प्रकट होना चाहिये। तभी लोकमतकी अनुकूलता प्राप्त की जा सकती है। शीलके अन्तर्गत दातृत्वके अतिरक्त, गुण, सत्व तथा रूप भी लोकप्रमोदकी कारणता का अवच्छेदक माने जाते हैं। यथा :—

(१) रूप—इन्द्रियों का मोहक है। उसमें सामुद्रिक शास्त्रोक्त रेखा लक्षण आदि अन्तर्निहित हैं।

(२) गुण—परोपकारिता ही गुण है।

(३) शील—आत्मसंभावनीयता हेतु गुण है।

(४) सत्त्व—व्यसन (विपत्ति) एवं अभ्युदयमें निर्विकारिता अर्थात् दोनो में एक समान स्थिति है।

(५) स्वभाव—पूर्व जन्म प्राप्त उद्बुद्ध संस्कारयुक्त जितेन्द्रियता है।

राजपुत्र श्रीराममें उपरोक्त सभी गुण प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द (संवासिमत) प्रमाणोंसे परिलक्षित किये गये हैं।

दोहा—सब कें उर अभिलाषु अस कहहिं मनाइ महेसु।
आप अछत युवराज-पद रामहि देउ नरेसु ॥ १ ॥

भावार्थ—अयोध्यामें सबके मनमें ऐसी इच्छा है कि जिसको पूर्ण करनेके लिये शंकरजीको मनाते हुये वे कह रहे हैं कि राजा दशरथ अपने रहते श्रीरामको युवराज-पद दें दें। 'मनाइ महेसु' से संकेत है कि अयोध्या के राजा और प्रजाके इष्ट देव शंकरजी हैं।

प्रजाका मनोरथ

शा०व्या०—अर्थशास्त्रके निर्देशानुसार धर्मविजयी, प्रजापालक-आत्मगुणसम्पन्न-न्यायप्रिय तथा रिपुञ्जय राजाको ही प्रजा राजपदपर अधिष्ठित देखना चाहती है।

महाराजा दशरथ वृद्ध हो चुके हैं। उनकी चिन्ता अब प्रजामें कम होती जा रही है। नीतिमान् रामको पाकर प्रजा (जनता) अपने सौभाग्य पर प्रमुदित है। सर्वत्र एक ही अभिलाषा उल्लसित हो रहीं है कि महाराज दशरथ युवराजपदपर श्रीरामको अधिष्ठित कर दें।

संगति—लोकतन्त्रात्मक शासन के अनुयायीं राजा भी शासन (नीति) सिद्धान्त का अनुसरण करते हुये लोकमत समझनेके हेतु देशके सभी समूहके हितवादी प्रतिनिधियोंको आमंत्रित करना चाहते हैं।

चौ०—एकसमय सब सहित समाजा। राजसभा रघुराज बिराजा ॥ १ ॥
चौ०—सकल सुकृत मूरति नरनाहू। राम सुजसु सुनि अतिहि उछाहू ॥ २ ॥

भावार्थ—एक समय रघुकुलके राजा दशरथ समाजसहित राजसभामें विराजमान थे। मानो राजा संपूर्ण पुण्यों के मूर्ति रूप हों। श्रीरामका सुन्दर यश सुन कर उनको अत्यन्त उत्साह हुआ। 'धार्मिकोऽयं न्यायतः प्रजापालकः, यह प्रसिद्धि सुयशकी व्याख्या है!

वृद्धाभिसम्मति

शा० व्या०—राजसभामें सभी पक्षोंके समूह हितवादी वृद्धजन उपस्थित हैं! सभी समान सम्मानसे विभूषित हैं। भारतीय राजशासनमें प्रत्यक्ष मतदानकी व्यवस्था, राजसभाकी विशेषता तथा उच्च आदर्शकी परिचायिका है। नैतिक कार्योंमें विषमताका प्रश्न उठता ही नहीं। महाराज के अभिमतको सुनकर सभी प्रतिनिधि वृद्धजन, अभिषिक्त नेताके रूपमें नितिमान् श्रीरामको राजा बनानेके लिये अपनी सम्मति दे रहे हैं!

संगति—राजा दशरथका ऐसा लोकोत्तर प्रभाव था कि लोकपाल भी अन्यान्य राजाओं की तरह श्रीदशरथके अनुगमन में अपना कल्याण समझते हैं

चौ०—नृप सब रहहिं कृपा अभिलाखें। लोकप करहि प्रीति रूख राखें॥ ३॥

भावार्थ—राजा दशरथका प्रताप है कि सब राजा उनकी कृपाकी आकांक्षा रखते हैं। और लोकपाल राजासे प्रीति करनेमें उनका रुख देखते रहते हैं। 'कृपा' और 'प्रीति' का भाव है कि सूर्यवंशीय राजा दशरथ आत्मीयत्वेन उनको स्वीकार करें। सूर्यवंश द्वारा सुरक्षित धर्मप्रतिष्ठासे लोकपाल अपनेको सुरक्षित समझते हैं।

धर्ममर्यादामें पूर्ण स्वतन्त्रता, शोष्यशोषण नहीं

शा० व्या०—ज्ञातव्य है कि रावणके भयसे संत्रस्त होकर सूर्यवंशीय राजा किंवा लोकपाल स्व स्व धर्म मर्यादाके पालनमें अपना मत परिवर्तित नहीं करते। किन्तु सूर्य वंशके शासन कालमें जो भी फल दृष्टिगत हो रहा था, वह शास्त्रसम्सत मर्यादामें स्थित प्रेमका अनुभाव था। यद्यपि कतिपय विचारकोंका मत है कि धर्मकी मर्यादामें अधिष्ठित शासकवर्ग पूर्ण परतन्त्र एवं कामसुखसे वंचित रखे जाते हैं पर यह विचार भारतीय राजनीतिसे समन्वित नहीं होता। क्योंकि भारतीय नीति मर्यादामें स्थित सब नरेश इतने स्वतन्त्र हैं कि उनके मनोरथ कभी अपरिपूर्ण होते ही नहीं थे न तो प्रजाका उत्पीड़न ही होता था। किवहुना लोकपाल स्वयं उनके अनुगामी थे। शासकोंके स्नेहशीलमें आवद्ध जनता राजाको स्वयं अलंकृत करती है उनके प्रति प्रीति तथा आदरमें औचित्यपूर्वक कर देनेकी व्यवस्थाके अनुसार कर आदि देनेमें वह पीछे नहीं रहती। प्रेमकी स्थतिमें आवेगसम्पन्न प्रजाके ये सब अनुभाव हैं! ऐसे व्यवहारमें शोष्य एवं शोषणका प्रश्न ही नहीं रहता। यह भारतीय राजनीतिकी पूर्ण सफलताका परिचायक है!

चौ०—त्रिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरिभाग दसरथ सम नाहीं॥ ४॥

भावार्थ—तीनों भुवनों और तीनों कालमें राजा दशरथ के समान बड़भागी संसारमें कोई नहीं है।

प्रभुके अवतारमें हेतु वंशकी पवित्रता

शा० व्या०—पुत्र पुन्नामक नरकसे पिताका उद्धारक माना गया है। ऐसी परम्परा सूर्यवंशमें मनुसे लेकर अद्यावधि अविछिन्नजलधारावत् प्रवाहित चली आ रही है। उसीके परिपाकसे स्वयं प्रभु रघुवंशका उद्धार ही नहीं किन्तु उसके साथ नीतिकी शिक्षा देकर जगत्के कल्याणके लिए पुत्र (राम) रूपमें अवतीर्ण हैं। यही राजा दशरथका 'भूरिभाग' है। जो तीनों लोक एवं तीनों कालमें और किसीको प्राप्त नहीं है।

चौ०—मंगलमूल रायसुत जासू। जो कछु कहिअ थोर सब तासू॥ ५॥

भावार्थ—ऊपर कहे 'भूरि भाग' को यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं। सम्पूर्ण मंगलोंके मूल राम जिनको पुत्र रूपमें प्राप्त हैं उनके बारेमें जो कहा जाय वह थोड़ा ही है। श्रीरामकी मंगलमूलता गुरु, केवट, मुनि भरद्वाज, बाल्मीकी आदिके बचनोंसे गायी जायेगी।

राज्याधिकारी के चुननेमें विवेकपूर्ण मतदान

शा० व्या०—आत्मगुणसम्पन्न भावी युवराजके सम्मतिमें जो भी युक्तियाँ गायी जायँ वह थोड़ी ही हैं। महाराज दशरथ अभ्यागत प्रतिनिधियोंके अभिमतको जानकर अत्यन्त प्रसन्न हैं। ज्ञातव्य है कि चारों भाईयोंके रहते राजपदाधिष्ठानके लिए श्री रामके प्रति प्रजाकी सम्मति उपलब्ध हो रही है इसका कारण श्रीरामका अपना अत्यधिक विनय है जो वालकाण्डमें श्रीपरशुराम संवादसे स्पष्ट है। "होइहि कोउ एक दास तुम्हारा" (चौपाई १ दोहा २७१ वालकाण्ड)। प्रभु राम ज्येष्ठ पुत्र हैं। निर्दोष एवं पूर्ण आत्म गुणसम्पन्न ज्येष्ठ पुत्रके रहते अन्य भाइयोंका राजपदमें अधिष्ठित होना शास्त्रसम्मत नहीं है। इस दृष्टिसे प्रजावर्गका सर्वाग्रज रामके राज्याभिषेकके लिए उपर्युक्त मतदान करना शास्त्रानुकूल तथा भारतीय नीतिसम्मत होनेसे बुद्धिमत्तापूर्ण है।

पूर्व-मंत्रि-परिषद्

संगति—अर्थशास्त्रके निर्देशानुसार सभामें उपस्थित प्रतिनिधियों का मतदान होना ही राजाके लिए अन्तिम निर्णयके रूपमें ग्राह्य नहीं माना गया है अपितु प्रजाजनोंका निर्णय जाननेके बाद भी राजाको अपना निर्णय करनेमें स्वतन्त्रता है[1]।

कर्तव्य में अविलंब का उपदेश

अतः अन्तिम निर्णयके लिए उत्तरमंत्री, राजपुरोहित जैसे महामनीषियोंके अभिमतकी अपेक्षा राजा को रखनी चाहिये। उसी विचारशृंखलाके अन्तर्गत प्रथमतः गोसाईं जी कर्तव्यको समझा रहे हैं।

चौ०—रायँ सुभायँ मुकुरु कर लीन्हा। बदनु बिलोकि मुकुट सम कीन्हा ॥६॥
,, —श्रवन समीप भए सित केसा। मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा ॥७॥
,, —नृप जुवराजु राम कहुँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू ॥८॥

भावार्थ—राजा दशरथने सहज ही शीशा हाथमें लेकर मुँख देखा तो किरीट टेढ़ा था उसको सीधा किया। इसे दुर्निमित्त समझकर कानोंके पासके बालोंको सफेद देखकर उनको ऐसा भान हुआ कि मानो वृद्धावस्थाका उपदेश हो रहा है कि "हे राजन्, श्रीरामको युवराज पद दे दो। जन्मका यही लाभ है इसको जीते जी क्यों नहीं लेते"।

अन्तसमय की सूचना एवं कर्तव्य पर ध्यान

शा० व्या०—शीशेमें अपने मुकुटको इदंप्रथमतया टेढ़ा देखना महाराज दशरथको अपने अन्तिम समयका परिज्ञान करा रहा है। कानोंके बालोंको सफेद देखना भी अपने समयकी पूर्णताका द्योतक है। कर्णकेशोंके सफेदीसे वृद्धावस्थाकी पूर्णता एवं मुकुटके टेढेपनको देखनेसे आसन्नमृत्युकी कल्पना ये शास्त्रोदित चिह्न होनेसे कभी व्यर्थ नही समझे जाते। इन्हीं हेतुओंको देखकर राजाको अपने अवशिष्ट अन्तिम कर्त्तव्यकी प्रेरणा उत्पन्न हुई और उसको पूर्ण करनेके लिए समयका अविलम्ब भी ध्यानमें आया। संकेत (अयो० दो० २० चौ० ६ एवं चौ० ७।२५ दो० में स्पष्ट है) चौ० १ दोहा २० में कैकेयीकी उक्ति—"दिन प्रति देखउँ राति कुसपने" से भी स्पष्ट है कि बहुत दिनोंसे कैकेयीको दुःस्वप्न और अपशकुन हो रहे थे जो राजा को भी मालूम होगें। अतः स्वाप्निक निमित्त एवं जागृत निमित्त दोनोंसे राजाको अपनी आसन्न

---

१. धृतेऽपि मन्त्रे मन्त्रज्ञैः स्वयं भूयो विचारयेत्।
तथा वर्तेत मन्त्रज्ञो यथा स्वार्थं न पीड़येत्॥
(नीतिसार स. १२ श्लोक ४०)

मृत्युका संकेत मिला है। 'मुधाय' का भाव है कि राजा प्रतिदिन शीशेमें मुँह देखते थे ही। लेकिन मुकुट आज ही टेढ़ा दिखायी दिया और कानोंमें श्वेत केशपर आज ही उनका ध्यान गया। ऐसा होना प्रकृति द्वारा राजाको अपनी आसन्न मृत्युका संकेत देना है जिससे वह सावधान होकर अन्तिम समयके कर्तव्योंको पूर्ण करनेमें पुरुषार्थ द्वारा परितोष करलें। "उपदेसा" का यह भाव है कि राजा दशरथने अभीतक पुत्रोंको राज्य देनेके सम्वन्धमें सोचा ही नहीं था। अतः यह कहना होगा कि मन्थराकी उक्ति "पठए भरतु भूप ननिअउरे" निराधार सिद्ध होती है।

अन्तिम कर्त्तव्य की प्रेरणा

राजाने अपने जीवनमें सभी मंगलकृत्य पूर्ण किये हैं। मंगलोंके सम्वन्धमें 'कृतम्' जैसी स्थिति है। अब एक ही कर्तव्य शेष है जिसको सम्पादित करनेके लिए कर्णकेशोंकी सितिमा एवं मुकुटका टेढ़ापन प्रेरणा दे रहा है। राजा भी उस कार्यको सम्पन्न करनेमें विलम्व करना इष्ट नहीं समझ रहे हैं। वह है ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको युवराज पद देना, इसमें प्रजा एकमत है।

उत्तर-मंत्रि-परिषद्

संगति—अन्तिम निर्णय हेतु उत्तर-मंत्रिपरिषदके मूर्धन्य विद्वान् पुरोहित वसिष्ठजीके चरणोंमें राजा उपस्थित हो रहे हैं।

दोहा—यह विचारु उर आनि नृप सुदिनु सुअवसरु पाइ।
प्रेम पुलकि तन मुदित मन गुरहि सुनायउ जाइ ॥२॥

भावार्थ—उक्त उद्देश्यसे राजाने मनमें जो विचार स्थिर किया उसको कार्यान्वित करनेमें वही शुभ-दिन और सुअवसर है ऐसा जानकर प्रेमपुलकित तन और मुदित मनसे जाकर गुरु वसिष्ठको सुना दिया।

"मुकुट सम कीन्हा। जरठपन उपदेसा" के परिणाम स्वरुप राजाने "योगेनान्ते तनुं त्यजाम्" की उक्तिका विचार आते ही उसी समयको तत्काल कार्यारम्भके लिए 'सुदिन सुअवसर' समझा है।

राज्योत्सव के लिये मुहूर्त का निर्णय

शा० व्या०—चौ० ६ दोहा २ की व्याख्यामें मुकुटके टेढ़ा होनेसे मृत्युकी सूचनाकी वात कही गयी है, उससे पुत्रवियोग, शोक और मरण (अंध शाप से सम्वन्धित) आदिका संकेत राजाको हो गया है। अतः पुत्रवियोग से अपनेको वचानेके लिए राजाने शीघ्रता की जो गुरुके पास जाने और तत्काल राज्याभिषेकका कार्यक्रम शुरु करनेसे स्पष्ट है। कम से कम जितना समय हो सकता था उसको देखते हुए उत्तर दिनमें ही रामराज्योत्सवका आयोजन करना राजाने निश्चित किया।

भरतका पहूँचना स्वल्प समयमें संभव नहीं

इतनी स्वल्प अवधिमें भरतका आना हो नहीं सकता था। राजाकी ऐसी तीव्र शीघ्रता देखकर देव भी घबड़ा कर विवशतामें उसी रात्रिमें देवताओंमें सरस्वती माताासे विघ्नकार्य करने को कहेंगे।

रामवियोग की संभावना में विलंब की अस्वीकृति

ज्ञातव्य है कि अंधशापसे पुत्रवियोग होना निश्चित है तो ऐसी भी घटना हो सकती है कि भरतके आनेकी प्रीतक्षामें अधिक समय लगनेसे उसी वीच श्रीराम भी कहीं चले जाँय और राज्यकी व्यवस्था किये विना ही मृत्यु हो जाय ? इस दोषसे वचनेके लिए राजाने उत्तरदिन को अपनाया है।

कामना-पूर्तिका योग

वहुत दिनोंसे चल रही मनः कामनाके पूर्ण होनेका योग 'अभी आया है'। इसीको कविने 'सुअवसर' शब्दसे बोधित किया है। पंचांगके अनुसार ज्योतिष भी गुरुके समीप पहूँचनेके लिए ग्रहोंकी अनुकूलता को बता रहा है। इस प्रसंगमें समझना यह है कि जिस समय राजाने अपनी अभिलाषाको लेकर गुरुके यहाँ जानेका विचार किया उस दिन पंचांगमें सुदिन था। इसमें हेतुवाक्य दोहा २ है।

गुप्तमंत्रणार्थं गुरु के यहां राजगमन का औचित्य

विचारोंकी अत्युच्चता और कार्यसम्पत्तिकी श्रेष्ठताको ध्यानमें रखकर राजाने स्वयं गुरु के आश्रम में जाना ही उचित समझा। अथवा मंत्रणाके लिए योग्यतम स्थान गुरुका निवासस्थान ठीक होगा ऐसा राजा समझ रहे हैं।

जबतक सम्पूर्ण सामग्री एकत्रित नहीं हो जाती तबतक उसके मध्यावधिमें मंत्रको प्रकट करना अर्थशास्त्रके अनुसार मंत्रभेदका कारण माना गया है। यह दोष गुरुके निवासस्थानमें नहीं समझना चाहिए।

प्रस्तावमें आवेग

संगति—राजा श्रीरामके अभिषेकी कल्पनामें स्वयं पुलकित हैं। प्रसन्नताके अतिरेकसे अन्तःकरणमें आवेग हैं। वृद्धावस्थामें भी शरीरमें द्रुतगतिका दिखायी पड़ना उसी आवेगका परिणाम है। गुरुके द्वारा प्रश्नकी प्रतीक्षा न कर राजा स्वयं अपने मनोनीत प्रस्तावको गुरुके सामने रखते हैं—यह भी आवेगका दूसरा परिणाम है।

चौ०—कहइ भुआलु सुनिअ मुनिनायक। भए राम सब विधि सब लायक ॥१॥
,, —सेवक सचिव सकल पुरवासी। जे हमारे अरि मित्र उदासी ॥२॥

भावार्थ—राजा दशरथ गुरुजीके पास पहूँच कर कह रहे हैं कि 'हे मुनिश्रेष्ठ ! श्रीराम सब रीतिसे सर्वसमर्थ और योग्य हो गये हैं। (सब लायक' का भाष्य आगे चौ० ४ में द्रष्टव्य है।) सेवक गण और समस्त पुरवासी तथा हमारे शत्रु, मित्र, उदासी सबको श्रीराम प्रिय हैं।

राज्यारोहणयोग्यता

शा० व्या०—राज्यारोहणकी योग्यता राजपुत्रमें उनके आभिगामिक गुण-आत्मोपकारिक-गुण-बुद्धि गुण, उत्साह-गुण तथा विजिगीषु-गुणपर निर्भर होती हैं। आत्मवान् श्रीराममें उक्त गुणोंकी सम्पत्तिसे लोकप्रियता है। श्रीरामके हाथोंमें राज्यका अधिकार प्रेमसे समर्पित होने जा रहा है न कि दायप्रयुक्त होनेसे।

ज्ञातव्य है कि "लोभु न रामहि राज कर" और "चहत न भरत भूपतिहि भोरे" की स्थितिमें श्रीरामको हठात् राजपद देनेका निर्णय अथवा उसमें व्यवधान होने पर भरतके ऊपर हठात् राज्य संचालनका भार आदि निर्णयको देखकर कहना होगा कि श्रीराम और भरतको अर्थ प्राप्त होनेमें अर्थशास्त्रमें कही नीति ही साधन हुई है। [प्रमाण टिप्पणी में देखें[1]]

भारतवर्षमें अर्थके अर्जनका यही आदर्श रहा है अर्थात् उक्त नीतिसे प्राप्त सम्पत्ति किसीके भी लिए 'आमिष' अर्थात् आंखमें गड़नेवाली नहीं होती।

---

१. जितेन्द्रियत्वं विनयस्य लक्षणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि संपदः॥ कामन्दकीयजयसंगला टीका १।२४

गुण-सम्पत्तिका उद्देश्य

प्रश्न—श्रीरामने समस्त गुण सम्पत्तिका अर्जन क्या राजपद प्राप्तिके लिए किया है ?
उत्तर—भारतीय शास्त्रमर्यादामें विहित जो भी कार्य हैं उनका अर्जन धर्मके उद्देश्य एवं कर्तव्यकी दृष्टिसे ही शास्त्रोपासक करते रहते हैं, फलकी आकांक्षासे नहीं। यह सिद्धान्त गीतामें भी स्पष्ट है। फलतः शास्त्रोपासकके कार्य अर्थप्रधानभावमें परिणत नहीं होते। उसका दृष्टफल यह है कि गुणोंके अर्जनसे प्रजामें प्रीति एवं तत्प्रयुक्त हर्षानुभावात्मक दान आदि कार्य प्रेमियोंके द्वारा स्वयं सम्पन्न होते रहते हैं ऐसा साहित्यका सिद्धान्त है। तदनुसार राजा एवं प्रजा दोनों ही श्रीरामकी प्रीतिका अनुभव करते हुए उनको राजत्व समर्पण करनेके लिए प्रवृत्त हैं। एवंच राजसभामें चर्चित राज्यप्राप्ति आदि दृष्ट फल प्रभुके लिए आनुषंगिक हैं। इसी व्याख्याको कवि ने राजाकी भाषामें अनूदित किया है।

सब विधि का भाव

"सब विधि सब लायक" की व्याख्या निम्न प्रकारसे समझनी है जैसे—श्रीरामके राज्यपद प्राप्तिके प्रति भरतका अभिमत तथा पुरजन परिजन, की सम्मति और कैकेयीकी रामके प्रति प्रीतिको (चौ २ दोहा ७५ में की उक्ति) समझ शास्त्र विधिको मानकर कुलरीतिके अनुसार ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको युवराज पदसे अभिषिक्त करनेका निर्णय राजा ने किया है।

अथवा दशरथके सेवक श्रीरामकी सेवा करनेमें अपने भविष्यत्को धन्य मान रहे हैं। यही श्रीरामकी आत्मसम्पत्तिका प्रभाव है। मंत्रि-परिषद् भी युवराजावस्थापन्न रामकी दिदृक्षु है। ऐसे अवसर पर महाराज दशरथ श्री रामको 'सब विधि सबलाय क' विशेषणों से विभूषित कर रहे हैं। अथवा उसी के अनुभव में राजा कह रहें हैं कि सभी पुरवासी पुत्रके प्रति अपनी अनुरक्ति प्रकट कर रहे हैं। साथ ही पुरवासियोंमें शत्रु, मित्र एवं उदासीनका विशेष उल्लेख करके राजा अपनी आन्तरिक आशंकाको भी व्यक्त करते मालूम पड़ते हैं। क्योंकि पुरमें शत्रु, मित्र एवं उदासीन रहते हैं। सम्भव है कि श्रीरामको राज्य देनेमें मित्रभेद हो जाय। पर वैसी संभावना कम है। उदासीन वर्ग उपकारकर्तृत्व एवं शत्रुत्व से विरत है। चूंकि सभी प्रस्तुत मंगलकार्यमें मित्रभावसे आये हुए हैं, अतः रामको राजपद देनेमें यह दोष भी निरस्त है।

'सब विधि' कहकर राजाने यह दर्शाया है कि श्रीरामके जैसी योग्यता भरतमें भी निर्विवाद है तथापि रामके ज्येष्ठत्व से सम्पूर्ण विधिकी व्याप्ति श्री राममें ही है। यद्यपि यही परम्परा हमारे वंश में दृढ़मूल है तथापि राज्यानुबंधिकर्तृता दोनों पुत्रों में होने के कारण मेरा वंश 'कुल राज्य' में परिणत होकर प्रजाकी सम्मतिसे भरतको भी राज्याधिकारी बना सकता है :—महाराजा दशरथ ऐसा विचार करते हुए निर्णय कर रहे हैं कि भरत राज्याभिलाषी एवं अर्थी न होनेसे वह वंशपरम्परा का अतिक्रमण करने में समुत्सुक नहीं होगा।

अथवा ज्ञातव्य यह भी है की राजा अपने पुरमें शत्रु-मित्र उदासीन की अस्तिताको मानते हैं। जैसे राजाके घरमें ही तीनो रानियां शत्रु मित्र उदासीन भेद से विभक्त हो सकती हैं। जैसे कौसल्या मित्र, सुमित्रा उदासीन है और मातृकुलको देखते हुए मन्थरासहित कैकेयीके बारेमें कहा जा सकता है कि यदि राज्यकी समुचित व्यवस्था किये विना राजाके शरीरका त्याग हो जाता है तो वह मानिनी होनेसे सम्भव है, कि किसीके बहकावेमें आकर अरिभावको ग्रहण कर सकती है। यद्यपि उसने अभीतक ऐसा कोई व्यवहार नहीं किया है तथापि उसमें कृत्रिम शत्रुताका होना असम्भव नहीं हैं। इसके उत्तरमें राजाने 'सबविधि' कहा है। अर्थात् श्रीरामने ऐसा कोई कार्य नहीं किया है जिससे कैकेयी उनमें दोष निकाल सके। फिर भी उक्त सम्भावनाको ध्यानमें रखकर राजा दशरथ अपने जीवन में ही गुरुजीकी अनुमतिसे श्रीरामके राजत्वको निर्णीत कर देना चाहते हैं जिससे श्रीरामका राज्याधिकार सर्वदाके लिए सुरक्षित हो जाय। यही 'सब विधि' का सदुपयोग है।

शास्त्रानुयायिता में प्रतिज्ञार्थनिर्वहण

उपरोक्त चौपाईमें 'सबविधि' कहनेका तीसरा तात्पर्य यह भी है कि राजा विधिका अनुसरण करते हुए अपनी सत्यसंधताके बल पर श्रीरामको राज्याभिषेक करना चाहते हैं। उनके सामने ऊहापोह की स्थिति खड़ी है। पूर्वापरविधिके समन्वयको यथावत् न जाननेपर उनकी अवस्था किंकर्तव्यविमूढ़ जैसी है। एक तरफ कैकेयीके साथ विवाह करने के अवसर पर कैकेयीसुत भरतको राज्य देने की प्रतिज्ञा है। (जैसा चौ० १ दोहा २९ की व्याख्यामें स्फुट किया गया है) दूसरी तरफ समस्त आत्मगुणसम्पन्न तथा शास्त्रतः युवराज पदके योग्य श्रीरामको राज्याभिषेक करने का अपना निर्णय है। इसके लिए राजाको पूर्वापरविधिका समन्वय करना है। इस समन्वयमें इतिकर्तव्यता का मीमांसाके द्वारा निर्णय करके ही राजाने श्रीरामका राज्याभिषेक निर्णीत किया है। जिससे सत्यसंधता पर भी आंच न आवे और शास्त्रविपरीत कार्य भी न हो।

श्रीरामको राज्य का लोभ नहीं है और भरत राज्य लेना चाहते नहीं जैसा (दोहा ३१ में) "लोभु न रामहि राजु कर" और (चौ० १ दोहा ३६) "चहत न भरत भूपतहि भोरे" से स्पष्ट है। अपनी कल्पनामें राजा ऐसा नहीं बोल रहें हैं बल्कि श्रीराम और भरतका अभिमत जानकर कैकेयीसे कह रहें हैं। ऐसी परिस्थितिमें राजपद किसको दिया जाय? यह प्रश्न है। इसके समाधानमें राजाने शास्त्र का सहारा लेकर कुलरीतिके अनुसार ज्येष्ठत्व होनेसे श्रीरामको हठात् युवराज बनानेका निर्णय किया है। इसपर पुरजन-प्रजाकी सम्मति और कैकेयी की इच्छाका आनुकूल्य समझनेसे अपनी प्रतिज्ञाको मिथ्या करनेका कारण नहीं है। न तो श्रीराम या भरतके प्रति पक्षपात है। शास्त्र का नियामकत्व माननेमें राजाकी जितेन्द्रियता भी प्रकट है। ज्ञातव्य है कि राजा यदि अपनी प्रतिज्ञाको ही अपनाते हैं तो राजनीति का लोप होनेसे राज्य और देशका विनाश है। शास्त्रानुयायी सत्यसंध भक्तके द्वारा यदि ऐसा कोई संकल्प हो जाता है जिसको पूर्ण करनेके लिए शास्त्र-विधानका अनुसरण करनेमें अपनी प्रतिज्ञा असत्य होती हो तो प्रभु युक्तिसे उसको पर्ण करते हैं। जैसे राजाका यह प्रभाव कहा जायेगा कि प्रभुकी अनुकम्पासे ऐसा विधि-विधान बन गया कि राजनीतिकी छत्रछायामें त्रयीका प्राधान्य रहते हुए (भरत के राज्य संचालन से) राजाकी प्रतिज्ञा भी रह गयी और श्रीराम एवं भरतके चरित्रसे राजाका वचन भी सत्य प्रमाणित रहा।

संगति—श्री राम के आत्मसंपदादि गुणों के साथ उपरोक्त तथ्यों का निरूपण राजा ने गुरु वसिष्ठ के सामने किया।

चौ०-सबहि रामु प्रिय जेहि बिधि मोही। प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही॥३॥
बिप्र सहित परिवार गोसाईं। करहिं छोहु सब रौरिहि नाईं॥४॥

भावार्थ—संपूर्ण सेवक पुरजन आदि सभी को श्रीराम वैसे ही प्रिय हैं, जैसी उनकी प्रियता मुझमें है। श्रीराम ऐसे हैं मानो आपका आशीर्वाद ही मूर्तिमान रूप में सुशोभित है। हे गुसाईं जी! संपूर्ण विप्र समाज, परिवार सहित, मेरे पुत्र पर ऐसा ही प्रेम करता है जैसा कि आप।

सबलायक की उपादेयता

शा० व्या०—पुर एवं जनपद में स्थित सभी वर्गों को जो प्रिय है वही राजा के लिये परम कर्तव्य माना गया है। अतः श्री राम को राजपदाधिष्ठित बनाने में यह उत्सव निर्दिष्ट है। एकतन्त्र में लोकसंग्रह प्रकरण को ध्यान में रखते हुए राजा का कर्तव्य होता है कि वह अपने प्रति लोकसम्मति (जनानुराग) को स्थायिनी बनाता रहे। राजा दशरथ ने इसी लोकप्रियता को 'सबलायक' से दर्शाया है। इसको श्री राम ने बाल्यकाल से ही स्वभावतः अर्जित कर रखा है। शेष दोहा ३१ देखें

गुरू एवं विप्रों की भी प्रियता

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥भा०१।७।१०॥

इस श्रीमद्भागवततोक्ति के अनुसार आत्माराम विप्र, विश्वामित्र वसिष्ठ जैसे मुनि भी ज्येष्ठपुत्र श्री राम के प्रति अपनी निरतिशय प्रीति रखते हैं। जो श्री राम की प्रभुता एवं नीतिमत्ता का परिचय करा रही है। इस प्रकार 'सवलायक के अन्तर्गत नीतिसंपन्नता. आत्मसंपदा, तथा प्रभुत्व दण्डप्रणयन आदि सभी गुणों को श्री राम ने प्रकट किया है।

गुरुजी से आशीर्वाद हेतु उनका कीर्तन एवं उनसे प्रार्थना

गुरुजी का आशीर्वाद ही राजा के घर में पुत्र रूप में अवतीर्ण है। अतः राजा पुनरपि गुरु वसिष्ठ से प्रार्थना कर रहे हैं कि विप्रों को साथ में लेकर वे राज्योत्सव कार्य को संपन्न करने में सहयोग प्रदान करें।

संगति—राज्य में राजा को गुरूजनों की अपेक्षा क्यों रहती है? ऐसा प्रश्न उपस्थापित किया जाय तो उसके समाधान में राजा अपने अनुभव को सुना रहे हैं।

चौ०—जे गुरुचरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभवबसु करहीं ॥५॥

भावार्थ—जो गुरुचरणरज को अपने सिर पर चढ़ाते हैं वे मानो समस्त विभवको जीत कर अर्थात् सर्वगुण-संपत्ति को अपने अधीन करते हैं।

शिरोधृत गुरुचरणरज का वैभव

शा० व्या०—विवेकवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य जिनमें प्रकट है वे गुरु हैं। उनके चरण तर्क एवं प्रमाण हैं।[1] उन दोनों का लेश भी यदि शिष्य को उपलब्ध है तो गुरुचरणरज की उपलब्धि कही जा सकती है। यह उपलब्धि जिसको सौभाग्य से हो गयी है वह अविनाशिनी संपत्ति से पूर्ण है तथा यथोचित प्रतिभा से संपन्न हैं। यह व्याप्ति है। इसकी उपादेयता तब समझमें आती है जब कि शिष्य सद्गुरु को पाकर उनके आदेशों को आत्मीयता से ग्रहण करते हैं। निर्मल अन्तःकरण में नीत्युचित यथार्थ तत्व का भान होने से संपत्ति भी सुलभ होती है। अकार्य से निवृत्त होना वैसे शिष्यों का स्वभाव बन जाता है।

संगति—इस स्वभाव को राजा ने अपनाया है अतः वह उक्त व्याप्तिका अधिकारी होता हुआ निर्वाध समृद्धिमान् है। उसी को राजा अपने अनुभव से प्रमाणित कर रहे हैं।

चौ०—मोहि सम यहु अनुभयउ न दूजे। सबु पायउ रज पावनि पूजे ॥६॥

भावार्थ—मेरे समान (भाग्यशाली) दूसरा कोई नहीं हुआ। आप जैसे समर्थ गुरु चरण की पूजा कर उसकी कृपा से सौभाग्य (रानियां, संपत्ति अखण्ड ऐश्वर्य, चिरंजीवित्व, अनुशासन का यथार्थ आदर्श पितृभक्त पुत्रचतुष्टयोपलब्धि) अनायासेन प्राप्त है। कवि ने इसे 'सबु' शब्द से बताया है।

राजा का असाधारण सौभाग्य और उपपत्ति

शा० व्या०—गुरु वसिष्ठने शिष्यभाव में स्थित राजा को राज्यपालनोचित भारतीय राजनीति की शिक्षा देकर निष्ठावान् बनाया है। सेवकभाव में रह कर राजा ने भी अनुष्ठानतः नीति शास्त्र की प्रामाणिकता स्फुट की है।

---

१. न्याय कुसुमांजलि मंगलाचरण टीका—

राजा शासक होता हुआ भी अपनी पृथक् स्वतन्त्रता को विलीन कर मंत्र के सर्वस्व गुरु मुनि की मर्यादा में रहने को इष्ट मानता है। उसका प्रत्यक्ष फल है कि श्री राम प्रभु पुत्ररत्न के रूप में उपस्थित हैं। यह आनन्दातिरेक तथा परम सौभाग्य राजा दशरथ को असाधारण रूप से प्राप्त है।

संगति—उक्त मनोरथ पूर्ति को देख कर राजा को विश्वास है कि अवशिष्ट मनोरथ भी पूर्ण होगा।

चौ०–अब अभिलाषु एकु मन मोरे। पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे ॥ ७ ॥

भावार्थ—उत्तरकाल को देखते हुए मेरे मन में केवल एक इच्छा रह गयी है वह भी आपकी ही कृपा से पूर्ण होगी। 'नाथ' सम्बोधन से राजा कह रहे हैं कि आप उस अभिलाषा को पूर्ण करने में समर्थ हैं।

गुरु के आशीर्वाद का विशेष प्रयोजन

शा० व्या०—ऐसा मालूम होता है कि भरत की अनुपस्थिति में समयसापेक्षताके कारण मनोरथपूर्ति के बारे में राजा को सन्देह है। अतः राजा का तात्पर्य यह है कि अभी वे जिस अभिलाषा को व्यक्त करने जा रहे हैं उसकी पूर्णता का भार गुरु वसिष्ठ के ही अधीन है। राजा स्वयं को इसी हेतु से महत्व न देकर केवल गुरुजी की इच्छा का अनुसरण करना चाहते हैं। चिन्तनीय विषय यह है कि गुरुप्रसाद से ही शिष्य के सब मनोरथ पूर्ण होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रलोभन के वश गुरु शिष्य को पराधीन बनावें। अपितु उसको योग्यतम बना कर उसको पूर्ण स्वतन्त्र बनाना ही भारतीय राजनीति का गौरव है।

संगति :—अपनी इच्छा को व्यक्त करने की अनुमति मांग रहे हैं।

चौ०-मुनि प्रसन्न लखि सहज सनेहू। कहेउ नरेस रजायसु देहू ॥८॥

भावार्थ—राजा दशरथ का अपने प्रति सहज स्नेह देखकर मुनि वसिष्ठ प्रसन्न हो गये। उनकी प्रसन्नता को देखकर मुनि ने राजा से आज्ञा की मांग की।

गुरुशिष्यप्रेम

शा० व्या०—गुरु के आशीर्वाद की आकांक्षा को सुनकर मुनि इस निर्णय पर पहुंचे कि राजा उनके आशीर्वाद का विशेष आकांक्षी है। गुरुजी को भी स्वपरिवार में अभिन्न अंग देखता हुआ राजा उनपर अति प्रीतिमान् है। राजा ने यथार्थतया गुरुसेवा करके असाध्य को साध्य बना लिया जो इतिहास से सिद्ध है।

इसलिए राजा के अन्तिम मनोरथ की पूर्ति करने में सहायक बनने का विचार कर गुरुजी ने उससे अभिलाषा को स्पष्टतया प्रकट करने का आदेश देते हुए क्या आज्ञा है ? ऐसा कहा।

रजायसु का औचित्य

राजा से मुनिका 'राजाज्ञा' कहना अनुचित दिखता है। परन्तु राजभाव में उपस्थित राजा स्वामी है। मन्त्री पुरोहित वसिष्ठ द्रव्य प्रकृति स्व माने गये हैं, यह भारतीय राजनीति सिद्धान्त है। उसके अनुसार गुरु वसिष्ठ ने 'रजायसु' का प्रयोग किया है।

ध्यातव्य है कि समयसापेक्षता में उक्त कार्यसिद्धि के सन्देह का विचार करके उत्तर में गुरुजी **'यदा रामस्य युवराजत्वं भविता तदा सुदिनम्'** ऐसी कालिक व्याप्तिका निर्देश करके श्रीराम के प्रमुत्व को प्रकट करेंगे। उक्त व्याप्ति में सुदिनत्व साध्य है राज्याभिषेकका भावित्व हेतु है अतः सुदिन का अभी

निर्णय नहीं है। फिर भी राजा को बढ़ावा देते हुए ऐसा कहेंगे कि तत्काल में राजा का प्रभु में पूर्ण मनोयोग हो जाय। इसलिए भावी अव्यवहित दिन को मुहूर्त कहकर रामराज्याभिषेक की तैयारी करानेके हेतु से राजा के मनोरथ पूर्ति की प्रशंसा कर रहे हैं।

संगति—पूर्व चौपाई मे कही राजा दशरथ की आज्ञा का क्या महत्त्व है उसको यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं।

दो०—राजन राउर नाम जसु सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिपमनि मन अभिलाषु तुम्हार ॥ ३ ॥

भावार्थ :—हे राजन्! आप के नाम की कीर्ति ही मनोरथ को संपूर्ण करने वाली है। हे राजाओं में श्रेष्ठ! आपकी मनःकामनाका विषय तो आपकी इच्छा के पीछे चलने वाला है अर्थात् आपकी इच्छा ही तत्काल फल देनेवाली है।

इच्छासिद्धि निर्विकारिता में

शा० व्या०—गुरु वशिष्ठ राजा दशरथ की स्तुति करते हुए कहते हैं कि आप मेरे अधीनस्थ नही हैं बल्कि स्वतन्त्र हैं। आप का यश इतना विस्तृत है कि संपूर्ण वर्ग आपके यश का अनुगामी हो रहा है। आपकी इच्छा भी इतनी सुनियन्त्रित है कि वह कभी व्यर्थ नही होती। आपकी जो भी अवशिष्ट अभिलाषा होगी वह स्वयं ही पूर्णता प्रदान करेगी क्योंकि आपका अन्तःकरण अशक्य, अकल्प, और अभव्य की ओर झुकता ही नहीं। यह आपकी निर्विकारिता का परिणाम है।

राजा की कल्पना मे प्रामाण्य

राज सुख मे उबस्वर्ग सुख यहाँ दर्शाया है। भारतीय राजनीति को ऐसा ही सुख अभिमत है जिसमे नीतिमान् राजा को इच्छा होते ही दूसरे क्षणमे तदनुकूल घटना बन जाय। राजा दशरथ की सत्य संकल्पता वसिष्ठमुनि द्वारा प्रमाणित हो रही है। राजा दशरथ की सत्संकल्प स्थिति होते हुए भी गुरुजी की और शिवजी की कृपा से सब काम अभीतक पूर्ण हुए हैं। यही कल्पना का प्रामांण्य है फिर भी अवशिष्टा प्रस्तुता अभिलाषा एकमात्र यही (राम राज्याभिषेक की) जीवित रहते पूर्ण न होने मे प्रभु की इच्छा को ही कारण कहा जायगा।

राजेच्छाविषयत्व हेतु में निरुपाधिकत्व

मुनि की इस उक्ति मे पवित्रात्मा नीतिकुशल राजा की इच्छाविषयता हेतु है। मनोरथपूर्ति साध्य है। यह हेतु निरुपाधिक होने से सत् है अर्थात् मनोरथपूर्ति का व्याप्य है तथा उसमें पक्षधर्मता भी सिद्ध है। यह व्याप्ति तबतक है जब तक राज्य पालन का फलस्वाम्य राजा मे था। उस दृष्टि से राजा के हृदय मे राज्यफल की पूर्णता है। अभी तत्संबन्धिनी कामना नहीं है। यह राजापर प्रभु की कृपा है।

राजा जब अन्तिम अभिलाषा को व्यक्त करेंगे तब उसके द्वारा संकेत यह होगा कि राज्य का फल-स्वाम्य श्री राम मे रहेगा। तत्संबन्धिनी यह अभिलाषा होगी। उसका विषयत्वरूप हेतु मनोरथ पूर्तिरूप साध्य का व्याप्य नहीं होगा यतः यह सोपाधिक होगा। उपाधि श्री राम ने बतलाया हुआ अनौचित्य होगा। इस रीति से मुनि के उक्त वचनों में असंभावना आदि दोष निरस्त हैं।

संगति—मनोरथ को सुनाने के लिये आप आये हैं तो मै सुनना चाहता हूं।

चौ०—सब विधि गुरु प्रसन्न जिय जानी। बोलेउ राउ रहसि मृदु बानी ॥१॥

भावार्थः—गुरुजी सब प्रकार से प्रसन्न हैं समझ कर राजा हंसते हुए मृदुवचन बोले।

गुरु का आभिमुख्य

शा० व्या०—गुरुजी का आभिमुख्य प्राप्त किये विना अभिलाषा को प्रकट करना उचित नही था ऐसा सोच कर राजा ने अपना मनोरथ प्रकट नहीं किया था। अभी गुरुजी को प्रसन्न देखकर राजा ने निर्णय किया कि मनोरथपूर्ति मे गुरुजी का आशीर्वाद अवश्य प्राप्त होगा।

संगति—ऐसा सोच कर राजा अपनी अभिलाषा (जो कि सोपाधिक होगी) मृदुवाणी में सुना रहे हैं।

चौ०—नाथ रामु करिअहिं जुवराजू। कहिअ कृपा करि करिअ समाजू ॥२॥

भावार्थ :—हे नाथ ! श्रीराम को युवराज बनाना चाहता हूँ। आप कृपा करके कहिये ठीक है तो उसकी तैयारी करूँ।

मनोरथ का प्रकाशन

शा०व्या०—महाराज दशरथ श्रीरामको युवराज पद देना चाहते हैं। पर उत्तरमंत्रिपरिषद में इसका अन्तिम निर्णय अवशिष्ट था, उसीपर सम्मति पाने के लिए पूर्वोदित प्रस्ताव गुरुजी के सामने राजा ने रखा। युवराज पद देने के अनन्तर यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि राजा राज्य से अलग नहीं होंगे। वास्तविकता तो यह है कि श्री राम का राज्यभिषेक स्वयं संपन्न कराके "योगेनान्ते तनुत्यजाम्" कालिदासोक्ति के अनुसार अर्थात् योग आराधना से शरीर को त्यागना चाहते हैं।

चौ०—मोहि अछत यहु होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन लाहू ॥३॥

भावार्थ—मेरे रहते यह उत्सव हो तो सब लोगों को नेत्रों का लाभ प्राप्त हो।

मोहि अछत का ध्वनितार्थ

शा० व्या०—यहाँ अन्तर्ध्वनि ऐसी मालूम होती है कि गुरु ने कहा होगा कि जब समय आवेगा तब प्रस्ताव का अनुमोदन किया जायगा, अभी शीघ्रता क्या है ? इसके उत्तर में राजा 'मोहि अछत' कह रहे हैं। अर्थात् मृत्यु अत्यन्त सन्निकट है जैसा दोहा २ चौ० ६-७ में वर्णित लक्षणों—मुकुट के टेढ़ेपन से (कैकेयी के दुस्वप्न से) राजा को ज्ञात हो चुका है। अति शीघ्र आँख मूँदने की संभावना है इसलिए राजा चाहते हैं कि राज्योत्सव उनके सामने हो जाय और समाज उसको देखकर सुखानुभव करे।

चौ०—प्रभु प्रसाद सिव सबइ निबाही। यह लालसा एक मन माही ॥४॥

भावार्थ—आपकी प्रसन्नता होने से अर्थात् गुरु की कृपा से शंकर जी ने सब काम पूरा किया है। अब केवल यही एक अभिलाषा मन में है।

शा० व्या०—गुरु की कृपा विना कार्य निर्विघ्न नहीं होता—इसका विवेचन अरण्य काण्ड में किया गया है।

एकत्व लालसा मे

मुख्य अभिलाषा रामराज्याभिषेक की है और उत्सव आदि तदिच्छाधीन है उसीको कविने 'यह एक लालसा मन माही' से दर्शाया है। न्यायभाषानुसार एक लालसाका अर्थ है—फलेच्छानधीन इच्छा निष्कर्ष यह है कि व्यावहारिक कार्यमें फलेच्छा ही सामानों को जुटाने में कारण होती है पर भक्तों की इच्छा फलेच्छा के अधीन नही होती है अतः लालसा में एकत्व उपपन्न है। दशरथ की उपर्युक्त लालसा की एकवाक्यता बालकाण्ड में मनु के पूर्वजन्म के प्रसंग से ज्ञातव्य है[1]।

---

१. यथा—एक लालसा बड़ि उर माही। चाहउ तुम्हहि समान सुत। मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। ममजीवन तिमि तुम्हहि अधीना आदि। चौ० ३ दोहा १४९ तथा चौ० ६ दोहा १५१ बा० का०

लालसा हेतु में सोपाधिकत्व

यह अभिलाषा दो० ४ के निर्देशानुसार श्री राम के भोग्यफलस्वाम्यसंबन्धिनी है वह सोपाधिक है। उसका प्रकाशन मुनि प्रत्युत्तर में करेंगे।

संगति—राम राज्य देखने के बाद पुनः दूसरी अभिलाषा प्रकट करें तो कहां तक पूर्ति की जाय? इस प्रश्न के उत्तर में राजा का अग्रिम कथन उपस्थित है।

चौ०—पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ ॥५॥

भावार्थ—फिर शरीर रहे या जाय इसका सोच नहीं रहेगा बादमें होने वाला कोई पछतावा भी नहीं रहेगा।

राज्याधिकारनिर्णयसंबन्धिनी विनिगमना

शा० व्या०—राजाने कहा एक मात्र यही मनोरथ आपके सामने रखता हूं। यदि यह अभिलाषा घोषित न करूँ तो मेरा अन्तःकरण मृत्युके समय उसीमें भ्रमण करेगा और मुक्तिमें बाधक होगा। अभिलाषाकी पूर्ति हो जानेपर चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) भी निर्बाध है। मृत्यु अति सन्निकट है, इस समय जीवित रहते यदि मैं श्री रामके लिए युवराज पदकी घोषणा नहीं करता तो भविष्यत्में प्रजाको संताप का अनुभव करना पड़ सकता है। चार पुत्र हैं, राज्यदानके अनिर्णीत होनेकी स्थितिमें पुत्रोंमें एकार्थाभिनिवेश प्रयुक्त कलह खड़ा हो सकता है, तब राजपद किसने पाना? यह समस्या असमाधेय होगी। कुलराज्य किंवा एक राज्य का निर्णय न हो पायेगा। वंशकी मर्यादा भी उच्छृंखलित हो जायेगी। अतः मैं ही विनिगमक बनकर राज्याधिकार की घोषणा कर दूँ।"

यद्यपि राजा दशरथकी अभिलाषा पूर्ण न होगी फिर भी श्री रामको राज्य देनेका निर्णय स्थिर रहेगा। उक्त निर्णयकी सार्थकता आगे सिद्ध होगी।

संगति—राजा का उपर्युक्त मनोरथ सुनकर गुरु वसिष्ठ अत्यन्त प्रसन्न हुए।

चौ०—सुनि मुनि दशरथ बचन सुहाए। मंगल मोद मूल मन भाए ॥६॥

भावार्थ—मंगल और मोदका मूल राजा दशरथ का वचन सुनकर मुनि वसिष्ठ के मनको अच्छा लगा।

अभिलाषा का औचित्य

शा० व्या०—राजा का उपर्युक्त मनोरथ सुनकर मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए। यह राजकीय मनोरथ सूर्यवंशके लिए ही नहीं, सबके लिए मंगलदायक है, इष्टलाभजन्य सुख बढ़ानेवाला है जैसा राजाने आगे कैकेयी द्वारा विघ्न उपस्थापित करने पर भविष्यवाणी करते हुए स्पष्ट किया है[1]।

मन भाए का भाव

'मन भाए' से गुरु वसिष्ठका समर्थन व्यक्त है। रामराज्याभिषेक अभी होगा कि नहीं, यह दूसरा विषय है जिसका समाधान दोहा ४ की व्याख्या में स्फुट है।

संगति—राजा दशरथ को अभिलाषा में निरत रखकर रामके प्रति उनका चिंतन लगानेके हेतु भविष्यतको देखते हुए गुरुजी श्री रामका वास्तविक स्वरूप समझा रहे हैं।

---

(१) सुबस बसिहि फिर अवध सुहाई। सब गुनधाम राम प्रभुताई।
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई। चौ० ३-४ दो० ३६

चौ०—सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं ॥७॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी ॥८॥

भावार्थ—गुरुजी ने कहा हे राजन् सुनो। जिससे विमुख होने पर जीवको पछताना पड़ता है। जिसका भजन किये विना मनकी जलन जाती नहीं वही सबका स्वामी श्री राम है जो तुम्हारे पवित्र प्रेमके अधीन हो तुम्हारा पुत्र हुआ है।

प्रभुत्व

शा० व्या०—प्रभु वही है जिसकी विमुखतामें पश्चात्ताप, जरा जर्जरत्व (बुढ़ापा) और मृत्यु पर्यवसानमें उपलब्ध होते हैं। जिसके सामुख्यमें व्यसनमुक्त आनन्द की उपलब्धि होती है[1]। ऐसा स्वामी (ईश्वर) पुत्र रूप में आपके घरमें उपलब्ध हुआ है।

पुनीत प्रेम का भाव

'पुनीत प्रेम अनुगामी' 'का भाव है कि ईर्ष्या, मात्सर्य, द्वेष आदि दोषों के अभावमें प्रेमकी पवित्रता प्रकट होती है। प्रेमकी प्रधानता में कर्तव्य विमुख होना इष्ट नहीं है। शुद्ध प्रेम ही रामतत्व है। रामको युवराज होना प्रिय नहीं है अपितु युवराजत्व रामको वरण करना चाहता है। अतः उस निर्मल प्रेमतत्व के अधिन हो कार्य करते हैं तो आपका मनोरथ सराहनीय माना जायगा। मंगलकी कामना करना अपना कार्य है। अर्थात् राज्यफल के स्वामी प्रभु होंगे इसमें उनकी इच्छा. उपाधि है उसके रहते निर्णय करना संभव नहीं। उपाधिका निर्णय श्री राम के वैमुख्य को ग्रन्थकार व्यक्त करेंगे। (चौ० ७ दो० १० में)

वैमुख्य का ध्वनन

'जासु विमुख' से गुरुजी ने राज्याभिषेकमें श्री रामकी विमुखता ध्वनित की है जो श्री रामके मनोभाव—"बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू" में प्रकट है। "जासु विमुख पछिताही" से यह भो ध्वनित है कि वनगमन से श्री रामकी विमुखताका अनुभव करके राजा पछतायेंगे जैसा कैकेयी के सामने राजा को कहना पड़ा" तोर कलंकु मोर पछिताऊ" (चौं० ५ दोहा ३६)। "जासु भजन बिनु जरनि न जाही" का यह भी भाव है कि अन्तकालमें रामका वैमुख्य होगा तो उसमें तन्मय हो नामोच्चारण करते हुए श्री राम का जो भजन होगा, उससे राजाका संताप चला जायगा। राजाके जन्मान्तरीय (मनुके) इतिहास से प्रमाणित होकर मुनि वसिष्ठ के उक्त वचन फल देने वाले होंगे।

संगति—प्रभु की यह सेवा है इसमे विलंब का निषेध कर उत्साह बढ़ा रहे हैं।

दो०—बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु।
सुदिन सुमंगल तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु ॥४॥

भावार्थः—देर मत करो। (श्रीरामका राज्याभिषेक करने का) सब समाज जुटाओ। जब श्री राम युवराज हों तभी मंगलदायक शुभ दिन होगा।

---

१. तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः॥ (श्री० भा० १० स्कन्ध ४५–१९)

प्रभुत्व का साधक

शा० व्या०—वसिष्ठ मुनिने युवराज होने के अनुकूल मंगल दिन नहीं बताया (क्योंकि वह जानते हैं कि श्री रामको वन में जाना है) अपितु यह कह दिया कि जिस दिन श्रीराम युवराजपद पर बैठेंगे वही शुभ दिन होगा। इसके लिए कल (भविष्यत्कालीन दिन) की प्रतीक्षा नहीं करनी है। काल, देश, नियति रागादि से कंचुकित जीव है, उसको काल देशादिका विचार करके कार्यका आरंभ करना पड़ता है। ईश्वर उनके अधीन नहीं है, वह जब इच्छा करता है तभी सुदिन होता है। ईश्वरको देशकाल नियतिकी प्रतीक्षा नहीं करनी होती, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह शास्त्रमर्यादाका अतिक्रमण कर काल को अनुकूल बनाता है। कहने का निष्कर्ष इतना ही है कि प्रभुको जिस समय कार्य की चिकीर्षा होती है वह समय शास्त्रोक्त शुभ दिन बनकर उपस्थित हो जाता है। गुरुजी ने राजाको यही समझाया कि "रामोऽयं ईश्वरः कालप्रतीक्षणकर्तृत्वाभावे सति संकल्पकालीन कार्यानुबन्धि शास्त्रोक्त सकलमुहूर्त वृत्तित्वात्"।

इस प्रकार श्री राम में ईश्वरत्वका संकेत राजा दशरथको समय समयपर उपलब्ध होता रहा। राजाको श्री राममें ईश्वरत्वके प्रबोधकी पूर्णता आगे होगी जैसा दोहा ७७ की व्याख्या मे स्पष्ट किया जायगा।

मुहूर्त न बतलाने का व्यावहारिककारण

व्यावहारिक पक्ष से गुरुजी के वचनों का भाव यह है कि श्रीरामको जब युवराज होनेका योग है ही नहीं तब मुहूर्त क्या बताना? उनको तो राजा होनेका योग है जिसके लिए मुहूर्त गौण है। अभी श्रीरामको राज्याभिषेक इष्ट नहीं है जैसा चौ० ७ दोहा १० में 'अनुचित एकू' से स्पष्ट है। मुनि वसिष्ठके वचन से भी यह स्पष्ट है कि राजाकी राज्याभिषेककी तैयारीमें दैवानुकूल्य नहीं है। इस प्रकार शास्त्र-प्रमाण (दुर्निमित्तकी सूचना), अंधशाप तथा कैकेयीके दिये थातीरूप में वरके आधारपर गुरुजीके उक्त वचन प्रमाणरूपमें मूल्यांकित हैं।

युवराजत्व

विष्णुधर्मोत्तर पुराणमें यौवराज्यसंबंधी उल्लेख[1] से ज्ञात होता है कि स्वस्थ राजाके रहते यौवराज्य का अभिषेक मुहूर्त देखकर होता है। वसिष्ठजी ने मुहूर्तका विषय टालकर कह दिया कि जिस दिन श्री राम राजा होंगे वही मुहूर्त होगा। उनका वचन उत्तरकाण्डमें रामराज्याभिषेक के अवसरपर कहे कथन से पुष्ट होता है "आज सुघरी सुदिन सुहाई"। (चौ० ४ दो० १० उ० का०)

तात्पर्य यह कि राजा मंगल कार्यक्रम शुरू कर दें। भविष्यत् में जो होना है वह होकर रहेगा। इस प्रकार गुरुने राजा की मनोरथपूर्ति के बारे में अपनी सुस्पष्ट मति प्रकट नहीं की और न राजा को हतोत्साहित किया क्योंकि दशरथजी का अन्तिम मनोनीत निर्णय साक्षीरूप में सब को सुनाकर रखना अभीष्ट है।

मुनिने खासतौर से यह समझाया कि जब श्री राम को युवराज बनाने के लिये संवासियों (पौर जान-पदों) का मत प्राप्त हो चुका है तब राजाको अपना निर्णय सुनानेमे विलम्ब नहीं करना चाहिये। राजा की स्थिर घोषणा से राजनीतिसिद्धान्तानुसारेण श्रीराम युवराज मान लिये गये हैं। उत्सवका कार्यक्रम देखा जायगा।

प्रेमकी विह्वलतावश राजादशरथने श्रीगुरु के छिपे हुए आशय को नहीं समझा।

१. नोट :—मृते राज्ञि न कालस्य नियमोऽत्र विधीयते।
तस्यास्य स्नपनं कार्यम् विधिवत्तिलांजलिसर्षपैः॥
मृत इति स्वस्थस्याप्युपलक्षकम्।
यदा पूर्वस्मिन् राज्ञि मृतेऽस्वस्थे वोत्तरस्याभिषेकस्तदा स्नपनादौ न कालनियमः।

राजा के लिये समाधियोग

गुरुजीने राजाके अन्तिम कल्याण के बारे में यह भी सोचा है कि उत्सव के निमित्त से ही चिन्तन करते हुए राजा श्रीरामसम्मुख हो जायेंगे और जीवनोपरान्त उन्हें साकेतलोकप्राप्ति सहज हो जायगी।

संगति—मुनि का मंगलमय वचन सुनकर राजा श्रीराम के राज्योत्सव में तन्मय हो मुनि वसिष्ठ के साथ राजप्रासाद में आ पहुँचे।

चौ०--मुदित महीपति मंदिर आए। सेवक सचिव सुमंत्रु बुलाए॥ १॥

भावार्थ :—गुरु वशिष्ठ के वचन सुनकर राजा प्रसन्न हो अपने महल में आये और उन्होंने सेवकों तथा मंत्री सुमन्त्र को बुलाया।

शा० व्या०—यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दो० नं० ३ में सूचित मनोरथादि रूप साध्यके अभावपर आशयको न समझकर राजाने मंदिर (महल) में सेवकों और मंत्री सुमन्त्र को बुलाया।

अस्पष्ट मन्त्रणा का बीज और औचित्य

प्रश्न—गुरुजी ने अस्पष्ट संकेत से युक्त मंत्रणा क्यों की?

उत्तर—अर्थशास्त्र के निर्देशानुसार राजा एवं राज्य का रक्षण करना पुरोहित एवं मन्त्रीका कर्तव्य होता है जो वसिष्ठमुनि पूर्णतया निभा रहे हैं। रामसदृश नीतिमान् पुत्रको उपलब्ध कराकर मुनिने राजा-दशरथ का रक्षण किया है। (मनुशतरूपा प्रसंग में) पूर्वजन्म में राजाने भगवद्दर्शन तो किया लेकिन अन्त:करण का द्रवीभाव पूर्णरूपेण न होने से स्वर्गलोक में वे ग्राम्यधर्म का सुखानुभव करने लगे। अभी-भी प्रभुको पाकर राजाके चित्त का पूर्ण द्रवीभाव न होने से इनके हृदय में श्रीरामकी मूर्ति जैसे बैठनी चाहिए वैसी नही बैठी है। जिसका परिणाम यह होगा कि परलोक में जाने पर उनका हृदय कठिनता की अवस्था में मूर्तिशून्य हो जाएगा। उस अवस्था में राजा को सुगति में पहुँचाने का कार्य अपूर्ण रह जाएगा। इस हेतुको ध्यान में रखकर गुरुजी ने सोचा कि श्रीरामके राज्यारोहण में मुहूर्ताभाव के संबन्ध में सुस्पष्ट मंत्रणा करने से राज्योत्सवका आनन्द लूटने के लिये राजा अतिप्रीति में उल्लसित न होंगे। अत: इस उत्सव के प्रति राजा को उल्लसित करना होगा। आज की रात्रि में अचानक विघ्न उपस्थित होने पर जब उनका मनोरथ अपरिपूर्ण होगा तब चित्त में शोक भी उतनी ही मात्रा में उदित होगा। फलत: राजाके हृदय में अपेक्षाकृत द्रवीभाव का होना अवश्यंभावी है। उस अवस्था में चिन्तन करते-करते प्रभु राम की मूर्ति चित्त में प्रविष्ट होकर संस्कार या वासना के रूप में इतनी सुदृढ़ होगी कि जन्मजन्मान्तर में वह विचलित नहीं हो सकेगी। इस प्रकार भक्तिसंपत्ति के द्वारा (साकेत) परलोक प्राप्ति भी राजा को होगी।

द्रवीभाव समृद्धि का उपक्रम

ज्ञातव्य है कि विश्वामित्र मुनि के साथ वन में श्रीराम केजाने के समय राजा का चित्त फणिमणिसम हो गया। लेकिन राजा के चित्त का द्रवीभाव जितना अपेक्षित था उतना नहीं हुआ। श्रीराम के वियोग को उस समय राजा दशरथ भरत की उपस्थिति में सहन कर गये। उक्त अवसर पर श्री रामके प्रति पूर्ण द्रवीभाव न होने का कारण भरत की उपस्थिति है। अर्थात् भरत रूप दर्पण में श्रीराममूर्ति का दर्शन करते हुए राजा दशरथ महल में स्वस्थ रहे। जैसा कौसल्या का अनुभव चौ० १ दो० १६५ में व्यक्त है। अर्थात् भरत में श्रीराममूर्ति का दर्शन करते हुए कौसल्या जीवित रह सकी। इसलिये गुरु वसिष्ठ ने उपर्युक्त द्रवीभाव को समद्ध बनाने का यह उपक्रम किया है।

संगति—गुरुजी से मंत्रणा संपन्न करके कलका ही दिन योग्य है ऐसा समझकर राजा ने अग्रिम कार्य के प्रयोगविधिनिर्धारणार्थ सेवकों को बुलाया है।

चौ०--कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए। भूप सुमंगलवचन सुनाए॥ २॥

भावार्थ :—उन्होंने 'जय जीव' कहकर राजाको नमस्कार किया। राजा ने (रामराज्याभिषेकसंबंधी) मंगलपूर्ण बात उनको सुनायी।

उपस्थित सेवकों को मंगल का श्रावण

शा० व्या०—युवराज के अभिषेक की सामग्री एकत्रित करने के उद्देश्य से सेवकों एवं कर्मसचिव तथा अपने समान अनुभवी सूत सुमंत्र को राजा ने बुलाया। उन्होंने अर्थशास्त्र के निर्देशानुसार 'जय जीव' का उच्चार करते हुए राजा के अभिमत को सुनने की इच्छा व्यक्त कर 'आज्ञापय' ऐसी प्रार्थना की। राजा ने महामंगल सूचक रामराज्योत्सव की बात सुनायी। इस मंगल को राजा ने आगे "होइहि तिहुँ पुर राम बडाई" (चौ० ४ दो० ३६) कहा है जो उत्तर काण्ड में 'राम राज बैठे त्रैलोका' से संकेतित है।

संगति—उस पर पंचों का मत जानना चाहा।

चौ०--जौ पाँचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हिय रामहि टीका॥ ३॥

भावार्थ :—यदि पंचों को मेरा मत (रामका राज्याभिषेक करना) अच्छा लगे तो आप लोग मन में प्रसन्न हो श्री रामका राजतिलक संपन्न करें।

राजा के निर्णय में पंचों के मत का आदरसंबन्ध

शा० व्या०—अपने राजशासन का बल छोड़कर महाराज निष्पक्षपातिता की दृष्टि से याज्ञवल्क्य स्मृति के संविद्व्यतिक्रम प्रकरण को स्मरण में रखते हुए अपनी निर्दोषता प्रकट करना चाहते हैं। यदि समूह-हित वादियों (पंचों) का आदेशपरिपालन नहीं करते तो धर्मशास्त्र के अनुसार राजा दण्डभागी समझे जाते हैं। अतः राजा ने पंचों (समूहहित वादियों) की मर्यादा तथा अपने नरेशत्व को ध्यान में रखते हुए कहा कि "मैं श्रीराम को युवराज पद देना चाहता हूं"। इस पर सभी की सम्मति हर्षोल्लास के साथ प्रकट हुई।

प्रत्येक ग्राम में समूह हितवादी संस्थाएं नियुक्त हैं। सभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रामराज्य देखना चाहती हैं। राजा के सन्तोषार्थ मनोनीत कार्य को संपन्न करने में सहायता प्रदान करने में सेवकों का उत्साह देखकर राजा अत्यन्त प्रमुदित हुए।

संगति—मंत्रिगण भी जयजयकार कर रहे हैं। मानो मनोरथ रूपी पौधे को पल्लवित होते समय जल का सिञ्चन हुआ हो।

चौ०--मन्त्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरवँ परेउ जनु पानी॥४॥
बिनती सचिव करहिं कर जोरी। जिअउ जगत पति बरिस करोरी॥५॥

भावार्थ :—राजा की प्रिय वाणी को सुनते ही मन्त्री प्रसन्न हो गये मानो उनका वांछित मतरूप पौधे में पानी सींचा गया हो। मन्त्री हाथ जोड़कर विनति करते हुए कहते हैं कि राजा करोड़ों वर्ष तक जीवित रहें।

कोटिवर्ष का दीर्घजीवन

शा० व्या०—अत्यानन्द में मंत्रिगण राजा के करोड़ वर्ष जीने की कामना कर रहे हैं। भाव यह कि राजा के यशश्शरीर की दीर्घकालता अभीप्सित है क्योंकि पार्थिव शरीर का जीवन सौ करोड़ वर्ष रहना असंभव है।

संगति—उपरोक्त चौ० २ में कही सम्मति को पंच लोग व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०--जग मंगल भल काजु विचारा। बेगिअ नाथ न लाइअ बारा ।६॥

भावार्थ :—रामराज्याभिषेका विचार शुभ जगन्मंगलकर है। उसकी संपत्ति में विलंब न करें।

संगति—विलंब न हो इस लिये सेवकों ने निर्देश देने की प्रार्थना की।

चौ०--नृपहि मोद सुनि सचिब सुभाषा। बढ़त बौड़ जनुलही सुसाखा ॥७॥

भावार्थ :—मंत्रियों के सुभाषित शब्दों को सुनकर राजा को आनन्द हुआ। मानों बढ़ते हुए पौधे की शाखाएँ निकली हों।

शा० व्या—राज्याभिषेक के लिये राजा की शीघ्रता को देखते हुए कवि भी इस दोहे को सात ही चौपाइयों में पूर्ण कर देते हैं और अग्रिम कार्य का संकेत करते हैं। "बढ़त बौड़ जनुलही सुसाखा" की एक वाक्यता आगे चौ० ८ दो० २९, चौ० ८ दो० १६१ में द्रष्टव्य होगी।

संगति—सामग्री को एकत्रित करने में अतिशीघ्रता का विधान है क्योंकि यह प्रयोगविधि है।

दो०—कहेउ भूप मुनिराज कर जोइ जोइ आयसु होइ।
राम राज अभिषेक हित बेगि करहु सोइ सोइ ॥५॥

भावार्थ :—राजा ने कहा कि मुनिवर वसिष्ठ जी का जो जो आदेश हो वह सब रामराज्य के अभिषेक के निमित्त आप लोग शीघ्र कार्यान्वित करें।

वैदिक विधि की उपयोगिता

शा० व्या०—राज्योत्सव में निर्विकारिता (सत्वगुण) प्रकट करने के लिये वैदिक विधान कर्तव्य है। गुरुजी के आदेश से ही राज्याभिषेक परिपूर्ण होगा ऐसा सोचकर राजा ने क्रमाश्रितपदार्थस्थानापन्न सामग्री को एकत्रित करने का भार गुरुजी पर दे रखा है।

वसिष्ठ के निर्दोषित्व की उपपत्ति

मुनिराज के उल्लेख से यह सूचित होता है कि राज्याभिषेक के प्रयोग को संपन्न करने में गुरु वसिष्ठ एक मात्र उपादानगोचर-अपरोक्षज्ञान से पूर्ण हैं। प्रधानता उन्हीं के अनुशासन की है जो 'आयसु होइ' के उल्लेख से स्पष्ट है। इस प्रकार नीतिसिद्धान्त के अनुसार सचिवादिकों के समक्ष राज्याभिषेक की संपत्ति के लिए राजा ने गुरु वसिष्ठका वरण किया।

संगति—अनन्तर गुरुजी ने पदार्थों के संभार का विधान सुनाया।

चौ०—हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी ॥१॥
औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम मनि मंगल नाना ॥२॥
चामर चरम बसन बहु भांती। रोमपाट पट अगनित जाती ॥३॥
मनिगन मंगल वस्तु अनेका। जो जग जोगु भूप अभिषेका ॥४॥
वेदविदित कहि सकल विधाना। कहेउ रचेहु पुर विविध बिताना ॥५॥
फल रसाल पूगफल केरा। रोपहु वीथिन्ह पुर चहुं फेरा ॥६॥
रचहु मंजु मनि चौके चारू। कहेहु बनावन बेगि बजारू ॥७॥
पूजहु गनपति गुर कुलदेवा। सब विधि करहु भूमिसुर सेवा ॥८॥

दो०—ध्वज पताक तोरन कलस सजहु तुरग रथ नाग।
सिरधरि मुनिवरवचन सबु निज निज काजहि लाग ॥६॥

भावार्थ— तीर्थजल, औषधियां, मूल, फल, पान, सुपारी, केला आदि अनेकों मंगल पदार्थ एवं चामर, रोमपाट, मृगछाला, ऊर्णावस्त्र, मणि, आदि एकत्रित करने का आदेश है। व्यक्तिपरत्वेन मंगलवस्तु की गणना करने पर भी पुनः गुरुजीने "मंगलवस्तु" का उल्लेख किया है जो जातिपरक होने से पुनरुक्त नहीं समझना चाहिये।

मंगलकी पुनरुक्ति का परिहार

शा० व्या०—प्रथमतः मंगल का उल्लेख करने के अनन्तर कतिपय मंगल पदार्थों की परिगणना का तात्पर्य परिसंख्याविधिमें भी हो सकता था जिसका अर्थ यह होगा कि राज्याभिषेक के लिए उपर्युक्त परिगणितवस्तुओं के अतिरिक्त पदार्थ को एकत्रित नहीं करना जैसे वाद्य-वादनादि। ऐसी परिसंख्या न समझी जाय इस दृष्टि से परिगणित से इतर (वाद्यवादनादि) मंगलपदार्थ को भी एकत्रित करने में गुरुजी का भाव ध्वनित होता है।'

एकवाक्यता

मंगलशब्द से परिगणित पदार्थों का संग्रह करते हुए भी कदली आदि का नाम लेना अदृष्टसंवन्धिनी अतिशयितता का द्योतक है। यह वाल्मीकिरामायण की एकवाक्यता से स्पष्ट है। इसलिए यह ज्ञातव्य है कि राज्याभिषेक का यह प्रयोगविधि अन्यान्य कवियों के मत की एकवाक्यता और एकरूपता मे संपन्न होता है। ऐसे प्रयोगविधि मे कल्पना लाघव नियामक है।

प्रयोगविधि की एकरूपता में छत्र, वाद्य आदि का ग्रहण

ज्ञातव्य है कि मानस में अभिषेक सामग्री के अन्तर्गत छत्र एवं वाद्यवादन का उल्लेख नहीं है। फिर भी प्रयोगविधि की एकरूपता में वाल्मीकिरामायणोक्त पदार्थ का संग्रह[1] समझना इष्ट होगा। अतः मानसोक्तवस्तुमात्र पर ध्यान न देकर अभिषेकसंभारसंपादन में छत्र आदि का ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं समझनी चाहिये।

एवं च वाल्मीकिरामायण में वर्णित समस्तसामग्री मानसरामायण में भी विवक्षित समझना शास्त्र-विधानों के अन्तर्गत ठीक ही है। उक्त सामग्री में वाद्यका उल्लेख है। अतः

'वादित्राणि च सर्वाणि सूतमागधवन्दिनः' (वा० रा० बा०)

इसके आधारपर मानस रामायण में वाद्य का उल्लेख भी अपना औचित्य रखता है। एवं च कतिपय उपलक्षण पदार्थों का उल्लेख मानस की दृष्टि में अभ्युच्चयमात्र है इससे 'मंगल नाना' 'मंगल वस्तु अनेका' की सरसता प्रकट होती है।

मंगल वस्तु के कीर्तन का प्रयोजन

राज्याभिषेकात्मक पूर्वोक्त विधि में अदृष्टातिशयसंपादनार्थ मानस में अत्यावश्यक वस्तुओं का नामग्रहण हुआ है। अतः प्रजाजनों ने उपर्युक्त विधि की एकरूपता को देखते हुए मानसोक्त पदार्थविशेषों के अतिरिक्त मांगलिक वस्तु का संग्रह किया, वह भी गुरुसम्मत ही समझना चाहिये। जैसे साधु-पूजन वाद्यवादन आदि।

---

१. चामरे व्यजने चोभे ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम्।
शतं च शातकुंभानां कुम्भानां अग्निवर्चसाम् ॥

वाद्यवादनमें गुरुसम्मति के प्रति न्याय

वस्तुतः—गुरुजीने अनेकों मंगल कार्य करनेका संकेत पूर्वमें किया है, उनमें लोकशास्त्रसम्मत साधुपूजन वाद्यवादन भी संकेतित है। (जैसा बालकाण्ड दो० १९४ में स्पष्ट है) इसलिए प्रस्तुत अवसर पर वाद्यवादन एवं साधुपूजन का उल्लेख कण्ठतः न होने पर भी उसकी प्राप्ति की उपपत्ति में वक्ष्यमाण न्याय स्मरणीय है।

होलाकाधिकरण में वसन्तोत्सवादि कार्य शास्त्रों में उल्लिखित न होने पर भी धर्म्य है अथवा नहीं इस संन्देह के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि शिष्टसदाचारप्राप्त और लोकप्रसिद्ध होने से वसन्तोत्सव का उल्लेख शास्त्रोंमे न होने पर भी धर्मशास्त्रानुकूल माने जाते हैं। वैसे ही साधुपूजन वाद्यवादनादि कार्य भी ऋषिसम्मत माना जाय तो अनुचित न होगा।

आरादुपकारक मंगलवस्तु

मणि आदि रत्नों से चौक पुरवाना (रंगोली बनाना) और बाजार सजाना इत्यादि कार्यक्रम गुरूपदेश से संगृहीत एवं उल्लिखित है। ये सभी कार्य जन्मप्रसंग में भी पुरजन एवं स्त्रीजनों ने किया था। वह प्रेमवशात् मंगल होने से अर्थप्राप्त था। पुनः इस अवसर पर भी बाजार की शोभा बढ़ाना और चौके पूरना आदि का निर्देश इसलिए है कि ये सभी कर्तव्य आरादुपकारक होते हुए राज्याभिषेकोत्सव में विशेषतया शास्त्रविहित हैं[1]।

उत्तरकाण्ड में सुरदुंदुभि का निर्देश

विशेष ज्ञातव्य यह है कि जगन्मंगल कारक राज्याभिषेक के अवसर पर वैदिक विधानकी रीति से वाद्यवादनादिका संग्रह बतलाया है। कविने यहां सुरदुन्दुभि एवं देवस्तुति का वर्णन नहीं किया है। उत्तर काण्ड में राज्यतिलक के अवसर पर ऊपर कही गयी सामग्री का वर्णन न कर देवदुन्दुभि एवं देव स्तुति का उल्लेख करदिया। अतः प्रस्तुत राजतिलकके अवसर पर 'बाज गहा गह' से वाद्यवादन का ग्रहण ब्रम्हपुराणोक्त विधानोक्त होने से शास्त्रसम्मत सुसंगत समझना चाहिये।

ज्ञातव्य है कि गुरुजी के निर्देश में गणेश, गुरु, कुलदेवता व विप्रों के पूजनका उल्लेख है जिसको राजा पूर्ण करेंगे।

बल शक्ति (सैन्यशक्ति) राज्य का अङ्ग है। अतएव वसिष्ठ मुनिने इस अवसर पर बल शक्तिके विविध अंगों के सम्मानका भी उल्लेख किया है[2]।

संगति—गुरु मुनि के आदेश को पाकर सभी सेवक वर्ग अपने अपने कार्य में लग गये। गुरुजी भी चले गये। जो आगे चौ० १ दो० ९ में 'तव नरनाह वसिष्ठ बुलाए' से स्पष्ट है।

चौ०--जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहिं काजु प्रथम जनु कीन्हा ॥१॥

भावार्थ—मुनिवर वसिष्ठ ने जिसको जो आज्ञा दी उसे उसने सर्व प्रथम किया। 'जनु' कहकर कविने यह व्यक्त किया कि राजा दशरथ का संपूर्ण समय'मानुष आनन्द' (स्वर्ग सुख) की उपलब्धि में बीता है।

जिस प्रकार स्वर्गस्थ पुण्यात्माओं को अभिलाषामात्र से विषयकी उपलब्धि होती है, कालविलम्ब थोड़ा भी स्वीकार्य नहीं है, उसी प्रकार अभिषेकसंभार को एकत्रित करने में विलम्ब नहीं हुआ इससे राजाका उच्चकोटिका शासनसुख व्यक्त होता है।

---

१. नगरं तत्र कर्तव्यं पताका-ध्वजसंकुलम्।
नीराजनास्तथा कार्याः राजमार्गाः शुभैर्जलैः॥

२. ध्वज पताका तोरन कलस। सजहु तुरग रथ नाग॥ दो० ६

गुरु के द्वारा आदिष्ट होते ही अवधवासियों ने शास्त्रमर्यादा के अनुकूल संपूर्ण संभार एकत्रित कर दिया। यह विद्याप्रचारका प्रभाव है।

संगति—सम्पूर्ण कार्य को सम्पन्न करने के हेतु यजमानस्वरूप राजाने गुरु के 'पूजहु गनपति गुरुकुल देवा, सब विधि करहु भूमिसुर सेवा के निर्देशका अनुसरण किया।

चौ०—विप्र साधु सुर पूजत राजा। करत रामहित मंगल काजा॥ २॥

भावार्थ—राजा दशरथ ब्राह्मण साधु और देवताओं की पूजा करने लगे। और भी जो रामके हित्त में मंगल कार्य हैं उनको करने लगे। गोसाईंजी ने विप्रपूजा से शास्त्रसिद्धान्तानुसार अनेक आशय ध्वनित किये है। ब्रह्मतेजः प्राप्ति में विलीन सत्वगुण सम्पन्न विप्रकी पूजा यजमानों के लिए अत्यावश्यक है। यदि सत्त्व शीलसम्पन्न ब्राह्मण यजमान को आशीर्वाद देते हैं तो वे निष्फल नहीं होते।

विप्र पूजन से ध्वनितार्थ

शा० व्या०—राजपूजित व्यक्ति जनपद में पूजित होते हैं। इस हेतु से त्यागमय जीवन बिताने वाले ब्राम्हणों की जीविका की समस्या का हल हो जाता है।

महत्वपूर्ण शुभ अवसरों पर विप्रों, साधु-महात्माओं का पूजन होते रहने से वैदिक परम्पराको चालू रखने की प्रवृत्ति भी बनी रहती है जो सर्वदा हितकारक होती है। विप्र आदिकों के पूजन से राजा का मर्यादा-पालन एवं स्वातन्त्र्यहीनता प्रकट होती है।

'शुचिरास्तिक्यपूतात्मा पूजयेद्देवताः सदा, इस उक्तिको ध्यान में रखते हुए राजाने देवताओं और साधुकोटि में नीति मर्यादा का अनुसरण करने वाले भगवदुपासकों का पूजन किया।

विप्रपूजन की सफलता

प्रश्न-राज्याभिषेक में विघ्न उपस्थित होने से उक्त पूजा की सफलता कैसे मानी जाय?

उत्तर-इसकी कारण मीमांसा में शास्त्रकार कहते हैं कि पूर्वजन्मान्तरीय उत्कट दैव अथवा प्रबल ईश्वर-इच्छा के रहने पर पुरुषार्थ सुसम्पन्न नहीं होता। यही स्थिति इस पूजन के सम्बंध में स्मरणीय है। अथवा श्री रामका वनवास होने पर राजा किंवा प्रजा के हृदय में राज्याभिषेक सम्बंधी साधु एवं देवपूजन की न्यूनता में होने वाला संताप का प्रसंग नहीं होगा। यही उक्तपूजन की सफलता है। अथवा चतुर्दश-वर्षावधिक विघ्न के दूर होते ही श्रीराम का अभिषेक होकर रहेगा। यही पूजन की सफलता है।

वस्तुतः राजा के पूर्वापर चरित्र को देखते हुए कल्पना के लिए यह भी एक अवसर है कि राजाने तत्काल गणेशपूजन का ही संकल्प किया होगा जिसमें राज्याभिषेक के संकल्प या पुण्याहवाचन का समावेश नहीं है। अतः तत्काल में रानियों का सान्निध्य पूजन में नहीं हुआ। या राजा की घोषणा की सफलता के लिए राजा का उक्त पूजन है।

संगति—पूजनकार्य सम्पन्न होने के अनन्तर राजाद्वारा दिये गये गुरु के निमंत्रण का प्रसंग कवि को कहना चाहिये। वैसा न कहकर मंगल के उल्लेख से अन्यान्य मंगलकार्यों का स्मरण होने से रनिवासके मंगलकार्यों का निरूपण कवि कर रहे हैं।

चौ०—सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥ ३॥

भावार्थः—सबको अच्छा लगने वाला श्रीराम का अभिषेक सुनते ही अवधपुरी में धूम-धाम से बाजा बजने लगा।

देवदुंदुभि का अवादन और प्रियश्रवणज आवेग

शा० व्या०-प्रश्न—राज्याभिषेक के अवसर पर राज्य शासन के प्रभाव से प्रभावित होकर देवदुन्दुभियाँ भी बजनी चाहिये थी। वैसा क्यों नहीं हुआ।

उत्तर—इसकी सूचना कवि स्वयं आगे देंगे। इस निमित्त से उचित यह होता कि राजा से लेकर सभी वर्ग देवदुन्दिभि वाद्याभाव से उसकी उपपत्ति को समझने के हेतु मन्त्रि-मण्डल एकत्रित करते। वैसा न कर सभी अपने अपने कार्य में संलग्न हैं, यही अयोध्यावासियों के राज्याभिषेकात्मक प्रियश्रवण दर्शनजन्य आवेगमें हर्ष एवं जड़ता प्रयुक्तविवेकाभाव हैं। यह दोष प्रभु राम में नहीं हैं। वे न तो मंगलवाद्य ही सुनते हैं न तो राज्याभिषेक की कल्पना से युक्त ही हैं। इसलिए सीता राम दोनों प्रस्तुत समारंभ से दूर बैठे समझ में आरहे हैं। अभी दोनोंके अंगों में मंगल सूचक स्फुरण हो रहा हैं। जिसका फल विषयोपलब्धि न होकर सन्तमिलन सोचा जा रहा हैं।

संगति—राज्याभिषेकसंभार के निरूपण के बीच में मंगल का स्मरण होने से प्रभु के अंगस्फुरण फलचिन्तन का अनुवाद शिवजी कौतुक रूप से पार्वती को सुना रहे हैं।

चौ०-राम सीय तन सगुन जनाए। फरकहिं मंगल अंग सुहाए ॥ ४ ॥

भावार्थ :—श्रीराम और सीता के जो शोभादायक मंगल अंग हैं उन अंगों में शुभ शकुन दिखायी पड़ने लगे।

मंगल के प्रसंग से प्रभुका चिन्तन क्रम

शा० व्या—इस निरूपण में शिवजी अत्यन्त आनन्दित होते हुए प्रस्तुत विषयको छोड़कर भारतीय राजनीति सिद्धान्त को ध्वनित कर रहे हैं (जैसा चौ० २ दोहा १२ में स्पष्ट है)। भाव यह कि गुरु सेवा में तत्पर राजपुत्रों को पूर्व परम्पराप्राप्त शास्त्र प्रसूत निर्मल नीतिसंगत ज्ञान की प्रथा में पूर्ण आनन्द का अनुभव करते रहना चाहिये, वैयक्तिक सुखोपभोग पर ध्यान नहीं देना चाहिये। सत्यसंध पिता के आदेश का अनुसरण करते रहना एवं हर्ष-विषाद से शून्य हो राजस तामस सुखों से पृथक् रहना चाहिये।

संगति :—मंगल सूचक अंगस्फुरण को देखकर दम्पती (राम-सीता) पुराण निर्देश समन्वित प्रमाण का उपयोग कर रहे हैं।

चौ०-पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमनु सूचक अहहीं ॥ ५ ॥

भावार्थ :—अंगस्फुरण से पुलकित हो आपस में कह रहे हैं कि ये भरत के आने के सूचक चिह्न हैं।

स्फुरणफलचिन्तन

शा० व्या० :— 'अहं प्रियमिलनवान् दक्षिणांगस्फुरणतत्वात्। प्रियो मे भरतः, अर्थात् उपस्थितिकृत लाघवं' से दम्पती को भरत से भेट होने की कल्पना संभवप्रमाण के आधार परहो रही हैं।

ध्यातव्य है कि श्रीराम एवं सीता को यह भी निश्चय है कि "संप्रति भरतात् अन्यो न मे तथा प्रियः येनावां तच्चिन्तनं कुर्याव"।

प्रश्न—कैकेयी के संवाद से स्पष्ट होता है कि राजा की राज्याधिकार प्रदान की घोषणा सफल नहीं रही तो शकुनशास्त्र का प्रमाण्य उपपन्न कैसे होगा ?

उत्तर—शकुनशास्त्र के प्रमाण्य को विचारते हुए अंगस्फुरण के फल को ध्यान में रखकर दम्पतीने निर्णय किया कि भरत का आगमन होगा। पुनः शकुन का विचार कर दूसरा निर्णय किया कि भरत की भेंट अवश्यंभावी है।

संगति :—भरत की भेंट ही फल समझ रहे हैं, न कि अनुचित होने से वर्तमान राज्याभिषेक।

चौ०—भये बहुत दिन अति अवसेरीं। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी ॥६॥
भरत सरिस प्रिय को जगमाहीं। इहइ सगुन फलु दूसर नाहीं ॥७॥

भावार्थ—बहुत दिन हो गये, (प्रियसे भेंट हुए) बहुत देर हो गयी। शकुन विश्वास दिला रहे हैं कि प्रिय भरत से भेंट होगी। भरत के समान संसार में कौन प्रिय है। शकुन का यही फल है, दूसरा नहीं।

भरतमिलनफल की उपपत्ति

शा० व्या०—प्रश्न—शकुन का फल भरत की भेंट कैसे कही जायगी, जबकि भरत का आगमन या मिलन उस समय नहीं हुआ।

उत्तर—चित्रकूट में पहुँचने के पूर्व भरत से भेंट होनी नहीं है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि भरत से मिलन का समय तो सन्निकट है, पर कब ? यह कहा नहीं जा सकता।

इस रीति से यहाँ 'माहीं' एवं "नाहीं" से दो 'नञ' प्रयोगसार्थक है।

प्रभुचिन्तन

प्रभु राम की चिन्ता के माध्यम में सदा भरत ही विषय रहे इसलिए शकुन का फल भरत का आगमन ही मान्य रहा, यह 'उपस्थितिकृत लाघव' है। भक्तवत्सलता में प्रभु का स्वभाव है कि वे अपने अनन्य भक्त का चिन्तन करते रहते हैं जिससे भक्त सदा सुरक्षित रहता है। प्रश्न है कि इस व्यापार से चित्रकूट में भरत से भेंट होने तक प्रभु को यह चिन्ता बनी रही तो कैकेयी के वरदानानुसार श्री राम का उदासीनत्व संगत नहीं होगा। इसका समाधान दोहा २९ चौ. ३ में 'उदासी' की व्याख्या में किया गया है।

अभी प्रभुने भरत भेंट को ही शकुनफल माना है जिसका अर्थ है उद्देश्य। इसी स्वभाव को समझकर वसिष्ठजी ने चित्रकूट में राम को सुना दिया कि भरत की सम्मति प्राप्त किये विना वह आगे नहीं जा सकते जिसका समन्वय इस चौपाई से समझना होगा।

भरत के लिए प्रभु के इस स्मरण का उद्देश्य चौ. ५ दो. १४१ में "धीरज धरहि कुसमय विचारी" से स्पष्ट होगा। अर्थात् भरत को अयोध्या में आने पर जिन विपरीत स्थितियों का सामना करना पड़ेगा उनमें भरत को उचित कर्तव्य का मार्ग प्रशस्त होता रहे।

प्रभु के इस स्मरण से भरत के शील स्नेह शुचित्व अनुमित हो। हैं जैसा चित्रकूट में प्रभु के स्मरण में 'सुमिरत भरत सनेहु सीलु सेवकाई' से स्पष्ट होती है।

स्मृति विषयत्व का व्यतिरेक्यनुमान

उपासकों ने शुचिता शील स्नेह को अपनाना होगा अन्यथा इन तीनों के अभाव से श्रीरामकर्तृक स्मृतिविषयत्वाभाव यथार्थतया अनुमित होगा। उस अवस्था में रामनाम की सार्थकता होगी ही नहीं कहा जा सकता।

राजा एवं श्री राम के उपर्युक्त विचारों से यह निर्णय होता है कि प्रस्तुत शकुन से श्री रामको राज्याधिकारप्राप्ति तथा भरत से भेंट दोनों फल अवश्यंभावी हैं। उसमें भरत भेंट मुख्य तथा राज्याधिकार स्वामित्व आनुषंगिक है।

संगति—भक्तों के जीवनाधार प्रभुके द्वारा अपनाया हुआ भक्त तब चिन्त्य है जब वह नियमेन प्रभु का चिन्तन करता है, इस सामान्यव्याप्ति को समझा रहे हैं।

चौ०—रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठहृदउ जेहि भाँती ॥ ८ ॥

भावार्थ—श्रीराम भाई भरत का दिनरात चिन्तन करते हैं जैसे कछुई अपने अंडों का ध्यान मनमें करती रहती है।

व्याप्तिनिर्देश

शा० व्या०—यद्यपि कविने 'वन्धु' कहकर भरत को ही संकेतित किया है तथापि भजनात्मक क्रिया-कर्तृत्वात्मक वन्धुत्व सभी भक्तों में समान रूप से स्थित है। अतः उक्त सामान्यव्याप्ति निर्विवाद है। इस व्यप्तिको समझाने के लिए कविने कछुएका चरित्र उपस्थापित किया है। जिस प्रकार कच्छपी अपने बच्चेका योग क्षेम स्वचिन्तन से करती है, उसी प्रभाव से समीपवर्ती जल बच्चेके लिए जीवनाधार होता है। उसी प्रकार भक्तोंकी स्थिति प्रभुचिन्तन में है भरतकी भी यही स्थिति है। 'अंडन्हि कमठ हृदउ जेहि भाँती" से श्री राम भरतका चिन्तन करते हुए "भरत सनेहु सील सेवकाई" का स्मरण करते हैं। जैसा आगे (चौ० ४-५ दोहा १४१ में) स्पष्ट होगा। इसीको तीर्थराजनिवासियों ने (चौ० दोहा २०६ में) "भरत सनेहु सील सुचि साँचा" कहकर गाया है। विशेष व्याख्या चौ० ३ दो०२१९ में द्रष्टव्य है। भरत के अग्रिम चरित्र में भरत की शुचिता स्नेह और सेवकत्व का निरूपण किया जायगा।

भक्त के हृदय मे विपरितार्थचिन्तनाभाव

यहाँ कवि यह समझा रहे हैं कि यद्यपि प्रभुको अयोध्या छोड़कर जाना है तथापि उनके चित्त में भरत निवास कर रहे हैं। अतः भक्तकी प्रतिभा में विपरीतार्थ छूता ही नहीं। उक्त व्याप्ति जिस भक्त के हृदय में स्फुरित है वह अपने को सदा भगवान् का सेवक समझता हुआ भगवद् रुचि के अनुकूल सर्व-धर्मात्मक भागवतधर्म को अपनाने का संकल्प करता है। भरत चरित्र में इस व्याप्तिकी चरितार्थता वसिष्ठजी के राजपदग्रहण प्रस्ताव के प्रत्युत्तर मे द्रष्टव्य है।

महर्षि वसिष्ठने राज्याभिषेकसंभार का आदेश ज्योंहीं दिया त्योंहीं अन्तःपुर में वह सूचना फैल गयी।

संगति—प्रभुके शरीर में आये हुए पुलक के कौतुक में शिवजी प्रस्तुत राज्याभिषेक के हेतु अवशिष्ट संभारका वर्णन कर रहे हैं।

दो०—एहि अवसर मंगलु परम सुनि रहँसेउ रनिवासु।
सोभत लखि बिधु बढ़त जनु बारिधि बीचि बिलासु ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस परम मंगल (राम राज्याभिषेक) अवसर को सुनकर रनिवास प्रफुल्लित हो गया। उसकी ऐसी शोभा दिखायी पड़ी कि मानो पूर्ण चन्द्रमा को देखकर समुद्रके बीच लहरों का उल्लास बढ़ता हो।

शा० व्या०—समुद्र की तरंगों के मध्यमें बिंबित चन्द्रमा जिस प्रकार सुशोभित होता है उसी प्रकार मंगल को सुनकर हर्ष की तरंगों में अन्तःपुर शोभायमान हुआ।

संगति—रनिवास में हर्षप्रयुक्त आवेग में सम्पन्न हुए कार्यक्रम को शिवजी सुना रहे हैं।

चौ०—प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाए। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये ॥ १ ॥

भावार्थ—रनिवास में जाकर जिसने सबसे पहले (राम राज्याभिषेक की) बात सुनायी उसको बहुतसा वस्त्र-आभूषण न्योछावर में मिला।

पारितोषिकवितरण

शा० व्या०—जब मुनिके आदेश पर राजा ने मंगलकार्य का श्रीगणेश किया तब राज्याभिषेक के प्रति राजकर्मचारी विश्वस्त हुए और रनिवास में जाकर मंगलकार्य सुनाने लगे। बहुत दिनों से चलाया हुआ मनोरथ पूर्ण हो रहा है। यह सोचकर प्रियश्रवण प्रयुक्त हर्ष में रानियों ने पारितोषिकवितरण किया।

कर्मका प्रकाशन

ज्ञातव्य है कि राजनीति सिद्धान्त में मन्त्रविकल्पके संबंध में कहा है कि भविष्यत् कर्मकी मन्त्रणा को यथाविधि सम्पन्न करके जब राजा कार्यारंभ करदे तब वह कर्म कुल्य राजकर्मचारियों के सामने प्रकाशित होना चाहिये। तदनुसार राज्याभिषेक के अंगभूत कार्यका प्रारंभ होने के बाद रनिवास में खबर पहुँचायी गयी।

कैकेयी को सूचना न पहुँचाने का कारण

प्रश्न—राज्याभिषेक की सूचना कैकेयी के कानों तक क्यों नहीं पहुँची?

उत्तर—कैकेयी स्वभावतः मानिनी है। यदि (कर्मचारियों) कुल्यों द्वारा उसको सूचना सुनायी जाती है तो उसके रूठने[1]का भय मानकर राजाने स्वयं ही कैकेयी को राज्याभिषेक का समाचार सुनाना चाहा। जो भामिनि भयउ तोर मन भावा' से स्पष्ट होगा। कौसल्या और सुमित्रा में मानिनीत्व का दोष कुलान्तर्गत न होने से कुल्योंद्वारा सूचना पहुँचाया जाना असंगत नहीं है। अतः कर्मचारियों ने कैकेयी को सूचना नहीं सुनायी। मालूम होता है कि इसी कारण गोसाईंजी कैकेयी के सम्बन्ध में इस अवसर पर मौन हैं।

जिस प्रकार कैकेयी को खबर पहुँचाना इष्ट नहीं था उसी प्रकार उसकी अन्तर्वासिनी मन्थरा आदिको भी सूचना नहीं लगनी चाहिये थी क्योंकि राजनीतिशास्त्रसिद्धान्त के अनुसार कार्य की पूर्णता होते होते राजाके कुल्यातिरिक्तों को कार्य की जानकारी होनी चाहिये। इस सिद्धान्त पर विशेष ध्यान न देने का फल हुआ कि राज्याभिषेक के समारंभ को उसी दिन मन्थराने जान लिया व अपने कुटिल कार्य में वह सफला हो गयी।

संगति—रामराज्याभिषेक को सुनकर रानी कौसल्या और सुमित्रा के शरीर पुलकित हो रहे हैं।

चौ०—प्रेम पुलकि तन मन अनुरागी। मंगल कलस सजन सब लागी ॥२॥

भावार्थ :—सब रानियाँ प्रेम में पुलकायमाना हो गयीं तन मन से अनुकूल होकर मंगलकलश सजाने लगीं।

शा० व्या०—अन्तःपुर में स्थान स्थान पर मंगलकलश सुशोभित हो रहे हैं।

संगति—कवि रानियों का चरित्र प्रस्तुत करते हुए प्रथमतः 'सूचीकटाह'न्याय के अनुसार सुमित्रा के हर्ष का वर्णन कर रहे हैं।

चौ०—चौकें चारु सुमित्राँ पूरी। मनिमय विविध भाँति अति रूरी ॥३॥

भावार्थ :—सुमित्रा ने सुन्दर चौक (रंगोली) पूरे जो अनेक प्रकार की मणियों से बहुत सुन्दर लग रहे थे।

शा० व्या०—मणियों से अनेक प्रकार के सुन्दर चौक पूरकर सुमित्रा ने अपनी कलाकुशलता को दर्शाया है।

संगति—इसके बाद राममाता कौसल्या के मंगलकार्य प्रस्तुत हो रहे हैं।

चौ०—आनन्दमगन राम-महतारी। दिए दान बहु विप्र हँकारी ॥४॥

भावार्थ :—राम की माता कौसल्या आनन्द में मग्न हो ब्राह्मणों को बुलाकर दान करने लगीं।

शा० व्या०—राजपुत्र श्रीराम के भाविकल्याण के उद्देश्य से विप्रों का आशीर्वाद प्राप्त करने की कामना व हर्ष में भरकर कौसल्याजी ने दान देना प्रारंभ कर दिया। निर्विघ्नता के लिए अन्यान्य ग्रामदेवताओंका भी पूजन सम्पन्न हो रहा है।

प्रश्न—सुमित्रा और कौसल्या के साथ कैकेयी के नाम का उल्लेख क्यों नहीं है?

उत्तर—मानसकारने मंगलकार्यों में कौसल्या और सुमित्रा का नाम यत्र तत्र लिया है। कैकेयी का नाम न लेने के कारण प्रत्याहार है। अर्थात् प्रत्याहारन्यायेन सबसे बड़ी कौसल्या और सबसे छोटी सुमित्रा

---

१. कोपना सैव भामिनी। (अमरकोश)

का नाम लेने से कैकेयी भी विवक्षिता है। प्रत्येक कार्य में यथावद् व्यवस्था के द्वारा सहयोग करते हुए कैकेयीने सब रानियों को समति में बांध रखा था जो ग्रन्थकारने (चौ. ३ दो. ५१ में) "राजु करत यह दैअँ विगोई, में 'राजु करत' से स्पष्ट किया है।

संगति—मंगल के प्रसंग से पुरी में स्थित देवतान्तर की पूजा का निरूपण होरहा है।

चौ०—पूजी ग्रामदेवी सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा ॥ ५ ॥

भावार्थ—माता कौसल्याने ग्रामदेवी, देवताओं और नागों का पूजन किया फिर बलिका भाग देनेको कहा।

देवतापूजन का फल

शा० व्या.—अर्थ शास्त्र में भिन्न भिन्न स्थानों में तत्तद् ग्रामदेवताओं की स्थापनाका विधान उपलब्ध होता है। देवताओं की स्थापना से नगर एवं जनपद का रक्षण ही नहीं अपितु कृषिशास्त्र के अनुसार अन्न के विशेष उत्पादन में देवताओं का सान्निध्य सहायक माना गया है। राज्य की तरफ से उनके पूजन की सुव्यवस्था होती है। राज्याभिषेक के अवसर पर तत्तद् देवताओं के विशेष पूजन का विधान राजनीति प्रकाश में निर्दिष्ट है। इसका अनुसरण करते हुए कौसल्याजीने विद्या एवं भक्ति का परिचय दिया है।

संगति—पूजन में कवि कौसल्याजी का हार्दिक भाव प्रकट कर रहे हैं—

चौ०—जेहि विधि होइ राम कल्यानू। देहु दया करि सो वरदानू ॥६॥

भावार्थ—माता कौसल्या ने उनसे प्रार्थना किया कि जिस प्रकार श्रीराम का कल्याण हो, दया करके मुझे वैसा वरदान दें।

कौसल्या के प्रस्तुत देवपूजाका उद्देश्य

शा० व्या०—चूंकि विघ्न-बाधा का अभाव तो स्वरूपतः है ही, इससे ज्ञात होता है, कि कौसल्या का यह पूजनकार्य कल्याण की अनुकूलता में हुआ है, न कि विघ्नबाधाओंको दूर करने में। राजा दशरथ का इतना उच्चतर प्रभाव है कि विघ्न की कल्पना कौसल्याके हृदय में है ही नहीं। 'जेहि विधि होई राम कल्यानू' कहकर कौसल्याजी पुत्र के कल्याण के लिए वर मांग रही हैं। निष्कर्ष यह हुआ कि मानव कल्याण चाहता है पर उसकी सम्प्राप्ति कब कैसे होगी ? यह निर्णय करना उसके लिए संभव नहीं है। अतः कौसल्याने यह भार देवताओं पर छोड दिया है। देवताओंने सोचा कि मध्यावधिमें उपस्थित अभिषेकात्मक कार्यमे विघ्नबाधाओंको दूर कर प्रभुके वनवासकार्य में सहयोग दिया जाय रावणवध के पश्चात् कौसल्याद्वारा याचित कल्याण की सम्पत्ति पूर्ण की जाय। इस भाव से देवताओंने कौसल्याका पूजन स्वीकार किया। अतः यह पूजन निष्फल नहीं समझना चाहिये।

कौसल्यावचन की प्रामाणिकता

चिन्तनीय यह है कि यदि पतिव्रता कौसल्याके मुख से राज्याभिषेकका स्पष्ट उल्लेख होता तो उपर्युक्त भाविकल्याण में सहायता करने के विचार में देवताओं को छूट नहीं मिलती। न तो पतिव्रता के वचनविरोध में भाविकल्याण का विचार संगत हीं ठहरता।

कौसल्याद्वारा राज्याभिषेक का उल्लेख होने पर यदि देवताओं ने अभिषेकसभारंभ में विघ्नबाधा करते हुए रावणवधकी कल्पना की होती तो पतिव्रता कौसल्या के वचनों का अप्रामाण्य होता। यह दोष 'कल्या' शब्द से निरस्त है। इस प्रकार सती कौसल्याके वचन की सार्थकता और देवताओं की अनुकूलता दोनों का निर्वाह करते हुए कविने शब्दप्रामाण्य की महत्ता प्रदर्शित की है।

भविष्यत्में देवताओं के जो भी विचार प्रस्तुत किये जायँगे वे इस चौपाई से समन्वित समझने होंगे।

संगति—आगे कवि रनिवास में हुए प्रेमातिरेक से प्रकट गायनात्मक अनुभाव प्रदर्शित कर रहे हैं।

चौ.--गावहिं मंगल कोकिल बयनी। बिधुबदनीं मृगसावकनयनीं।७॥

भावार्थ—चन्द्रमा के समान मुखवाली और बालमृग के समान नेत्रवाली सुन्दरियाँ कोयल के सामान मीठे स्वर में मंगलगीत गाने लगीं।

शा० व्या०—इस अभिषेक-प्रसंगमें कविको नरनारियोंका हर्ष सुहावना नहीं लग रहा है। इस लिए दोहान्तर्गत चौपाइयों के क्रममें न्यूनताकर सात ही चौपाइयों में दोहा समाप्त कर दिया।

संगति—रनिवास में हुए उत्साह तथा गायन आदि का वर्णन करने के पश्चात् राज्याभिषेक की तैयारी में किये गये पुरवासियों के चरित्रों का वर्णन हो रहा है।

दोहा०--राम राज अभिषेकु सुनि हियँ हरषे नर नारि।
लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥८॥

भावार्थ—सब नर नारियां श्री रामका राज्याभिषेक सुनकर आनन्दित हो गये। विधाता को अनुकूल समझकर मंगलसूचक सजावट भी करने लगे।

सुखप्राप्ति

शा० व्या०—राजपुत्रों के गुणाकर्षणपर पुरवासियों ने अपने विचार में विधिको अनुकूल समझा है। इसी अनुकूलता में उन्हें सुखकी उपलब्धि हो रही है। 'अनुकूल वेदनीयं सुखम्' का यह समन्वय दृष्टिगोचर हो रहा है।

संगति—प्रासंगिक मंगलका निरूपण होनेके पश्चात् चौपाई २ दोहा ७ में निर्दिष्ट सुरपूजन के अनन्तर दोहा ८ में 'तब' शब्दसे जो संकेत किया गया है, उसके अनुसार राजाके भावि कार्यक्रम के वर्णन में प्रथमतः राजाने गुरु वसिष्ठको आमन्त्रित किया है।

चौ०--तब नरनाँह बसिष्ठ बुलाए। राम धाम सिख देन पठाए॥१॥

भावार्थ—राजा दशरथ ने वसिष्ठजी को बुलाकर श्री रामके समीप उनके घर में (राज्याभिषेकोचित) दीक्षा देने के लिए भेजा।

गुरु के तत्काल पहुंचने व बुलाने में उपपत्ति

शा० व्या०—तत्काल गुरुजी का राजमहल में शुभागमन हुआ। इसका कारण वसिष्ठ मुनिका निवास राजदुर्गसे उत्तरदिशाकी ओर होगा जैसा राजनीति शास्त्रमें विहित है[1]। अर्थशास्त्रकारोंने द्रव्यप्रकृतिका स्वामी राजाको ही माना है। वसिष्ठजी गुरु होनेके साथ साथ मन्त्री भी हैं। अतः उनको अपने यहां बुलाने में राजा का व्यवहार भी सोपपत्तिक है।

दीक्षाकी प्रेरणार्थ गुरुगमन

राज्याभिषेकविधिको सम्पन्न करने के लिए अधिकर्ता को दीक्षित होना आवश्यक है। दीक्षा गुरु ही देते हैं। यह विचारकर राजा गुरुजीको कुमार श्री रामके महल में जानेका संकेत कर रहे हैं।

संगति—गुरुजीका आगमन सुनकर प्रेमपुलकित हो श्रीरामजी द्वार पर स्वागतार्थ उपस्थित हैं।

(१) तस्य पूर्वोत्तरं भागमाचार्यपुरोहितेज्यातोयस्थानमधिवसेयु; (अ. २-४)

चौ०--गुरु आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा ॥२॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने ॥३॥

भावार्थ—श्री रामजी गुरुजी का आना सुनते ही द्वार पर उपस्थित हो मुनि के चरणों पर मस्तक झुकाते हुए आदर पूर्वक अर्घ्य देकर उनको महल मे ले गये पश्चात् षोडशोपचार से पूजा करने लगे।

गुरुजी के स्वागत पूजन का नैतिक उपयोग

शा० व्या०—गुरुजी के घर में आने पर उनके स्वागत में क्या कर्तव्य होता है? इसको श्रीराम ने समझाया है। उसका नैतिक उपयोग लोकसंग्रह है। ब्रम्हवृन्द एवं गुरुवृन्द को प्रसन्न करने के लिये शास्त्रकारों ने देवों की पूजा के समान उनका पूजन करने का विधान बताया है। उसी का अनुसरण प्रभु राम कर रहे हैं[1]।

जैसे कामन्दक ने पूजा के विधान में देवता व गुरुजन का संकेत किया है वैसे ही अन्यत्र सुभाषितों में 'द्विजमादरेण' और 'गुरुं प्रणतिभिः' कहा है।

संगति—गुरु की पूजा करने के बाद श्रीराम ने किस प्रकार गुरु से प्रार्थना की? शिवजी सुना रहे हैं।

चौ०—गहे चरन सियसहित बहोरी। बोले राम कमलकर जोरी ॥ ४ ॥

भावार्थ—सीतासहित श्री राम ने गुरुजी का चरणस्पर्श करके दोनों हाथ जोड़कर विनंति की।

परिचय रहते भी अवज्ञा का अभाव

शा० व्या०—यहां ज्ञातव्य है कि श्री राम को गुरु वसिष्ठ से परिचय जन्मतः है। अतिपरिचय होने पर अवज्ञा की संभावना रहती है। वह दोष श्री राम के चरित्र में नही है।

संगति—गुरुजनों का आदर भविष्यत्सफलता का बीज है। उत्तमप्रकृति होने से श्री राम उक्त तथ्य को समझ रहे हैं उसी को कवि स्फुट कर रहे हैं।

चौ०—सेवक-सदन स्वामि आगमनू। मंगलमूल अमंगलदमनू ॥५॥

भावार्थ—हे स्वामिन्! मुझ सेवक के घर में गुरुजी का आना मंगल का मूल और अमंगल का नाशक है। अमंगलसे विघ्नकार्य भी ध्वनित हैं।

शा० व्या०—सेव्य के घर सेवक ने जाना उचित है। क्योंकि सेव्य के संबन्ध में शास्त्रकारों का विधान है कि उसने विना विशेषप्रयोजन के सेवक के घर नही जाना चाहिये। इस विधान को उपेक्षित कर गुरुजी का सेवकश्रीरामके घर पहुंचना उनकी अल्पज्ञता या आवेग का परिचायक नहीं किन्तु सहेतुक अर्थात् विशेष प्रयोजन रखता है।

गुरु-सेव्य का सेवक-श्रीराम के यहां जाने मे आरादुपकारकत्व

महात्माओं की दृष्टि में यह शुभागमन महद्यशोरूप मंगल का (त्रैलोक्य गामिनी कीर्ति) द्योतक है। यहां स्मरणीय है कि दूसरे ही दिन प्रभु वनमें जाने का कार्यक्रम प्रारंभ करेंगे। यह कार्य लोकदृष्ट्या अमंगल दिखायी देता हुआ भी भावी यशस् का साधन है। इसको दृष्टि में रखकर आगे (चौ० ६ दो०५३ में) 'काननराजू' कहा गया है। उसमें नान्तरीयकतया जो भी दुःख कहा गया है वह अमंगल में पर्यवर्तित नहीं कहा जा सकता, इस दृष्टि से 'मंगलमूल अमंगलदमनू' सार्थक है। उसका निष्कर्ष यह कि—

'गुरोः सेव्यगुणसंपन्नस्य सेवकगृहे यद्यत् शुभागमनं भवति तत् तन्मंगलमूलं भवति' यह निर्दुष्ट व्याप्ति है।

---

(१) नी. सा. स. ३।

मंगलमूल की व्याप्ति पर विश्वास

गुरुजी द्वारा राज्याभिषेक की सूचना प्राप्त करने के बाद दूसरे ही दिन वह कार्य संपन्न नहीं हुआ ऐसा दृष्टिगोचर होते हुए भी श्रीरामजी उपर्युक्त व्याप्ति में अपना विश्वास दृढ़ बनाये हुए हैं। उसका भाव यह कि राज्याभिषेक स्वल्प मंगल है, उससे भी अधिक कीर्तिमंगल होने वाला है। उस मंगल विशेष के घटित होने के लिये राज्याभिषेक का कार्यक्रम स्थगित होना अपने हित में श्री रामजी अच्छा समझेंगे। इसमें हेतु उनका उपर्युक्त व्याप्ति पर अपना विश्वास है। उसी विश्वास पर भाविमंगल को उपलब्ध करने के लिए श्रीराम जी हर्ष के साथ वनगमन की तैयारी करेंगे। इस प्रकार गुरुजी का शुभागमन राजकुमार के यशस् को बनाने मे आरादुपकारक है।

संगति—"मंगलमूल अमंगल दमनू" की उपपत्ति अग्रिम चौपाई में समझाई जा रही है।

चौ०—तदपि उचित जनु बोलि सप्रीति। पठइअ काज नाथ अस नीति ॥६॥

भावार्थ—हे नाथ! नीति तो यही है कि कार्यविशेष की प्रसक्ति पर किसी के द्वारा सेवक को सेव्य बुलावे और उचित समझकर सेवक को आज्ञा करे।

वाणी या कृति का अनुगामी अर्थ

शा० व्या०—मर्यादानुसार यही उचित है कि सेवक ने ही सेव्य के सामने उपस्थित होकर उनसे आदेश प्राप्त करना चाहिये। किन्तु सेव्य ही सेवक श्रीराम के घर पहुंचकर उसको आदेश दे रहे हैं इस क्रम को सर्वथा अनुचित कहना ही अनुचित है। क्योंकि—

'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'

इस उक्ति के अनुसार महात्माओं के पदक्रम वृथा होते नहीं। इसलिए 'मंगलमूल अमंगल दमनू' ही पारिशेष्यात् मान्य होता है।

मुनि गुरु का शुभागमन यशोबीज

निष्कर्ष यही कि राजकुमार श्रीराम के महान् भावियशोरूपी फलकी उपलब्धि में श्री गुरु मुनि का शुभागमन आरादुपकारक ही नहीं किंबहुना मंगल बीज का भी काम कर रहा है। जैसे बीज तिरोहित होकर अंकुरोत्पादक होता है उसी प्रकार गुरु वसिष्ठमुनि का आगमन अन्तस्तिरोहित हो मंगल के लिये बीज के रुप में ऐकान्तिक है। अतएव गुरुजी ने श्रीराम के यहां पहुंचकर अपने शुभागमनात्मक मंगलबीज को प्रकट न कर उसे छिपा रखा है। महाराज दशरथ की सत्यसन्धता को प्रकट कर उसको अंकुरित किया है।

संगति—भविष्यत्कालीनफल का निरूपण कर तात्कालिकफल का निरूपण कर रहे हैं।

चौ०—प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यहु गेहू ॥७॥

भावार्थ—हे प्रभो! आपने अपना बड़प्पन छोड़कर जो स्नेह दिखाया है। उससे हमारा घर आज पवित्र हो गया।

सन्तोंके आगमन का तात्कालिक फल

शा० व्या०—घर में गुरुजी के आगमन का तात्कालिक फल प्रभु अपनी व घर की तथा पूर्वजों की पवित्रता बता रहे हैं।

संगति—उक्त फल को समझ कर प्रसन्नान्तःकरणसे प्रभु श्रीराम गुरुके आदेशपालन की प्रतिज्ञा आगे व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०—आयसु होइ सो करौं गोसाई। सेवकु लहइ स्वामिसेवकाई ॥ ८ ॥

भावार्थ—आपकी जो आज्ञा हो वैसा करूँ, जिससे सेवक को स्वामी की सेवकाई प्राप्त हो।

आदर्श का प्रतीक

शा० व्या०—ज्ञातव्य है कि गुरुप्रसाद ही भविष्यत्कालीनफलोपलब्धि का बीज बनकर यथार्थ प्रतिभाका उत्पादक होता है। इस प्रकार श्रीराम के गृह में उपस्थित गुरु का प्रेमभाव तथा ज्येष्ठ राजकुमारकी आदेशपालन की प्रतिज्ञा स्वामिसेवकभाव के आदर्श का प्रतीक है।

संगति—वसिष्ठ मुनि आदेश सुनाने के पूर्व प्रभुकी निष्कपटप्रतिज्ञा तथा उपपत्ति को सुनकर उनके विवेक की प्रशंसा कर रहे हैं।

दो०–सुनि सनेह साने बचन मुनि रघुबरहि प्रशंस ॥
राम कस न तुम्ह कहहु अस हंसबंश अवतंस ॥ ९ ॥

भावार्थ—मुनि वसिष्ठ रघुवर श्रीराम के प्रेममय वचनों को सुनकर उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि सूर्यवंश के भूषण ! राम ! तुम क्यों न ऐसा कहोगे ?

श्रीराम के विवेक (आन्वीक्षिकी) की प्रशंसा

शा० व्या०—हंस के समान विवेकपूर्वक काम करने में दक्ष सूर्यवंश में श्रीराम का जन्म है। अतः उनके हृदय में आन्वीक्षिकी विद्या स्वयं प्रकट है जो श्रीरामजी के 'मंगलमूल अमंगलदमनू' निष्कर्ष से सूचित है। वेद एवं शास्त्रों के मत से आन्वीक्षिकी की शोभा तब मानी जाती है जब वह धर्म एवं शास्त्रों से परिष्कृत रहती है।

संगति—शिवजी उसी का संकेत करते हुए मुनि का आदेश सुना रहे हैं।

चौ०–बरनि रामगुन शीलु सुभाउ। बोले प्रेम पुलकि मुनिराउ ॥ १ ॥

भावार्थ—श्रीराम के गुण शील स्वभाव का वर्णन करके मुनि प्रेम में मग्न हो गये।[1]

संगति—गुरु के आदेश का सारांश इस प्रकार है।

चौ०–भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत देन तुम्हहि जुवराजू ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा तुमको युवराजपद देना चाहते हैं। उसके लिये राज्याभिषेक की तैयारी पूर्ण हो रही है।

राजमनोरथसूचना एवं राजपद में सर्वलोकनमस्कृतत्व

शा० व्या०—राजा दशरथ राज्याभिषेक की तैयारी कर रहे हैं। संपूर्णजनसमुदाय से राज्याभिषेक की अनुमति प्राप्त है। विशेषांश ३२ दो. ६ चौ. मे द्रष्टव्य है।

प्रभु राम का राज्यारोहण सर्वलोकनमस्कृत तथा लोकसम्मत है। नकि स्वेच्छा से प्रेरित हो प्रियदर्शन या प्रियश्रवणप्रयुक्त आवेग में राजा श्रीराम को पदालंकृत करने में उद्यत हैं अतः हे राम ! आप युवराजपद को स्वीकृत कर प्रजासमेत पिता के मनोरथ को पूर्ण करें।

संगति—राज्याभिषेककर्म में दीक्षित होना उत्तरकालीनस्वामी यजमान (श्रीराम) के लिये अपरिहार्य है। इसलिए उस कर्तव्यपालनादेश को, पुरोहित होनेके कारण गुरु मुनि वसिष्ठ सुना रहे हैं।

चौ०–राम करहु सब संजम आजू। जौ बिधिकुशल निबाहै काजू ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे श्रीराम ! राज्याभिषेक के निमित्त को सुनकर संपूर्ण संयम आज करो। जिससे विधाता भाविकार्य को कुशलतापूर्वक पूर्ण करे।

---

१. गुण-शील-स्वभाव की व्याख्या अयो.दो.१ चौ.८ में द्रष्टव्य है।

दीक्षा प्रवेश में संयम का भाव

शा० व्या०—मुनि वसिष्ठ का कहना है कि जिस प्रकार से भाविकार्य सकुशल संपन्न होगा उस प्रकार से श्रीराम को संयम करना है। इसका भाव यह भी लक्षित होता है कि विधाता के सोचे हुए कार्य को संपन्न करने के लिए संयम करना है। अर्थात् राजा उनको राजपद देना चाहते हैं, कहने के अपेक्षया यह कहना अच्छा होगा कि श्रीराम के कार्यक्रम के वारे में जो ब्रह्माजी ने विचार किया है उसको जानते हुए आपको संयम करना है। यहाँ संयम का तात्पर्य हर्ष एवं विषाद से रहित होना है।

संयम और विधि का निष्कर्ष

विधिका कीर्तन करते हुए गुरु वसिष्ठ ने श्री राम को अपने अवतारप्रयोजन का स्मरण दिलाया यह कहकर कि कल का ही वह दिन है जो भूभारहरण के निर्णयार्थ चुना गया है। पदे पदे बुद्धि को संयत रख कर विचार करना कर्तव्य है। विवेक ही एक मात्र शरण है। इस प्रकार संयम करने का उपदेश दिया।

विधि का अर्थ यह भी है कि जो विधान प्रभु ने बनाया है वह वेदवचनसदृश है। उसको प्रतिफलित करना ही संयम है। विभिन्न स्वभाव के व्यक्ति प्रभु श्रीराम के सामने भविष्यत् में उपस्थित होंगे उनकी स्थिति को समझने के लिए उक्त संयम की उपयोगिता सिद्ध होगी क्योंकि उनके मतों के उपस्थापन के वाद निर्णय करना संयमी का कर्तव्य है।

'जो विधि कुसल' का यह भी भाव है कि एक तरफ दशरथ का विधान है (जिसमें श्री राम का राज्याभिषेक करना है) दूसरे तरफ वह विधान है जो आकाशवाणी से ध्वनित है। (चौ० २ दो० १८७ बा. का.)। उन दोनों विधानों में जिस विधि से कुशलतापूर्वक कार्य का निर्वाह हो वह विधि श्रीराम ने अपनाना है।

आकाशवाणी के विधान में ज्ञातव्य यह है कि परमा शक्ति सीता और अंशावतार तीनों भाइयों ने प्रभु के अर्थको (हरिहउँ सकल भूमि गरुआई) पूर्ण करना है। जब तक यह कार्य पूर्ण नही होता तब तक उनकी एकाग्रता बनी रहेगी। यही कारण है कि वनवास के अवसर पर लक्ष्मणजी का उर्मिला से मिलने का कोई प्रसंग नहीं कहा गया, न तो भरत और शत्रुघ्न के चरित्र में। जब श्री राम लंका विजय के वाद राज्यसुख में प्रतिष्ठित होंगे तभी अन्य भाई स्वस्व गृहस्थधर्म में उन्मुख होंगे। ग्रन्थकार ने उक्त साधयिष्यमाण अर्थ के संबन्ध में जितना आवश्यक है उतना ही वर्णन किया है। अतः श्रीराम अपने अनुयायियों सहित रावणवध के पूर्व साधितार्थ न होने से अभी पथिक ही कहे जायेंगे इसलिए उन्होंने वहुत संयम से कार्य को पूर्ण करना है। इसमें श्री मद्भागवतवचनस्मरणीय है[1]।

ज्ञातव्य है कि गुरु के निर्देशानुसार प्रत्येक चरित्र में प्रभु राम भी विधिकार्य (रावण वध आदि) सम्पन्न होने तक विशेषतया संयम प्रकाशित करते रहेंगे।

निष्कर्ष यह कि जिस विधि के अनुरूप कार्यक्रम को अपनाने अथवा न अपनाने में सबका कुशल होगा उस विधि को अपनाना ही संयम है।

संगति—वनगमनकार्य के बीज का कुशलतापूर्वक विक्षेप करके गुरुजी लौटें।

चौ०—गुरु सिख देइ राय पहिं गयऊ। रामहृदय अस विसमउ भयऊ ॥४॥

भावार्थ—गुरुजी श्रीराम को शिक्षा देकर राजा के पास चले गये। उसके पश्चात् श्रीराम के हृदय में विस्मय (अद्भुत) हुआ।

---

१. पश्यामि ते गृहं सुभ्रः पुंसामाधिविकर्शनं। साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम् ॥

विस्मय की उपपत्ति

शा० व्या०—गुरुजी के जाने के बाद राजकुमार श्रीराम के हृदय में गुरुजी के वचन को सुनकर राजा के विचारों पर विस्मय की स्थिति उत्पन्न हुई जिसका अर्थ है—लोक में असंभव की स्थिति को संभव बनाना। भाइयों की अनुपस्थिति में किसी एक भाई का संस्कार अभी तक असंभवग्रस्त हुआ है। उसके वैपरीत्य में मेरा (रामका) राज्याभिषेक करने का संकल्प पिता श्री ने किया है। यही राजा के चरित्रमें अद्भुत है। उसी पर प्रभु को विस्मय हो रहा है।

संगति—'जो विधि कुशल' से सूचित आकाशवाणी के विधान में कुशलता है या राजा के विधान में है उसके औचित्यानौचित्यकी विनिगमना कर्तव्य है उसके पूर्व उक्त असंभवको प्रकाशित कर रहे हैं।

चौ.—जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥५॥

करनबेध उपवीत बिआहा। संग संग सब भये उछाहा ॥६॥

भावार्थ—सब भाइयों का जन्म एक साथ हुआ, लड़कपन में भोजन खेलकूद और सोना साथ-साथ होता रहा। कर्णछेदन, जनेऊ और विवाह आदि सब उत्सव भी साथ साथ हुए।

संस्कारमें वैषम्य

शा० व्या०—प्र०—सभी भाई जन्मसे लेकर विवाहान्त उत्सव में सम्मिलित थे तो राजा ने अभिषेक संस्कार में अनधिकृत वैषम्य क्यों सोचा ?

उत्तर—इसके समाधान में कहना है कि राजा की नृपनीति में होने वाली सत्पात्रप्रतिपत्ति में ज्येष्ठ पुत्र का राज्याभिषेक होना कुलरीति की परंपरा के अधीन है। पर जन्मसे विवाहान्त संस्कारों में चारों भाइयों के उपस्थिति की पूर्व परंपरा यहाँ भग्न हो रही है, उसका कारण मृत्यु का सान्निध्य है।

संगति—'बंधु बिहाई' की अवस्था में गुणवान् नीतिमान रामको ही अभिषिक्त करने पर प्रभु 'अनुचित एकू' के विचार से यह संकेत करेंगे कि राजा की ओर से होनेवाली सत्पात्रप्रतिपत्ति (बड़ेहि अभिषेकू) में अपना (प्रभुका) फलस्वामित्व भाइयों में भेद का कारण हो सकता है जो राज्य के विघटन एवं योगक्षेमविनाश करने वाला होगा जैसा आगे मन्थरा के षड़यन्त्र से स्पष्ट हो जायगा। उसीको समझा रहे हैं।

चौ.—बिमल बंश यहु अनुचित एकू। बंधुबिहाइ बड़े हि अभिषेकू ॥७॥

भावार्थ—पवित्र सूर्यवंश में एक अनुचित यही हो रहा है कि राज्याभिषेकसंस्कार में राजा की ओर से अपना कर्तृत्व भाइ भरत और शत्रुघ्न की अनुपस्थिति में प्रकट हो रहा है।

नृपनीति में अनौचित्य

शा० व्या०—राजा दशरथ की नृपनीति में दोष (पाप) नहीं है। पर इस नीति की तात्कालिक प्रक्रिया में 'बंधु बिहाइ' से अनौचित्य दोष उपस्थित हो रहा है। गुरुजी की उक्ति (चाहत देन तुम्हहि जुबराजु) में व्यक्त राजा की कर्तृता की प्रभु 'यह अनुचित एकू' से ध्वनित कर रहे हैं। ज्ञातव्य है कि यह राजकर्तृक रामराज्याभिषेक धर्म तो है पर नीतिसम्मत न होने से उसको प्रभु ने रागविषय न कहकर 'अनुचित' कहा है। आगे दोहा ३१ में भी स्पष्ट हो जायगा कि राजा दशरथ इसको नृपनीति मानते हैं पर प्रभु की दृष्टि से उस नीति में दोष है। इस रीति में श्रीराम के प्रभुत्वप्रतिपादक निरूपणमें उनकी सर्वज्ञता को प्रकाशित करने वाला यह अनौचित्य हेतु है।

एकराज्य

राजनीतिसिद्धान्त के अनुसार शासन दो प्रकार का होता है—एकराज्य और कुलराज्य। एकराज्य की स्थिति स्पष्ट है, क्योंकि परंपरागत क्रम में ज्येष्ठपुत्र ही राजपदाभिषिक्त होता है। ज्ञातव्य है कि वंशपरंपरा में राजनीतिसंचालन की पूर्णकुशलता ज्येष्ठ कुमार में होनी ही चाहिये। अन्य कुमार जो आत्मगुणसंपन्न होते हुए भी राज्यसंचालन में अनिपुण या राज्य के प्रति निराकांक्ष हैं, वे हटा दिये जाते हैं अथवा नवीन मांडलिक राजपद में स्थापित किये जाते हैं।

कुलराज्य तथा उसमें दोष

दूसरा कुलराज्य है। उसके अन्तर्गत एक से अधिक राज्य-उत्तराधिकारी राज्यसंचालन में निपुण हैं तो कुल की मर्यादा के अनुसार प्रतिनिधि के रूप में उन उन व्यक्तियों को शासन में क्रमशः अधिकृत किया जाता है। यह राज्य बलवान् होता हुआ भी तबतक टिका रहता है जबतक कुलमें संघभेद या व्यसन की स्थिति नहीं आती पर वह दुर्घट है। अर्थात् जहाँ संघवृत्त की अभेद्यता नहीं है वहाँ का कुलराज्य शीघ्रातिशीघ्र क्षीण होता है। (१) अतः शास्त्रकारों ने चिरस्थायी एकराज्य में ही सर्वांगोपसंहारात्मकप्रकृति का निर्देश किया है।

एकराज्य की परंपरामें कुलराज्य

सूर्यवंश में एकराज्य की स्थिति पूर्वपरंपराप्राप्त है। इसमें विचारणीय यह है कि तत्काल में पिता श्री के दोनों वंश राम एवं भरत जब कि निर्मल हैं तब एक व्यक्ति को ही राज्याधिकार देने के अपेक्षया कुलराज्य या द्वै राज्य (दो राजा) की व्यवस्था करना क्या ठीक न होगा ? राजनीतिक दृष्टि से इधर ध्यान न देना अनौचित्य है।

अनौचित्य का विवेचन

यहाँ 'अनुचित एकू' का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है। जन्म से लेकर अबतक के संपूर्ण संस्कार या मंगल कार्य चारो भाइयों की उपस्थिति में हुए हैं जो कि उचित ही था। श्रीराम का राज्याभिषेकसंस्कार अभी जो भाइयों की उपस्थिति के अभाव में हो रहा है वह प्रभु को हर्षप्रद नहीं हो रहा है, क्योंकि शास्त्र की दृष्टि से उसी कार्य में औचित्य सिद्ध होता है जो राजा, गुरु, और देव से समर्थित होते हुए उनके लिये सुखद होता हुआ अपने को अभीष्ट फल प्रदान करता हो। रामराज्याभिषेक के बारे में राजा ही एकमात्र शीघ्रता कर रहे हैं। गुरु वशिष्ठजी ने स्पष्टतया अभिषेक का अनुमोदन नही किया है किंबहुना उनके वचनों से उनकी उदासीनता ही परिलक्षित हुई है[२]। वे इस मंगल कार्य को विघ्न समझ रहे हैं। देवताओं का अनुमोदन तो कथमपि नहीं है। वे इस मंगलकार्य में जगद्धितार्थ विघ्नों का उपस्थापन करना चाहेंगे[३]। उन्होंने सरस्वती माता से बारंबार विनन्ती करते हुए ऐसा ही कहा है[४]।

---

१. कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसङ्घो हि दुर्जयः।
अराजव्यसनाबाधः शश्वदावसति क्षितिम् ॥ अ. १। अ.। १७ अ.।

२. सुदिन सुमंगलु तबहि जब राम होहि जुवराजु। अयो० का० दो० ४

३. रामु जाहि बन राजु तजि होइ सकल सुरकाजु ॥
विघन मनावहि देव कुचाली।

४. बिपति हमारि बिलोकि बड़ि मातु करिअ सोइ आजु।

राज्य की सत्पात्रप्रतिपत्ति में अनौचित्य

यहाँ यह भी विचारणीय है कि राजा दशरथ द्वारा होने वाला राज्याभिषेक अदृष्टशक्ति को पैदा करने वाला है। तदपेक्षया दृष्ट फल प्रवल है। उसको देखते हुए भेद की उत्पत्ति से राज्य के विनाशकी संभावना अधिक है। अतः उचित यह होता कि तत्काल में अभिषेक का कार्य संपन्न न हो। किन्तु ऐसा हो कि प्रस्तुत साम्राज्य की यह सत्पात्रप्रतिपत्ति कुलराज्य के अनुसार दोनों भाइयों में समान रूप में की जाय। उसके अभाव में राजकर्तृकराज्याभिषेक में अनौचित्य है। प्रभु सोच रहे हैं कि उचित तो यही होता कि राजा के पश्चात् इस राज्यधन के स्वामी हम दोनों हो जाते, पश्चात् हम दोनों भाई मिल कर जनता की अनुकूलता में राज्य की व्यवस्था कर लेते-जैसा कि श्रीराम ने भरत से चित्रकूट में कहा है—

"बाँटी विपति सबहि मोहि भाई"॥

पिता की आज्ञा के विना वन में जाना असंभव

प्रश्न—श्रीराम राज्याभिषेक के संवन्ध में 'अनुचित एकू' कह रहे हैं तब प्रश्न उठता है कि पिताश्री की आज्ञा के विना ही श्रीराम वन में क्यों नहीं चले गये ?

उत्तर—उसका समाधान दोहा ५३-चौ० ५ धरमु धुरीन धरमु गति जानी' में स्फुट होगा।

राज्याभिषेक के राजकर्तृत्व में दैवानुकूल्य के अभाव से अनौचित्य

प्रभु अभी राज्याभिषेक में वन्धुकी अनुपस्थिति में दैव की अनुकूलता नहीं समझ रहे हैं। अतः यह अभाव असंगल या दुर्घटना का सूचक हो सकता है जैसा आगे चौ. ५ दो. १४१ में 'कुसमय विचारी' से स्पष्ट होगा। इस भाव से प्रभुने तात्कालिक राज्याभिषेक को अमंगल के हेतु से अनुचित कहा।

दैवप्रातिकूल्य के रहते अभिषेकमें दोष

भरत के उपस्थित न रहते श्रीराम का राज्यभिषेक स्वीकार करना उनका राज्यलोभ कहा जा सकता है जो भाइयों की पारस्परिक प्रीति में विघटन का भाव पैदा करके भरत के अनुयायियों में मतभेद का कारण बनकर राज्य का विनाशक हो सकता है। इस शंकाको ध्यान में रखकर श्रीराम मन में राज्याभिषेक को अनुचित समझते हैं। इसमें अनुमानप्रणाली टिप्पणी में उद्धृत है[1]।

राजनिष्ठकर्तृता में अनौचित्य

जैसा पूर्व में कहा गया है, अभी तक सब भाइयों के संस्कार एक साथ हुए हैं। इसमें राजाकी कर्तृता का औचित्य था। राज्याभिषेक तो एक भाईका ही होना है, इसलिए 'बेड़ेहि अभिषेकू' अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामका राज्याभिषेक उचित ही है। (जो श्रीराम के अयोध्या लौटने पर होगा ही) पर राजा के इस राज्याभिषेककर्तृत्व में बंधु बिहाइ' होना अनौचित्य का कारण है।[2]

ज्ञातव्य है कि गुरुजी की उक्ति ('भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत देन तुम्हहि जुबराजू') के विचारमें श्रीराम के उक्त मनोभाव को कवि ने प्रस्तुत किया है।

---

१. अहं रामः न राज्यस्य स्वामी भवितुमर्हः लोकसमवेताया, भरतासान्निध्ये राज्यार्थलोभप्रयुक्तप्रेरणावत्त्वे सति स्वामित्वप्रयोजकात्मगुणसंपत्तिपर्याप्त्यभावसमानाधिकरणकौटिल्यवान् रामः इति कल्पनाया विषयत्वात्'।

२. अनौचित्य के संबन्ध में शेष विवेचन दो० ४२ चौ० ३ में 'लेहि विधु मागी' कहकर प्रभुने व्यक्त किया है।

बड़े 'हि' शब्द की सार्थता

'बड़ेहि अभिषेकू' में 'हि' शब्द हेतुत्वार्थक है, जिसका अर्थ है कि पिताश्री भाइयों को छोड़कर ज्येष्ठत्वहेतु से मुझे अभिषिक्त करने की अभिलाषा पूर्ण करने में अपनी कर्तृता को प्रधानता दे रहे हैं वह अनुचित है। क्योंकि भविष्यत् में भरतके अनुयायिओंमें यह भावना हो सकती है कि राज्याधिकार-प्राप्ति की पूर्णयोग्यता रहते केवल ज्येष्ठत्वके अभाव में भरत राज्याभिषेक से वंचित कर दिये गये। जिसकी विचारप्रणाली इस प्रकार होगी—'यदि भरतः ज्येष्ठः स्यात् तर्हि स एव राज्याभिषिक्तो भवेत्'। उस अवस्थामें भाइयोंमें मतभेद और पारस्परिक प्रीतीकी न्यूनताको अवकाश मिल सकता है। यह दोष पिताद्वारा अभिषिक्त होने में है जिसको 'हि अनुचित एकू' से बताया है। 'सब विधि सब लायक' से ज्येष्ठताका परिहार हो नहीं सकता, इसलिए उक्त दोषका परिहार राज्यत्यागसे प्रभु करना चाहते हैं।

पार्वती के प्रश्न के समाधान में 'अनुचित एकू'

ज्ञातव्य है कि पार्वती के प्रश्न "राज तजा सो दूषन काहीं" (चौ. ६ दो. ११० बा० का०) के उत्तर में शिवजी पार्वती को सुनाते हुए प्रभुके मनोभाव को ('अनुचित एकू') कहकर राजा की राज्याभिषेक-कर्तृता में अनौचित्य दोष को राज्यत्याग का कारण समझा रहे हैं। इस प्रकार उक्त चौपाई की एकवाक्यता यहाँ स्मरणीय है।

राज्यत्याग की योजना मे प्रभु की कृपा

जब उपासक जीव भगवान् को अपनी स्वतंत्र कर्तृता में बाँधना चाहता है तब उसकी कर्तृता के अधीन हो प्रभु जड़वत् परतन्त्र बनकर उपासक की मनोनीत क्रियाको पूर्ण करते हैं जैसा श्री रामने गुरुजी के द्वारा राजाके आदेशको सुनकर उसका विरोध नहीं किया। पर राजाकी कर्तृतामें राज्याभिषेक हो जाता तो भेदनीतिमें फँसकर अनैचित्य के परिणाम में राज्य का विनाश हो जाता। इस कुपरिणाम को प्रभुने 'अनुचित एकू' से ध्वनित किया। अतः राजाकी कर्तृतामें होनेवाले दोष से राजा को बचाने के लिए राज्याभिषेक में सरस्वती द्वारा विघ्न उपास्थापित होंगे यह राजा के ऊपर प्रभुकी कृपा है। जहाँ स्वतन्त्रताभिमानी जीवके अनुचित क्रियामें प्रभु जड़वत् सहायक होते हैं वहाँ प्रभु की कृपा नहीं होती उस दशामें जीवका नाश हो जाता है। जैसा द्रौपदीचीरहरणमें दुर्योधनकी कर्तृताका अनौचित्य बताते हुए भी भीष्मने प्रभुके विधानकी कार्यकारिता को समझते हुए हस्तक्षेप नही किया। परिणाम में दुर्योधन का विनाश हो गया।

अनौचित्य के प्रकाशन में प्रीति का आदर्श

अनौचित्य के उपर्युक्त चिन्तन में प्रभु के भरतविषयक प्रेम में कौटिल्य का अभाव प्रकट हो रहा है। प्रेम के न रहने पर स्वार्थपरायणता में अभिभूत व्यक्ति को वंचना करने की प्रवृत्ति जागृत होती है। इस दोष से अपने को बचाते हुए प्रभुने महान् आदर्श प्रस्तुत किया है।

अनौचित्य से उदासीनता

'बन्धु बिहाई' में उक्त अनौचित्य को कहकर प्रभु उदासीन हो गये। उसी में उन्होंने प्रिय भरत का स्मरण किया। जो 'बन्धु बिहाई' से स्पष्ट है।

सीता और लक्ष्मण को वनवास में प्रवृत्ति

'अनुचित एकू' समझाकर प्रभु ने सेवक भरत का स्मरण कर स्वामिसेवक भाव की पवित्रता दिखायी जैसे स्वामी का कार्य—

"सोय लखन जेहि विधि सुख लहही। सोइ रघुनाथ करहि सोइ कहही"—

में प्रकट है। और सेवक का कार्य—

"लखि सिय लखनु विकल होइ जाही। जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाही"—

से दिखाया है। सीता और लक्ष्मण ने स्वामी की उदासीनता को परख कर तदनुकूल आचरण किया और श्रीराम के वनगमन में सहयोग दिया।

राजा के पक्षपात का समाधान

प्रश्न—राजा दशरथ ने जानबूझकर भरत की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए रामराज्याभिषेक का आयोजन करना चाहा उसे 'अनुचित एकू' से प्रभुको निरस्त करना पड़ा, ऐसा कहना ठीक है क्या ?

उत्तर—यह ठीक नही इसलिए कि विद्वत्संगति में रहने वाले सत्यसन्ध राजा के हृदय में भरत की अनुपस्थिति से लाभ की कल्पना हो ही नही सकती। अतः यह कहना होगा कि रामराज्याभिषेक की कर्तृता मे भरत की अनुपस्थिति का संयोग दैवात् हो गया है। अपनी आसन्नमृत्युको देखते हुए राजा को रामराज्याभिषेकोत्सव में भरत की अनुपस्थिति का संयोग अनिच्छापूर्वक सहना पड़ा जो गुरुजी के आदेश "वेगि विलंबु न करिअ" से भी स्पष्ट है।

प्रयोगविधि में अननुष्ठानलक्षण-अप्रामाण्य

रामराज्याभिषेक के आयोजन में राजा के द्वारा कही जिस विधिका अनुष्ठान प्रभुको करना है वह प्रयोगविधि है। यतः उसमें देश-काल-कर्ता और क्रमका विचार निरूपित है। परन्तु इस प्रयोगविधिको प्रभु अनुष्ठेय नहीं समझते क्योंकि नीतिदृष्टि से उसमें पूर्वोक्त अनौचित्य है। अतः प्रभुने तत्काल के लिए इस विधिको अनुष्ठानतः प्रमाणरूपमें स्वीकार नहीं किया। इसका संकेत गुरु वसिष्ठ के वचन ('जौं विधि कुसल निबाहै काजू') में कहे 'जौ विधि' से चिन्त्य है।

मनोरथसिद्धि में बलाबल

एक ओर राजा दशरथ का लालसाप्रयुक्त 'बड़ेहि अभिषेकू' का मनोरथ है। दूसरी ओर चौ. २-३ दो. २९ में कहा कैकेयी का 'रामवनवासात्मक मनोरथ' प्रकट होने वाला है। धर्मका बल दोनों में बराबर होने पर भी नीति के बलाबल का विचार करके प्रभुने राजा के मनोरथ को 'अनुचित एकू' कहकर न्यून ठहरायाहै। अतः राजा के वचन का प्रामाण्य अभी दुर्बल है।

विमलवंश का भाव

विमलवंश कहने का भाव यह है कि सूर्यवंश में किसी प्रकार का मल (पाप या दोष) नहीं है।[1] यही एक मात्र मल इस वंश में प्रसक्त होने जा रहा है। बहुत उत्तम हुआ कि अभी महोत्सव का संकल्प हुआ नहीं है। केवल उसका विचारमात्र प्रभु के सामने सुनाया गया है। ठीक उसी समय बंधु के अभाव को ध्यान में लाकर श्रीराम के हृदय में अनौचित्य का प्रकाश हुआ। यही सूर्यवंश की निर्मलता का फल है।

'विमल बंश' का भाव यह भी है कि वंशमें विमलता है तो सब भाइयोंमें मतभेद या कुटिलताकी संभावना कभी हो ही नहीं सकती। अतः सभी भाई मिलकर बड़ेही को राज्यपद पर आसीन करेंगे ही। इस प्रकार 'बड़े हि अभिषेकू' में सब भाइयों की कर्तृता उपयुक्त एवं उचित होगी क्योंकि उपर्युक्त दोषों की संभावना उसमें नहीं है।

---

१. मल का स्वरूप कौशल्या के सामने सुनाये भरत के वचनों में स्पष्ट है। (चौ० ५ दो० १६७ चौ० ८ दोहा १६८ तक)

देवताओं को बल

प्रभु के अनौचित्यमूलक विचार से ही देवों को उनके अनुकूल (राज्योत्सव में विघ्न पहुंचाकर वनगमन में प्रभुको उद्युक्त करना) कार्य करने में माता सरस्वती से सहायता मिली।

विमलवंश होते राजा के मति में परिवर्तन का कारण

दैवयोग से प्रेरित यह राजोत्साह दृष्टार्थ मे राजा के भाविमरण का सूचक है क्योंकि उनके जीवन में यही एक मात्र नीतिविरुद्ध कार्य संकल्पित हुआ है। उसके उपबृंहण में किरीट के टेढ़ेपन का पूर्वनिरूपित दर्शन और निरूपयिष्यमाण कैकेयीस्वप्न है।

गुरु के सामने श्रीराम का प्रत्याख्यान न करना

प्रश्न—राज्याभिषेक अनौचित्यपूर्ण है तो गुरु के समक्ष श्रीराम ने उसको अनुचित क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—देव स्वयं ही राज्योत्सव में विघ्न पहुंचाने के लिये उद्यत हैं तो प्रत्याख्यान करके पिता श्री को दुःखी बनाना प्रभु ने उचित नहीं समझा। प्रत्याख्यान न करने का प्रयोजन यह भी है कि राजा के हृदय में होने वाले द्रवीभाव में बाधा न हो[1]

निर्मलता में प्रजारंजन

संगति—रामचरितमानस नीति एवं भक्तिप्रधान ग्रंथ है। निर्मलता के अन्तर्गत प्राचीन राजनैतिक अर्थसंबन्धिनी निर्मलता भी भक्ति के साथ विचारणीय है। अतः स्थान स्थान पर युक्तिसम्मत नीति का भी आश्रय लिया गया है। रामचरित्र से उसका प्रकाशन कर जनपद के हृदय में अपने विश्वास की स्थिति बनानी है—उसके विपरीतभाव में कार्य करना कुटिलता सिद्ध होगी। कुटिलता के अभाव में ही वास्तविक प्रेम प्रकट होता है जो प्रजारंजन का मूल है। प्रभु ने इस चरित्र से यही शिक्षा दी है कि उपासकों को किसी भी धर्मार्थकामसंबंधिकार्य में अनौचित्य को दूर करते हुए औचित्य पर सदा ध्यान रखना चाहिये[2]। यही सोचकर जनमानस में से संभाव्य कौटिल्य को निरस्त करने की प्रार्थना शिवजी कर रहे हैं।

चौ०—प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगतमन कै कुटिलाई॥ ८॥

भावार्थ—प्रभु रामका यह प्रीतिभरा पछतावा सुहावना है। वह भक्तों के मन की कुटिलता को दूर करे।

कुटिलता का स्वमण्डल में सर्वथा हरण

शा० व्या०—श्रीराम का उक्त आदर्श आगमशुद्ध होने पर भी तादात्विक (तात्कालिक) अभिषेक भरतके अनुयायियों के हृदय में चौ. ७ दो. ८ के निर्देशानुसार शंकोत्पादक होने से वह प्रत्यक्षानुमानतः हितावह नही है, यही अनौचित्य प्रभुने 'अनुचित एकू' में ध्वनित किया है। जो अनुचित कार्य होता है वही कुटिल कहा गया है। भक्तों को प्रत्यक्षादिप्रमाणत्रय का समन्वय अनुष्ठेय कार्य में न होने पर उसको कुटिलता का उत्पादक समझना होगा। उसी को श्री शिवजी ने "पछितानि सुहाई" कह कर दर्शाया है। तर्कशुद्ध रीति से समझाये हुए प्रेम में निमग्न हो उपासक कुटिलता को त्यागेंगे तो इस चरित्र का अध्ययन सफल है।

---

१. पृ० २५ में द्रष्टव्य है।

२. शेष १५६ दोहा तथा १६५ दो० ७ चौपाइ में द्रष्टव्य है।

शिवजी की कुटिलताहरण के लिए प्रार्थना

'हरहु भगतमन कुटिलाई' कहकर शिवजी श्री राम से प्रार्थना कर रहे हैं कि अनौचित्य प्रयुक्त कुटिलता का भाव भक्तों के मन में कभी आवे तो प्रभु उसको दूर करके भक्तों की रक्षा करें। उदाहरणार्थ राजा दशरथ के मन की, कैकेयी, गुह, इन्द्र, लक्ष्मण की कुटिलता का निरास आगे कहा जायगा जिसमें मुख्यतया लक्ष्मण के मन की कुटिलता विवक्षित है जिसका संकेत चौ० ४ दो० ९६ में है। उसका पूर्ण उद्घाटन चैत्रकूट में भरतागमन के अवसर पर हुआ।

इस प्रार्थना में शिवजी का हित भी विवक्षित है। उदाहरणार्थ सेवकत्व के बल पर लक्ष्मण भरत के सहायतार्थ आने पर शिवजी को भी परास्त करने की शपथ लेना है।

संगति—गुरुने दशरथतनय को दो० ८४ चौ० ८ में 'स्वामी' कहकर उनके अभिमुख रहने के लिये कहा है। लक्ष्मणजी भी राज्योत्सव को जानकर प्रथमतः स्वामी के आभिमुख्यको समझने हेतु प्रभु के यहाँ शुभागमन कर रहे हैं।

अथवा प्रभुने जैसे राज्याभिषेक के प्रति औदासीन्य व्यक्त किया वैसे ही वनवास की तैयारी के हेतु सहज और सन्मित्र लक्ष्मणजी प्रभु के रुखको समझने के लिए शुभागमन कर रहें हैं।

दोहा—तेहि अवसर आए लखन मगन प्रेम आनन्द।
सनमाने प्रियवचन कहि रघुकुलकैरवचन्द ॥ १० ॥

भावार्थ—प्रेम में मग्न आनन्दित लक्ष्मण प्रभु के पास उसी अवसर पर आये जब श्री राम को उक्त विस्मय हो रहा था। रघुवंश-कुमुदिनी के चन्द्रमारूप श्री रामने भाईका सम्मान किया[1] और भरत संबंधी प्रियवचन कहा।

रामराज्य के प्रति सहज-औरस मित्रकी प्रतिक्रिया

शा.० व्या०—'तेहि अवसर' से श्री राम के उक्त संकल्प का विचार करने का समय प्रकट हो रहा है। उसी अवसर पर लोकप्रिय स्वामी के उत्कर्ष को सोचकर लक्ष्मणजी प्रीतिमग्न हो सर्वसम्मतिसमन्वित राज्याधिकारानुमतिप्रदाननिमित्तक आनन्द मे विभोर हो रहे हैं।

प्रश्न—लक्ष्मणजी का एकाएक श्री रामजी के पास आना और उन दोनों के बीच कोइ संवाद न होना क्या विस्मयकारक नही है ? अथवा ऐसा निरूपण क्या सप्रयोजन है ?

उत्तर—दशरथ के राज्याभिषेक की कर्तृता के प्रति श्रीरामजी की अप्रसन्नता का विवेचन ऊपर हो चुका है। प्रेमनिमग्न लक्ष्मणजी के आगमन से विमलवंशोक्ति की सार्थकता प्रकट हो रही है। अर्थात् लक्ष्मणजी की प्रेमनिमग्नता (१) यह सूचित कर रही है कि श्रीरामजी के हाथों में राज्य का सौंपना देखकर अन्य बन्धुजन सभी प्रीतिमान् हो रहे हैं। श्रीराम को यद्यपि राज्याभिषेकसंस्कार से संस्कृत होना अन्य बन्धुओं के अनुपस्थिति में पसन्द नही है तथापि श्रीरामके राज्याभिषेकमें लक्ष्मणजी अपना हार्दिक स्नेहमात्र प्रकट कर रहे हैं। अर्थात् यह उत्सव समस्त भाइयों को मान्य व इंष्ट समझाना ही उक्तनिरूपण का प्रयोजन है।

सेवक को गार्हस्थ्यसुख त्यागने की प्रेरणा

यहां स्मरणीय है कि लक्ष्मण ने प्रभु का उदासीन होना लिखा क्यों कि "अनुचित एकू" सोचने के अवसर पर ही लक्ष्मणजी आ पहुंचे हैं। श्रीरामजी भी अपने मनोभाव को लक्ष्मण से नहीं छिपाते जैसा कि बालकाण्ड में फुलवारी के प्रसंग में स्पष्ट है। राज्य के प्रति प्रभु की उदासीनता को देखकर लक्ष्मणजी समझ गये कि पिता श्री के द्वारा किया जाने वाला राज्याभिषेक प्रभु को इष्ट नहीं है। अतः

नोट—१. चौ० ८ दोहा ७ में ही भरतकी प्रियता स्पष्ट है।

प्रभु के राज्यत्याग में लक्ष्मणजी भी गृहमेधिकर्म को त्याग कर वनगमन के लिए तयार हो गये, यही सेवक का चरित्र है। सेवक के अनुरूप भरतका चरित्र भी आगे निरूपित किया जायगा। लक्ष्मण के हृद्गत को उपर्युक्तकर्मानुरूप देखकर प्रभु ने उनको सम्मानित किया और भरतके स्मरण में प्रीतिवचन कहा।[1]

संगति—बाह्य मित्रके अन्तर्गत प्रजाजन का उत्साह समझा रहे हैं।

चौ०—बाजहि बाजन विविध विधाना। पुरप्रमोदु नहि जाइ बखाना ॥१॥

भावार्थ—अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे। नगर में होने वाली खुशियाली का वर्णन नहीं हो सकता।

प्रभु की एकाग्रता

शा० व्या०—विद्या तथा सर्वान्तर्गत आत्मचिन्तन में तत्पर श्रीराम एकाग्रता में संयम कर रहे हैं। पितृकर्तृकराज्याभिषेक में रुचि न होने से पौर के उल्लास में उनका ध्यान नही हैं, यह दसवे दोहे से स्पष्ट है। तथापि पौरजन अपने वाद्य स्वरों से प्रभु को आकृष्ट करना चाहते हैं। पुरवासी स्वयं प्रेरित होकर नगर को सजाने में व्यस्त हैं। उनकी इस गतिविधि का वर्णन करना कवि की बुद्धि के बाहर है।

वाद्यवादन का उपयोग

देवों के द्वारा विघ्नबाधा पहुंचाने में उनकी हलचल वाद्यवादन सुनकर हुई है।

संगति—चौपाई ७ दोहे १० में उद्धृत अनुमानप्रणाली को स्वरूपासिद्ध (हेतुका पक्षमें अभाव) करने की अभिलाषा से पुरवासी भरत के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

चौ०—भरत आगमनु सकल मनावहि। आवहुं वेगि नयनफलु पावहि ॥२॥

भावार्थ—सब लोग मना रहे हैं कि भरत आ जायं। हम और वे उत्सवको देखकर नेत्रों को सफल करें।

भरत के आगमन की प्रार्थना एवं शंका

शा० व्या०—राज्योत्सव का आनन्द पाने में अभिलाषुक प्रत्येक पुरवासी भरत के आगमन की चाह कर रहा है। आत्मगुण में संपन्न सेवक होने के कारण भरत से प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। अतएव जनानुरागसंपन्न भरत की अनुपस्थिति में पौर वर्ग शंकित है कि श्रीराम 'बन्धुविहाइ' की दशा में राज्याभिषेक से विरत होंगे तो नयन राज्याभिषेकोत्सव के दर्शन से वंचित हो सकते हैं।

भरत में इच्छाऽभाव तथा विमलवंशता की सूचना

उपर्युक्त उक्ति से यह स्पष्ट है कि राज्य के प्रति भरत का इच्छुक न होना प्रजाको ज्ञात था। इसी अभिप्राय से दो. ४८ के अन्तर्गत चौपाइयां तथा दो. ४९ की उक्तियाँ समन्वित समझनी होंगी। तथा श्री राम का विस्मय भाव तथा विमल वंश पुरवासियों की उक्ति से प्रतिध्वनित हो रहा है।

संगति—ऐसा लगता है कि भरतके न रहने से ही प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में राज्याभिषेक के प्रति आशंका हो रही है। अतः प्रजा विधि अर्थात् विधाता (भाग्य) से प्रार्थना कर रही है।

चौ०—हाट बाट घर गली अथाई। कहहिं परसपर लोग लोगाई ॥ ३ ॥

„ कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि विधि अभिलाषु हमारा ॥ ४ ॥

„ कनकसिंघासन सीयसमेता। बैठहि रामु होइ चित चेता ॥ ५ ॥

भावार्थ—बाजारों घरों और गलियों में नर नारी आपस में बाते कर रहे हैं कि अच्छा, बताओ कि कल कब राज्याभिषेक का मुहूर्त है ? विधाता हम लोगों की इच्छा को पूर्ण करें। सीता के साथ श्रीराम स्वर्णसिंहासन पर बैठें तो हम लोगों के हृदय की इच्छा पूर्ण होगी।

---

१. 'प्रियवचन' का स्पष्टीकरण चौ. ५ दो. २३१ में 'सादर' सनमाने' के प्रसंग में कहे गये प्रभु के बचन हैं।

विधि से प्रार्थना

शा० व्या०—राजा ने राज्याभिषेकहेतु दिनकी घोषणा तो की पर लग्न अभी अज्ञात है। अतः प्रजा लग्न में कार्यसंपत्ति के लिये विधि से प्रार्थना करती है।

राजा, उसका अन्तःपुर एवं पौरवर्ग सभीने पृथक् पृथक् देवताओं को वाद्य के साथ उपहार देना प्रारंभ किया है। राज्याभिषेक सबकी अभिलाषा का विषय है।

विघ्नयोजना का प्रारंभ

संगति—फिर भी भविष्यत्कार्य के गौरव को देखकर देवताओंने विघ्न की योजना का उपक्रम शुरू किया।

चौ०—सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहि देव कुचाली ॥ ६ ॥

भावार्थ—इधर तो (अयोध्या में) लोग कह रहे हैं कब कल होगा ? उधर (आकाश में) देवतागण विघ्न मनाने की कुचाल कर रहें हैं।

कुचाली का निष्कर्ष

शा० व्या०—कविने देवताओं के भाविकार्यक्रम को कुचाली कहकर समझाया है कि प्रत्यक्षानुमान-शब्द से प्रमित लोकसम्मति को ध्यान से ठुकरा कर देवताओंने विघ्नारंभ किया है। अतः उनका यह चरित्र कुचालि है। कुचाल में मतिफेरि एवं कामप्रताप आगे ज्ञातव्य होंगे

देवों की कुचाली में दोषांकुशत्व

श्रीराम का राज्याभिषेककार्य लोकसम्मत है। आत्मसंपत्तिमान् ही अभिषिक्त होने जा रहा है। उसमें बाधक होकर देव अपना कार्य पूर्ण करना चाहते हैं। इस प्रकार स्वरूपतः यह कार्य कुचाल होते हुए भी दोषांकुश है क्योंकि यह प्रभुकी की कीर्ति में सहायक होगा।

प्रभु का अवतार धर्मस्थापन के लिए हुआ है। वह कार्य राज्याभिषेक सम्पन्न होने के बाद संभव नहीं था। यतः प्रभु राज्याभिषेक के बाद नरदेव या भूदेव हो जाते तो पृ० ५१ में निर्दिष्ट युक्तियों से तपःशक्तिसंपन्न रावण का वध नहीं हो सकता था।

दण्डकारण्य का महान् भू भाग चक्रवर्ती सूर्यवंश के अधिकार से निकलकर परराष्ट्र के अधीन हो गया था। भृगुमहर्षि के शाप से अपवित्र होने के कारण राक्षसों ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया था। राज्याभिषेक के अनन्तर उस देश को अपने अधीन कर लेना शक्तिसंपन्नरावण के रहते असंभव था। रावण जैसे वरदृप्त राक्षस को विना तपस्विता के पराजित करना भी संभव नही था।

राक्षसों के त्रास से बड़े बड़े महर्षि संत्रस्त थे उस समय राज्यारोहण के अनन्तर श्रीराम के द्वारा धर्म-स्थापना नही हो सकती थी। इस प्रकार देवताओं का प्रस्तुत कार्य में बाधा पहुंचाना स्वरूपतः कुचाल होते हुए भी दोषांकुश है।

संगति—देवताओं ने कुचाली कब की ? शिवजी अगली चोपाइ में कह रहे हैं।

चौ०—तिन्हइ सोहाइ न अवध बधावा। चोरहि चंदिनि राति न भावा ॥ ७ ॥

भावार्थ—उनको अयोध्या का बाजा गाजा अच्छा नहीं लग रहा है। जैसे चोरों को चांदनी रात नहीं सुहाती।

'चोरहि' तथा चंदिनी का भाव

शा० व्या०—'चोरहि' कहने का भाव इतना ही है कि देवता अयोध्या मे रहते हुए भी राजा दशरथ से छिपा कर रामराज्योत्सव को छीननेका आयोजन कर रहे हैं।

'चंदिनि राति न भावा' का भावार्थ यह है कि राजा दशरथ से अपना मनोरथ कहने में उनकी रुचि नही है।

कुचाली के दोषांकुशत्व पर मीमांसा

जैसा पहले कहा गया है कि धर्म की प्रतिष्ठा के अभाव में देवताओं को वाद्यवादनपूर्वक उपहार का समर्पण रुचिकर नही है। प्रभु की दृष्टि में राज्याभिषेककी कर्तृता के अनौचित्य की व्याख्या में गुरु की उदासीनता बतला कर देवताओं की अप्रसन्नता का उल्लेख कर दिया गया है। उससे जनित कुचाल पर मीमांसा की जा रही है।

"अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियते" इस उक्ति के अनुसार रावणवधके अनुरूप कार्य (श्री राम का वन-गमन) करने का अवसर उपस्थित है। क्योंकि दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र श्री रामजी खोये हुए चक्रवर्तिपाद के प्रति अर्थी कहे जा सकते हैं। स्वयं शक्तिमान् और विद्वान् भी हैं। ऐसे अवसर पर भी जगत् में आतंक फैलाने वाले धर्मद्वेष्टा प्रजाशोषक रावण का वध न किया गया और धर्म की प्रतिष्ठा न हुई तो सूर्यवंश के चक्रवर्तित्वका एक महान् दण्डक देश सदा के लिए विदेशियों के हस्तगत ही रहेगा। तपस्वी मुनियों का कष्ट भी सदा के लिये बना रहेगा। देव भी स्वस्थ नहीं रह पाएंगे। देवद्रोह की स्थिरता होगी। अतः देवताओं की यह कुचाल दोषांकुश है।

प्रभु के सेवक होने से देव उनके मनोनुकूल कार्य कर रहे हैं। इसलिए वे भविष्यत् में दोषी नही ठहराये जा सकते। १४ वर्ष के अनन्तर राज्याभिषेक में वे भी सहायक होंगे ही।

अथवा दशरथकर्तृकराज्याभिषेक के लिये वर्तमान समय में विघ्नबाधा को पहुँचाने में देवों का कार्य समयानुकूल होने से अभिषेकविरोधी नहीं समझना चाहिये। जैसे शरीरात्मवादी काम लोभ आदि के के दास बनकर शरीर का पालन करते हैं पर काम आदि का वास्तविक सुख लेने से वंचित होते हैं, बल्कि रोगों का शिकार होकर शरीर के शत्रु ही कहे जाते हैं। अध्यात्मवादी शरीर के प्रति कठोर व्यवहार रखते हुए भी उसके पालक होने से मित्र कहे जाते हैं। वही स्थिति क्रमशः पुरवासी और देवताओं की है। देवों का यह विघ्नकार्य कुचाल होते हुए भी दोष नहीं, यही दोषांकुश की मीमांसा है।

देव एवं मनुष्य-संघटन के न रहने का फल

देवों की कुचाल से ज्ञातव्य है कि मानवीशक्ति देवसंघटन से पृथक् होती है तो दुर्बल ठहरती है। उसका प्रभाव राज्यसंचालन पर पड़ता है। उसमें उपपत्ति यह है।

राज्य के संचालन में तीन शक्तियां अग्रसर होती हैं। देवशक्ति मानवशक्ति और राक्षसशक्ति पहली और दूसरी शक्तियां जब आपस में संघटित होती हैं तब राक्षसशक्ति दुर्बल होती है। देवों के पास वरशक्ति है, और मानव के पास बुद्धिशक्ति है। इन दोनों के संघटनार्थ वेदविधानों में ऐसी व्यवस्था है कि ये दोनो (देव और मानव) परस्पराकांक्षी होकर संघटित बने रहें। मोह के आवरण में स्वतन्त्रता के नाम पर वेदमर्यादा के विलुप्त होने की अवस्था जब आती है। तब देव और मानव की एकता विस्खलित हो जाती है। ऐसा विघटन राजादशरथ के चरित्र में नही है। किंबहुना उनको विश्वास है कि प्रस्तुत राज्याभिषेक के अवसरपर दैवी शक्ति की अनुकूलता स्थिर है। ऐसा राजा के समझने में वसिष्ठ जी का वचन (दो० ३) प्रमाण है[1]।

चिन्तनीय यह है कि एक तरफ संपूर्ण राष्ट्र श्रीरामके राज्याभिषेक में एकमत से उत्साहित हैं, दूसरे तरफ महाराज अपना अंतिम समय जानकर श्रीराम को यथाशीघ्र उत्तराधिकार सौंपना चाहते हैं। तीसरे तरफ देवताओं के सामने की गयी धर्मप्रतिष्ठापनात्मक प्रतिज्ञा श्रीरामको अपने कर्तव्य की

१. राजन् राउर नाम जसु सब अभिमत दातार। फल अनुगामी महिपमनि मनअभिलाषु तुम्हार॥

याद दिला रही है। चौथी तरफ भारतीय राजनीतिसिद्धान्त दैवानुकूलता की अपेक्षा रखता है। इनमें स प्रथम दो समस्याएँ समाहित हैं।

तीसरी और चौथी समस्या का कार्यान्वयन होना है। इसलिए प्रस्तुत राज्याभिषेक में दैवानु-कूल्य न होनेसे पुरुषार्थसिद्धि कथमपि नहीं हो सकती। इस रहस्य को समझाने के लिए कवि दृष्ट-पुरुषार्थ के निरूपण को प्रधानता देकर दैवानुकूल्य के अभाव को बता रहे हैं।

वाद्य में वैस्वर्य

वाद्य का वजना देवताओं को न सुहाने का कारण वाद्य का वैस्वर्य भी हो सकता है। अपशकुन के विचार में राजनीतिसिद्धान्त कहता है कि कार्यसिद्धि न होने की अवस्था हो तो तूर्यनिःस्वन में वैपरीत्य होता है।[1]

रामराज्याभिषेक में विघ्नबाधा का प्रयोजन

प्रश्न—राज्याभिषेक हो जाता है तो राजसिद्धान्त की दृष्टि से क्या अड़चनें हो सकती हैं?

उत्तर—राज्यारोहण के बाद श्रीराम का राज्य के बाहर जाना संभव नहीं हो पायेगा। रघुवंश के राजा अत्यन्त पवित्रता से राज्य करते हैं जिससे पवित्रतापूर्णसीमा में राक्षसों का प्रवेश संभव न हो, क्योंकि अशुचिता में ही राक्षसों का प्रवेश होता है। अतः रामराज्य में राक्षसबाधा उपस्थित न होने से रावणवधके लिए समुचित कारण नहीं मिलेगा। समुद्र के पार लंकाधीश पर अचानक आक्रमण करना श्रीराम जैसे नीतिमान् के लिए मान्य एवं शास्त्रसम्मत नहीं होगा। फलतः रावण अयोध्या पर अपनी कुदृष्टि नहीं करेगा, नतो श्रीराम ही अपनी कुदृष्टि लंका पर करेंगे। तब रावण का वध कैसे होगा? रही बात दण्डकारण्य की जो अपवित्र हो चुका है। संत मुनियों ने उसको त्यागा है। श्रीराम के निवास करने से ही दण्डकदेश की पवित्रता का पुनःस्थापन संभव है। पर अकारण दण्डक वन में श्रीराम का निवास युक्तिसंगत नहीं ठहरता। दण्डकारण्य जैसा बड़ा देश अशुचिता के कारण सदा के लिए लंकापति का उपनिवेश बना-कर स्वराष्ट्र से अलग रहे-यह चक्रवर्तित्व के गौरव के अनुरूप नहीं है। अतः विघ्नों का उपस्थापन किया जाना ठीक है।

रावणवध का औचित्य

रावणवध की चिन्ता इसलिए है कि वेद की मर्यादा को उच्छिन्न कर अनीति में आसक्त राक्षसगण रावण के नेतृत्व में देवों के यज्ञभाग का उपभोग करते थे। चूंकि रावण भारतवासी नहीं था, इसलिए उसे कृत्रिम शत्रु बनाये बिना रावण का वध न्यायसंगत नहीं होता। इस प्रकार निमित्तान्तर से श्रीराम का वनवास, वह भी दण्डकारण्य में, आवश्यक था।

देवहित में स्वार्थविवेक

प्रश्न—'देवहित लागी' कह कर देवों ने अपना स्वार्थ दर्शाया है तो वे दीर्घदर्शी रामसेवक कैसे ससझे जा सकते हैं?

उत्तर—यद्यपि हितकी चर्चा कर देवों ने स्वार्थ को दर्शाया है, तो भी सोचना यह है कि वह स्वार्थ उनकी कल्पना से प्रसूत है या कहीं से प्रदत्त है? तब कहना पड़ेगा कि देवों के उद्देश्य से यज्ञोत्सृष्ट हविष्ट के भोजन की व्यवस्था प्रभुप्रदत्त या क्लृप्त है। राक्षसों के लिये भी उनके जीवन की व्यवस्था प्रभु ने कर रखी हैं जो कि उन उन जीवों की उदर्य अग्नि के अनुरूप हैं। पर राक्षस अपनी वृत्ति को संयत न रखकर अपने भोजन के साथ देवों का हविष्ट भी अपहृत किये हुए हैं। अतः राक्षसों का कार्य

---

१. न तथा तूर्यनिस्वस्यनः का० नी० स०

प्रभु की आज्ञा के विरुद्ध है। देवगण प्रभु की वतायी हुई मर्यादा को प्राप्त करने मे तत्पर हैं। ऐसी स्थिति में देवताओं के हितार्थ प्रभु को वन में भेजने का उपक्रम न्यायसंगत एवं उचित समझना होगा। इस प्रकार देवों में न असूया है, न तो स्वकल्पनाप्रसूत स्वार्थ ही है।

रावण की तपस्या की प्रतिद्वन्द्विनी तपस्या

दैवशक्तिसंपन्न रावण के आतंक की प्रतिद्वंद्विता में कोई तपस नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति में यह समस्या थी कि कौन सा धर्म अपनाया जाय जिसके प्रभाव से रावण का वध संभव हो? अन्यान्य धर्मों के विचारविमर्श के उपरान्त प्रभु ने निश्चय किया कि सत्यसन्ध पिता के आदेशवचन का सहर्ष-पालनात्मकपितृशुश्रूषा ही सर्वोत्तम धर्म है, उसी में सफलता की कुंजी है। इसी में मानवता प्रकट होगी।

संगति—उपर्युक्त विचार करनेके वाद धर्म एवं विद्यास्थापना के हेतु से राज्याभिषेक की वर्तमान-कर्तृता में कुचालके कार्यान्वयनार्थ देवों द्वारा माता सरस्वती की प्रार्थना करने का उपक्रम शिवजी सुना रहे हैं—

चौ.--सारद बोलि विनय सुर करहीं। बारहि बार पाय लै परहीं॥ ८॥

भावार्थ—देवगण सरस्वती का चरण बार बार छूकर विनंति कर रहे हैं।

सरस्वती से प्रार्थना

शा. व्या.—राजा की रामराज्याभिषेककर्तृता में विघ्न पहुंचाना सरल नहीं सोच कर माता सरस्वती को विघ्नकार्य में प्रवृत्त कराने के हेतु देवतागण भगवती के चरणारविन्द की बारंवार प्रार्थनापूर्वक विनंति कर रहे हैं।

संगति—वन्दना में प्रथमतः विपत्ति को समझाने पर देवताओं ने बल दिया जिसको सुनकर शारदा द्रवीभूत हो जाय।

दोहा—बिपति हमार बिलोकि बड़ि मातु करिअ सोइ आजु॥
रामु जाहिं बन राजु तजि होइ सकल सुरकाजु॥ ११॥

भावार्थ—हे मातः! हम लोगों की महती विपत्ति को देखते आज आप ऐसा करिये कि श्रीराम राज्य को छोडकर वन चले जायं, जिससे देवताओं के समस्त कार्य संपन्न हो जाँय।

प्रार्थना में कर्तव्य का स्मरण एवं मातृत्वसंबोधन

शा० व्या०—'मातु'संबोधन का भाव है कि जिसप्रकार माता विपद्ग्रस्त लड़के को देखकर उसको संकट से बचाने का प्रयत्न करती है वैसा ही कार्य सरस्वती को करना है।

सरस्वती के लिए देवताओं द्वारा कर्तव्यनिर्देश इतना ही है कि श्रीराम राज्य को त्यागकर वन में जाते हैं तो सुरकार्य संपन्न होनेवाला है। अतः उसको ऐसी युक्ति करनी है जिससे प्रभु वन में चले जाँय।

संगति—मातृभाव में स्निग्धा होने पर भी सरस्वती अपने को प्रभु की सेविका समझ रही है। राज्याभिषेक प्रभु का ही होना है। उसमें वाधा पहुँचाना सेवाधर्म का विरोध करना है। यह अत्यधिक दोष है। उसकी कल्पना में सरस्वती मलिना हो रही है।

चौ.—सुनि सुरविनय ठाढ़ि पछिताती। भइउँ सरोजविपिन हिम राती॥१॥

भावार्थ—देवों की विनंति सुनकर सरस्वती पछताने लगी कि उसको कमलवन के नाश के लिए बर्फ की वर्षा करनेवाली रात्रि जैसा होना पड़ेगा। अर्थात् कमल की तरह खिलने वाली अयोध्यापर दुःखरूप तुषाराघात करना पड़ेगा। इस वात का पश्चात्ताप सरस्वती को हो रहा है।

सरस्वती की चिन्ता का विषय

शा० व्या०—सरस्वती की चिन्ता का नैतिक विषय यह है कि श्रीराम नीतिमान् हैं उन्होंने अपने प्रति सबके मानस को आकृष्ट कर रखा है। सरस्वती भी श्रीराम के यशोगान में रुचि रखती है। ऐसी स्थिति में राज्यारोहण में बाधा को उपस्थापित करना उसको अच्छा नहीं लग रहा है। पर देवताओं की विपत्ति देखकर उसका हृदय करुणार्द्र है। एक तरफ देवताओं का महान् मनोनीत कार्य धर्मस्थापन उसके सामने है, दूसरी तरफ आराध्य के राज्यारोहण में विघ्न करना अधर्म है। दोनों में से किसी एक निर्णय में साधक हेतु न मिलने से वह किंकर्तव्यविमूढ़ा जैसी मालूम पड़ती है।

ज्ञातव्य है कि जीवों के रागद्वेषप्रयुक्त दोषों को देखते हुए देवताएँ यदि कार्य करें तो उन्हें विघ्नकार्य करने में दोष का पृष्ठबल मिलता है। श्रीराम में तो दोष है ही नहीं। अतः देवताओं के उक्त कार्य में सरस्वती नीति और अनीति का विचार कर रही है। अनीतिप्रयुक्त होकर राज्याभिषेक में बाधक होना उसको इष्ट नहीं है। इसी हिचकिचाहट में वह देवताओं की प्रार्थना पर मौन है और खिन्ना भी है।

संगति—सरस्वती का यह मौन देखकर देवताओं ने अपने कार्य को नीतिसंगत समझाना प्रारंभ किया।

चौ.–देखि देव पुनि कहहि निहोरी। मातु तोहि नहि थोरिक खोरी ॥२॥

भावार्थ—सरस्वती माता को मौन देखकर देवता, उसको मनाते हुए विनंति कर रहे हैं कि रामराज्याभिषेकोत्सव में विघ्न करने पर भी उसको बाधकत्व दोष जरा भी नहीं होगा। क्योंकि प्रभु के मनोभाव ('अनुचित एकू') से विघ्नकार्य श्रीरामकी इच्छा के अनुकूल होगा।

सरस्वती के द्वारा विघ्न पहुँचाना दोष नहीं

शा० व्या०—विघ्नोपस्थापन में देवताओं ने जो युक्ति समझायी है उसका आशय यही है कि श्रीराम को राज्यारोहण में बन्धु की अनुपस्थिति से सुख नहीं हो रहा है। अतः देवों का यह कार्य रामसुख में बाधक नहीं कहा जायगा। इस संबंध में विशेष विचार चौ. ३ दो. १० की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

चौ.–विसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब रामप्रभाऊ ॥३॥

भावार्थ—खुलकर श्रीरामजी हर्ष-शोक से रहित हैं। अर्थात् राज्याभिषेक से उनको न हर्ष है न तो बनवास का दुःख है। तुम तो श्रीराम का सब प्रभाव जानती हो।

प्रभु का प्रभाव व राज्यारोहण में कौतुकाभाव

शा० व्या०—अभी श्रीराम को राज्यारोहणनिमित्तक हर्ष है नहीं, न तो कौतुक है[1]। अर्थात् आभिमानिक, किंवा मानोरथिक, या वैषयिक सुख नहीं है। क्योंकि अभी युवराज होना उनको इष्ट नहीं है।

श्रीराम के प्रभाव को[2] अच्छी तरह जानते या समझते हुए शारदा को श्रीराम की इच्छा के बारे में सन्देह नहीं होना चाहिये।

भरत की अनुपस्थिति में श्रीराम को राज्याभिषेकप्रयुक्त स्वामी होना इष्ट नहीं है। अभी तो प्रभु भाई के वियोग में भरत के दर्शनाभिलाषुक हैं[3]। अतः विघ्नकार्य प्रभु के अनुकूल होगा[4]।

---

१. विस्मय अर्थात् गर्वरहित स्थिति का यह वर्णन है।

२. प्रभाव का अर्थ है सफलप्रेरणा या अनुशासन।

३. चौ. ५-६-७ ८ दो. ७ से स्पष्ट है।

४. जैसे सुरगुरु बृहस्पिति ने देवों से राम-भरतमिलन में विघ्न करने के प्रयोग में कहा—
(तब किछु कीन्ह रामरुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी" ॥ चौ. ३ दो. २१८)
"विमलवंस यह अनुचितएकू। बन्धुबिहाइ बड़ेहि अभिषेकू" ॥ से श्रीराम का रुख प्रकट है।

संगति—अभी राज्यारोहण में बाधा पहुँचाकर शारदा को क्या दुःख नहीं होगा ? इस प्रश्न का उत्तर अग्रिम चौपाई में दे रहे हैं।

चौ.—जीव करमबस सुख दुःख भागी । जाइअ अवध देवहित लागी ॥४॥

भावार्थ—कर्म के अधीन दुःख सुख का भागी जीव है । श्रीराम तो प्रभु हैं अतः देवताओं के हित के लिए तुम अयोध्या में जाओ ।

बाधक होते हुए सरस्वती दुःखफलाधिकारिणी नही

जीव यजमान (स्वतन्त्रकर्ता) होकर जब कार्य में प्रवृत्त होता है तब वह कर्मवश सुख दुःख का भागी होता है। ('फलस्वाम्यं हि अधिकारः' यह मीमांसकवचन स्मरणीय है) श्री सरस्वती को प्रभुकी इच्छा का अनुसरण करते हुए विघ्नकार्य करना है। इसलिए सरस्वती में कर्तृत्वाभिमान नहीं कहा जायगा। फलस्वाम्य न होने से सरस्वती विघ्नकार्यप्रयुक्तदुःखात्मक फल की अधिकारिणी नहीं है।

सरस्वती का प्रस्तुत कार्य रामसेवा है

प्रश्न—सरस्वती के प्रस्तुत कार्य से श्रीराम न दुःखी होंगे न सुखी ही, अर्थात् वे उदासीन हैं तो देवी का यह कार्य श्रीराम की सेवा में परिणत कैसे होगा ?

उत्तर—इस प्रश्न का समाधान 'देवहितलागी' से स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि देवकार्य तथा धर्मनीति की स्थापना के लिए ही प्रभु अवतीर्ण हैं। प्रस्तुत विघ्नकार्य से दोनों (देवहित और धर्मनीति की स्थापना) कार्य संपन्न होने वाला है। यही श्रीराम को इष्ट है। अतः शारदा के प्रस्तुत कार्य से प्रभुको प्रसन्नता ही होनी चाहिये।

संगति—इतना कहने पर भी शारदा का हिचकिचाना देख कर देवों ने उसको पुनः प्रणाम किया।

चौ.—बार बार गहि चरन संकोची । चली बिचारि बिबुधमति पोची ॥ ५ ॥

भावार्थ—बारंबार देवताओं ने सरस्वती के पैर पकड़ कर उसको संकोच में डाल दिया। सरस्वती अयोध्या जाने को तब तैयार हुई जब मन में तर्कयुक्त विचार किया। यही कि देवों की बुद्धि दुष्ट नही है।

सरस्वती के चिन्तन का प्रकार

शा० व्या०—देवों के अनुनय विनय पर राज्याभिषक में बाधा पहुँचाने को तैयार सरस्वती अवध की ओर चली, पर उसके पूर्व सरस्वती ने क्या विचार किया, यह शिवजी सुना रहे हैं। विचार में एक पक्ष देवताओं के मंदमतिमत्त्व का हैं, दूसरापक्ष देवों के जगद्धित के दीर्घदर्शित्व का है।

ज्ञातव्य है कि 'बिबुधमति पोची, ऊँच निवासु नीच करतूती' आदि से देवों पर आक्षेप करने का भाव नहीं है। किन्तु स्यात् ऐसी आपत्ति है।

संगति—सरस्वती उक्त दो पक्षों के चिन्तन में कल्पना कर रही है।

चो.—ऊँच निवासु नीचि करतूती । देखि न सकहिं पराइ बिभूती ॥ ६ ॥

भावार्थ—देवताओं का वास तो ऊँचा है पर कार्य नीच है, वे दूसरों के वैभव को नहीं देख सकते। यह प्रथम पक्ष है।

चिन्तन के अन्तर्गत पक्ष-प्रतिपक्ष में दोष-गुण विवेचन

शा० व्या०—सरस्वती के विचार में पूर्वोक्त प्रथम पक्ष की स्वीकृति पर अनुमान यह है—

"देवा मन्दमतयः स्वहिताय प्रवर्तनशीलत्वात्" इस अनुमान से यदि देवताओं में मन्दमतिमत्त्व माना जाय तो उनमें राज्याभिषेक के प्रति असूयाभाव मानना पड़ेगा। इसके साथ यह भी कहना होगा कि

देवगण उच्चपद पर विराजते हुए भी अपने स्वार्थ के लिए राज्याभिषेकोत्सव को न सहन कर बाधा पहुँचाने की सोच रहे हैं। ऐसी अवस्था में सरस्वती अवधपुरी की ओर नहीं जा सकती और न तो जाना चाहेगी। तब उक्त अनुमापक हेतु को बाधित या स्वरूपासिद्ध करते हुए देवताओं के दीर्घदर्शित्व का अनुमान सरस्वती ने अग्रिम अर्धाली में किया है। अर्थात् उक्त दो पक्षों में उसने दीर्घदर्शित्व पक्ष को सोचा। उसका स्वरूप यह है कि देवताओं के चिन्तित कार्य को सुनियोजित करने में जगत् का कल्याण और उसके साथ देवहित भी होगा।

संगति—इसी द्वितीय पक्ष को कवि अग्रिम चौपाई में प्रकट कर रहे हैं।

चौ.-आगिल काजु विचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कवि मोरी ॥ ७ ॥

भावार्थ—उत्तर में सरस्वती ने आगे होने वाले हितकर कार्य का विचार करके निर्णय किया कि सुजान कवि मेरे विघ्नकार्य की प्रशंसा करेंगे।

नीच करतूति के विचारपरत्व में संदंशन्याय

शा० व्या०—इसमें ज्ञातव्य है कि आरंभ में 'विचारी' शब्द से कविमीमांसकसम्मत सन्दंश न्यायको(१) ध्वनित कर रहे हैं। 'चली विचारि' और 'काजु विचारि' दोनों के मध्य में उल्लिखित ऊँच निवास का विचार से संबन्ध है। अर्थात् देव यदि स्वार्थी हैं तो उनपर ऊँच निवास की आपत्ति होगी। वे तो जगत् का हित सोच रहे हैं। इस प्रकार विचारों के प्रस्तुतीकरण से जब सरस्वती ने विघ्न योजना के औचित्य को समझा तब वह अपने को धन्या समझने लगी। उसने यह भी सोचा कि मेरी कृति में उक्त विवेक को ध्यान में रख कर कविलोग रामायण के वर्णन में निरन्तर मेरी चाहना करेंगे।

विचारित 'आगिल काजु'

सरस्वती द्वारा प्रेरिता कैकेयी के दो वरदान-भरतको राज्य और राम का वनवास है। पहले में भवरोग का विनाश और भवरसविरति ये दो विषय भरत चरित्र से मननीय हैं। चित्रकूट पहुँचने के पहले-तक भरतचरित्र भवरोगनाशक है और चित्रकूट में समाप्त होने वाला भरतचरित्र भवरस-विरति का प्रतिपादक है। भरतचरित्र का पूर्व खण्ड 'मेटा भवरोगू' चौ. २ दोहा २१७ तक वर्णित है। और उत्तर खण्ड सोरठा ३२६ में 'होइ भवरस विरति' से समाप्त करके अयोध्याखण्ड पूर्ण किया है।

'आगिल काजु बिचारि बहोरी' (चौ. ७ दोहा १२) में सरस्वती का चिन्तित जगत्हित होने से ग्रन्थकार ने रामवनवास का वर्णन पहले किया। उसके बाद धर्म एवं चतुर्विधविद्यास्थापनाप्रयुक्त विरति को समझाने के लिए प्रतिवन्धकभूत भवरोग का नाश भरतचरित्र में पहले बताया। फिर चित्रकूट में प्रभु के द्वारा भरत को लौटाने से जगत्हित् की स्थापना और उसमें होने वाले भवरस से विरति का स्वरूप भरत के उत्तरचरित्र में बताया गया है।

संगति—उपर्युक्त विचारों के सामंजस्य में सरस्वती ने देवों के विचारों का औचित्य समझा जो तर्कतः और शास्त्रतः ठीक है। तब वह हर्ष में भरकर अयोध्या में गई।

---

१. 'चली विचारि विबुध मति पोचि' और 'आगिल काजु विचारि बहोरी' उक्त दोनों विचारि के बीच में 'ऊंचनिवास, नीच करतूति' देखि न सकइ पराइ विभूति' कहा गया है। इसको भी विचार से संबद्ध करना ही संदंश का उदाहरण या न्याय है।

चौ०—हरषि हृदय दशरथ पुर आई। जनु ग्रहदसा दुसह दुखदायी ॥ ८ ॥

भावार्थ—देवों के विचारों का औचित्य सोच कर सरस्वती के हृदय में हर्ष हुआ और राजा दशरथ की अयोध्यापुरी में आयी। उसका अयोध्या में आना ऐसा है मानो अद्वितीय ग्रहदशा दुःखद बन कर आयी हो।

देवी का हर्ष में अयोध्यागमन

शा. व्या.—श्रीराम के वनवास में लोक कण्टकों की समाप्ति, भारतीय दण्डनीति के माध्यम से वर्णाश्रम-समाज (लोक) की स्थापना, देवहित के साथ भू-देव-पतिव्रताएं सन्तमहात्मा का सुखी होना इत्यादि कार्य संपन्न होंगे। अतः वर्तमान विघ्नकार्य भविष्यत् के उपर्युक्त कार्यगौरव का साधक बनेगा। इस दृष्टि से सरस्वती को अयोध्यागमन में हर्ष हो रहा है।

ग्रहदशा में नान्तरीयकदुःखदायित्व

प्रश्न—अयोध्यावासियोंके दुःखके लिए सरस्वतीका आगमन तथा हर्षका वर्णन करना कहाँ तक संगत है ?

उत्तर—रविकुलमणि रामचन्द्र की स्थायिनी कीर्ति को बनाने में अयोध्यावासियों का दुःख बलवदनिष्ट नहीं कहा जा सकता। यह दुःख अपनय अथवा नरकोत्पादक नहीं है। भविष्यत् में राज्यमहोत्सव अयोध्यावासियों को इतना अधिक सुख देने वाला होगा कि दैहिक दैविक और भौतिक दुःखों को समाप्त कर अनन्तसुख का दाता होगा। इसलिए अयोध्यावासियों का वर्तमान दुःख नान्तरीयक है। जैसे माता मातृत्व सुख के आगे प्रसवपीड़ा नान्तरीयक मानती है वैसा ही यह दुःख है। इसलिए देवों के प्रस्तावित दुःख कार्य में ग्लानि का अनुभव करना या अशास्त्रीय कार्य में देवों की प्रवृत्ति को समझना उचित नहीं ठहरता है। अपितु विघ्नबाधा का स्वागत करते हुए जो व्यक्ति शास्त्रीयनीतिकार्य करता है वह पर्यन्तमें कीर्तिमान् होता है। इसी नीति को ध्यान में रखकर प्रभु अयोध्या वासियों के दुःख को ध्यान में न लाकर नीतिका अनुसरण करते हुए विघ्नकार्य में देव शक्ति का विरोध नहीं करेंगे।

संगति—सरस्वती की सफल योजना का वर्णन आगे हो रहा है।

दोहा—नामु मन्थरा मन्दमति चेरी कैकेयी केरि।
अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मतिफेरि ॥१२॥

भावार्थ—मन्थरा नाम की कैकेयी की दासी मूर्ख थी। सरस्वती ने मतिफेरका कार्य करके उसको अपयशस् की पिटारी बनाया। मन्थरारूपिणी पिटारी में कौन-कौन सा अपयशस् भरा है ? इनको आगे कवि स्पष्ट करेंगे।

मति की मन्दता

शा. व्या.—श्री सरस्वती ने सोच विचार कर मन्थरा दासीको अपना शिकार बनाया, क्योंकि वह मन्दमति है। हठवादिता, जड़ता तथा तर्क में अकुशलता ही (भक्ति होने पर भी) मतिमान्द्य है। मन्दमतिमान् को स्वतन्त्र सद्विचार या अपूर्वप्रतिभान नहीं होता। सर्वदा शंका करते रहना, विपरीत विचारों का उदय होना भी मन्दमति का दूसरा चिन्ह है। विपरीतार्थ की स्फूर्ति होना मन्दमति का स्वभाव है। अतः मनोनीत कार्य के लिए सरस्वती ने उसी को योग्यपात्रा समझा। क्योंकि कैकेयी की मन्थरा विश्वस्ता सेविका होने से उसके द्वारा भया हुआ निरूपण कैकेयी के लिये विश्वासोत्पादक होगा।

श्रीराम के प्रति मन्थरा के दोषदर्शन का कारण

ज्ञातव्य है कि चौ. ६ से ८ दोहा १ में कहे—नीतिमान् श्रीराम के गुणप्रयुक्त आकर्षण में मुग्धामन्थरा मन्दमति होते हुए भी श्रीराममें दोषदृष्टि न ला सकी। किन्तु यहाँ का दोषदर्शनात्मककार्य सरस्वती की प्रेरणा से संपन्न हुआ है। जिस को कविने 'गई गिरा मतिफेरि' कहा है।[1]

१. दो. १२ की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मन्दमति होने से मन्थरा गुणवान्पर भी दोषों का अरोपण करती रहती है। इस स्वाभाविक कार्य में उसको प्रोत्साहित करना सहजसाध्य है। अपयशस् की पिटारी को मन्थरा ने अपने चरित्र में खोला है।

'गई गिरा' पर एक विचार

'गयी गिरा' से ऐसा अनुमान होता है कि सरस्वती का आना 'हरषि हृदयँ दशरथपुर आई' (चौ. ८ दो.१२) से जो दिखाया गया था, उसका लौटकर जाना यहां दिखाया है जिसकी एकवाक्यता दो० २०६ में भरद्वाजमुनि की उक्ति से स्पष्ट होगी।

अथवा सरस्वती के 'मतिफेर'कार्य की मर्यादा श्रीराम के वनगमनस्वीकार करनेतक है। (दो. ४१) उसका अन्तिम चरण कैकेयी ने 'मुनिपटभूषण भाजन आनी' आदि से (चौ. १-५ दो.७९) पूरा किया। इस बीच कैकेयी का राजा के प्रति कटुवचन, रोष का भाव, कौसल्या पर आक्षेप आदि कार्य 'मतिफेरी' के अन्तर्गत माना जायगा। जिस प्रकार मीमांसान्याय के अनुसार यूपच्छेदनविधि के अन्तर्गत यूप को लाने के लिए जितने वृक्षों लता आदि का छेदन आवश्यक होगा वह सब उक्तविधिसम्मत माना जाता है। उसी प्रकार सरस्वती के मतिफेर कार्य के अन्तर्गत कैकेयीकी कृति दोषनिर्मुक्त मानी जायगी, जैसा वसिष्ठजी की उक्ति (अस विचारि केहि देइअ दोसू व्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू-चौ.१ दो.१७२) और भरद्वाजजी के वचन ('तात कैकइहि दोसु नहि, गई गिरा मति धूति' दो. २०६) से स्पष्ट है।

मतिफेरि का स्वरूप

मतिफेरीका स्वरूप कैकेयी की कुमतिप्रयुक्तयाचितवरसे प्रकाशित यह हुआ कि 'प्रान ते अधिक रामु प्रिय मोरे' 'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई' आदि कहनेवाली कैकेयी विपरीतमति होने पर भरत को राज्य और श्रीराम को वनवास देना चाहती है।

मतिमान्द्य का फल

संगति—ऐसी ही अवस्था मन्थरा की भी है। उसके हृदय में अभी तक 'रामो निर्दोषः लोकसम्मतः अजातशत्रुः स्वामी आत्मसंपद्गुणवत्वात्, ऐसा निर्णय स्थिर था वह वदल गया क्योंकि तर्क-शक्ति के अभाव में पूर्वनिर्णय मलिन होता है अथवा पूर्वनिर्णीत साध्य हेतु की व्याप्ति काल देश से परिच्छिन्न दिखती है उसके बाद विपरीत अर्थ की धारणा बढ़ती है। उसका वर्णन आगे कर रहे हैं।

चौ०—दीख मन्थरा नगरु बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा ॥१॥

भावार्थ—मन्थरा ने अयोध्या नगरी की सजावट देखा और सुन्दर मंगल वाद्य उत्सव सुना।

मंथराचरित्र की भूमिका

शा.व्या.–कैकेयीकी उक्ति ('जेठ स्वामि सेवक लघुभाई) में 'सेव्यं श्रीरामं प्रति भरतस्य सेवकभावो हितावहः' इस भाव में कैकेयी को प्रामाण्यनिश्चय है। जो उसकी उक्तियों ('सबहि रामु प्रिय जेहिविधि मोही। प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे') से सुस्पष्ट है। मन्थरा ने अपनी उक्तियों (रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू। पूत बिदेस न सोचु तुम्हारे। लखहु न भूपकपट चतुराई।) से भरत के साथ रानी के सेवकत्व-को दिखाकर उसके हृदय में अहितत्वबुद्धि को उत्पन्न कराने का उपक्रम किया है। यही मतिफेरी या विपरीतबुद्धि करा देने का कार्य है। अर्थात् कैकेयी के उक्त प्रामाण्य के स्थान पर अप्रामाण्यशंका का उत्थान करादेना। चौ. २ से दो. १६ तक में कही 'भले कहत दुख रउरेहि लागा' आदि उक्तियों से मन्थरा अपनेमें हितावहत्वबुद्धि और श्रीराम के सेवकत्व में अहितत्वबुद्धि उत्पन्न कराना चाहती है। दो. १६ में मन्थरा ऐसा करने में सफला होगी।

फिर सौतियाभाव में होनेवाली ईर्ष्या को उत्तेजित करने के लिए 'भूप कपट चतुराई' की उक्ति को बदल कर राजा पर आरोपित किये दोष को घुमाते हुए सती कौसल्या में वह दोष आरोपित किया, राजा को स्त्रीजित ठहराया। इस प्रकार कैकेयी की पूर्वगृहीत सेवकत्वमें हितावहत्वबुद्धि को उत्कटैकतर कोटिकअप्रामाण्यग्रहास्कंदित बना दिया। अर्थात् कैकेयी के हृदय में श्रीराम की सेवामे हित की भावना को अहित समझा कर अप्रमाण ठहरा दिया।

अप्रामाण्यकल्पना में दोष

शास्त्र और परीक्षाद्वारा निर्णीत, नीतिसम्मत, लोकमतोपयुक्त श्रीरामकी आत्मगुणसम्पत्ति में प्रामाण्यबुद्धिको त्यागना तथा दो. १४ में शास्त्रनिर्णीत, कुबड़ी के आहितावहत्व में अप्रामण्यबुद्धि करना मीमांसा की दृष्टि में गौरव है। श्रीराम जैसे आत्मगुणसंपत्तिमान् की सेवा के हितावहत्व बुद्धि में प्रामाण्य को दृढ समझना ही लाघव है। इस गौरव-लाघववादसिद्धान्त को कैकेयी ध्यान में नही ला रही है यही उसकी भूल है जो कि रानी को सफला होने नही देगी।

निर्दोषव्याप्ति में मन्थरा की अप्रामाण्यबुद्धि

श्रीराम ने अपने चरित्र में समता आदर मातृप्रेम आदि सद्गुणों (विनय, लोकसंग्राहक गुणों) को प्रकट किया है। मन्थरा यह भी जानती है—'रामः सुखसौविध्यस्य प्रजापरिजनेभ्यः प्रदाता धर्मविजयिनेतृत्वात्, इस अनुमान में हेतु और साध्यका सामानाधिकरण्यनियम देखती हुई भी उक्त व्याप्ति को पूर्वकालीनसमय से परिच्छिन्न समझकर राजप्रेरितमंगलवाद्यादिकृति को स्वार्थप्रेरित समझ रही है। वैसे ही १२ दोहे में निर्दिष्ट, 'रामः निर्दोषः' इत्यादि अनुमानोपवर्णितव्याप्ति को भी वह कालपरिच्छिन्न समझ रही है।

चौ.—पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। रामतिलकु सुनि भा उर दाहू ॥२॥
करइ विचारु कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाजु कवनि बिधि राती ॥३॥

भावार्थ—लोगों से उसने पूछा कि कैसा उत्सव हो रहा है ? श्री राम का राज्याभिषेक है यह सुनते ही हृदय खौलने लगा अथवा उसके हृदय में संताप होने लगा। नीचजाति की मन्थरा कुत्सितबुद्धि की थी। वह सोचने लगी कि किस प्रकार आज रात ही में ऐसा विघ्न हो कि श्रीराम का तिलक न हो।

अकार्य में हेतु कुबुद्धि कुजाति

शा. व्या.—मन्थरा सोच रही है कि महाराज के मनोरथ को कैसे निष्फल बनाया जाय ?

प्रश्न—राज्य में नीतिमान् राजा के रहते रामराज्य का विघात करना मन्थराने कैसे सोचा ?

उत्तर—प्रश्न के समाधान में कविने उस दासी को कुबुद्धि एवं कुजाति कहा है। यह ध्यान रखना चाहिये कि कुजाति से मन्थरा को कुत्सितजातिवाली नही समझना है यतः 'कु' शब्द केवल संकेतमात्र है। विश्व में जितनी भी जातियां हैं वे सभी यदि अपनी परंपरागत शुद्धि को बनाये रखती हैं तो स्वाभाविक परंपराप्राप्त कर्म को करते रहने से कुलोचितगुणों का विकास करने में उनको प्रवीणता सुलभ होती है। कार्यविभाजन में ऐसा जातिभेद समाज को पार्थक्येन अपनाना पड़ता है। इसमें सांकर्य किया जाय तो रोग की अभिवृद्धि, कार्यसंपादन में परिश्रम और प्रतिभा का कुंठित होना आदि दोष उत्पन्न होते हैं। अतः भारतीयराजनीति ने संपूर्ण जाति की पृथक् सुरक्षा का विधान बताया है। अपनी अपनी वंशशुद्धि को बनाये रखने मे सभी जातियां प्रशंसार्हा हैं। तामसकर्म के अनुरूप अनुष्ठान में जो जातियां कर्मरत हैं उनको 'कु' विशेषण से व्यक्त किया जाता है। सात्विक कार्य में जो जाति

अपने गुणों का अभ्युदय करती हैं उनको 'सु' विशेषण से संबोधित किया जाता है। अतः 'सु' और 'कु' शब्द को निमित्त मानकर किसी को ऊंचा या निन्दितभाव से देखना उचति नहीं है। वैसे ही शास्त्रकारों के लिए 'कु' और 'सु' का प्रयोजन निषेध और विधि को समझा देना है। मन्थरा तामस कार्य में निपुणा होने से कुजाति कही गई है। तदनुरूप सात्विककार्यराज्याभिषेक मे विघात करने में उद्यता होने से मंथरा को कुबुद्धि कुजाति कहा है।

सरस्वती व मन्थरा में विचारवैषम्य की संस्तुति

प्रश्न—रामराज्याभिषेक का विघात करने में सरस्वती और मन्थरा दोनों प्रस्तुता हैं तो शिवजी उन दोनों के विषय में विचारों के वैषम्य को क्यों दर्शाते हैं ?

उत्तर—सरस्वती जगद्धित सोच कर नान्तरीयकतया (अपेक्षिततया) अत्यन्त आवश्यक होने से विघ्न पहुँचाने में उद्यता है। ऐसा करनेके लिए देवताओं द्वारा वह आदिष्टा भी है तथा अपने कर्तव्यनिर्णय को प्रमाणत्रय-प्रमित (समर्पित) करते हुए देश काल का औचित्य समझ रही है।

मन्थरा इसके विपरीता है। उसको किसीके द्वारा विघ्नविघातका आदेश प्राप्त नहीं है। अपनी स्वतन्त्रता से वह विघ्नकार्य कर रही है। जिसके फलस्वरूप मन्थरा को अपयशस्विनी तथा दण्ड की भागिनी होना पड़ेगा। इस प्रकार उद्देश्य और कार्यभेद को देखते हुए शिवजी वैषम्यं को दर्शित करा रहे हैं।

जीव का दण्डभाक्त्व

ऊपर के दृष्टान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि जीव जब स्वतन्त्र रूप में विरुद्ध आचरण करता है तो वह दण्ड का भागी होता है। सरस्वती की तरह जो देवपरतन्त्र होकर कार्य करता है वह प्रशंसा का पात्र माना जाता है।

संगति—अग्रिम चौपाई में स्वतन्त्रताप्रयुक्त कुटिलता का साधर्म्य उपमान से समझा रहे हैं।

चौ.—देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भांति ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे किरातिनी मधुभरे छत्ते को देख कर उसे किस तरह से ले ले इसके लिये कुटिलता को अपनाती है।

अभीष्टसिद्धि में भेद के उपाय

शा० व्या०—घर में रहने वाले किसी सदस्य को अभीष्टसिद्धि होते देखकर उसी घर के किसी अन्यतम सदस्य को कष्ट होता है, तब वह घर के अन्यान्य सदस्यों में भेद लगाने की चेष्टा करता है।

भेद के तीन प्रकार होते हैं—(१) शंकाजनन, (२) परस्पर में संघर्ष की स्थिति को ले आना, और (३) शासन का भय दिखाना। इन तीनों में से प्रथमोपायात्मक शंका के उत्थापन का प्रयोग मन्थरा ने किया है। शंका का उत्थापन उन व्यक्तियों में किया जाता है जो तर्क में असमर्थ होने के साथ श्रद्धालु भी हैं। ऐसे व्यक्तियों में शंका को स्थिर करना सरल कार्य है। कैकेयी के हृदय में अपने परिवार के प्रति दुर्भाव नहीं था। वह श्रद्धा में बैठी थी। मन्थरा ने उसके हृदय में राजा के प्रति शंका को दृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। शंका में प्रेम और राग विलीन हो जाते हैं। यह आगे बताया जायगा कि रानी (कैकेयी) राजा के प्रति प्रेम और राग से हट कर उदासीनता को कैसे प्राप्त हुई। शंका को जगाने वाला यदि प्रेमपात्र और विश्वस्त हो तो चाहे शंका युक्तिसंगत हो अथवा न हो वह आपत्ति को उठाकर अपना कार्य बनाता है। मन्थरा ने यही कार्य किया है।

संगति—शंका उठाने के पूर्व रानी को अपने प्रति जिज्ञासुता और विश्वास बनाने के लिए मन्थरा ने कैसा उदासीनरूप बनाया ? यह शिवजी कह रहे हैं।

चौ.--भरतमातु पहिं गइ बिलखानी। का अनमनि हसि कह हँसि रानी॥ ५॥

भावार्थ—कुटिलता को अपना कर मन्थरा भरत की माता कैकेयी के पास बिलखती हुई आयी। रानी कैकेयी ने हंसकर उससे पूछा कि वह क्यों ऐसी मन में दुःखी या उदास हो रही है।

मन्थरा के हितकारिता का परिचय

शा० व्या०—मन्थरा भली बन कर कैकेयी के हृदय में भेद का बीज बोने के लिये कतिपय शंकाएँ प्रस्तुत करेगी, जो स्वामिनी को शंकाक्रान्ता बनाने में पर्याप्त हैं।

इसके पूर्व अपनी हितकारिता की धाक जमाने के लिये मन्थरा ने तापात्मक सानुशय (बिलखते) वचन व्यक्त करना प्रारंभ किया।

संगति—कैकेयी ने मन्थरा के तापात्मक अनुभावों को देख कर उदासीनता का कारण पूछा।

ऊतरु देइ न लेइ उसासू। नारिचरित करि ढारइ आंसू॥ ६॥

भावार्थ—मन्थरा तिरिया चरित्र करती हुई उत्तर न देकर लंबी-लंबी सांस लेती हुई और भी रोने लगी।

शंका के उत्थान का क्रम

शा० व्या०—मन्थरा अपनी ओर अधिक विश्वास बनाने के लिए मौन हो गयी। श्वासप्रश्वास के द्वारा चिन्ता का रूप दिखाकर यह प्रकट करने लगी कि मानों कैकेयी का भारी विनाश हो रहा हो। शारीरिक सात्विक भाव को दिखाये बिना रानी का विश्वास अपने ऊपर नहीं होगा, ऐसा सोच कर उस दासी ने आखों से अश्रुप्रवाह भी निकालना आरंभ किया। यह भी एक स्त्रीचरित्र है। वर्णाश्रमप्रधानसमाज में भी स्त्रियों में कामना की चरमसीमा प्रकृतिप्राप्त होने से माया दंभ आदि भी सहज स्फुरित हो जाते हैं। स्वार्थी लोग उसीके माध्यम से प्रयास करके सफल होते हैं। उसका पूर्ण समन्वय काममूर्ति स्त्री में देखा जाता है।

संगति—मर्यादा में रही स्त्रियों में लज्जा आदि का भाव प्रकृतिदत्त है। पर मर्यादाहीन नीचप्रकृतिकी स्त्री में दंभ आदि का प्रयोग कठिन नहीं है। मन्थरा ने दंभ का सहारा लेकर ज्योंही सात्विक भाव (अश्रुप्रवाह) व्यक्त किया त्योंही रानी उसकी पीड़ा से प्रभावित होने लगी और उसका कारण पूछने लगी।

चौ.—हँसि कह रानि गालु बड़ तोरे। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥७॥

भावार्थ—रानी कैकेयी ने कहा कि तुम बहुत बढ़-चढ़कर बोलती रहती हो इससे मुझे लगता है कि लक्ष्मण ने तुमको कुछ शिक्षा दी है अर्थात् बहुत बोलने की सजा दी है।

मन्थरा में दुर्नय की शंका

शा० व्या०—रानी कैकेयी को विश्वास है कि उसके परिवार में कोई क्रूर नहीं है जिसके निमित्त से शंका की जाय। अतः निश्चय है कि मन्थराने ही दुर्नय किया होगा। ऐसा सोचकर अश्रुनिमित्तक जिज्ञासामें रानी ने उद्गार प्रकट किया।

रानी के हास का कारण

साहित्यशास्त्रमें हास्य के आलंबन विदूषक तथा उनकी विकृताकृति चेष्टाएं उद्दीपन माने गये हैं। मन्थरा में उक्त अनुभाव देखकर रानीको विनोद में हँसी आ रही है।

मन्थरा को शिक्षा

कैकेयी को ऐसा लग रहा है कि मन्थरा को किसीने बहकाया है। हास्य के विनोद में शायद उसको शिक्षा भी दी गयी हो। श्रीराम गंभीर स्वभाव के होने से वे निरर्थक चेष्टा नहीं करेंगे। भरत एवं शत्रुघ्न घरमें हैं नहीं। पारिशेष्यात् लक्ष्मणने ही इसको शिक्षा दी होगी। मन्थरा का स्वभाव भी अधिक जल्पना का है। इसलिए शिक्षाकी यह पात्रा भी है।

लक्ष्मण में औद्धत्य की शंका का निकृन्तन (निराकरण)

कैकेयी के वचन से लक्ष्मण में औद्धत्यकी जो शंका होती है, उसके संवन्ध में कहना है कि आपाततः उनके व्यवहार से औद्धत्य मालूम पड़ता है पर जहाँ वह प्रकट होता है वहाँ वह समयोचित है। अतः उनका औद्धत्य शील में परिणत है। इसकी पुष्टि मुनि वसिष्ठ के वचन चौ० ८ दो०-१७१ में है तथा भरत के वचन चौ. १-४ दो० २०० में स्पष्ट है। प्रस्तुत में कैकेयी की उक्ति ('दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे') का खण्डन मन्थरा स्वयं ही करेगी (चौ० १ दो-१४)।

संगति—आशंका के विषय की सच्चाई जानने के भाव से कैकेयी पूछ रही हैं पर वह उत्तर नहीं देती।

चौ.-तबहुं न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छाड़इ स्वास कारि जनु सांपिनि॥ ८॥

भावार्थ—वह दासी बड़ी पापिनी थी इसलिए इतना कहने पर भी न बोल कर ऐसे स्वर से श्वास लेने लगी मानो काली (विषभरी) सांपिनी फूत्कार करती हो।

मन्थरा में पापित्व

शा० व्या०—मन्थरा को पापिनी कहने का अर्थ इतना ही है कि वह अपने को स्वतन्त्रा मानकर द्वेषके अधीन शंका की कल्पना के साम्राज्य में रामराज्याभिषेक के बारे में दुःखानुभव कर रही है।

"ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकइ पराइ विभूती" यह सरस्वती की कल्पना मन्थरा के चरित्र में घटित हो रही है। श्रीराम और राजा दशरथ के संवास में रहते हुए भी अभिषिक्त श्रीराम के द्वारा भरतादिपरिवार के रक्षण की कल्पना मन्थरा को नहीं हो रही है राज्याभिषेक को दुःख समझ रही है। प्रभु के चरित्र का निरूपण करने में उत्साह के स्थान पर उसे द्वेष का भाव हो रहा है। सहृदयता का न होना तथा औचित्य को न समझना पाप का द्योतक है।

प्रेर्य को पापी कहने में औचित्य

बालकाण्ड के दोहा ५६ में राममाया के द्वारा प्रेरिता सती को श्री शिवजी ने 'परम पुनीत' कहा है, यथा "परम पुनीत न जाइ तजि'। यहाँ सरस्वती द्वारा प्रेरिता मन्थरा को पापिनी कहा है। इस भेद के बारे में विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि सती का स्वभाव पातिव्रत्य से पूर्ण है। कार्यविशेष की दृष्टि से वह प्रभुमाया से प्रेरिता है—अतः पवित्रात्मा है। मन्थरा स्वभावतः तमःप्रकृति होने से सरस्वती-द्वारा प्रेरिता होने पर भी कुटिलकार्योद्देश्य के कारण उसकी तमःप्रकृति पापिनी है।

संगति—मन्थरा की चेष्टाओं को देखकर कैकेयी के हृदय में शंकाएँ स्थिर होने लगी जैसा कि आगे के दोहे में वर्णित है।

दो०—सभय रानि कह कहसि किन, कुसल रामु महिपालु।
लखनु भरतु रिपुदमनु सुनि, भा कुबरी उर सालु॥ १३॥

भावार्थ—मन्थरा के दुःख का अनुभाव देख कर कैकेयी रानी को कुछ भय या शंका हुई तब वह पूछने लगी कि श्रीराम, राजा, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न का कुशल तो बताओ। यह सुन कर कुबड़ीमन्थरा के हृदय में चोट लगी।

परिवार की कुशलता में अनिष्ट की शंका

शा० व्या०—'अनर्थसंभावना भयम्' उक्ति के अनुसार रानी को श्रीराम आदि चारों कुमार एवं पतिसहितपरिवार अत्यन्त प्रिय होने के कारण उनके संबन्ध में अनिष्ट की शंका हो रही है जो स्वाभाविक है। रानी, राजा, कुमार आदि सभी अपने अपने महल में अलग अलग रहते हैं। उनसे भेंट हर समय होती नहीं। इसलिए उनकी कुशलता पूछना अस्वाभाविक नहीं है।

कुशल की जिज्ञासा में नामक्रम का औचित्य

कैकेयी की उक्ति "प्रान ते अधिक रामु प्रिय मोरे" (चौ. ८ दो. १५) की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम श्रीराम का नाम लेने मे है।

रानी जानती है कि श्रीराम के कुशल में सबकी कुशल है। इसलिए रानी ने प्रथमतः उनकी कुशलता पूछी। तत्पश्चात् सौभाग्यवती होने से राजा का कुशल पूछा। महल में अन्य कुमारों में से लक्ष्मण उपस्थित हैं। इस लिए उपस्थितिकृत लाघव से उनका प्रथम कीर्तन कर अन्य कुमारों का कुशल पूछा।

संगति—स्वामी के प्रश्न करने पर उत्तर न देना सेवक का अपराध माना गया है ऐसा सोच कर मन्थरा ने यथाक्रम उत्तर देना प्रारंभ किया। साथ ही श्वांस की विशेषगति से हृदय् की वेदना भी प्रकट करती जा रही है।

चौ.—कत सिख देइ हमहि कोइ माई। गालु करब केहि कर बलु पाई ॥ १ ॥

भावार्थ—मन्थरा बोली हे मइआ! हमको कौन शिक्षा देगा? किसका बल पाकर मैं खुल कर बोल सकती हूँ।

'दीन्ह लखन सिख' का उत्तर

शा० व्या०—चौ. ७ दो. १३ में वर्णित कैकेयी के प्रश्न 'दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे' के संदर्भ में अपना दुर्नय नहीं है, इसको सिद्ध करते हुए मन्थरा कहती है कि 'हे मातः! शिक्षा अपराधी को दी जाती है। मैं अपराधिनी नहीं हूँ तो लक्ष्मण मुझे दण्डित क्यों करेंगे? इस प्रकार दासी ने अपराधाभावप्रयुक्त-दुर्नयाभाव समझाया।

'गालु बड़ तोरे' का समाधान

पहले प्रश्न ('गालु बड़ तोरे') के समाधान में वह कहती है कि राजमहल में रहने वाली मन्थरा असंबद्ध-प्रलाप कैसे कर सकती है? इस कथन से चपलत्वाभावप्रयुक्त दुर्नयाभाव समझाया।

किसी के पृष्ठबल के आधार पर 'गालु बड़ तोरे' में दुर्नय की शंका हो सकती है। उसका निरास करते हुए 'गालु करब केहि कर बलु पाई' से पृष्ठबलाभावप्रयुक्त दुर्नयाभाव सूचित किया।

संगति—रानी को विश्वास है कि अपने परिवार में कोई क्रूर नहीं है। तब अपने और रानी में दुर्नय का अभाव समझाते हुए मन्थरा ने राजपरिवार म. स्वार्थसिद्धितत्परता दिखा कर उसमें क्रूरता का आरोप करने का उपक्रम किया।

चौ.—रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू। जेहि जनेसु देइ जुबराजू ॥ २ ॥
भयउ कौसिलहि विधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन ॥ ३ ॥
देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अवलोकि मोर मनु छोभा ॥ ४ ॥
पूत बिदेस न सोचु तुम्हारे। जानतिहहु बस नाहु हमारे ॥ ५ ॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप कपटचतुराई ॥ ६ ॥

भावार्थ—श्रीराम, जिसको राजा युवराजपद दे रहे हैं उसको छोड़ कर आज किसका कुशल हो सकता है? विधाता कौसल्या के लिए अत्यन्त अनुकूल हुए हैं। उसको देखने से ऐसा लगता है कि घमण्ड (गर्व) की मात्रा कौसल्या के हृदय में समाती नहीं। जा.कर स्वयं सब सजावट क्यों नहीं देखती? जिसको देख कर मेरे मनमें क्षोभ हुआ। लड़का (चिरंजीव) परदेश में है उसका आपको कोई सोच नहीं है आप समझती हैं कि पति हमारे वश में हैं। प्रियतम (राजा) के साथ शैया पर सोते हुए बहुत नींद लेते सुख भोगा। पर राजा की कपटभरी चालाकी तुमने नहीं समझी।

शंकाओं का प्रकार

शा० व्या०—मन्थरा ने कैकेयी के समक्ष उपर्युक्त चौपाइयों में कही शंकाएँ निम्न प्रकार से उपस्थापित कीं हैं। (१) विषमता में श्रीराम की कुशलता और भरत की अकुशलता, (२) कौसल्या में असूयाप्रयुक्त गर्व का आरोप, तथा परसमृद्धि की असहिष्णुता और स्वसमृद्धि मे न्यूनता देखना (३) राजा की प्रीति का अभाव दिखाना (४) राजा और रानी में भेद लगाकर राजा में दंभ सिद्ध करना—इन शंकाओं में से एक-एक विषय पर विचार कर्तव्य है।

(१) सब भाइयों का राज्याधिकार जन्मतः समान है। अतः एक भाई अन्य दायाधिकारी भाइयों को दूर करना चाहेगा ही। तब राज्याधिकारी होने में समान गुणवान् राम और भरत दोनों भाइयों में शत्रुता स्वाभाविक है। अर्थात् श्रीराम राज्याभिषिक्त होंगे तो विशेषकर भरत की कुशलता संदिग्ध हो जायगी। इस वंश में समता की चर्चा की जाती है पर देखने में विषमता ही आती है जो भरत को दूर करके श्रीरामका राज्याभिषेक करने के आयोजन से स्पष्ट है।

ज्ञातव्य है कि कामुक दांभिक व्यक्ति मनगढ़न्त दोषों का कीर्तन करके दूसरों में दोष लगाते हैं। वास्तव में वे सब दूषण दोषद्रष्टा में होते हैं पर दिखाने के लिए स्वयं मध्यस्थ बनते हैं। मन्थरा ऐसी ही है। सरस्वती की माया से प्रेरितकुमति में कैकेयी श्रीराम और भरत के उक्त कुशलत्व-अकुशलत्व-साधक हेतु में एकार्थाभिनिवेशित्वरूप उपाधि को समझ न सकी।

(२) असूया में कार्याकार्य के विवेक का अभाव होता जाता है जो मन्थरा के उदाहरण से स्पष्ट है। असूया-भाव में वह कौसल्या पर गर्वका आरोप करती हुई कहती है कि अपने पुत्र श्रीरामको राज्याधिकार मिलने में कौशल्याको विधिकी अनुकूलता से जो भाग्य प्राप्त हुआ है उसमें उसका स्वाभिमान बढ़ गया है। इसकी अनुमानप्रणाली यह होगी कि 'कौशल्या गर्ववती राज्याधिकृतस्वज्येष्ठपुत्रनिरूपितमातृत्वसूचित सर्वविध दैवीसंपत्तिमत्त्वात्"। इस अनुमान में विद्वत्संगत्यभाव-रूप उपाधि है? जिसको कैकेयी नहीं समझ रही है[1]।

(३) कौसल्या के उक्त वैभवकी कल्पना में असूयाग्रस्त मन्थरा को जो दुःख है उसके साथ राम-राज्याभिषेकोत्सवकी सजावट देखकर भी वह दुःखी हो रही है जिसके संबंध में यह कहना चाहती है कि श्रीराम की छत्रछाया के सजावट मे उतावले सेवक बड़े संपन्न दिखायी पड़ रहे हैं। उन्होंने जी जान से लगकर थोड़े ही समय में नगर को कैसे सुशोभित कर दिया है? जिसमें मन्थरासहितकैकेयी की जरा भी पूछ नहीं है। इसकी अनुमान प्रणाली इस प्रकार होगी—"सेवकाः सर्वे रामेण सह संबद्धाः श्रीरामस्य प्राप्स्यमानराज्याधिकारस्य हर्षेण नगरशोभाविशेषकर्तृत्वात्"। परसमृद्धि की असहिष्णुता के भाव में मन्थरा के कहने का निष्कर्ष है कि कौशल्यासहित श्रीराम समृद्धिशाली होने जा रहे हैं तथा भरत-सहित कैकेयी समृद्धि से वंचित होती जा रही है। श्रीराम के आत्मसंपद्गुणप्रयुक्त प्रीति में होने वाले जनाकर्षण को न समझकर अर्थसंबंध को जोड़कर कैकेयी इस शंका को अपने में स्थान देगी वह उसकी कुमति है।

(४) अर्थशास्त्र में स्त्री को वश में करने का माध्यम प्रेम बताया है[2]। उसके अनुसरण में राजाकी प्रीतिमें आश्वस्ता कैकेयी को 'नींद बहुत प्रिय सेज तुराई' कहकर सावधाना कर रही है जो 'लखहु न' से व्यक्त है। 'भूपकपट चतुराई' से राजा की प्रीति में दंभ दिखा रही है। राजा का दंभ यह है कि अपनी प्रीति की आसक्ति दिखाकर रानी कैकेयी को इतना विश्वस्ता बना दिया है कि

१. विद्वत्संगत्यभावात्मक उपाधिका विचार रामलक्ष्मणसंवाद में (चौ. १ दो. २३१) है।

२. स्त्रीभृत्यान् प्रेमदानाभ्याम् (नीतिसार स. ३)

उसको 'जानति हहु बस नाह हमारे' भाव दृढ़ हो गया है। उस भावना में भरत कैकेयी राजा के शिष्टतापूर्ण कापट्यको न समझकर विदेशस्थ पुत्र भरत के कल्याण की चिन्ता से शून्य हो रही है। "राजा त्वत्प्रीत्यभाववान् शठत्वात्" ऐसा अनुमान कैकेयी को कराना चाहती है। राजाके इस कापट्य को आगे "पठए भरत भूप ननिअउ रे" से स्पष्ट करेगी।

इस प्रकार राजाकी प्रीति में शंका को जगाकर मंथरा ने राजा रानी में भेद उत्पन्न करा दिया। शंकाओं के जालमें फँसकर नीतिमान् व्यक्ति भी किस प्रकार गिरता है। यह कैकेयी के आग्रिम चरित्र से स्पष्ट हो जायगा। जो रानी संपूर्ण परिवार को सुसंघटित कर राज्य में कीर्तिभागिनी बनी हुई थी वह कैकेयी कुमति में पड़कर कलंकभागिनी हुई जैसा शिवजी ने चौ. ७ दो. २३ में 'राजु करत निज कुमति बिगोई' से व्यक्त किया है।

कैकेयी की मतिपर आवरण

उपर्युक्त शंकितसाध्यक अनुमान में शास्त्रमर्यादापालनकर्तृत्वाभाव रूप उपाधिको विमल वंश होते हुए भी न समझना सरस्वती के 'मति फेर' का प्रभाव है जिसने कैकेयी की सुमति को परिवर्तित कर दिया। चौ. १ दोहा ४२ में कैकेयी से कहे प्रभु के वचन 'विधि मोहि सनमुख आजू' से कैकेयी का करतब प्रभु के विधान के अनुकूल होने से फलतः वह संपूर्ण दोषों और कलंक से मुक्त ही मानी जायगी और प्रभु की कृपापात्रा[1] बनी रहेगी।

संगति—सरस्वती के 'मतिफेर' के क्रम में कैकेयी की मति की दोलायमान अवस्था का प्रदर्शन किया जा रहा है। एक ओर उसकी मति में नीतिमर्यादा का आदर है दूसरी ओर स्वपुत्र भरत का राग जोर पकड़ रहा है। रानी पूर्ण सुमति के संस्कार में मन्थरा एवं उसकी शंकाओं का दमन करने का प्रयास कर रही है।

चौ.—सुनि प्रियबचन मलिनमनु जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी ॥ ७ ॥

भावार्थ—सुनने में मन्थरा के वचन पहले तो प्रिय लगे। बाद में रानी मंथरा को मनकी खोटी समझ कर उसकी ओर मुड़ी और गुस्से में उपटकर चुप रहने को कहा।

मन का झुकाव कुबड़ी की ओर

शा० व्या०—'झुकी रानि' से ऐसा ध्वनित होता है कि मन्थराकी शंकाओं को सुनकर कुमतिका उदय भी हो रहा है और रानी का राग भीतर भीतर जोर पकड़ रहा है जो आगे कुबड़ी के मत की ओर ले जायगा।

संगति—राजनीतिशास्त्रोपदिष्टभेदनीति मे स्नेह एवं राग की कमी होना, संघर्ष को स्थान देना, और डरा धमका कर विश्लेषण (भेद) करा देना कैकेयी को याद हो रहा है, इसलिए मन्थरा के वचन उसे कटु प्रतीत हुए।

चौ.—पुनि अस कबहुं कहसि घर फोरी। तब धरि जीभ कढावउं तोरी ॥ ८ ॥

भावार्थ—रानी ने कहा फिर ऐसा घर फोड़ने वाली बात कहोगी तो तुम्हारी जीभ बाहर निकलवा दूंगी। चौ. ४ दो. ६४ बा. का. में सती के कहे वचन 'काटिअ तासु जीभ जो बसाई' के अनुसार कैकेयी की यह उक्ति नीतिसम्मत है।

---

१. पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी ॥ (चौ. ८ दो. २४४)

भेदप्रवृत्ति पर दण्ड

शा० व्या०—पति-पत्नी, माता-पुत्र, भाई-भाई, तथा सौत-सौत में भेद लगाना महान् दोष है। ऐसे काम करने वाली की जिव्हा का छेदन करना ही दण्ड है। इससे स्पष्ट है कि कैकेयी को तत्कालीन राजदण्ड-व्यवस्था का पूर्ण ज्ञान था। अयोध्यावासी सब कुटुंब अभेदमति में स्थित थे। तभी लोकमत में ऐसा दण्ड व्यावहारिक था।

संगति—राजकीयगुप्तमंत्रणाओं को प्रकट करने या भेद लगाने में शास्त्रकारों ने भेदियों का निरूपण किया है, उन्हीं विकल्पों को कैकेयी कह रही है।

दो०—काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय विशेषि पुनि चेरि कहि भरतमातु मुसुकानि॥ १४॥

भावार्थ—भरत की माता कैकेयीने मुस्कुराते हुये कहा कि कानें-ऐंचे-ताने या कुबड़े कुटिल दुष्ट होते ही हैं। तिसपर स्त्री तो विशेषरूप से होतीं हैं। उसमें भी दासी तो और भी।

अन्तःपुर में चरकर्म

शा. व्या.—अन्तःपुर में अनाचार की स्थिति की जानकारी के लिए असुन्दर, लंगड़े, बहरे, कुबड़े जैसे व्यक्ति राजप्रासाद के भीतर नियुक्त किये जाते हैं। राजनीति इसके साथ यह भी बतलाती है कि अनिष्टकर बाहरी तथ्यों से सावधान रहने हेतु उक्त व्यक्तियों ने अन्तःपुर में प्रवेश नहीं करना चाहिये तथा उनको विश्वासार्ह नहीं मानना चाहिये। इस सिद्धान्त को कहते हुए भी 'कहि भरत मातु मुसकानि' से स्पष्ट है कि कुबड़ी के प्रति रानी के मनका झुकाव होने से उसने सिद्धांन्त की गंभरिता को हँसी में उड़ा दिया। इसका प्रभाव यह हुआ कि मंथरा ने उसका अर्थ यह निकाला कि भेदन करने वाले लंगड़े आदि-में मुझ को रानी अपवाद समझ रही है। बाल्यकाल से कैकेयी की सेवा में लगी मन्थरा रानी के हित में पूर्ण विश्वस्ता है इसलिए उसका ऐसा समझना युक्तिसंगत कहा जा सकता है।

शंकोदय का उषःकाल

कैकेयी की मुसकराहट देखकर मन्थरा को अपना शंकालाप सुनाने की अनुकूलता प्राप्त होने की आशा होगयी। यह मुसकराना शंका का उषःकाल है। अर्थात् दूर से शंका को जगानेमे मन्थरा समझ गयी कि रानी श्रीराम के प्रति राग रखती हुई भी भरत के हितमें कुछ सोच रही है, वह हित राज्याधिकारप्राप्ति ही होनी चाहिये।

अतः राजा और कौसल्या के प्रति भेद उत्पन्न कराकर श्री राम में रानी के राग को हटाने और भरत के लिए राज्यप्राप्तिविषयक उपाय बताने से काम चल जायगा। दुर्बलप्राणी को मोह में फसा देखकर धूर्त युक्तियों द्वारा अपने में विश्वासस्यता को जमाकर उसको भेद का शिकार बना लेता है।[1]

संगति—पूर्वोक्त चौ. ७-८ में कहे वचन के अनुसार दो. १४ को सिद्धान्त की अभिव्यक्ति में मन्थरा पर कैकेयी को रोष होना चाहिये, पर प्रसन्नता और विश्वास ही प्रकट हो रहा है—

---

१. तथाऽसांवुपगन्तव्यो यथा विस्रंभमाप्नुयात्॥ ६५॥
विस्रंभे नित्यमुद्युक्तो निगूढाकारचेष्टितः।
प्रियाण्येवाभिभाषेत यत् कार्यं कायमेव तत्॥ ६६॥
विस्रंभात् प्रियतामेति विस्रंभात् कार्यमृच्छति।

(नी. सा. स. ९ प्र. १४)

चौ.—प्रियवादिनि ! सिख दीन्हिउँ तोही । सपनेहुँ तो पर कोपु न मोही ॥१॥

भावार्थ—कैकेयी मन्थरा से कहती है "तुम तो मेरा प्रिय बोलने वाली हो। इसलिए मैंने जो कहा है वह शिक्षा देने के लिए है। स्वप्न में भी मुझको तुम पर क्रोध नहीं है।

मन्थरा को शिक्षा

शा. व्या.—मूक अन्ध कुब्जा आदि वर्ग भेदन का कार्य स्वभावत: करते हैं पर अपनी दासी कुब्जा को वैसा कार्य न करने की शिक्षा दे रही है। रानी ने 'प्रियवादिनी' कहकर सत्कार किया है। जिसमें क्रोधका अभाव प्रकट किया है।

प्रीतिमें प्रमाद

ज्ञातव्य है कि शास्त्रोंने जिनको अविश्वास्य कहा है उनको विश्वासार्ह नहीं समझाना चाहिये। स्वामी के प्रति भृत्यवर्ग का विश्वास जितने कार्य से हो जाय उतना ही स्नेह स्वामी ने सीमित रखना होता है। तदनुसार राजा को अपने चरों द्वारा राजप्रासादमें रहने वाले कुब्जा आदियों पर ध्यान रखना पड़ता है। राग में पड़कर इस सिद्धान्त के चिन्तन का क्रम बदल देने का परिणाम यह होता है कि दोष की संभावना से युक्त व्यक्तिओं में से अपने प्रिय व्यक्ति को अपवाद रूप में उसका स्वीकार करना है। यही भूल इस समय कैकेयी मन्थरा को प्रिय मानकर कर रही है।

अपने राग के कारण मन्थारा के उपर्युक्त भेदनकार्य की झलक मिलने पर भी उस पर कैकेयी क्रोध नहीं कर रही है। साहित्यशास्त्र के अनुसार राग में उग्रता, जुगुप्सा, एवं आलस्य नहीं माना जाता। रागने इस समय रानी की बुद्धि पर आवरण कर रखा है।

न्यायप्रणाली के अनुसार कहाँ जायगा "इयं मन्थरा दुष्टा दण्डया च स्व-स्वभावानुरूपतया भेदजनक-शंकात्मकवचनोच्चारणकर्तृत्वे सति श्वासप्रश्वासादिमत्त्वात्" फिर भी कैकेयी उक्त हेतु को मन्थरा मे दण्डसाधक नहीं समझ रही है। किंबहुना शिक्षा देकर प्रीतिभाव में उसके प्रति तर्जन का वर्जन करना चाहती है।

शंकोदय के पूर्व की अवस्था में स्मरणीय है कि इस समय कैकेयी के वक्ष्यमाण वचन सतीके वचन होने से प्रमाण हैं जो भविष्यत्में सत्य सिद्ध होंगे।

चौ०—सुदिन सुमंगलदायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई ॥ २ ॥

भावार्थ—चौ० २ दो० १४ में मन्थरा की उक्ति के उत्तर में रानी कहती है कि सुमंगल देनेवाला वही दिन है जिस दिन तुम्हारा कहा सत्य होगा।

मन्थरा की उठायी आपत्ति रानीको इष्टापत्ति है

शा० व्या०—'जेहि जनेसु देइ जुवराजू' से मन्थराने जो आपत्ति उठायी थी उसको कैकेयी ने इष्टापत्ति रूप में स्वीकार किया।

भरत आदि की अकुशलता की शंका का समाधान

संगति—'रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू' में ध्वनित भरत की अकुशलता का समाधान कैकेयी कर रही है।

चौ०—जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकरकुल रीति सुहाई ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्यवंश की यह सुन्दर रीति सुशोभित चली आ रही है कि बड़ा भाई स्वामी और छोटा भाई उसका सेवक होता है।

रामस्वामित्व का औचित्य

शा. व्या.—श्रीराम के राज्यारोहणमात्र से औरों का कुशल क्या होगा ? ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है क्योंकि रामस्वामित्वप्रयोजिका स्वेच्छा न होकर गुणयुक्त ज्येष्ठता है। यह मान्यता सूर्यवंश की परंपरा में अनुस्यूत है। श्रीराम का राज्याभिषेक शास्त्रप्राप्त है तो इस समय भरत की उपस्थिति अन्यथासिद्ध है, अर्थात् वह यहाँ रहें अथवा न रहें।

शास्त्रविश्वासमें तर्कदृष्टि की अपेक्षा

शास्त्रमर्यादामें आस्तिकभाव रखते हुए 'सेवक लघुभाई' कहकर कैकेयी भरत की सेवकाई को इष्ट कह कर अकुशलता को निरस्त करके विषमताका समाधान करती है। फिर भी तर्कशक्ति के अभाव में शास्त्रनिहित विश्वास तव डोल जाता है जव अपने प्रियव्यक्ति आप्त वनकर अपने पूर्वग्रह को शंकाओं का शिकार करते हैं। जैसे रानी नीतिसम्मत तार्किक दृष्टि के अभाव में शास्त्रसम्मतवंशमर्यादा को स्वीकार करते हुए भी 'वंधुविहाइ' की स्थिति में श्रीराम के राज्याभिषेकको अनुचित समझेगी। (चौ० ७ दो० १०)

चौ०—रामतिलकु जौ साँचेहुँ काली। देउँ मागु मन भावत आली ॥ ४ ॥

भावार्थ—कैकेयी हर्षमें मन्थरा से कह रही है कि श्रीरामका राजतिलक सचमुच कल ही है तो, हे सखि ! तुम मनचाही वस्तु माँग लो। मैं दूँगी।

पुरस्कारघोषणा

शा० व्या०—कैकेयी को रामराजतिलक सुनकर इतनी प्रीति हुई कि उसने मन्थराके दूषित भावको उपेक्षित कर सेवकत्वकी इष्टापत्ति को पुरस्कार बाँटने की घोषणा से प्रकट किया।

संगति—'कौसल्या के लिये विधि का आनुकूल्य है' (चौ. ३ दो. १४) मन्थरा की इस उक्ति की प्रतिक्रिया में कैकेयी श्रीराम के समताभाव को व्यक्त कर रही है।

चौ०—कौसल्यासम सव महतारी। रामहि सहज सुभाय पिआरी ॥ ५ ॥

भावार्थ—श्रीरामको स्वभाव से ही सब माताएँ कौसल्या के समान प्यारी हैं।

श्रीराम की समता

शा० व्या०—'श्रीराम के राज्य में कौशल्याको छोड़कर कैकेयीसहित अन्य माताओं के लिए विधि की प्रतिकूलता होगी' ऐसा कहने में कोई अर्थ नहीं है क्योंकि श्रीराम का मातृता और पूज्यताभाव इस तीनो रानियों में समान है। श्रीराम के इस समताधर्म में 'सहज सुभाय' द्वारा उनका सन्त होना भी परिलक्षित है।

चौ०—मोपर करहि सनेहु विसेषी। मैं करि प्रीतिपरीछा देखी ॥ ६ ॥

भावार्थ—मेरे ऊपर तो श्रीराम विशेष स्नेह रखते हैं जो उनकी प्रीति की परीक्षा करके मैंने देखा है।

प्रीति की परीक्षा

शा० व्या०—प्रीतिपरीक्षा का स्वरूप यहाँ प्रकट नहीं है। फिर भी श्रीराम की प्रीति कैकेयी में कैसी है ? इसका स्वरूप दो. ४० 'सकहु त आयसु धरहु सिर' के उत्तर में श्रीराम के द्वारा वनगमन की सहर्ष प्रतिज्ञा करने के बाद प्रकट होगा। कैकेयी माता की इच्छापूति मे श्रीराम का ऐसा ही चरित्र पूर्वमें भी होता रहा जिसके संबन्ध से कैकेयी की उक्ति में 'करि प्रीति परीछा देखी' से समझाया है। प्रीति की परीक्षा में राजनीतिसिद्धान्त-निम्नलिखित हैं—

सदाऽनुवृत्त्या गुणकीर्तनेन निन्दासहत्वेन च रन्ध्रगुप्त्या।
तदर्थशौचोद्यमसंकथाभिः पक्षाऽनुरागोऽपि स वेदितव्यः॥
नी० सार स० १६।२९

इसके अनुसार श्रीराम की अपने ऊपर प्रीति कितनी है? यह कैकेयी जानती है। साथ ही भरत के प्रति भी श्रीरामजी की स्निग्धता सिद्ध है।

श्रीराम एवं सीता ने अपने गुणों से आकर्षित कर कैकेयी को ऐसा अपनाया है कि 'कौसल्यासम सब महतारी' के अनुसार सब माताओं में श्री रामका समभाव होने पर भी कैकेयी को 'अहमुत्कृष्टा' का भाव हो रहा है। इस प्रकार कौसल्या के प्रति मन्थरा की उक्ति' देखत गरब रहत उर नाहिन' का खण्डन किया है।

संगति—मन्थरा की असूयापूर्ण उक्ति (भयउ कौसलहि विधि अति दाहिन) का उत्तर दे रही है—

चौ०—जौ विधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पतोहू॥७॥
प्रान ते अधिक रामु प्रिय मोरे। तिन्ह के तिलक छोभु कस तोरे?॥८॥

भावार्थ—यदि विधाता कृपा करके जन्म दे तो श्रीराम जैसा पुत्र और सीता जैसी पुत्रवधू हो।
श्रीराम तो मुझे प्राण से भी अधिक प्रिय हैं। उनके राजतिलक में तुम्हें क्षोभ कैसा?

श्रीराम के प्रति कैकेयी का औरसभाव

शा० व्या०—यद्यपि श्रीराम कौसल्यानन्दन हैं तथापि हम सभी माताएँ उनको अपना औरस पुत्र तथा सीता को पतोहू रूप में मानती हैं। उन दोनों के चरित्र ऐसे हैं जिनको देखकर सभी माताएँ अपनेको भाग्यवती समझती हैं। श्रीराम कैकेयी को प्राण से भी अधिक प्रिय हैं। उनके यशःकीर्तन एवं दर्शन में सभी सुखिनी हो रही हैं। ऐसी स्थिति में हर्ष के स्थान में विषमता प्रतीत होने का या असूयाका कारण नहीं है। राजा का भी कोइ कपटकार्य समझ में नही आता। इसको 'तिन्ह के तिलक छोभु कस तोरे' से स्पष्ट किया है। 'सनेहु विसेषी 'को' 'प्रान से अधिक प्रिय' से पुष्ट किया है।

'भयउ कौसिलाहि विधि अति दाहिन' की प्रतिक्रिया में कैकेयी अपने लिए विधिकी अनुकूलता यही चाहती है कि यदि दूसरा जन्म हो तो राम सिय दोनों पुत्र एवं वधू के रूपमें प्राप्त हों। कैकेयी की ऐसी हार्दिक इच्छा 'मो पर करहिं सनेहु विसेषी' के अनुभाव में प्रकट है।

मन्थरा में असूया के कारण का अनुमान

संगति—मन्थरा के आक्षेपों का समाधान करने के बाद भी कैकेयी का सोच विचार इस प्रकार चल रहा है कि राज्य में ऐसा कोई व्यक्ति न होगा जो रामराज्य सुनकर दुःखानुभव करेगा। चौ० १ से दो० ३ में श्रीराम की सर्वप्रियता प्रकट है। उसमें मन्थरा अपवाद कैसे हो सकती है? तथापि उसको शुभ अवसर पर क्षोभ और कौसल्या के प्रति विषमताभाव क्यों हो रहा है? इसका कारण राम-राज्याभिषेक न होकर दूसरा कुछ हो सकता है। इस जिज्ञासा में कैकेयी पूछ रही है।

दोहा—भरतसपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।
हरषसमय विसमउ करसि कारन मोहि सुनाउ॥ १५॥

भावार्थ—भरत की तुमको कसम है। छल-छिपाव को छोड़कर सच-सच बताओ कि ऐसे हर्ष के अवसर पर तुम क्यों दुःख कर रही हो? उसका कारण मुझसे कहो।

भरतशपथ का कारण

शा० व्या०—चौ० २ दो० १३ मे 'रामतिलक सुनि भा उरदाहू' से मन्थरा को श्रीराम और भरत में विषमताभाव है ठीक नही सोचकर कैकेयी ने 'भरत सपथ' का उच्चारण इसलिए किया कि भरत में राग होने से मन्थरा अधिक विश्वस्ता होकर अपने क्षोभको प्रकट करने में दुराव नहीं करेगी।

चौ०—एक हि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी ॥ १ ॥

भावार्थ—मन्थरा ने कहा—एक ही बार में सब आशा पूरी हो गयी। अब तो तभी कह सकती हूँ जब दूसरी जीभ लगाऊँ। (१)

सेवकत्व में सुख की भ्रान्ति का उपपादन

शा० व्या०—मन्थरा के कहने का भाव यह है कि जो कुछ कहना था उसने सुना दिया। यदि उसके विपरीत या दूसरा वह कुछ कहती है तो मन्थरा मे द्विजिह्वत्व दोष संभावित होगा। अतः राज्याभिषेक के बाद भरतसहित कैकेयी के भावि सेवकत्व का उपन्यास करने में वह अपनी सफाई प्रस्तुत कर रही है।

यदि राजा साम्राज्य-धन की सत्पात्रप्रतिपात्ति करना चाहते हैं तो सभी भाइयों में समान रूप से होनी चाहिये क्योंकि इसमें ज्येष्ठत्व अधिकारितावच्छेदक नहीं है बल्कि वंशकी निर्मलता है। निर्मल वंश रहते भी राजा भरतको सदाके लिए सेवक बना रहे हैं। इस दोष को स्वामिनी कैकेयी राग मे नहीं समझती यह अद्भुत है।

संगति—इतना कहकर भी जब कैकेयी भरत के सेवकत्व को दोष मानने के लिए तैयार नहीं हुई तब मन्थराने अपना परमहितैषित्व प्रकट करने के हेतु से स्वयं को अभागिनी कहा।

चौ०—फोरै जोगु कपारु अभागा। भलेउ कहत दुःख रउरेहि लागा ॥२॥

भावार्थ—तुम्हारे हितकी बात कहने में तुमको दुःख मालूम हो रहा है तो हमारा ही भाग्य है, मैं ही अभागिनी हूँ।

शंका का उज्जीवन

शा० व्या०—भरतके सेवकत्व को आपादक मानकर मन्थराने कैकेयी की अकुशलता को आपाद्य बताया यथा "यदि रामो राजा स्यात् तर्हि भरतनिरूपितसार्वदिकस्वामित्ववान् स्यात्, भरतस्य स्वातन्त्र्यं च भग्नं स्यात् (२) तच्चानिष्टम्" इस तर्कको रानीने 'सेवकत्वं इष्टं' कहकर निरस्त कर दिया। पुनः मन्थरा प्रस्तुत चौपाई में सेवकत्व को अनिष्ट मनवाने का प्रयत्न करती है।

दो० १५ मे कहे कैकेयी के वचन मे अपने प्रति रानी का झुकाव देखकर मन्थरा अपनी विश्वासपात्रता को जमाने के प्रयत्न मे 'भलेउ' कहती है।

भरत के सेवकत्व मे अकुशलता बताकर स्वामिनी कैकेयी की हितकारिता को व्यक्त कर रही है, अर्थात् भरत को मालिक बनाना चाहती है और कैकेयी को परतन्त्रता की बेडी से मुक्त करना चाहती है। 'दुःख रउरेहि लागा' का भाव है कि दासी की हितकारिता को उपेक्षित करके रानी उसकी विश्वास्यता मे सन्देह करती है। अर्थात् भरत को सदा के लिए सेवक बनाकर अपने को परतन्त्रतामे रखना उसको इष्ट लगता है सेवकत्व से दूर रहने में अपना हित है ऐसा समझने मे उसको दुःख मालुम होता है।

---

१. चौ० ८ दो० १४ मे 'पुनि अस कबहुं कहसि घर फोरी। तब धरि जीभ कढावउँ तोरी, के संदर्भ में मन्थरा ऐसा कह रही है।

२. शत्रूस्य वश्यता सिद्ध्यर्थं.....एवं प्रजानुरज्येत पृथिवी च वशगा भवेत् ॥ राजनीतिप्रकाश ॥

दासी हित की बात कहे रानी उसकी बातको न सुने तो दासी क्या करे ? उसे रानी का दोष बताने का अधिकार नही है। इतना हो बताने के अतिरिक्त वह और क्या कर सकती है ? इसी बेवशी को मन्थरा प्रकट करती हुई अपने आपको दोषवती बताती है।

हितकारिता में सोपाधिकत्व

मन्थरा की हितकारितापर आधारित विश्वास्यता यद्यपि आजतक के इतिहास मे बाध या स्वरूपसिद्धि-से दुष्ट नहीं है तथापि मन्थरा की हितकारिता जो कि उसकी विश्वास्यता की साधक हेतु है उसे उपाधिरहित न होने से विश्वास्यतात्मक साध्य का साधक जानना भूल है। ऐसा ही कैकेयी को मान्य होना चाहिये। असूया अनृजुत्व असंयतत्व एवं विद्वत्संगति का आभाव उक्त हेतु मे उपाधि हैं। जिसके उक्त हेतु में सोपाधिकत्व नहीं है वैसे ही स्थानों में हितकारिता विश्वास्यता की साधिका हो सकती है। वह यहां नही है तथा जहां विद्वत्संगति नही है वहां अन्धत्व होने से मतिभाव भी नही है। उस अवस्था मे शिष्यहिताधानार्थदर्शन भी संभव नही होता। इसका विस्तृत विवरण श्रीराम-लक्ष्मणसंवाद मे आगे किया गया है। तात्पर्य है कि मन्थरा विद्वत् संगति मे न होने से सदा के लिये विश्वास्या नहीं कही जा सकती। कैकेयी ऐसा नहीं समझ रही है इसका कारण रानी में उक्त उपाधि के निर्णय का अभाव है।

संगति—परद्रोहनिविष्टबुद्धिपर विश्वास करना मालिकों का स्वभाव होता है। फिर भी मन्थराने सोचा कि अपने मे लोभाभावात्मक उपाधि के अभाव की कल्पना कैकेयी को हो रही है। अतः वह मुझमें विश्वास्यता का अनुमान नही कर रही है। उसके प्रत्युत्तर में सोचती है कि "कैकेयी का विचार गलत है, मैंने लोभ नहीं किया है जो कि मुझमे विश्वास्यता का अनुमान कराने मे कैकेयी को सहायक होगा"। ऐसा सोचकर मन्थरा लोभाभावात्मक उपाधिका साहित्य अपने में समझा रही है।

चौ० कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो बाते बना बनाकर झूठ को सच बनाकर कहते हैं वे तुमको प्रिय हैं तो मैं भी हे मइया ! अब वही करूँगी।

विश्वास्यता के दार्ढ्य में पूर्वग्रह का त्याग

शा० व्या०—'बात बनाइ' का भाव यह है कि वह औरों की तरह कुछ कहना कुछ छिपाना अथवा प्रशंसा करना अथवा प्रसन्न करने के लिए झूठी बात को सच करके कहना उत्तम नहीं मानती बल्कि यथार्थ बात को चाहे उसमे विपत्ति हो अथवा संपदा संभावित हो उसी को स्पष्ट संकेत से हितभाव से सुनाती है। ऐसा सुनाकर मन्थरा अपने प्रति विश्वास्यता का भाव दृढ़ कराने मे प्रबल अनुमान कैकेयी को कराना चाहती है। यथा—"अहं हितैषिणी स्वार्थशून्यत्वे सति (लोभाभावे सति) दयावत्त्वात्"। लोक मे ऐसे अनुमानके प्रयोजनका फल यह होता है कि उक्त प्रबलतर अनुमान (हेतु) से हितकारिता को समझाने के अनन्तर अनुमाता प्रेमी के वचनों को प्रमाण मानता है फलतः एक दूसरे का अनुगामी होता है। उसके बाद वह प्रेमी के शब्दप्रमाण की प्रबलता पर अधिक बल देता है कि उसके वचनों को सुनकर दूसरा प्रेमी अपने पूर्वसत्ग्रह को अप्रमाण ठहराता है। कैकेयी की यही स्थिति है।

व्याप्तिनिर्णयार्थ हेतु मे उपाध्यभावचिन्तन

साध्य का यथार्थतया अनुमान करते समय हेतु में उपाधिका विचार किया जाता है तो बुद्धिमान् लोग मोह या अविवेक से बच सकते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में कहना है कि मन्थरा को आज तक के अपने जीवन में भेदनीति का सफल प्रयोग करने के लिए राजपरिवार में उपयुक्त अवसर मिला नहीं, तावन्मात्रेण मन्थरा का हितैषित्व माना नहीं

जा सकता चाहे वह अपने को कितना भी हितैषिणी कहे। साथ ही यह भी कहा जायगा कि ऐसा अवसर नहीं आया जिसमे मन्थरा का हितैषिणीत्व परीक्षित किया जा सके। रानी ने हितैषित्व के प्रयोजक पर ध्यान नहीं दिया। उसके द्वारा उपस्थापित वाणीमात्र से मन्थरा को हितैषिणी समझने से वह मोहजाल-में फँस गयी। ऐसे अवसरों पर शास्त्रों का सहारा लेने से दुर्जनों की संगति मे रहते हुए भी प्रभु की दयापात्रता के कारण साध्य और हेतु के मध्य मे उपाधि या तदभाव प्रकाशित होते हैं। अन्यथा मोह का शिकार होने से बचना संभव नहीं है।

स्मरणीय है कि पहले शास्त्रवचनों के सहारे कैकेयी ने मन्थरा को दुष्टा कहा था (दो. १४) उसके विपरीत जहां कुलीनता विद्वत्संगति ऋजुता आदि गुण परीक्षित हैं, (चौ. ६ दो. १४) वहां रानी ने हितैषित्व के प्रयोजक विद्वत्संगति और असूया का अभाव आदि को न समझना शास्त्रप्रामाण्य के अनादर का द्योतक है। फलतः मन्थरा के जाल में फँसकर स्वतंत्रता के नाम पर कैकैयी हित की भ्रान्ति में भरत को अहित की ओर लगाना चाहती है अर्थात् भरत सेवक वनते हैं तो उन पर राज्य का बोझ नहीं आता, यदि राजा वनते हैं तो संपूर्ण प्रजाके पालन का वोझ उनको वहन करना पड़ेगा जैसा चित्रकूट मे श्रीरामने भरत से कहा है "बाटी विपति मे सबहि मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि वड़ि कठिनाई"॥
(चौ. ६ दो. ३०६)

संगति—राजनीतिशास्त्र के उपायविकल्प प्रकरण मे कहा है कि हितैषित्व की वात न मानने वालों-को उपेक्षित कर देना चाहिये। रानी का झुकाव श्रीराम के तरफ देखकर अपने हितैषित्व की उपेक्षा किये जाने पर मन्थरा उपेक्षात्मक दण्ड का उपक्रम कर रही है।

चौ.—हमहु कहब अब ठकुर सोहाती। नाहिं तो मौन रहब दिनु राती ॥४॥

भावार्थ—मैं भी अब ठकुर सोहाती अर्थात् जो अच्छा लगे वही कहूँगी। नहीं तो दिन रात चुप रहूँगी। तुम यदि यही चाहतो हो कि अहित या हित का विचार छोड़ कर मालकिन को जो अच्छा लगेगा वही कहा जाय तो वैसा ही कहने के अलावा मैं और कुछ भी न बोलूंगी।

अकुशलता का सन्देह

शा० व्या०—मैं दासी हूं, मालिक की प्रसन्नता देख कर ही वोलना है इसलिए मैं वैसा ही वोलूंगी। जब आपको मुझ पर विश्वास नहीं है तो वोलना व्यर्थ है।

मन्थरा के कहने का तात्पर्य यह है कि जब प्रतारक लोग आकर पुत्र को सदा के लिए अपने अधीन बनावेंगे तब समझ में आवेगा कि कौन हितैषी है?

सूर्यवंश की रीति यही है कि वह स्वर्गसुख की बराबरी रखने वाला राजसुख भोग सके। शासन करने में राज्य का आनन्द भरत के भाग्य में नहीं है तो दैव की इच्छा।

संगति—फिर भी यह दासी संकट में भी दास्य धर्म का पालन करती रहेगी।

चौ.—करि कुरूप विधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा ॥ ५ ॥

भावार्थ—दो. १४ में कुरूपता के बारे में कैकेयी के वचन का उत्तर देती हुई मन्थरा कहती है कि विधाता ने मुझे कुरूपा बनाया। उस पर भी पराधीना दासी कर दिया। जो बोया वही तो काटना पड़ेगा। अर्थात् वही ही मिलेगा।

हितैषित्व का विश्वासक्रम

शा० व्या०—मालिक के हृदय में अपने प्रति आप्तताबुद्धि बनाने हेतु अनुजीविवृत्तप्रकरण के अनुसार भृत्य का कर्तव्य यही है कि कैसा भी कष्ट हो उसको वह सहन करे, मालिक का साथ कभी न

छोड़े। अपना कहना न मानने पर दासी मन्थरा दूर हट जाती पर वैसा उसने नहीं सोचा और न किया। अपितु दैव के नाम पर वह दुःख सहन कर भी कैकेयी की सेवा करते रहने की प्रतिज्ञा कर रही है।

'बवा सो लुनिअ' का भाव यह है कि अपने कर्मानुसार दैव ने जो कुरूपता देकर दासीत्वप्रयुक्त परवशता का योग दिया है उसको वहन करना ही होगा। उसमें मन्थरा का कोई वश नहीं है।

'लहिअ जो दीन्हा' का भाव है कि दैव के अनुसार स्वामिनी को सेवकत्व का संकट आने वाला है। (चौ. ८ दो. १९) तो उसके साथ वह भी संकट सहेगी। इस प्रकार अपने में मालिक का विश्वास जमाने का उपाय कर रही है।

दैव पर उपालंभ

चौ. ७ दो. १४ में कैकेयी के कहें 'घर फोरी' के आरोप के प्रत्युत्तर में अपने पिशुनत्वदोष को छिपाने के लिए भाग्य को उपालंभ देकर मंथरा अपने निर्दोषता की धाक जमाना चाहती है। हितावह विषय कहने पर भी कैकेयी के समझ में मन्थरा की बातें नहीं समझमें आ रही हैं इसका कारण मन्थरा की दृष्टि में दैव ही है। संकट या परतन्त्रता भोगना है तो वह होकर रहेगा। ऐसी कल्पना देकर मन्थरा अपना हितैषित्व समझाना चाहती है।

मन्थरा में आप्तत्वसन्देह का निरास

जब मन्थरा ने इतना कहा तब कैकेयी के हृदय में उसके आप्तत्व का संन्देह जैसे जैसे निरस्त हुआ वैसे वैसे कैकेयी को भरत का सेवकत्व दुःखद प्रतीत हुआ। इस आशय को समझकर मन्थरा अपनी उपेक्षा एवंउदासीनता मे दृढ़ता कर रही है।

संगति—अपने को रागद्वेषविहीना दिखा कर दासी अपना विचार ताटस्थ्यरूप में व्यक्त कर रही है।

चौ०—कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी? ॥ ६ ॥

भावार्थ—चौ० ३-४ दो० १५ में श्रीराम के राजतिलक के समर्थन में कहे वचन का उत्तर देती हुई रानी कहती है कि कोई भी राजा हो उसे क्या हानि है? दासीपन छोड़कर रानी तो होना नहीं है। श्रीराम या भरत किसी के राजा होने पर भी उसकी दासीवृत्ति तो यथावत् बनी रहेगी।

संगति—अब प्रश्न हो सकता है कि जब मन्थरा को दासी रहना है तो वह स्वामिनी के कार्य में हस्तक्षेप क्यों कर रही है? इसके समाधान में आगे कहती है।

चौ०—जोरै जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥ ७ ॥
तातें कछुक बात अनुसारी। छमिअ देवि बडि चूक हमारी ॥ ८ ॥

भावार्थ—हमारा स्वभाव तो जलादेने योग्य है। फिर भी तुम्हारा अकुशल होना मुझसे नहीं देखा जाता अतः इस स्वभाव के अनुसार कुछ कह दिया है जो हमारा बड़ा अपराध है! देवि! क्षमा करो।

अकुशलतानिरूपण कर्तव्य,

शा० व्या०—आपकी मैं दासी हूं। मेरा कर्तव्य है कि सेवा के ऋण से मुक्त हो जाऊँ। भविष्यत् की विपत्ति को देखकर यदि मैंने मालकिन को नहीं समझाया तो नीतिशास्त्र के अनुसार मैं वाच्या (निन्द्या) हो जाऊँगी। आपकी दुर्गति को सोचकर ही मैंने उक्त विषय का प्रकाशन कर अपने को वाच्यत्व (निन्द्यत्व) से बचाया है। हितैषी तो हित की बात कहता ही है। मैं जानती हूं कि स्वामिनी के घरेलू व्यवहारों में दासी ने बीच में बोलना अपराध हो सकता है। स्वामिनीको दुःख से बचाना मेरा स्वभाव है। यदि वह आपको अच्छा नहीं लग रहा है अथवा अनिष्ट प्रतीत हो रहा है तो मैं क्षमाप्रार्थिनी हूं।

'जारे जोगु सुभाउ' का यह भी भाव है कि मालिक का हित देखना दासी का स्वभाव है विधाता द्वारा निर्मित है, वह तो जलने पर (मृत्यु होने पर) ही मिट सकता है।

संगति—शिवजी कह रहे हैं कि एक तरफ से मन्थरा दुःख की कल्पना सुनाती है, दूसरी तरफ से अपना कापट्य छिपाती हुई कैकेयी के तरफ देख रही है।

दोहा—गूढ़ कपट प्रियवचन सुनि तीय अधरबुधि रानि।
सुरमायावस वैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि ॥१६॥

भावार्थ—स्वभाव से ही स्त्री अस्थिर बुद्धिवाली होती है। इस समय रानी कैकेयी भी स्त्री-बुद्धिवाली हो गयी। उसने मन्थरा के प्रियवचनों में छिपे कपट को न समझकर उसी को अपनी हितकारिणी माना। शिवजी कहते हैं कि यह देवमाया है जिसके वश में रानीने शत्रु को मित्र समझा।

धर्म या आप्तत्व का संवरण

शा० व्या०—मन्थराने अवहित्था (कपट को छिपाना) से अपना कपट छिपाकर स्वके आप्तत्वको प्रकट करने का दाँव लगाया है। यही धर्म या आप्तत्व का संवरण है। मन्थरा का यह कार्य लोकयात्राविद् बृहस्पति के मत का पोषक है। ([1])

सुरमाया

वालकाण्ड के सतीप्रसंग में 'निजमाया' (चौ० ६ दो० ५३) और 'राममाया' (चौ० ५ दो० ५६) में जो भगवन्माया कही है उसकी अनुगामिनी 'सुरमाया' है। उसी को कौसल्या ने 'विधि' या 'विधाता' कहा है (चौ० ७ दो० १५५) 'सुरमाया' से शिवजी संकेत कर रहे हैं कि देवताओं की प्रेरणा से सरस्वती का यह कार्य है। निष्कर्ष यह कि भगवदिच्छा ही माया है। उसका वोधक-शब्द प्रभु का आदेश है, उसके वश में देव हैं। उनके द्वारा सरस्वती प्रेरिता प्रयोज्यकर्त्री है। इस प्रकार उक्त कार्यक्रम में स्वतन्त्रता किसी को नहीं है।

मन्थरा दासी ने स्वामिनी के अधीना होना चाहिये पर वैसा न होकर विधाता के अनुसार स्वयं स्वामिनी दासी के अधीना हो गयी। फलतः भरत का सेवकत्व रानी को कष्टप्रद मालूम होने लगा।

संगति—श्रीराम, कौसल्या एवं राजा से भरत का प्रेम अटूट है। उसको उलटा कर भरत को श्रीराम के सेवकभाव से कैसे छुड़ाया जाय, यह प्रश्न कैकेयी के सामने है।

चौ०—सादर पुनि पुनि पूछति ओही। सबरीगान मृगी जनु मोही ॥ १ ॥
तसि मति फिरी अहइ जसि भावी। रहसी चेरि घात जनु फाबी ॥ २ ॥

भावार्थ—कैकेयी प्रेमभाव में बारंबार पूछ रही है। भिलनी के गाने की आवाज से हरिणी आकृष्टा हो जाती है वैसे ही दासी के वचनों से रानी मोहिता होने लगी। जैसी होनहार है वैसी कैकेयी की बुद्धि फिर गयी ('गयी गिरा मतिफेरि' का परिणाम है)। अपनी बात बन रही है ऐसा जानकर वह दासी मन ही मन प्रसन्ना हुई।

कैकेयी को मति में विपरीतार्थदर्शन

शा० व्या०—'तसि मति' का भाव यह है कि चौ. ७ दो. १४ से दो. १५ तक कही उक्तियों में कैकेयीका जो मतिभाव व्यक्त था उसमें रानीको विपरीतार्थ दिखने लगा। मति से यह स्पष्ट किया कि कैकेयी बुद्धिमती

---

१. संवरणमात्रं हि त्रयी लोकयात्राविदः। (अर्थ शा० १।१)

है तब भी काल (दैव) के प्रभाव से रानी को अपने पूर्वग्रह में शंकाभाव उदित होने लगा। 'भावी' का भाव यह है कि प्रभुसंकल्प के (चौ. ९ दो. १०) अनुरूप घटनाक्रम (होनहार) के अनुसार ही कैकेयी की बुद्धि में उलटफेर हुआ। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कैकेयी मूलतः निर्दुष्टा है।

शरणागति न होने का फल

ज्ञातव्य है कि कैकेयी यदि शास्त्रबल के भरोसे प्रभु की गोद में बच्चे की तरह अपने को समर्पण करने में अभ्यस्ता रहती तो प्रभु ने उसको विपरीतप्रकाशन से बचा लिया होता ! शरणागतभाव के न रहने से शंकोदयमात्र में वह क्षुद्रा दासी की गोद में बैठने जा रही है। इसलिए प्रभु की उपेक्षा का फल रानी को भोगना पड़ेगा। लेकिन पूर्वोपासित धर्मप्रेम कैकेयी को पुनः विशुद्ध स्थिति में पहुँचा देगा।

प्रश्न पूछने में आदरभाव

मन्थरा स्वहितैषित्व में रानी को प्रामाण्यबुद्धि करा रही है। मंथरा में हितावहत्व की बुद्धि हो जाने पर अनादर का भाव (चौ. ७-८ दो. १४) हटा कर कैकेयी उसके प्रति अपना आदर दिखाने लगी। 'पुनि पुनि पूछति' का भाव यह कि मन्थरा के कहे 'राम हिं छाडि कुसल केहि आजू'। जेहि जनेसु देइ जुवराजू' से श्रीराम के स्वामित्व मे रहते भरत के सेवकत्व में कैसा अहित है, यह विशेषरूप से कैकेयी जानना चाहती है। यह 'पुनि पुनि' से स्पष्ट है। उसका उद्देश्य मन्थरा के प्रति आदर है। जो चौ. १ दो. १९ में प्रकट होगा।

संगति—रानी की जिज्ञासा को ध्यान में रख कर उसके प्रश्न का उत्तर देने की प्रस्तावना में मन्थरा बोलती है।

चौ.—तुम्ह पूछहु मैं कहत डेराऊं। धरेहु मोर घरफोरी नाऊं ॥३॥

भावार्थ—मन्थरा कहती है कि उत्तर तो मेरे पास है, पर मैं कैसे समझाऊँ ? आपने तो मुझे घरका भेदिया कह कर दोषवती कहा है तो मैं आगे कहने में डरती हूँ (क्योंकि आपको मेरे बारे में आप्तत्व का निश्चय नहीं है)।

शा० व्या०—'सादर पुनि पुनि पूँछति' से कैकेयी मे मन्थरा के वचन से होने वाला मोह दिखाया। यहाँ 'पूँछहु' से रानी के चित्त में शंका की वृद्धि दिखायी।

संगति—'घर फोरी' के आरोप को (चौ. ८ दो. १४) रानी के हृदय से मन्थरा ने कैसे निरस्त किया ? तथा चतुराई से शंकात्मकभेद में कैसे दृढ़ता लायी यह शिवजी सुना रहे हैं।

चौ.—सजि प्रतीति बहुबिधि गढ़ि छोली। अवध साढ़साती तब बोली ॥४॥

भावार्थ—बहुत प्रकार से अपनी बात को अच्छी तरह गढ़कर मन्थरा ने अपनी विश्वास्यता को बनाया। तब अवध के लिये साढ़ेसाती की तरह दुःखदायिनी दासी बोली।

आप्तत्व में दोषदर्शनाभाव

शा० व्या०—यद्यपि चौ. ७ दो. १४ से चौ. १ दो. १५ तक की उक्तियों में कैकेयी के मनस् मे भाव बना रहा कि मन्थरा की तरह कुलक्षण लोग भेद लगाने वाले दुष्ट होते हैं पर अपने प्रति मन्थरा वैसी दोषवती नहीं है। स्वामिनी की इस सूक्ष्म आप्तत्वबुद्धि को दासी ने लखकर रानी को भेद का शिकार बनाने की युक्ति सोची।

'सजि प्रतीति' का भाव है कि रानी का विश्वास प्राप्त करते हुए मन्थरा ने 'मतिफेरी' में 'बहुविधि गढ़ि छोली' के अन्तर्गत 'आत्मानं सततंरक्षेत्' के अनुसार कैकेयी को सोचने में विवश

किया कि राजा, कौसल्या और श्रीराम सभी एकमत होकर उसका और उसके पुत्र भरत का विनाश करना चाहते हैं।

भेद को उपादेयता

नीतिसिद्धान्त मे यहाँ तक कहा है कि राजनीति में आने के बाद पिता भी विश्वास्य नहीं रहता। 'पितर्यपि न विश्वसेत्' (नी. सा. ज. ११।३४) औरों को बात ही क्या ? ऐसी स्थिति में भेदनीति का प्रयोग आप्तों की दृष्टि में उपादेय होता है। इस दृष्टि से मन्थरा का कार्य दुष्ट नहीं है।

इतनी महती अभेद्य राजशक्ति को भेदप्रयोग से उलटाने में उद्यता मन्थरा कैकेयी को वश करने में सफला होने जा रही है इसका कारण दासी के प्रति कैकेयी की आप्तत्वबुद्धि है।

विपरीतार्थदर्शन में युक्ति

ज्ञातव्य है कि रानी कालघटना से राजा को अर्थप्रधान समझ रही है क्योंकि कुमार भरत की अनुपस्थिति में महाराज अपनी संपत्ति का स्थानान्तरण करने में शीघ्रता कर रहे हैं, जिससे कौसल्या के मनोरथ की पूर्ति होगी। इसी को प्रभु ने 'बन्धु बिहाइ बड़े हि अभिषेकू' सोचकर अनुचित समझाया।

राजा में अर्थप्रधानता का अभाव

वस्तुस्थिति यह है कि राजा और श्रीराम निरन्तर धर्म में स्थित हैं। इस मर्म पर कैकेयी विचार नहीं कर रही है। भरत की अनुपस्थिति में राज्योत्सव का कारण किरीट के टेढ़ेपन से सूचित आसन्नमरण है। इस तथ्य से कैकेयी अवगता नहीं है। इसलिए वह राजा की मनोवृत्ति को अर्थप्रधान समझ कर भेदनीति की ओर प्रवृत्त हुई।

प्रेमविरोधिकार्य में साधक-बाधक विचार

प्रश्न—राजा एवं श्रीराम से विपरीत होकर कार्य करने में रानी दोषवती होगी या नहीं ?

उत्तर—कहना यह है कि नीतिसिद्धान्त में प्रेमकी हत्या करने वाला महान् अपराधी माना गया है। यही सोच कर रानी भविष्यत् में दोष-गुण के साधक-बाधक के बारे में विचार करना चाहती है। और उस संबन्ध में दासी का मत जानना चाहती है। उसके उत्तर में 'सजि प्रतीति बहुविधि गढ़ि छोली' से व्यक्त होनेवाला दासी का कथन है।

संगति—मन्थरा पारस्परिकप्रीति को स्वीकार करते हुए प्रथमतः प्रीतिविपरीत कार्य करने मे दोष समझती है।

चौ.–प्रिय सियरामु कहा तुम्ह रानी। रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी ॥५॥

भावार्थ—हे रानी ! तुमने कहा कि सीताराम हमको प्यारे हैं और श्रीराम को भी मैं प्यारी हूं, यह बात सच है।

प्रीति के वैपरीत्य में दोष

शा. व्या.–प्रीति के विपरीत कार्य नहीं करना चाहिये। नीतिशास्त्र में विना विचार किये मित्र को त्यागना महान् अपराध माना गया है।[1] अतः नीति की दृष्टि से मन्थरा स्वीकार करती है कि कैकेयी माता और पुत्र श्री राम में परस्पर मैत्री है।

संगति—मैत्री के संबन्ध मे नीतिसिद्धान्त का विशेष विचार आगे स्पष्ट कर रही है।

चौ०–रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते ॥ ६ ॥

भावार्थ—पहले जो बात रही वह अब नहीं हैं। क्योंकि समय बदल जाने पर प्रिय भी शत्रु हो जाता है।

---

१. मित्रं विचार्य बहुशो ज्ञातदोषं परित्यजेत्। स्वयं दोषगुणान्वेषी भवेत् सर्वत्र सर्वदा ॥ नी.सा.८।७८।

मित्रता का अस्थायित्व

शा० व्या०—नीतिशास्त्रकार कहते हैं कि मित्रता या शत्रुता वस्तुगतजाति या उपाधि के समान धर्मों में स्थिर नहीं रहती। मित्रता या शत्रुता का कारण राग एवं अपराग न होकर पकारिता और अपकारिता है। ([१]) निष्कर्ष यह कि आज का शत्रु कल मित्र बन सकता है अथवा आज का मित्र कल शत्रु हो सकता है। इतिहास में विश्वासघात करने वाले मित्रों के अनेकों उदाहरण मिलते हैं। मन्थरा का यह संकेत 'प्रथम' और 'अब' शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है। जिसका अर्थ यही है कि वे पहले मित्र थे, अब नही हैं। अर्थात् पहिले प्रेम रखते थे, अब प्रेम नहीं रखते। अतः वे उपकारी न होने से विश्वास की स्थिति में नहीं हैं। समय आने पर सच्चा प्रेम प्रकट हो जाता है। वर्तमान समय की घटना वैसी ही है जो कि मित्रता के अभाव को राजादि मे सूचित कर रही है।

प्रश्न—कैकेयी यद्यपि सब माताओं में श्रीराम का प्रेम समान मानती है अपने प्रति तो श्रीराम का विशेषप्रेम स्वीकार करती है। ऐसी स्थिति में श्रीराम कैकेयी के प्रतिकूल कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—श्री राम अभी स्वतन्त्र नही हैं, राजा के अधीन होने से उनके अभिभावकत्व में रहकर वे जैसी शिक्षा पावेंगे वैसा बर्ताव करने के लिए बाध्य होंगे। कैकेयी के प्रति स्नेह कम होने से राजा सौत कौसल्या के बहकावे में पड़कर श्री राम को कैकेयी के विपरीत आचरण करने में प्रवृत्त कर सकते हैं।

संगति—कौसल्या की छिपि हुई उग्रता तथा राजा एवं श्री राम के अपकारकभाव को मन्थरा समझा रही है।

चौ०—भानु कमलकुल पोष निहारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा ॥७॥

भावार्थ—जैसे कमल के फूल को खिलाने वाला सूर्य है, पर जल को सुखाकर वही सूर्य विना जल के कमल को जलाकर राख कर देता है।

प्रीत्यभाव का दृष्टान्त

शा० व्या०—कौसल्या ने श्रीराम जैसे गुणवान् पुत्र को पाकर समस्त आप्तजनों को सुखी बनाया है, विवाहान्तसंस्कार होनेतक भरत आदि पुत्रों के साथ एकसा व्यवहार कर सूर्यकुल को सुशोभित किया है। फिर भी प्रीतिरूप जल के अभाव में अभी वह भरतरूप कमल के शोषण में लगी है। इसीलिए भेद का अवसर प्राप्त है। स्नेह में संबंध जुटता है, शोषण में टूटता है।

संगति—कौसल्यापर दोषका आरोप कर मन्थरा उसके मनोनीत कार्यके प्रतीकारमें प्रेरणा दे रही है।

चौ०—जरि तुम्हारि चह सवत उखारी। रूंधहु करि उपाउ बर बारी ॥८॥

भावार्थ—सौत (कौसल्या) तुम्हारी जड़ काटना चाहती है। उसको जल से अच्छी तरह सीचकर जड़को जमाने का उपाय करो।

काल और कार्य का योग

शा० व्या०—मन्थरा कह रही हैं कि अभी कुछ विगड़ा नहीं है। आप इस अवसर को न चूकें। भरत के संभावितशोषण कार्य का अवरोध करें।

राजनीतिसिद्धान्तानुसार काल और कार्य के योग को नहीं चूकना चाहिये। मन्थरा ऐसे अवसर का संकेत कर रही है। इस अवसर का लाभ उठाकर यदि कैकेयी तत्काल प्रयत्न करती है तो रानी की कुशलता स्थापित हो सकती है।

---

१. कारणेनैव जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा (नी. ८।५२') अनुरक्तं विरक्तं च तन्मित्रमुपकारि यत्। (नी.८।७७।

संगति—मन्थरा का कहना है कि कैकेयी का अपकार करने में राजा और श्रीराम की संभावित कुचाल का मूल कौसल्या है।

दो०—तुम्हहिं न सोचु सोहागबल निजबस जानउ राउ।
मन मलीन मुह मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ ॥ १७ ॥

भावार्थ—अपने सुहाग के बल पर तुम राजा को अपने वश समझकर निश्चिन्ता हो। राजा मीठा बोलने वाला मनस् का कपटी है, तुम सीधे सरल स्वभाव वाली हो, इसलिए राजा का विश्वास करती हो।

कैकेयी के प्रमाद का फल

शा० व्या०—पति की प्रसन्नता से लाभान्वित हो जब सौभाग्यवती स्त्रियां राग के अधीना होती हैं तब उनका राग अन्यान्य विचारों को प्रतिबध्य करता हुआ प्रमाद को जन्म देता है। प्रमादयुक्त सौभाग्य के बल पर स्त्रियां पति को अपने वश में समझने लगती हैं। इसी को मन्थरा ने कहा कि यही कैकेयी का भोलापन है, जिसका लाभ लेकर कौसल्याने अपने पुत्रको राज्याधिकृत करनेकी सफल योजना बनायी है।

सौत का भय एवं अभिप्राय

मन्थरा आगे कहेगी कि कौसल्याको अपने ईप्सित कार्य में कैकेयी का भय था। इसीलिए उसने अपने कार्यक्रम से ध्यान हटाने के लिए ही राजा को कैकेयी के प्रति दिखावटी प्रेम दिखाने में उत्सुक किया राजा मीठी-मीठी बातें बनाकर बनावटी प्रेम दिखाने के लिए अन्त:पुर में आते रहते हैं। इसका उद्देश्य यही कि मन में कपट रखनेवाला राजा सरलस्वभाववाली कैकेयी को भुलावा देना चाहता है। (चौ० ५-६ दो० १४) कैकेयी को जो रागप्रयुक्तप्रमाद और सुहाग का आल्हाद है उसमें फँसी रानी कौसल्या के आन्तरिक अभिप्राय को नहीं समझ सकी है। राजा की प्रीति में कैकेयी को अन्धा बनाकर सौत अपने मनोरथ को पूर्ण करने जा रही है।

कैकेयो के राजानुराग मे सरलतादोष

'निजबस जानहु राउ' के समर्थन में कैकेयी के प्रति वास्तविक अनुरक्ति का कारण ज्ञातव्य है। पातिव्रत्य के साथ कैकेयी उत्तमकोटिकी पत्नी है। राष्ट्र के अन्तर्गत आभ्यन्तर गृहव्यवस्था में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसको चौ० ७ दो० २३ में 'राजु करत' से संकेतित किया गया है। उसके स्वभाव और गुणका आदर करने में राजनीतिक की दृष्टि से यह लाभ था कि अन्तर्गृह में भेदनीति को अवकाश मिलना कठिन था। अतः राजा कैकेयी को अपने से दूर कभी नहीं रखना चाहते थे। कैकेयी का सत्कार करने में राजा की प्रीति व्यक्त थी। 'सरल सुभाउ' का भाव है कि सेवाकार्य के अतिरिक्त अन्य स्थिति के बारे में कैकेयी को रुचि न रही। अपने पातिव्रत्यप्रयुक्त प्रीति और गुणों से कैकेयी ने राज को जीत लिया था। मन्दमति मन्थरा कैकेयी के इस स्वभावकी सरलता को दोष बताकर निर्दुष्टा कौसल्या में सौतपन का दोष लगाती है।

कौसल्या के निर्दोषता की मीमांसा

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि भरत की भाविनी कीर्ति के योगने ही उनको मामा के घर जाने की प्रेरणा दी। उनका चरित्र शुचिशीलस्नेह से ओतप्रोत है, भावी यशसूका आकर्षक है जो चित्रकूट की सभा में हुए निर्णय में प्रकट होनेवाला है।

इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि प्रभुका जिससे एकबार सम्बन्ध स्थिर हो जाता है उसको उचित कार्य करने में ही प्रवृत्ति होती है। यदि कदाचित् दैवयोगसे सेवकके हाथोंसे अनुचित या अकीर्तिकर कार्य हो जाता है तो स्वयंप्रेरित न होने से वह कार्य प्रेर्य को दोष का भागी नहीं बनावेगा। प्रत्युत वैसे कर्म को

प्रभुप्रेरितघटना समझनी चाहिये। तत्काल में वह कार्य दोषपूर्ण दिखायी पड़ने पर भी परिणाम में यशस्कर होता है। कैकेयी, श्रीराम, श्रीसीता, नारद, सती, आदि के चरित्र इसमें उदाहरण कहे जा सकते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि भरतको ननिहाल भेजनेमें कौसल्याका संबंध न होने से, उसपर, आरोपित युक्ति भरत के अकुशलता की साधिका कहना आरोपमात्र है। कैकेयी इस सूक्ष्मतत्त्व पर ध्यान नहीं दे रही है। किन्तु मन्थरा के वचन को प्रमाण मानकर 'कौसल्या दुष्टा' ऐसानिर्णय कर रही है।

संगति—कौसल्या के पूर्वेतिहास में कैकेयी को कपट की कल्पना करनेके लिए कोइ तर्क नहीं था। इसलिए कौसल्या के चरित्रविशेष में दोषविशेष दिखाकर उसके सम्बन्ध में कैकेयी की जिज्ञासा जागृत करने हेतु कौसल्या में दुश्चारित्र्य का निरूपण कर रही है।

चौ०—चतुर गंभीर राममहतारी। बीचु पाइ निज बात संवारी ॥ १ ॥

भावार्थ—श्रीरामकी माता कौसल्या गंभीरा है। चुपकी साधकर अवसर देख बड़ी चतुराई से वह अपनी बात को बनाती है।

चतुरता एवं गांभीर्य

शा० व्या०—आन्तरभावों का पता न लगने देना गांभीर्य है। चतुरता का अर्थ है परातिसन्धान-कुशलता। कौसल्याने चतुरता यह दिखायी कि राजा को आपके तरफ लगा दिया जब कि राजा आपके वश में नहीं हैं।

'निजबात संवारी' का भाव यह है कि अपने पुत्र श्रीराम को राज्यप्राप्ति कराने में कौसल्या यत्नशीला है। उसकी 'गंभीरता' यही है कि किसीको उसकेमनोभाव का पता न लग सका। 'चतुरता' यही कि इसी बीच में कौसल्याने 'मन मलीन मुहसीठ' से राजा को कैकेयी की ओर आकृष्ट कराकर उसके भुलावे में रखने की चाल चली है।

संगति—राजकीय रामराज्योत्सवमें भरत बाधक हो सकते थे इसलिए 'निज बात संवारी' के अन्तर्गत बाधक भरत को दूर करने में चतुरा कौसल्या की क्या चाल है? मन्थरा बता रही है।

चौ०—पठए भरत भूप ननिअउरे। राममातु मत जानब रउरे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा ने भरत को ननिहाल भेज दिया है। इसमें श्रीराममाता की मंत्रणा है। इसको तुम अच्छी तरह समझ लो।

राजा मे प्रीत्यभाव का अनुमान

शा० व्या०—भरत को ननिहाल में भेजना और उनके अभाव में रामराज्याभिषेक की तैयारी करना—ये दो हेतु कैकेयी के प्रति राजा की प्रीति न होने के अनुमापक हैं। यथा—'दशरथः त्वयि प्रीत्यभाववान् मातुर्गृहे भरतकर्मकप्रेषणकर्तृत्वे सति भरतानुपस्थितौ रामराज्याभिषेककर्तृत्वात्, इस अनुमानप्रणाली के अन्तर्गत साध्य (प्रीत्यभाव) के अनुमान मे यह तर्क है कि 'यदि कौसल्या को भरत से प्रेम होता तो इस उत्सव में वह भरत को बुलाने पर बल देती। इस प्रकार तर्कयुक्त अनुमान कराकर मंथरा रानी को राजा से विश्लिष्ट (दूर) करने का यत्न कर रही है, उसको राज्योत्सव के आनन्द से विलग करना चाहती है।

ज्ञातव्य है कि चौ० २ दो० १६ को व्याख्या में अतः प्रस्तुत अनुमान में दोष दर्शन कैकेयी को नहीं हो रहा है। जो उपाधि कही गयी है उससे कैकेयी अनभिज्ञा है।

संगति—मन्थरा कौसल्या के कपटकार्य को स्पष्ट कर रही है।

चौ०—सेवहि सकल सवति मोहिनी के। गरवित भरतमातु बल पीके ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब सौतें मेरी सेवा अच्छी तरह करती हैं ऐसा सोचकर पतिके बल पर वह फूल रही है। अथवा पति की विशेष अनुरक्ति के बल पर भरत की माता कैकेयी को गर्व है कि सब सौतें उसकी सेवा में लगी रहती हैं।

कौसल्या का शल्य

शा० व्या०—कैकेयी को नीचा दिखाना कौसल्या का उद्देश्य है। सभी रानियां सेवा के माध्यम से कौसल्या की प्रीतिपात्राएं हो रही हैं। एकमात्र कैकेयी उसकी सेवा में नहीं पहुँच रही है। यही कौसल्या को शल्य है।

अभिमानी व्यक्ति का स्वभाव होता है कि वह अपनी उत्कृष्टता के अवगाहन में औरों को दास बनाने की चेष्टा करता है। कौसल्या का यही मनोरथ था जो पूर्ण नहीं हो रहा था। राजा को कैकेयी के वश में देखकर असूया भी उसे हो रही थी। वह अभी प्रकट हो रही है।

ज्ञातव्य है कि इस चौपाईके विपरीतार्थमें कौसल्याका कैकेयीके प्रति सद्भाव आगे (चौ. १-२ दो. ५६) कवि स्पष्ट करेंगे।

पिशुनव्यक्ति के वचन में विरोध

चुगलखोर व्यक्ति उलटी सीधी बातों को कहने में वाचालता को दोष नहीं समझता कि पहले क्या कहा था, अब क्या कहा जा रहा है। दो. १७ में 'निजबस जानहु राउ' की भावनाको 'भूपकपट चतुराइ' तथा 'मनमलीन मुहँ मीठ नृपु' से भ्रम बताने के बाद मन्थरा अभी कहती है कि 'तुम्हहि न सोचु सोहाग बलगरवित भरतमातु बल पीके' तथा 'राजहि तुम्हपर प्रेमविसेषी' आदि। मन्थरा की इन उक्तियों में पूर्वापरविरोध स्पष्ट है।

प्रमाणों के आधार पर वस्तुतत्त्व का निरूपण करने में वचनों में विसंवादिता नहीं होती इसलिए शास्त्रकारोंने वाचालता को दोष माना है। इधर मंथरा का ध्यान नहीं है।

संगति—इतने दिनों से कौसल्या के सहवास में रहती हुई भी उसका दोष कैकेयी के समझ में नहीं आया, ऐसा आश्चर्य मन्थरा व्यक्त कर रही है।

चौ०—सालु तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहि होइ जनाई ॥ ४ ॥

भावार्थ—कैकेयी के प्रति कौसल्या के हृदय में तीव्र दर्द है। उसको कौसल्या ने कपट भाव से बड़ी चालाकी से प्रकट नहीं होने दिया।

दंभ में धर्म की उपासना

शा० व्या०—कौसल्या ने सज्जनता का अपने में संवरण किया है जिसकी आड़ में सभी दोष छिपे हैं। धर्म की सेवा दंभार्थ भी की जाती है, ऐसा कवियों ने कहा है। इस दृष्टि से मन्थरा का कहना है कि कौसल्या केवल दंभ से कैकेयी के प्रति प्रीतिभाव प्रकट करती है अतः वह अविश्वास्या है। अपने भोलेपन के कारण ही कैकेयी इस रहस्य को नहीं समझ रही है।

दंभार्थ धर्म की उपासना कभी नहीं फलती। अहिंसा, सत्य आदि सामान्यधर्म दंभ में हो नहीं सकते। इस तत्त्व को कैकेयी भूल रही है।

संगति—दांभिकों में असूया रहती है। मन्थरा अपने नाम के अनुरूप कैकैयी के मनस् को मन्थरगति से अथवा मन्थन करके डाँवा डोल कराती; कौसल्या में असूयाभाव का दर्शन करा रही है।

चौ.—राजहि तुम पर प्रेम विसेषो। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी ॥५॥

असूया का प्रकटीकरण

भावार्थ—राजा का तुम्हारे ऊपर अधिक प्रेम है जिसको सौतिया डाह के स्वभाव में वह सहन नहीं कर सकती ऐसा कहकर कौसल्या के असूया को प्रकट कर रही है।

संगति—कैकेयी को अपना कार्य साधने के लिए अब जगना चाहिये। अन्यथा शत्रु की मनोरथपूर्ति होगी। इस बात को दासी समझा रही है।

चौ०–रचि प्रपंच भूपहि अपनाई। रामतिलक हित लगन धराई ॥६॥

भावार्थ—कौसल्या ने प्रपंच रचकर राजा को अपनी ओर मिला लिया अब तो श्रीराम के राजतिलक के लिए मुहूर्त निश्चित करा लिया है।

शा० व्या०—उक्त चौपाइयों में निर्दिष्ट तर्क से कवि ने भेदनीति का सफल प्रयोग दिखाया है राजनीति में तीन भेदोपाय बताये गये हैं[1]।

भेद की पद्धति

(१) प्रतिपक्ष के विरोध में भेद्य और स्व में समतृष्णा को प्रकट कर भेद्य को खींचना।

(२) असत्य भी क्यों न हो उसी को प्रकट कर उग्रभय का उपस्थापन करना।

(३) दान-मान के प्रलोभन में एक पक्ष से दूसरे पक्ष को विश्लिष्ट करना।

भेद का सरल स्वरूप यह है कि पूर्वानुस्यूत राग एवं स्नेह को हटाकर दो स्नेहियों को बीच में शंका उत्पन्न कराकर अपनी आप्तता को दोहाई देते हुए उसी शंका को दृढ़ करते-करते प्रेमियों में अविश्वास को दृढ़ करा देना तथा पारस्परिक राग मे बाधा पहुँचाना। प्रस्तुत में भेदके अनुरूप योजना को कल्पित करके मन्थरा ने कैकेयी के हृदय में उसीके विनाश का भय दिखाते हुए राजा के प्रति शंका को दृढ़ बना दिया तथा पति पत्नी एवं सवत के पारस्परिकराग में खाई डाल दी। उसके पश्चात् पुनः भेदप्रयोग के अन्तर्गत उग्रभय की संभावना व्यक्त करने की चेष्टा कर रही है।

संगति—यदि भय हृदय में समा जाय तो भेद-कार्य पूर्ण समझना चाहिये। इस समय मन्थरा राजा के रामराज्याभिषेककार्य का औचित्य बताते हुए भी, उसके परिणाम में संभावित भय को दृढ़मूल करती है।

चौ.–यह कुल उचित राम कहुं टीका। सबहि सोहाइ मोहि सुठि नीका ॥७॥

भावार्थ—सूर्यकुल की मर्यादा को देखते हुये ज्येष्ठ पुत्र को राजतिलक देना उचित है, ऐसा होना ही चाहिये। यह सबको और मुझको (मन्थरा को) भी इष्ट है।

संगति—फिर भी असूया भाव में मन्थरा बोल रही है कि यह रानी का तादात्विक सुख है, परिणाममें स्वामिनी का पूर्ण विनाश है, यही उसे दुःख है।

चौ.–आगिल बात समुझि डरु मोही। देउ दैउ फिरि सो फलु ओही ॥८॥

भावार्थ—मन्थरा कहती है कि आगे होने वाली बातों से डर है। दैव जो देगा, बाद में उसको वैसा ही भोगना पड़ेगा।

१.　समतृष्णानुसन्धानं　तथोग्रभयदर्शनम्।
प्रधानं दानं मानं च भेदोपायाः प्रकीर्तिताः। (नीतिसार ॥१८॥)

मन्थरा को दुष्टता

यद्यपि मन्थरा कहती है कि वह असूयाभाव से श्रीराम के ऊपर दोषारोपण नहीं कर रही है, फिर भी उसकी भेदयोजना में भारी भूल है। ज्ञातव्य है कि स्वतन्त्रता के विचार में होने वाली उच्छृङ्खलता से कौटुंबिक संस्थाका अस्तित्व लुप्त होने से मौल संघ कभी नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति होने पर संकटकाल में अपने को भरोसा रखना कठिन होगा। मंथरा का पक्ष है कि श्रीराम के स्वामित्व में उसके अधीन होकर कैकेयी के परिवार को परतन्त्रता में सदा दुःख भोगना पड़ेगा। सेव्यगुणसम्पन्न स्वामीकी उपलब्धि पर सेवकों ने सेवामें दोष न देखकर अपना सौभाग्य समझना है। उत्तमप्रकृति सेव्यकी सेवा कभी दुःखप्रद नहीं होती। कहना होगा कि भरत की अकुशलता के अनुमान में श्रीराम में सेव्यगुण के अभाव को हेतु मानना मन्थरा का अप्रामाणिक पक्ष है। (१)

'कुलउचित' राम कहुँ टीका, कहने के बाद भी 'आगिलि बात समुझि डरु' से मन्थरा अपने पक्ष के अकेले समर्थनमें कहना चाहती है कि प्रत्येक राजवंश-अधिकारी यदि राज्यप्रतिपत्तिके अर्जन के लिए समर्थ हैं तो ज्येष्ठप्रयुक्त को अधिकारी समझकर उसको ही राज्याभिषेकयोग्य नहीं कहा जा सकता। मन्थरा को भरत के राज्याधिकार से सदा वंचित होने का दुःख है।

संगति—स्वार्थी लोग भेदनीति में कैसे निपुण होते हैं, कवि संक्षेप में बता रहे हैं।

दो०—रचि पचि कोटिक कुटिलपन कीन्हेसि कपट प्रबोधु।
कहिसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु ॥१८॥

भावार्थ—कई प्रकार की कुटिलता की बातें बनाकर मन्थरा ने अपने कुटिलतापूर्ण वचनों से कपट का प्रबोध करा दिया। इसके पश्चात् सौतों की सैकड़ों कथाएं इस प्रकार सुनायी कि कैकेयी के हृदय में कौसल्या के प्रति विरोध बढ़ जाय।

शा० व्या०—वादिनी मन्थराने सौत की दुष्टता-कोटि को सिद्ध करने में अनेकों कथाएँ सुनाकर अपने पक्ष की पुष्टि की है। कुटिलता का कारण दो० १९ में दिया है। असत्साध्य और उपाधियुक्त हेतु में हेतु-हेतुमद्भाव को अवगत कराने के लिए अपनेको सत्यवादी बताकर जहाँ-जहाँ सौत की कथाएं प्रचारित थीं उनको सुनाना प्रारम्भ किया अर्थात् अयथार्थ को प्रकाशमें और यथार्थ को अंधेरेमें रखनेके उद्देश्य से रानी को विश्वास दिलाने के लिए सवतियों की कथाएँ सुनाकर भरत के सेवकत्व को दोषपूर्ण समझाने लगी।

'कहिसि कथा' के संबंध में इतना वक्तव्य आवश्यक है कि सज्जन पुराण की कथाओं का उपयोग तपस्, त्याग, दान आदि में करते हैं, दुर्जन स्वार्थ साधने के लिए उसका दुरुपयोग करते हैं, ऐसा धर्म-विजय नाटक में देखने को मिलता है।

सतसवति का अर्थ

यहाँ 'सत सवति' के तात्पर्य में सत से विशेष वक्तव्य सत्य पालन करने वाले महापुरुषों की कथा से है जो कैकेयी आगे (चौ० ७ दो० ३०) राजा से कहेगी। सौत की कथा कद्रुविनता की कथा के सदृश है जो दो० १९ में मन्थरा ने सुनायी है।

कैकेयी के मतिफेर में कतिपय स्मरणीय विषय

चौ० ७ से दो० १४, १५ तक कैकेयी की शास्त्राधीन नीतिसम्मत सन्मति का वर्णन करने के बाद मतिफेरके क्रम का वर्णन है (दो० १६ से २३ तक)। मन्थरा की उक्तियों से पातिव्रत्यसंस्कार के आवरण में कैकेयी का कुमति में अभिनिवेश होता जायगा, जिसका परिणाम राजा के प्रति रानी

(१) चौ. ८ दो. ३९ में विशेष वक्तव्य देखें।

की कटूक्तियों में द्रष्टव्य है (दो० २७ से दो० ३५ तक)। चौ० १ दो० ७९ में 'सो सुनि तमकि उठी कैकेयी' से उसके रागयुक्त चरित्र का आरंभ है। उसका स्पष्टीकरण भरत के सामने चौ० २-१५९ से चौ० ४ दो० १६१ तक 'अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू, से हुआ है। भरत के वचन 'जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई। (चौ० ८ दो० १६२) से समाप्त है। भरत का सच्चा सेवकत्व इसी से प्रकट होता है कि उनके वचन से कैकेयी की बुद्धि का आवरण दूर होकर रानी का मतिपरिवर्तन दोष चला गया। वह मौना एवं शान्ता हो गयी। माता की आन्तरिक शुद्धि को लखकर भरत जी ने उसे चित्रकूटयात्रामें साथ लिया है और भरद्वाज ऋषि द्वारा उसकी निर्दोषता या भावना को प्रकट कराकर प्रभु के सम्मुख कर आदरकी पात्री वनाया है। ग्रन्थकार की (वालकांड में दो० १८८ में) कही उक्ति 'कौसल्यादि नारिप्रिय सब आचरन पुनीत'। पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरिपदकमल विनीत' से कैकेयी की पुनीतता भी प्रकट है। उसमें अज्ञान या माया मूलतः नहीं है। फिर भी कुलक्रमागतस्वभाव के अनुरूप उसमें मानिनीत्वरूप स्वल्प दोष के सूक्ष्म संस्कार को देखकर सरस्वती उसके मतिफेर में सक्षमा हुई। कारण यह कि महात्मा सन्त, भक्त, पतिव्रता आदि प्रभु के सेवकों को प्रभु के कार्य में सहायक होना पड़ता है। प्रभु की इच्छा से रानीके बुद्धि पर अज्ञान का आवरण आया है जो श्रीराम को वनवासकार्य में प्रवृत्त कराने के लिए है। स्मर्तव्य है उपरोक्त अनीति का कार्य होने पर भी विद्वानों की दृष्टि में रानी नरकभगिनी नहीं है। दो० १७ में कैकेयी के 'सरलसुभाउ' के विवेचन में इसपर प्रकाश डाला गया है।

सौतों की कथा सुनकर कैकेयी मन्थरा से निगमनवाक्य सुनना चाहती है। यहीं 'गिरा मति फेरी' प्रकट हो रही है।

चौ०—भावी बस प्रतीति उर आई। पूँछ रानि पुनि सपथ देवाई ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसी होनहार है वैसा ही विश्वास कैकेयी के हृदय में स्थिर हो गया। फिर रानी ने सच्ची बात को अपनी शपथ दिलाकर पूछा।

शपथ की प्रतिष्ठा

शा० व्या०—शपथ की प्रतिष्ठा परलोकविश्वास पर आधारित है, ऐसी नीतिशास्त्र में मान्यता है। राजा दशरथ के समय में यह विश्वास प्रजा में पूर्वानुस्यूत था। शपथ लेने से मिथ्या भाषण नहीं होगा, यह सोचकर रानी ने यथार्थ बात को समझने के लिये शपथ देकर पूछा जिससे मन्थरा सच्ची बात सुनाने में मिथ्याभाषण न करे। कैकेयी के वचनों से स्पष्ट है कि मन्थरा उसको अत्यन्त प्रिया मानती है इसलिए रानी ने अपनी शपथ दिलाई होगी।

जिज्ञासा में शिष्यत्वस्वीकृति एवं निगमन की प्रार्थना

अभीतक मन्थरा एवं कैकेयी का वाद पूर्वोत्तर पक्ष के रूप में हो रहा था। मन्थरा की कोटि पर कैकेयी को प्रतिवाद के रूप में उत्तर समझ में नही आया। जब मन्थरा के वचन की आप्तवाक्यता प्रकट हो गयी तब वह एक प्रकार से मन्थरा का शिष्यत्व स्वीकार करके अब प्रतिज्ञात अर्थ का निगमन सुनने के लिए मन्थरा से शपथपूर्वक पूछ रही है। मन्थरा ने अपनी धूर्तता से अपने गुरुत्व का ऐसा रंग जमाया कि मानिनी रानी का रोष ठंढा पड़ गया। कैकेयी जानती है कि वाल्यकाल से ही दासीभावना में सेवा करने वाली मन्थरा का ज्यादा प्रेम उस पर तथा स्वामिनी के संबंध से पुत्र भरत पर भी है। यह दो. १५ से दो. २२ की उक्तियों में (जबते कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न वासर नींद न जामिनि) से स्पष्ट है। अतः दो. १५ में भरत की सपथ देने के वाद यहाँ 'सपथ देवाई' से अपनी (रानी की) शपथ समझना होगा।

शपथ का प्रयोजन

शपथ देकर पूँछने का प्रयोजन यह है कि मन्थरा द्वारा राजा, कौसल्या और श्रीराम के संवन्ध में कही बातों पर कैकेयी को विश्वास नहीं हो रहा है, इसलिए कैकेयी उन बातों की सत्यता को समझना चाहती है। शपथ के उपरान्त मन्थरा के वक्तव्य से कैकेयी को यह निर्णय होगा कि राजा एवं कौसल्या की कृति से श्रीराम के अर्जित राजत्व की परतन्त्रता में हितावहत्व की बुद्धिमें अप्रामाण्य और मन्थरा के वचनार्थ की यथार्थताबुद्धि में प्रामाण्य है।

संगति—ज्ञातव्य है कि कैकेयी को उसके पूर्वग्रह में अप्रामाण्य शंका उत्पन्न कराकर मन्थरा ने 'राजा दुष्टः' ऐसी प्रतीति करायी। उतने से संतुष्ट न होकर सेवकत्वरूप हितावहत्व में त्रिकालाबाधितत्वा-भावात्मक विषयगत अप्रामाण्य को समझाने के उपक्रम में दासी रानी को मूर्ख बना रही है।

चौ०—का पूछहुँ तुम्ह अवहु न जाना। निज हित अनहित पसु पहिचाना ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्थरा ने कहा कि तुम क्या पूछती हो? अभी भी तुमको नहीं समझा? अपना भला बुरा तो पशु भी समझते हैं।

अहित का विचार

शा० व्या०—'हित 'अनहित' से भरत के सेवकत्व में क्या अहित है? यह मन्थरा बताना चाहती है अर्थात् कि सबको तो सेवक ही रहना है पर भरतको राज्यस्वामी होना है (जैसा आगे चौ. ९ दो. २९ में सप्रमाण पुष्ट करेगी)। भरत को स्वामित्व से हटकर सदा के लिए सेवक बनाना ही उसका अहित है।

विज्ञानमयकोश पर विजय

मन्थरा ने विज्ञानमय कोश का सहारा लेकर श्रद्धा सत्य एवं ऋत ये तीनो तत्वों का आभास अपने उपदेश में कैकेयी को करा दिया, जिसका फल यही हुआ कि उसने कैकेयी के विज्ञानमय कोश को स्वाधीन कर लिया।

रानी को लज्जा व दासी का गुरुत्व

पशु भी अपना हित जानते हैं, तुम नहीं जानती यह आश्चर्य है, ऐसा सुनाकर कैकेयी को अज्ञताप्रयुक्त लज्जा में दासी डाल देती है। 'अवहु न जाना निज हित' कह कर मन्थरा अपना गुरुत्व प्रदर्शित करती है।

पशु और मानव में अन्तर

मन्थरा की हिताहितचर्चा में ज्ञातव्य है कि पशु स्वार्थतत्पर रहते हैं, मानवता परार्थसाध्य होने से सुशोभित होती है। तो भी कैकेयी जैसी परार्थपरायणा नीतिकुशला भी स्वार्थपरा हो गयी, यही मन्थरा की परातिसंधान कुशलता है जो रानी का भविष्यत् संकट बता रही है।

संगति—राजा और रानी के कापट्य की सिद्धि में साधक हेत्वन्तरको दासी स्फुट कर रही है।

चौ०—भयउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजतिलक की सजावट होते एक पखवारा (पन्द्रह) दिन हो गया, उसकी खबर आपने आज मुझसे सुना है।

१५ दिन के निर्देश का फल

धर्मशास्त्र के विधान के अनुसार ऋतुमती भार्या से संगम न करने से पति ऋतुभंग के दोष का भागी होता है। कामशास्त्रमें स्त्रीका ऋतुकाल १६ दिन का माना गया है। रानी कैकेयी का ऋतुकाल बीतने में एक दिन बाकी होगा इस बात को लेकर मन्थरा ने पाख दिन कहा होगा। जिसका आशय

यह है कि १५ दिनों से राजा कैकेयी के पास नहीं आये, १६ वें दिन तो ऋतुभंग दोष से बचने के लिए वे अवश्य आवेंगे क्योंकि वृद्धा मन्थरा स्त्रीप्रकृति की पूर्ण जानकार है। मन्थरा की उक्तियों से "लखहि न भूपकपट चतुराई। मन मलीन मुहँ मीठ नृपु" आदि से यद्यपि रानी सोच सकती है कि रामराज्योत्सव करके ही राजा के आनेकी आशा है। फिर भी राजा की धर्ममति को समझते हुए कैकेयी का विश्वास हो रहा है कि धर्मानुष्ठान में दृढ़ राजा ऋतुभंगदोष के भय से आज १६ वे दिन आवेंगे ही।

"भयउ पाख दिन सजतसमाजू" में मिथ्या भाषण के अतिरिक्त उक्त विषय से सम्बन्धित एक दूसरा अभिप्राय भी चिन्तनीय है, वह यही कि इसी विषय को दृष्टिमें रखकर कैकेयी को मनाने में राजा दशरथ के कामकौतुक का वर्णन संगत मालूम होगा।

धूर्तों का बल—असत्य

दो० १८ में कविने दासी की कुटिलताका वर्णन किया था, उसका यहाँ पर स्मरण हो रहा है। कौसल्या को दुष्टा बताने के पश्चात् अपना विश्वास जमाने के हेतु अब कुछ सत्य कुछ मिथ्या भाषण कर रही है, यह उसका चातुर्य है। अतएव राजा और कौसल्या की अहितकारिता में हेतुवाक्य, "भयउ पाख दिन सजत समाजू" है। कैकेयी को अपना अहित न समझने से मूर्ख बनाकर असत्य को सत्य बनाने में शपथ देने पर भी मन्थरा को संकोच नहीं है। यही उसकी प्रतारणा है।

धूर्तों के लिये अपने जीविनार्थं चतुरतापूर्ण मिथ्याभाषण ही बल माना गया है (शब्दकल्पद्रुम के अनुसार) मन्थरा धूर्त होने से असत्य-बल को अपनाती है तो आश्चर्य नहीं।

कैकेयी को पहले से सचेत न करने का यह कारण है कि मन्थरा प्रत्येक की प्रकृति का पन्द्रह दिनों से अध्ययन कर रही थी जैसा "सुधि पाई मोहि सन आजू" से व्यक्त किया है।

सत्य का विजय

मन्थरा अपने असत्यचरित द्वारा भरत जैसे सत्यरत महात्मा के सुख में साधक बनना चाहती है जो उसका भ्रम है। सत्यपक्ष का विजय शास्त्र द्वारा निर्णीत है। इसलिए सन्तमहात्मा अपने सुख के लिए सत्य से विचलित नहीं होते जैसा कि भरत, राजा, कौसल्या आदि के चरित से स्फुट है। आगे चलकर मन्थरा पक्ष की असत्यता भी स्पष्ट होगी।

चौ०—खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारे। सत्य कहें नहिं दोषु हमारे॥ ४॥

भावार्थ—तुम्हारे राज्य में खाती पहनती हूँ, सत्य कहने में मुझे क्या दोष है?

असत्य से सत्य की ओर जाना इष्ट है

शा० या०—"सत्य कहें नहिं दोष हमारे" का भाव है कि राजा एवं प्रजाने कपट करके रामराज्योत्सव की सूचना नहीं दी पर "भयउ पाख दिन सजत समाजू" से सच्ची बातकी सूचना स्वामिनीको देना कर्तव्य है, क्योंकि उसने स्वामिनीका नमक खाया है। इस प्रकार मन्थरा अपने प्रति उदित रानीकी श्रद्धामें अप्रामाण्य का निरास करना चाहती है। झूठी बात को सत्य बनाना और अपने को निर्दोष सिद्ध करना धूर्तों की चतुराई है। दो० १० तक निरूपित प्रकरण से स्पष्ट है कि आज ही रामराज्याभिषेक का निश्चय हुआ है, उसको बदल कर १५ दिन से सजावट होनेकी बात कहना झूठ है। उसका प्रयोजन यह है कि नीतिदृष्टि से "असत्य वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं विनिर्दिशेत्" अर्थात् हित को पुष्ट कराना उद्देश्य हो तो असत्य बोलना दोष नहीं माना जाता।

संगति—दो०१९ चौ० १ में कैकेयी के शपथप्रयोग से सिद्ध होता है कि रानी विश्वास रखने वाली दैववादिनी है, मन्थरा भी दैव की दोहाई देकर विश्वास उत्पन्न कराती है।

चौ०—जो असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहि सजाई॥ ५॥

भावार्थ—यदि मैं कुछ बनाकर झूठ कहती हूँ तो विधाता मुझको उसकी सजा देगा।

धूर्तों के मत में धर्म को उपयोगिता

शा० व्या०—धूर्त भी धर्म के संवरण में अपना कार्य साधते हैं। राजा भी प्रजा में परलोकविश्वास की स्थिति का निर्माण किये विना अपने प्रति श्रद्धेयता एवं निर्विकारिताका भाव उत्पन्न नहीं कर पाते। इस बात को लेकर आचार्यों ने कहा कि जब दंभ मे भी श्रद्धा उत्पन्न होती है तब सन्वजन धर्म और दैववाद को सचाई से अपनाते हैं तो उनके प्रति श्रद्धेयता होगी ही।

धूर्त एवं सन्तों के आचरण में अन्तर

सन्त सरल स्वभाव में धर्मानुष्ठान करते हुए शान्ति का अनुभव करते हैं, धूर्त दंभ में यथार्थता का संवरण करके श्रम का अनुभव करते हैं। उसके परिणाम में श्रमनिमित्तक दोष के प्रकोप का भागी होकर दांभिक व्याधि का शिकार होते हैं। किंबहुना उनके मनस् में संताप एवं निष्फलता ही हाथ लगती है मन्थरा के चरित्र से स्पष्ट है कि अन्त में वह शत्रुघ्न द्वारा दंडिता होगी।

संगति—दैववाद को स्फुटकर श्रद्धा एवं विश्वास से संभावित अप्रामाणिकत्व को दूर करने के अनन्तर मन्थरा कैकेयी के प्रश्न का समाधान आगे दे रही है।

चौ०—रामहि तिलक कालि जौ भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपतिबीजु बिधि बयऊ॥ ६॥

भावार्थ—यदि कल श्रीराम का राजतिलक हो जायगा तो समझो कि विधि ने संकट का बीज बो दिया।

शा० व्या०—मन्थरा के कहने का आशय यह है कि कुछ कर्तव्य है तो उसके लिए केवल एक दिन का समय अर्थात् आज की रात अवशिष्ट है। कल रामराज्योत्सव सम्पन्न होने पर आपके ऊपर विपत्ति आकर रहेगी जो सदा के लिए परतन्त्रात्मक होगी।

चौ०—रेख खचाई कहउँ बल भाषी। भामिनि भइहु दूध कई माखी॥ ७॥

भावार्थ—इस बात को मैं रेखा खींचकर अर्थात् निश्चयपूर्वक, बल के साथ कहती हूँ कि तुम दूध की मक्खी के समान हो जाओगी।

मक्खी के उदाहरण से समझ में आता है कि जैसे मक्षिका दूध के किनारे पर बैठकर तटस्थ हो दूध पीती है, पर स्वाद के चक्कर में वह यदि दूध पर ही आक्रमण करती है तो स्वयं डूबती है और कहीं भूलकर भोक्ताके पेटमें गई तो वमन भी कराती है। इसलिए बुद्धिमान् लोग मक्षिका को हटाते रहते हैं। वैसे ही तुम और पुत्र मक्खी के समान हटाए जाओगे।

राजकीय धनाधिकारकी विशेषता

व्यावाहारिक धनाधिकार की अपेक्षया राजकीय घनाधिकार में अन्तर है, जैसे शासक इस बात की अपेक्षा रखता है कि शासन निर्द्वन्द्व हो और सम्पूर्ण सुखमात्र का भागी एक ही हो, इसमें जो कण्टक हैं उनकों राजा दूर करता है। परिवार में कैकेयी कण्टकरूप में जब कौसल्यादि को प्रतीत होगी तब उसको दूर किये विना वह नहीं रहेगी। स्मरण रखना चाहिये कि रामराज्य में ऐसा होने की संभावना नहीं है, फिर भी सरस्वती द्वारा प्रेरिता होने से मन्थरा के वचन "सत्य कहे नहि दोषु हमारे, के अनुसार इसके वचन चौ० ५ से ८ तक प्रकारान्तर से सत्य होकर रहेंगे। उदाहरणार्थ—"तौ विधि देइहि हमहिं सजाई"—शत्रुघ्न द्वारा मन्थरा का दण्डित होना, "तुम्ह कहु विपति बीजुबिधि बयऊ—राम राज्य की कल्पना से होनेवाली विपत्ति को कैकेयी ने भोगना, उसमें राजा दशरथ के 'तोर कलंक', (चौ० ५ दोहा ३६) प्रजा की आवाज, भरत की भर्त्सना और इसी प्रकार 'बिपतिबीजु बिधि बयऊ' को श्रीरामने भी चित्रकूटमें भरत के सामने (चौ० ६ दो० ३०६में) अपने वचन से स्पष्ट किया है तथा 'भामिनि भइहु दूध कई माखी'—समाज के सामने कैकेयी को उपेक्षित होकर रहना।

'जौ सुत सहित करहु सेवकाई'—भरतने "रामसेवकाई" स्वीकार किया तथा 'तौ घर रहहु न आन उपाई'—कैकेयी को घर में रहना पड़ा।

संगति—विपत्तिवीज के फल के अन्तर्गत एकराज्य में त्याज्य परिवार के जीवन का उपाय दासी समझाती है।

चौ०—जौ सुतसहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥ ८॥

भावार्थ—बंदी हो जन्मभर लड़के के साथ (भरत के साथ) आप श्रीराम का सेवकत्व करती रहोगी तो राजगृह में रहना सम्भव होगा।

शा० व्या०—सेवकत्व में होने वाली परतन्त्रता में जीवननिर्वाह कैसा होगा? इसके उत्तर में यही कहा कि दासी बनकर घरमें रहने के अतिरिक्त और कोइ उपाय नहीं है।

संगति—सौत की ईर्ष्या से कैसा दुःख होता है? उसका उदाहरण कथाओं से कह रही है।

दोहा—कद्रू विनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिला देब।
भरतु बन्दिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब॥ १९॥

भावार्थ—जन्मभर कद्रू ने विनता को दुख दिया वैसे ही तुमको सौत कौसल्या देगी। भरत तो कारागार में रहेंगे, लक्ष्मण श्रीराम के सहायक होंगे।

तर्कहीन बुद्धि का स्वभाव

शा० व्या०—शास्त्रकारों ने बुद्धिको तर्ककुशल वनाने पर जोर दिया है। यतः तर्क से साधक-बाधक तत्वों को न समझना तर्कहीन बुद्धि का स्वभाव है। जो विषय उसके सामने प्रकाशित होता है उसी में तर्कहीन बुद्धि सीमित हो जाती है। इस समय कैकेयी की बुद्धि मन्थरा के शिक्षण में आवद्ध हो उत्थापित शंकाओं का निरास करने में असमर्थ है। स्थूलग्राहिणी बुद्धि विपरीत ग्रह से आवृत होने पर वलहीन हो जाती है। मन्थरा के शंकात्मक विपरीतग्रहने कैकेयी के पूर्वग्रह का आवरण करके राजा, कौसल्या एवं श्रीराम के प्रति रानीको शंकालु बना दिया। कैकेयी की तर्कहीन बुद्धि में 'यत्र-यत्र सेवकत्वं' तत्र-तत्र दुःखं' का निर्णय यथावत् हो गया। इस व्याप्तिनिर्णय मे कद्रू विनता का दृष्टान्त सहायक है। पर यह दृष्टान्त व्याप्ति का साधक नहीं हो सकता क्योंकि यह सेवकत्व-हेतु आत्मगुणसम्पत्ति के भावात्मक उपाधि से ग्रस्त हैं। उपाधि को न समझकर कैकेयी अपनी स्वतन्त्रता के हनन की कल्पना मे अनिष्ट की शंका से दुःखी हो रही है और भरत के वन्दिगृह की शंका तो और भी रोमांचकारिणी है।

कद्रूविनता के इतिहास से शंकाविषकी व्याप्ति

मन्थरा के कहने का आशय है कि जिस प्रकार कद्रू ने विनता को सताया था उसी प्रकार कौसल्या कैकेयी को दुःख देगी। उसका परिणाम यह हुआ कि रानीको सर्प का स्मरण आते ही संशयात्मक सर्प का विष व्याप्त होने लगा जिसका प्रभाव कैकेयी को मूर्छा की अवस्था तक ले जा सकता है।

स्मरणमात्र से विभावों का संक्रमण

पतिव्रत-धर्म में परमनिपुणा कौसल्या के द्वारा भविष्यत् में दुःख होना संभव नहीं है तथापि विभाव यदि स्मृत या ध्यात हो जाय तो भी वे अपना प्रभाव दिखाते हैं। यही स्थिति अभी कैकेयी की हो रही है। सती कौसल्या के प्रति कद्रू समान सौत की कल्पनामात्र मे भाविदुःख का विचार करके रानी काँप गयी।

संगति—रानी ने मन्थरा द्वारा प्रस्तावित विषय को सत् समझा और राजनिष्ठा के अदुष्टत्व विषय को असत् समझा है। अतः वह सहम गई जिसका परिणाम रानी के शरीर पर होने लगा।

चौ०—कैकेयसुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी ॥१॥
तन पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी ॥२॥

भावार्थ—मन्थरा के कटुतापूर्ण वचन सुनते ही कैकेयी कुछ न बोल पायी। उसकी आकृति सूख गयी, शरीर में पसीना छूटा। तब मन्थरा ने जीभ दांतों से दबायी अर्थात् वह समझ गयी कि अपना मनोरथ सिद्ध हो गया।

मन्थरा की जिह्वा का अवरोध

शा० व्या०—रानी के कंप और भय को देखकर मन्थरा को प्रतीत हुआ कि उसका शंकाविषरूप औषध रानीको पूर्णतया प्रभावित कर रहा है, इससे अधिक होने पर संभव है कि वह मूर्छित हो जाय। अतः मन्थरा ने जिह्वा को अवरुद्ध किया।

चौ०—कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरजु धरहु प्रबोधिसि रानी ॥३॥

भावार्थ—फिर अपने मत की पोषक कपट कहानी कहकर रानी को धैर्य धरने के लिए समझाने लगी।

'कोटि कपट कहानी' से प्रबोध

शा० व्या०—मन्थरा द्वारा पूर्व निरूपित (राजा दुष्टः) कपट कहानी सुनाने में उद्देश्य यही है कि मूर्च्छा से रानी को बचाते हुए प्रबोध कराकर उसको भावी कर्तव्य के बारे में उत्साहित किया जाय, जिससे रानी के हृदय मे विश्वास हो कि भरत को राज्याधिकृत करने के प्रयत्न में लगना चाहिये अन्यथा जीवित नहीं रह सकती।

संगति—रामराजोत्सव में वाधा पहुँचाना निर्णीत हो जाने पर इतिकर्तव्यता का बोध होना अवशिष्ट है। जो हितैषी है वही इतिकर्तव्यता को भी समझाये, ऐसा सोचकर प्रश्नोत्थापन करने के पूर्व मन्थरा की उपकृति की भारी प्रशंसा कर रही है।

चौ०—फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली ॥४॥

भावार्थ—कैकेयी का पूर्वक्रमप्राप्त (राम और राजा के प्रति) स्नेह बदल गया, दुष्ट चाल चलने वाली दासी प्रिया लगने लगी। वह मन्थरा का ऐसा आदर करने लगी मानो कोइ बगुली को हंसिनी समझकर प्रशंसा करता हो।

शा० व्या०—सरस्वती के मतिपरिवर्तन में मन्थरा की उक्ति कैकेयीको कटु लगी तब सरस्वतीने कैकेयी के विद्या-कुल-जाति प्रयुक्त संस्कारों को आवृत करा दिया जिसके परिणाम में कुचाली मन्थरा रानी को प्रियं लग रही है। कैकेयी का आवरण भरत की भर्त्सना से दूर होगा।

फिरा करमु का भाव

'फिरा करमु' का भाव यह है कि चौ. ७-८ दो. १५ के अन्तर्गत कैकेयी की उक्ति में जो पुनीतत्व भाव के कारण रामराज्योत्सव को देखने का उत्साह था वह प्रभुके विशेष विधान से बदल गया, इसमें सरस्वतीप्रेरित मन्थरा की वाणी निमित्तमात्र है। अथवा मन्थरा की उक्ति के वशीभूत होकर कैकेयी ने सम्पूर्ण अयोध्यावासियों के कर्म को फेर दिया है।

संगति—बिना पुष्टि के मन्थरा के बचनों की यथार्थता कैसे मान ली गयी? इसके समाधान में कैकेयी अपने दुःस्वप्न एवं अपशकुन के संकेत को बल दे रही है।

चौ०—सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी ॥५॥
दिन प्रति देखेउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने। ६॥

भावार्थ—अरे दासि! तेरी बात सत्य है! मेरी दाहिनी आंख बराबर फड़कती रही है, मैं रात में दुःस्वप्न देखती रहती हूं पर अपने मोह के कारण तुमसे नहीं कह रही थी।

दुःस्वप्नफलनिर्णय में मोह

शा० व्या०—अपने दक्षिण नेत्र का स्फुरण एवं दुःस्वप्न-दर्शन भाविवैधव्य का सूचक हो रहा था, किन्तु कैकेयीनें शास्त्रानुमोदित संकेतके आधार पर राजाकी भाविमृत्युके तरफ ध्यान न देकर अपने सेवकत्वरूपी दुःख का सूचक रामराज्य है, ऐसा समझा। श्रीराम के सेवकत्व को अमंगल समझना यही मोह है। राजा की मृत्यु के बारे में कल्पना न करना दूसरा मोह है। अपशकुनके दुःखको छिपाकर रखना तीसरा मोह है। कर्तव्य का निर्णय न करना सर्वसाधारण मोह है। 'गुह्यच गूहति गुणान् प्रकटीकरोति' उक्ति को मित्राभासा मन्थराकी उक्ति मे चरितार्थ कर असंगलसमाप्ति का कारण समझना कैकेयी का चौथा मोह है।

अपशकुनसूचित अमंगल के प्रतीकार में भ्रम

ज्ञातव्य है कि अमंगल का प्रतीकार होना इष्ट है तो वसिष्ठ आदि गुरुजनों से पूछकर अनिष्ट की शान्ति का उपाय किया जा सकता था। अथवा एकमात्र उपाय श्रीराम का घर में रहना था, किन्तु विधि का प्राबल्य था कि श्रीराम को घर से दूर भेजेने में मन्थरा ने रानी को हित समझाया।

संगति—कैकेयी सोच रही है कि उसका पूर्वग्रह सीधे स्वभाव से पूर्ण था। उसने कभी भी किसी के गुण-दोष का विचार नहीं किया, जिसका फल आज उसके सामने आया।

चौ०—काह करौं सखि! सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥ ७॥

भावार्थ—हे सखि! क्या करूँ? मेरा स्वभाव सीधा है, उलटा सीधा अच्छा बुरा कुछ नहीं जानती।

कैकेयी का विपरीतार्थ दर्शन

शा० व्या०—दुर्जनसंसर्ग मे कैकेयी मोहवश अपने को गुणिनी समझ रही है, राजा आदि लोगों पर दोषारोपण करती है। उसकी दृष्टि में गुणसंपन्न श्रीराम के राज्याधिकार में दोष की भावना होने से श्रीराम के स्वामित्व को स्वातन्त्र्यबाधक समझ रही है। यह कैकेयी का विपरीतार्थदर्शन है। अमंगल का प्रसंग याद कर कवि इस दोहे को ७ चौ० में समाप्त कर रहे हैं।

संगति—खेद है कि सर्वत्र मंगलमयी स्थिति का शुभ अवसर प्राप्त हुआ था पर उसमें कैकेयी भाविसेवकत्व को दुःख मान रही है।

दो० अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह।
केहि अघ एकहिं बार मोहि दैअँ दुसह दुखु दीन्ह॥२०॥

भावार्थ—मैंने अपनी जानकारी में आजतक किसी का बुरा नहीं किया। पता नहीं क्यों दैव मेरे पाप के कारण एक बार में ही महद् दुःख देना चाहता है? कहने का भाव यह है कि श्रीरामके आगे सदा नतमस्तक होकर रहना, अपना और भरत का सेवकत्व, कौसल्या का चातुर्य, राजा का कपट, भरत का ननिहाल में रहना इत्यादि सभी दुःख एकत्रित हो गये।

विषयतृष्णा में दुःख

शा० व्या०—विषयों की उपस्थिति होने पर भी आभिमानिक व मानोरथिक कल्पना में जिस प्रकार सुख होता है उसी प्रकार मन्थरा के द्वारा उपस्थापित दुःख की कल्पना कैकेयी को वेदना पहुँचा रही है। अभी तक वह शास्त्रानुमोदित विषय में डूबी होने से सुखिनी थी, दुःख की कल्पना कैकेयी को नहीं हो रही थी जिसको कविने चौ० ९ दो० २३ में "राजु करत निज कुमति बिगोई" से स्पष्ट किया है। परन्तु ज्ञातव्य है कि शास्त्रविरुद्ध अर्थलिप्सा में की हुई मन्त्रणा दुःखदायिनी होती है। वर्तमान मे विषयप्राप्ति होने पर भी उसके विनाश की कल्पना शोकदायिनी हो रही है। इसी प्रकार विषयवासना में रत विश्व वैषयिक मन्त्रणा में लगा हुआ कभी भी दुःखसागर से पार नहीं होता। यही देखकर गौतमसूत्र के टीकाकार जगत् को दुःख-पंकनिमग्न कहते हैं। कैकेयी भी उसका शिकार होने जा रही है।

तर्कविद्या की उपयुक्तता

विषयतृष्णाजन्य दुःख से त्राण पाने के लिए महर्षि गौतम ने तर्कविद्या का आश्रय लेने को कहा है। सारांश यह कि तर्कविद्या के अभाव में सत्वगुणहीन व्यक्ति धूर्तों के फेर में पड़ जाता है।

यद्यपि कैकेयी सत्वगुणसम्पन्ना मतिमती है जैसा दोहा १४ से १५ तक निरूपित है, तथापि उसकी मति में विकार प्रभु के "अनुचित एकू" संकल्प से परिचिता सरस्वती के मतिफेरकार्य का परिणाम है।

संगति—पूर्वग्रह में अप्रामाण्य तथा मन्थराद्वारा प्रस्तुत ग्रह में प्रामाण्य का अनुभव करनेवाली कैकेयी अपना निर्णय सुना रही है, "यह तसि मति फिरी अहइ जस भावी" का फल है।

'दुःखु दीन्ह' से दोषारोपण

कैकेयी के दुःखों में मुख्य दुःख सौत का सेवकत्व हैं जो आगे "जिअत न करबि सवति सेवकाई" से कैकेयी ने प्रकट किया है। इस दुःख का पोषक भरत की सेवकाई है जो भरत की अनुपस्थिति से सम्बन्धित है। उसीको मन्थरा ने 'पठए भरत भूप ननिअउरे' से दोषारोपण करके राजा और कौसल्या की चाल बतायी है।

चौ०— नैहर जनमु भरब बरु जाई। जिअत न करबि सवति सेवकाई॥१॥
अरिबस दैउ जिआवत जाई। मरनु नीक तेहि जीवन चाही॥२॥

भावार्थ—चाहे हमें नैहर में जन्म बिताना पड़े, मैं जीते जी सौत का सेवकत्व नहीं करूँगी। दैव जिसको शत्रु के वश में होकर जीवित रखे उसके लिए जीने की इच्छा रखने से मरना ही अच्छा है।

शा० व्या०—चौ० १ दो० २० में कहा 'सहमि' का प्रकार यहाँ निरूपित किया जा रहा है। 'नैहर जनमु भरब बरुजाई' की उक्ति से स्पष्ट संकेत है कि विवाह के बाद कन्या का पिता के घर में लगाव रखना ठीक नहीं, तथापि सौत की अधीनता के दुःखसे मातृगृह का निवास कम दुःखदायी है, ऐसा समझकर वहाँ रहना रानी पसन्द करती है। दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि शत्रुके वशमें जीवन बिताना दैवाधीन भी हो तो भी मृत्यु में होने वाला तन्निमित्तिक सकृत् दुःख कम है, इसलिए इसको इष्ट कहती हैं अर्थात् मातृगृह में निवास करना सहन नहीं, तो मरना ही इष्ट है।

संगति—भावी दुःख के प्रतीकार में कैकेयी ने अपनी अज्ञता में उक्त निर्णय सुनाया है जो कैकेयी के दीनता का प्रकाशक है। इसके उत्तर में मन्थरा ने जो कहा वह शिवजी सुनाते हैं।

चौ०—दीनवचन कह बहुविधि रानी। सुनि कुबरी तियमाया ठानी॥३॥

भावार्थ—रानी कैकेयी असहायावस्थामे बहुत प्रकार से दीन वचन कहने लगी जिसको सुनकर कुबड़ी ने स्त्रीमाया का खेल दिखाया।

सत्वगुणसमाप्ति में सदभिनिवेश का हरण

सत्वगुण से रहित मतिमें युक्तायुक्त रानीके समझमें नहीं आ रहा है। विपरीत अभिनिवेश में कैकेयी श्रीराम एवं कौसल्या में अरिभाव को समझकर अपनी असहाय स्थिति मानती है। इस अभिनिवेश को देखकर मन्थरा को अपना स्त्री-चरित्र (स्त्री माया[1]) दिखाने में दृढ़ता हुई जैसा आगे व्यक्त है।

कुबड़ी के चरित्र में स्त्रीमाया का संकेत

वंचना के प्रारम्भ में मन्थरा रानी को अपने वाग्जाल में फँसाकर भूतचरित्र का वैयर्थ्य और उसके साथ भाविसेवकत्व में संकट की संभावना दिखाकर कैकेयी को दुखिनी असहाया बना चुकी है। अब दुख-

1. साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक सौच अदाया॥ आदि के द्वारा वंचना कार्य हो रहा है। वही तियमाया समझनी चाहिये।

प्रतीकार में अपनी क्षमता की स्थिति दिखाकर सुख के कल्पनाजाल में अकर्तव्य की ओर प्रेरणा दे रही है, इसको शिव जी ने स्त्रीमाया कहा है। वंचना का एक अंग मधुरता भी है। प्रकृति ने स्त्रियों में स्वाभाविक मधुरता दी है। उनकी मोहकता जन्म सिद्ध है जो रानी का आलंबन है। अतः वंचना करना स्त्रियों के लिए सुसाध्य है। यदि वह अनुशासित होकर योग्य स्थल में प्रयुक्त होती है तो शोभनीय है। पर यहाँ पूरे जनपद के साथ अधःपतन की ओर जानबूझकर ले जाने का उपक्रम किया जा रहा है। इसमें तियमायात्मक निकृष्ट स्वरूप प्रकाशित है।

संगति—अपने दुःख का प्रतीकार कैकेयी को समझ में नहीं आ रहा है, यह देखकर मन्थरा उसको धैर्य देकर उपाय बताने जा रही है।

चौ०—अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुखु सोहागु तुम्ह कहुँ दिन दूना ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनस् में दुःखी होकर ऐसा क्यों कहती हो? तुमको तो सुख-सुहाग रोज-रोज बढ़ने वाला है।

वंचना में मन्थरा का सुझाव

सौत कौसल्या का सेवकत्व, पतिप्रीति का अभाव और मरने की बात इन तीनों बातों को लेकर कैकेयी ने अपनी दीन स्थिति दिखायी है। उसके उत्तर में तीनों बातों का निराकरण करती हुइ मन्थरा का कहना है कि रानीको सेविका नहीं होना पड़ेगा, राजा को भी वश में कर सकती हैं। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। जिसने रानीको नीचा दिखाना सोचा हैं। उसे स्वयं नीचा देखना पड़ेगा।

दिन दूना का तात्पर्य

उपनिषद् के निर्णयानुसार मानवजीवन का पूर्णसुख राजा बनने में है। वह रानी उपलब्ध कर सकती है यही दिन दूना का तात्पर्य है।

संगति—दोहा १७ में (राउर सरल स्वभाउ) एवं दो० २० में कैकेयी की उक्ति के संदर्भमें मन्थरा कहती है।

चौ०—जेहि राउर अति अनभल ताका। सोई पाइहि यह फलु परिपाका ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिन्हों ने तुम्हारा घोर अनिष्ट चाहा है वे उसका फल पाएँगे।

फलुपरिपाका का भाव

शा० व्याख्या—इतने समय से सौत का दुर्व्यवहार जानती हुई भी उसने नही कहा इस आशय से कि सौत का पाप संचित होने दो तो उसके परिपक्व होने पर उसका फल शीघ्र ही सामने आ जायेगा। कहने का भाव यह है कि सौत (कौसल्या) के लिए उसके पाप का फल मिलने का समय आ गया है, दैवको फलीभूत होने के लिए केवल निमित्त बनना है दासी की अब तक की हुई उपेक्षा सौत के लिए दंड साबित होगी। बलवदनिष्टानुबन्धित्व को यहां "अति अनभल" से व्यक्त किया है।

ज्ञातव्य है कि 'जेहि राउर अति अनभल ताका', से मन्थरा सामान्यसिद्धान्त का निरूपण करती हुई कौसल्या पर विशेष आक्षेप कर रही है। निष्पाप शुचि व्यक्ति का अहित चिन्तन करने वाले को अपने पापका फल भोगना पड़ता है उसी प्रकार सरल स्वभाववाली निष्कपटा कैकेयी का अहित करने वाले को उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा। मीमांसकों ने अर्थवाद का उपयोग बताते हुए कहा है कि विधेय में अधिक से अधिक रुचि उत्पन्न करने के लिए उसके अनुपात के अनुसार अधिक से अधिक सुख की कल्पना देना है उसी प्रकार निवृत्ति के लिए उसी अनुपात से निषिद्ध में अरुचि उत्पन्न करने के लिए अति तीव्र अनिष्ट की कल्पना देनी होती है, उसी को यहां 'सुखु सोहागु दिन दूना', और 'अति अनभल', कहा है।

संगति—'भयउ पाखु दिन सजत समाजू' की उक्ति के पुष्टीकरण में मन्थरा विचार सुना रही हैं।

चौ०—जब ते कुमत सुना मैं स्वामिनि ! । भूख न बासर नींद न जामिनि ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब से मैंने उस षड्यन्त्र के बारे में सुना है तब से मुझको दिन में भोजन अच्छा नहीं लगता और न रात में नींद ही आती है।

राज्योत्सवाभिघातोपायचिन्ता

शा० व्या०—राज्याभिषेक के बारे में जब से ('भयउ पाखु दिन') मन्थरा ने सुना है तब से ही उसके प्रतिघात के विचारमें वह इतनी व्यस्ता थी कि अशना पिपासा भी उसे प्रतीत नहीं होती और न रात में नींद आती है। इसमें मन्थरा अपनी चिन्ता का अनुभाववर्णन कर रही है। साहित्यिक सिद्धान्तमें भावोंको प्रकट करना वमन के समान दोष माना गया है[1]।

संगति—राज्याभिषेक के प्रतिबन्धक कार्य को अपनाने में विना दैव को समझे क्या सफलता मिलेगी ? इस प्रश्न का समाधान किये विना कैकेयी को इष्टकार्य में धृतिभाव नहीं आ सकता, ऐसा सोचकर पूर्वोक्त (चौपाई ३ दो० २० से 'धीरज धरहु') धृतिभाव को दृढ़ करने के लिए मन्थरा अब दैवज्ञ की सम्मति का उल्लेख कर रही है।

चौ०—पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खांची । भरत भुआल होहिं यह सांची ॥ ७ ॥

भावार्थ—ज्योतिषियों से मैंने पूछा तो उन्होंने गणना करके बताया कि भरत राजा होंगे, यह निश्चित है।

धृतिभाव की उत्पत्ति में दैवज्ञ की सहायता

शा० व्या०—राजप्रासाद में प्रत्येक विषय के पण्डित आश्रित होते ही हैं। मन्थरा ने दैवज्ञों का 'रेख तिन्ह खांची' गणना द्वारा निर्णय सुना दिया कि भरत राजा होकर रहेंगे। इस प्रकार भाविकार्य की सिद्धि के आश्वासन से कैकेयी को धीरा बनाया।

संगति—दैवज्ञ के विचारों को सुन कर राजा के कार्य (राज्योत्सव) के प्रतिकार में जैसे-जैसे रानी उत्साहिता होने लगी वैसे-वैसे उसकी विजिगीषा भी बढ़ने लगी। उसकी विजिगीषावस्था को देखकर मन्थरा ने[2] जयोपाय सुनाना प्रारंभ किया।

चौ०—भामिनि ! करहु त कहौं उपाऊ । है तुम्हरी सेवाबस राऊ ॥ ८ ॥

भावार्थ—यदि तुम करो तो एक उपाय बताऊँ, यह कि तुम्हारी सेवा से राजा तुम्हारे अधीन हैं ही अर्थात् कहना मानते हैं।

यथाज्ञातकारिता मे फलसिद्धि

शा० व्या०—व्यर्थ में उपाय बताना ठीक नहीं ऐसा सोचकर मन्थरा उपाय को कार्य में परिणत करने की प्रतिज्ञा रानी से करवा रही है। कैकेयी की चेष्टात्मक स्वीकृति को समझते हुए मन्थरा ने कार्यसिद्धि का उपाय बताया कि जब राजा वश में है तो यथाज्ञातकारिता में जो रानी कहेगी वह राजा करेंगे ही। ऐसी स्थिति में यदि वह हठ करेगी तो भरत के राजा होने की घोषणा राजा को करनी ही पड़ेगी।

एक घोषणा के विपरीत दूसरी घोषणा राजनीति के विरुद्ध

ज्ञातव्य है कि 'सकृज्जल्पन्ति राजानः' इस उक्ति के अनुसार एकबार रामराज्य की घोषणा हो जाने के पश्चात् उसका परिवर्तन नहीं होना चाहिये, इस नीति के विरुद्ध श्रीराम जी से श्रद्धा को हटाकर विरोधी प्रेरणा देना धूर्तकार्य है। पर ऐसी प्रेरणा देना मन्थरा के लिए आश्चर्य नहीं है क्योंकि धूर्तों के लिये अकार्य कुछ नहीं है।[3]

---

१. साहित्य शास्त्र में चिन्ता प्रेम आदि व्यभिचारिभाव को शब्दशः प्रकट करना दोष माना गया है।

२. पराईकाद्खण्डनं जयः।   ३. किमकार्यं कदर्याणाम्।

संगति—कार्यसिद्धि की साधनता प्रत्यक्षानुमान से सिद्ध समझकर कैकेयी प्रतिज्ञाबद्धा हो रही है।

दो०—परउं कूप तुअ बचन पर सकउं पूतपति त्यागि।
कहसि मोर दुःखु देखि बड़ कस न करब हित लागि॥२१॥

भावार्थ—रानी ने कहा—तुम्हारे कहने पर मैं कुएँ में गिर सकती हूँ अर्थात् अपना प्राण दे सकती हूँ। पवित्र पति को भी छोड़ सकती हूँ। तुम मेरे महत् दुःख को देखकर उसको दूर करने में जो कहती हो उसको अपनी भलाई के लिए क्यों न करूँगी? अथवा 'पूत' से निरपराध पुत्र श्रीराम भी विवक्षित हैं।

कर्तव्य के निर्णय में प्राच्यपाश्चात्य नीति में अन्तर

शा० व्या०—कर्तव्यनिर्णय में भारतीय राजनीति और पाश्चात्य राजनीति का अन्तर मननीय है। पाश्चात्य नीति में प्रत्यक्षानुमानसिद्ध अर्थ को अपनाया जाता है। लेकिन वह नीति सर्वत्र सफल होगी ऐसा विश्वास भारतीय मनीषी नहीं करते। इसलिए वे शब्दप्रमाण की इदंप्रथमतया अपेक्षा रखते हैं। अभी कैकेयी ने आप्तशब्द की उपेक्षा करके प्रत्यक्षानुमानसिद्ध अर्थ को अपनाने का संकल्प किया है। किन्तु शब्द-प्रमाणके विरोध में असफलता सिद्ध होगी। इससे निष्कर्ष निकलता है कि लौकिक नीति को शब्द-प्रामाण्य की उपेक्षा या विरोध में मान्यता नहीं देनी चाहिये।

यद्यपि कैकेयी के विचारप्रणाली में जो जो अनुमान (हेतु) दर्शाये हैं उन-उन हेतुओंको सोपाधिकत्व से दुष्ट ठहराया गया है, फिर भी सोपाधिकत्व अथवा निरुपाधिकत्व का निर्णय शास्त्राधीन है। अतः शब्दनिरपेक्ष अनुमान का कर्तव्यनिर्णयमें प्रामाण्य भारतीयनीतिमत में सन्दिग्ध समझने की परंपरा है।

स्वार्थवादी सिद्धान्त मे निरंकुशता

कैकेयी ने साध्य के साधन एवं बाधक का विचार किया है। दुःख से बचने एवं अपने स्वार्थ की सिद्धि में जो बाधक होता है उसका त्याग शरीरात्मवादी करते हैं। इस सिद्धान्त में "आत्मनः कामाय पुत्रः प्रियो भवति' 'आत्मानं सततं रक्षेत्" इत्यादि वचन स्मरणीय हैं।

१९ वें दोहे में कद्रू का दृष्टान्त देकर मन्थरा ने कैकेयी को असह्य वेदना की कल्पना करायी है। उस वेदना को याद करके कैकेयी कह रही है कि मन्थरा जैसी हितैषिणी जो दुःखप्रतीकार का उपाय बताती है उसको अपनाना ही चाहिए।

प्रस्तुत में सौत का दुःख असह्य होने से कैकेयी पति का भी त्याग करने को तैयार हैं। लड़के को राज्य दिलाकर अपना स्वामित्व स्थिर करना ही उसका लक्ष्य है।

दुष्टविचारशील व्यक्तियों के साम्राज्यवाद में निरंकुशता स्वयंसिद्ध है। ज्ञातव्य है कि परोपकृति या सेवकत्व के अभाव में स्वार्थी व्यक्ति के द्वारा देश का हित होना असंभव है, इसलिए भारतीय राजनीति में ईशभक्त, त्यागी, आत्मनिष्ठ एवं शास्त्रानुरागी को ही राज्य के लिए अधिकृत माना गया है, इसका उदाहरण भरत हैं। यदि कैकेयी के कहने पर भरत राज्य लेते हैं तो दुश्चरित्रा के वचन के विश्वास पर राज्य का विनाश होना आवश्यम्भावी है जो भरत के वचन से स्पष्ट होगा। स्वार्थवश अधिकार के लोभ में माता लड़के को मार सकती है जैसे माता द्वारा अपने पुत्र विजितगुप्त को मारने का इतिहास है।[1] अतः राजशास्त्र ने ऐसे व्यक्ति पर विश्वास न करने को कहा है।

इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कैकेयी और मन्थरा का पारस्परिक सम्बन्ध विश्वासार्ह नहीं माना जायेगा क्योंकि जो अपने निर्दोष पति का त्याग कर सकती है वह एक दासी का त्याग करने में क्या देर करेगी? अतः भारतीय राजनीतिसिद्धान्त में स्वार्थियों का चरित्र देश के लिए हितावह नहीं माना गया है।

---

१. विजितगुप्तस्यापि मगधराजस्य मातापि अभिचरति स्म। नी० ज० स० ७

संगतिः—कैकेयीकी उक्त उक्ति को ध्यान में लाकर शिवजी अत्यन्त पीड़ा में उसकी मूर्खता पर तरस खा रहे हैं।

चौ०—कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई ॥१॥
लखइ न रानि निकट दुखु कैसे। चरइ हरितिन बलिपसु जैसे ॥२॥
सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देति मनहुँ मधु माहुर घोरी ॥३॥

भावार्थ—कुबड़ी ने कैकेयी को पूरी तरह से तुच्छ बलिपशु बनाया कपटरूपी छूरे को अपने हृदय रूपी पत्थर, पर तेज करने लगी अर्थात् पत्थर की तरह कठोरहृदय वाली मन्थरा कपट का उग्र प्रहार करने में उद्यता हुई।

शब्दजाल का बल

शा० व्या०—परस्पर विरुद्ध बातों के जाल में विरोध को छिपाती हुई सत्यता को आरोपित कर मन्थरा ने राजवंश में भेदस्थिति लायी। रानीसमेत संपूर्ण राजवंश का अकल्याण संपन्न करने में वह सफलता समझ रही है। यह मन्थरा का कापट्य वंचना की गहराई है। तर्क के अभाव में उपाधि को न समझकर रानी उपजप्तप्रवृत्त भेद लगाने वाला भाव न समझ सकी, केवल मानिनीत्व के झोक में मानोरथिक दुःख को व्यवहारिक दुःख मान रही है। वास्तविक व्यावहारिक दुःख की स्थिति को न समझकर मन्थरा के वाग्जाल में फँसकर अपना बलिदान करने को प्रस्तुता है। स्वार्थ की कल्पना में पति एवं पुत्र को त्याग देने पर उतारू है। तर्कयुक्त सत्य के अभाव में दासी का शब्दजाल उसको मनोरंजक मालूम हो रहा है।

व्यंजना का प्रहार

यह कहा जा सकता है कि दासी ने साहित्यिक साधारणीकरण व्यापार से शास्त्रमर्यादाकी बुद्धि पर भारी प्रहार किया है। मन्थरा के एक एक शब्द विषसंपृक्त होते हुए भी स्वतन्त्रतारूप मधु की कल्पना से सौत के दुःख का जहर फैला कर कैकेयी के अन्तःकरण को राजा से पृथक् कराने में सफल हो रहे हैं। सत्यता का विरोधी पक्ष व्यंजनाव्यापार का सहारा लेकर धन्य हो रहा है जिसका परिणाम विषैला है। व्यंजनाव्यापार मनस् के लिए इतना मोहक होता है कि वह सामान्य बुद्धि वालों के लिए विचारशक्ति-का प्रतिबन्धक हो कर रसाभास की ओर भी ले जाता है। अन्त में कैकेयी भेद का शिकार हो ही गयी।

संगति—उत्तर काल में प्रतिज्ञानिर्वहण में बँधी कैकेयी को देखकर मन्थरा सहजकृतिसाध्यकर्म को समझाने के लिए राजा एवं कैकेयी का ऐतिहासिक प्रसंग सुनाती है।

चौ०—कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं। स्वामिनि! कहेहु कथा मोहि पाहीं ॥४॥
दुइ बरदान भूप सन थाती। मांगहु आजु जुड़ावहु छाती ॥५॥

भावार्थ—दासी कहती है कि हे स्वामिनि! तुम को याद है कि नहीं। तुमने मुझसे एक कथा कही थी कि राजा से दो वर मुझे मिले हैं जो धरोहर के रूप में हैं। उनको आज मांगकर अपना हृदय क्यों नहीं शीतल कर लेतीं।

उपाय निरूपण

शा० व्या०—मन्थरा कैकेयी को प्रबोध कराती हुई सुनाती है कि भाविसंकट को याद करके अपने हृदय-को विषाद में आप विदीर्ण न करें, अपितु प्राचीनवरयाचना के इतिहास का स्मरण कर धैर्य धरें।

ध्यातव्य है कि उक्त चौपाइयों की एकवाक्यता चौ०३ दो० २० में कहे 'प्रबोधिसि' के अन्तर्गत भी समझना है।

संगति—दोनों वरों का रहस्य आगे पचीसवें दोहे के छन्द में प्रकट होगा। अभी वर का स्वरूप प्रकट कर रही है।

चौ०—सुतहि राजु रामहि बनवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥ ६॥

भावार्थ—अपने पुत्र भरत को राज्य और श्रीराम को वनवास देकर सब सौतों का सुख छीनो।

दुःखप्रतीकार की साधना वरद्वयसे

शा० व्या०—एक वर भरत के लिए राज्य दूसरा वर श्रीराम को वनवास—ये ही दुःखनिवारण में इतिकर्तव्य हैं। इनसे सब दुःख नष्ट हो जायगा। यह संकेत चौ० ८ दोहा २१ में 'कहौं उपाऊ' में छिपा था, यहां व्यक्त हुआ।

मन्थरा के कहने का आशय है कि वरद्वययाचनाकार्य कैकेयी के लिए असाध्य नहीं है और राजा के लिए भी ये दो वर अदेय नहीं हैं।

तामसप्रकृति का कार्य

यहां चिन्तनीय है कि मन्थरा बता तो रही है दुःखप्रतीकार की योजना पर जुटा रही है दुःख का साधन, इससे साध्य दुःख ही होगा, न कि प्रतीकार। तामसप्रकृति वालों के कार्यक्रम की रूपरेखा ऐसी ही होती है। सात्विक विचार की स्थिति में सत्त्वगुणसंपन्न पितृभक्त नीतिमान् (श्रीराम) की छत्रछाया में रहने की योजना बनायी जाय तो सेवक को सौभाग्यप्राप्ति सुलभ होगी। विषय की लालसा में कैकेयी इतना सूक्ष्म विचार नहीं कर रही है कि ऐसा कार्य संपूर्ण गृहस्थजीवन को सुखसे वंचित करने वाला है।

सात्विकनेतृत्व में सुखमय जीवन

संसार में सत्वप्रधान व्यक्ति दुर्लभ है। उसकी निर्मिति पर ध्यान देने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ शिवजी सत्वप्रधान विष्णु के प्रतिभूत्व मे त्रैलोक्यव्यवस्था सौंप कर आनन्द से काशीनिवास में निमग्न रहते हैं। कैकेयीप्रभृति को वैसा ही योग देना राजा ने सोचा था। किन्तु सात्विकता के अभाव में वह उस सुख से वंचिता हो रही है।

संगति—असत्परामर्श में फंसी कैकेयी को यह प्रश्न उठ सकता है कि पूर्वदत्त वरद्वय की याचनामात्र से महाराज से वर की स्वीकृति कैसे करायी जाय?

चौ०—भूपति राम सपथ जब करई। तब मांगेहु जेहि बचन न टरई॥ ७॥

भावार्थ—इतना ध्यान अवश्य रखना कि राजा दशरथ श्रीराम की सौगन्ध लेलें तब वरद्वय मांगो जिससे राजा अपनी बात से टल न सकें।

वरस्वीकृति में शपथ का उपयोग

शा० व्या०—रानी के उपर्युक्त प्रश्न के समाधान में मन्थरा समझा रही है कि राजा सत्यसन्ध हैं इसलिए प्रतिज्ञा करने के बाद उससे वे परावृत्त नहीं होंगे। अतः युक्ति से काम लेना होगा कि जब रानीके प्रेमके अधीन हो राजा कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए अगत्या रामशपथ लेंगे तब अपना प्रस्ताव उनके सामने रखा जाय तो कार्यसिद्धि (वरद्वय स्वीकृति) अवश्य होगी।

सत्यसंध को विवश करने का अस्त्र धर्म है

धार्मिकों को धर्म के नाम पर फँसाना धूर्तों का हथकंडा है। मन्थरा खूब समझती है कि वह और कैकेयी दोनों इस समय अपने स्वार्थसाधन के लिए दोषबहुल कार्य कर रहे हैं। यदि राजा कैकयी को प्रणयमानिनी न समझ कर कहीं उसको दोषवती समझेंगे तो "दुष्टं दण्डेन" विधानके अनुसार वह उन दोनों

को दंडित किये बिना नहीं रहेगें। उससे बचने के लिए धर्म की आड़ लेना ही एक मात्र सहायक होगा ऐसा समझकर मन्थरा धर्म की ओट में आद्यन्त उपाय निरूपण कर रही है।

संगति—अपना इष्ट साधने के लिए कालविलम्ब विनाशकारी होगा।

चौ०—होइ अकाजु आजु निसि बीतें। वचन मोर प्रिय मानेहु जीतें ॥ ८ ॥

भावार्थ—यदि आज की रात बीत जायगी तो कोइ काम न बनेगा। इसलिए जी जान लगा कर मेरी बात को प्रिय मानो और कार्यान्वित करो।

कालातिक्रमण में दोष

शा० व्या०—यदि आज की रात बीत जाती है तो कैकेयी का स्वार्थ कभी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि कल ही रामतिलक हो जायेगा। इसलिए रामराज्यविघात अशुभ कर्म होते हुए भी उसको टालने का समय नहीं है। अतः मन्थरा प्रार्थना करती है कि रानी उसके वचन को प्राण से भी अधिक प्रिय माने। राजा के पक्ष से क्या 'अकाज' हो सकता है यह चौ० ३ दो० १९ व्याख्या में द्रष्टव्य है।

अकाज में शुभ-भावना

शा० व्या०—रामराज्यविघात में दूसरा पक्ष यह भी है कि इस कार्य को अशुभ नहीं समझना चाहिए क्योंकि राज्याभिषेकोत्सव के प्रतिघात में कैकेयी मोहवश अपना हित समझ रही है। "मानेहु जीते" का भाव है कि जी जान लगाकर बात को मानना जैसा कैकेयी ने दोहा ३३ में राजा से "मोर मरनु" कह कर अपने पक्ष को रखा था।

'होइ अकाजु आजु निसिबीतें' से मालूम होता है कि मन्थरा जानती है कि अभी तक राजा ने ही राज्याभिषेकार्थ संकल्पकार्य किया है। श्रीराम का संकल्प दूसरे दिन हो जायगा तो रानी का अभिलषित कार्य पूरा न होगा। इस संकल्प में राजनीतिप्रकाश में उल्लिखित राज्याभिषेकनिमित्तिक संकल्प का फल ज्ञातव्य है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण प्रकृति वश्या हो जायगी। 'आजु निसि' कहने का अभिप्राय चौ० ६ दो० १९ की व्याख्या में निर्दिष्ट विषय से भी मन्तव्य है।

संगति—मन्थरा का यह विघात-कार्य धर्म-स्थापना में मंगलदायक सिद्ध होगा, ऐसा सोचते हुए शिवजी मन्थरा के निगमन को व्यथा के साथ सुना रहे हैं।

दोहा—बड़ कुघातु करि पातकिनि कहेसि कोपगृहँ जाहु ॥
काजु सँवारेहु सजग सबु सहसा जनि पतिआहु ॥२२॥

भावार्थ—पापिनी मन्थरा ने भारी दांव लगाकर कहा अब कोपभवन में चली जाओ। बहुत सावधान रहकर काम सम्भालना। उतावली में (एकाएक) राजा का विश्वास मत करना।'

विधि के भेद से पुनरुक्ति का परिहार

शा० व्या—अभीतक उत्पत्तिविधि और अधिकारविधि की चर्चा हो चुकी है। यथा—'सुतहि राज रामहि वनबासु' से अधिकारविधि, रामराज्यविघात से उत्पत्तिविधि समझना चाहिए। रामराज्यविघात को सेवकत्व में विनियुक्त करना विनियोग विधि है जो इस दोहे में बतायी गयी है। इस विधि में देश, काल, क्रम भी समझाया गया है। जैसे आज की रात्रि से काल का विधान, कोपभवन से देश का तथा कोप भवन में जाना, पति को वश करना, शपथ लेने के बाद वर की याचना करना आदि प्रयोग विधान के अन्तर्गत है। इस प्रकार मन्थरा के वचन में निगमन है, पुनरुक्ति नहीं है।

मन्थरा को पातकिनी कहने में हेतु

इस अवसर पर शिवजी मन्थरा को पातकिनी कह रहे हैं जिसमें हेतुवाक्य है—'सहसा जनि पति-आहु' अर्थात् प्रेममूर्ति अति विश्वस्त राजा में विश्वास न करने को कह रही है। राजनीति शास्त्र में राजद्रोह को महान् पातक बताया गया है।[1] उसको शिवजी ने यहाँ पातकिनी कहकर अनुवाद रूप में सुनाया है।

मन्थरा की निर्दोषता में पापित्व

ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत विघटनकार्य-सम्पत्ति में मन्थरा के विचार सरस्वती द्वारा प्रेरित मानने होंगें, न कि उसके अपने विचार। प्रभु के परिवार में नीतिमान् श्रीराम के सम्पर्क में वह आ चुकी है। अतः शुद्धा है उसको मोह नहीं है, इसलिए वस्तुगत्या पाप के निमित्त से वह नरकगामिनी नहीं मानी जायगी क्योंकि इसमें नियामक मानसनिर्दिष्ट सरस्वती का विचार है। अधिकृतवाणी प्रमाण के अभाव में सर्वसाधारण जीवों की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रभु-प्रेरणा उनमें नियामक नहीं है। अतः उनको पापभागी होकर नरकभागी होना पड़ेगा। ऐसा होते हुए भी मन्थरा को दण्ड मिलना नीतिशास्त्र की मर्यादा के अन्तर्गत है। अतः मन्थरा को पापिनी कह कर शिवजी यह समझा रहे हैं कि राज्यविश्वासघाती को पापी कहा जाता है 'काज सँवारेहु' से शिवजी भविष्यत् में रामवनगमन से होने वाले मंगलकार्य का स्मरण कर रहे हैं।

संगति—अपने हित की अवश्यंभाविता और कार्यसफलता को ध्यान में लाकर कैकेयी मन्थरा की भूरि भूरि प्रशंसा कर रही है।

चौ०—कुबरिहि रानि प्रानप्रिय जानी। बार बार बड़ि बुद्धि बखानी॥ १॥
तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कइ भइसि अधारा॥ २॥

भावार्थ—रानी ने मन्थरा को प्राण के समान प्रिय समझा। बारंबार उसकी बुद्धिमत्ता की बड़ी प्रशंसा करते हुए कहा कि तुम्हारे समान मेरी हितकारिणी संसार में कोई नहीं है। तुमने हमको ऐसा सहारा दिया जैसे बहते हुए को कोई आधार मिल जाय। अर्थात् राजा व कौसल्या की कपट-धार में मैं डूब रही थी, तुमने सावधान करके बचा लिया।

'बड़ि बुद्धि' का तात्पर्य

मन्थरा की चर्चा में बुद्धिमत्ताप्रचुर विद्या को प्रथम स्थान दिया गया है।[2] जिसको 'बड़ि बुद्धि बखानी' से यहां दर्शाया जा रहा है। थोड़ी सी चूक में महत् संकट आने वाला था जिससे यथासमय बचा लिया ऐसा सोचकर कैकेयी दासी की प्रशंसा कर रही है।

भविष्यत् में प्रभु के यशस् में सहयोग

यद्यपि भ्रान्ति में कैकेयी अपना हित कुछ और ही समझ रही है पर सती कैकेयी की वाणी सफल होकर वास्तव में भविष्यत्काल में श्रीराम एवं भरत को महद् यशस् का भागी होने का सौभाग्य प्राप्त करायेगी जिसमें मन्थरा भी सहायिका है। इस दृष्टिकोण से कैकेयी की उक्ति 'तोहि सम हित न मोर संसारा' उचित ही है क्योंकि 'प्रान ते अधिक रामु प्रिय मोरे' की स्थिति में सरस्वती द्वारा प्रेरित कर्तव्य को साधने का आधार दूसरा नहीं था।

---

१. ब्रह्मद्रुहाश्च ये लोका गुरुपुत्रद्रुहाश्च ये।
पतिद्रुहाश्च ये स्त्रीणां ते समस्ता नृपद्रुहाम्॥

२. उपर्युक्त विचार चौ० २ दोह १२ में व्याख्यात विचारों से सम्बद्ध समझना चाहिए।

संगति—केवलवाङ्मात्र से ही प्रीति वही दिखाती, किन्तु कायिकव्यापार से भी कैकेयी दासी को पुरस्कार देने की प्रतिज्ञा कर रही है।

चौ०-जो विधि दुख मनोरथ काली करौं तोहि चख पूतरि आली ॥ ३ ॥

भावार्थ—यदि विधाता मेरा मनोरथ पूरा करेगा तो मैं तुमको आंख की पुतली के समान आदर और रक्षण की पात्रा बना दूंगी, या अज्ञान को हटा कर प्रकाश देने वाले गुरु के समान सम्मानिता कर दूंगी।

मनोरथ की संगति

शा० व्या०—यहां ध्यान देने की बात है कि कैकेयी हित न कह कर 'मनोरथ कह रही है' इस मनोरथ को वह आगे वरयाचनामें 'पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी' से प्रकट करेगी। यद्यपि इस समय दासी आँख की पुतली हो गयी पर अनीतिका परिणाम उसको भोगना ही पड़ेगा।

संगति—मन्थरा के निर्देश के कार्यान्वयनार्थ कैकेयी कोपभवन में गयी।

चौ०—बहुविधि चेरिहि आदरु देई। कोपभवन जवनी कैकेई ॥ ४ ॥

भावार्थ—दासी को बहुत प्रकार से सम्मान देकर कैकेयी कोपभवन में चली गयी।

शठ समय पर सहायक नहीं होते

शा० व्या०— पारस्परिक जनों में भेद लगाकर उपजप्ता (भेदिया) अपने आप्तत्व की छाप लगा कर चला जाता है। पर भविष्यत् में आनेवाली विपत्ति के समय स्वार्थी शठ सहायक नहीं होता अतः नीतिमानों को उनसे सदा सावधान रहना चाहिये।

संगति—उक्त सावधानता को शिवजी आगे की चौपाइयों में कह रहे हैं।

चौ०—विपति बीजु बरषाऋतु चेरि। भुई भइ कुमति कैकेयी केरी ॥५।

पाइ कपटु जलु अंकुर जामा। वर दोउ दल दुख फल परिनामा ॥६॥

भावार्थ—विपत्ति बीज है। दासी वर्षा है। उस बीज को बोने की भूमि कैकेयी की कुमति है। मन्थरा रूपिणी वर्षा से कपट रूप जल को पाकर उक्त बीज में अंकुर जमा। उस अंकुर में दो वर रूप कोपल निकलेंगे। उनका दुःख रूप फल दिखायी पड़ेगा।

अशास्त्रचक्षुष्मान् का अन्धत्व,

शा० व्या०—विपत्ति एवं उसके सहकारी कापट्य आदि तथा दुःखोपलब्धिरूपफल की भविष्यत् में संपन्नता अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार ही है। अर्थशास्त्र में अशास्त्रचक्षुष्मान् को अन्धा कहा है[1] भाव यह कि शास्त्रचक्षुष नीतिमान को उपलब्ध है तो वह आँख का अन्धा नहीं कहा जाता। मिथ्या-ज्ञान में आनन्द की अनुभूति रखने वाला प्राणी तर्क एवं शास्त्र की अकुशलता में आंख वाला होने पर भी अन्धा ही है।

क्वचित् मिथ्याज्ञानी के मतिमें नैतिक कर्म का प्रकाश दिखाई पड़ जाता है फिर भी शास्त्रकार उसको घुणाक्षरन्याय ही मानते हैं। क्योंकि वैसा प्रकाश स्थिर नहीं होता। मिथ्याज्ञानी व्यक्ति विषयलोलुपता

१. अशास्त्र चक्षुर्नृपतिरन्ध इत्यभिधीयते ॥ (न. स.र स.)

अशास्त्रीय अनर्थ्य विषय को अपनाने का प्रयत्न करता है। ऐसी प्रवृत्ति से बचना प्रायः शास्त्र की प्रेरणा का उपयोग है। अत एव मीमांसकोने लोकतः प्रवृत्ति के पूर्व शास्त्रों की प्रवृत्ति को मान्यता दी है। यह शास्त्रीयमति सुमति है। शास्त्रविरुद्ध मति मे जो प्रकाश होता है वह वैषयिक और स्वार्थभावना मे निहित होने से कुमति शब्द से व्यवहृत है जिस का भावी परिणाम दुःख है। जैसा सुन्दरकाण्ड में कहा गया 'जहां कुमति तँह विपति निदाना'॥

सुमति एवं कुमति

चौ० १ दो० १९ की व्याख्या में कैकेयी के मतिफेरि का जो निर्देश किया गया है वह मति "कोप-समाजु साजि" से पूर्ण हो रहा है। उसका परिणाम आगे प्रकट होगा।

रुद्रभाष्य में सुमति की व्याख्या है—दुर्घट राजशासनकार्य को संपन्न करानेवाली बुद्धि अर्थात् ऐसा सफलकर्तृत्व जिस मति मे है वह सुमति है। कैकेयी की ऐसी ही सुमति प्रसिद्ध है जिसमे संपत्ति की पूर्णता का अनुभव था। इसी अनुभव में कैकेयी वरयाचना से निरपेक्षा रही। कुमति में कैकेयी का वह राज्यसुख नष्ट होने वाला है जैसा अग्रिम चौ० ७ में 'राजु करत बिगोई' की व्याख्या में स्फुट है।

विपतिकाजु की व्याख्या

यहां शिवजी ने कुमति को भूमि कहा। उसमे व्यसन (विपत्ति) नियमतः अप्रकाशरूप मे बीज के समान रहता है, आज नहीं तो कल वह प्रकट होगा ही। जमीन मे छिपकर अन्तः रहने से ही बीज अंकुरित होने मे सक्षम होता है, उसी प्रकार कुमति रूप भूमि मे विपत्ति का बीज अन्तर्हित है।

कुमति-भूमि होने पर भी व्यक्ति यदि उत्तमप्रकृति वाले व्यक्ति की सहायता और उसके निर्देश पर कार्य करता है तो प्रजा के हित में सहायक होकर कुमति के दोषों को हटा सकता है। जिसको वैसा सहायक नहीं मिल सका उसके द्वारा अनर्थ होने मे देर नहीं है। कुब्जा की कुमन्त्रणा से कैकेयी अनर्थकारिणी स्थिति में जा रही है।

कुमन्त्रणा देने वाली दासी को वर्षाऋतु कहा गया है क्योंकि कैकेयी की कुमति में विपत्ति का अंकुर उगने में वह वर्षा के जैसे वातावरण का निर्माण कर रही है। आदि से अन्ततक उसके द्वारा कापट्य प्रस्तुत किया गया है, अतः कपट ही जल है। उसके सेचन से अभिमानात्मक स्वातन्त्र्य का अंकुर उत्पन्न हुआ। कैकेयी की कुमति मे उत्पन्न इस अंकुर में दो वर द्विदल के रूप में प्रकट हुए जिनकी फलोत्पत्ति मे (परिणाम में) संपूर्ण प्रजा रामवनवास को सुनकर दुःखिनी होगी।

धर्म रूप खाद में वे दो दल इतने बद्धमूल हैं कि अपना कार्य संपन्न किये बिना नहीं रह सकते अर्थात् भरत को राज्यपालन करना ही होगा, श्रीराम को वन में जाना ही होगा। द्विदलों से हुई फलोत्पत्ति कैकेयी के मनोरथ से घुल-मिल कर दुःखपरंपरा के रूप में परिणत होगी, यह अशास्त्रचक्षुष्मान् की दुर्मतिरूप जमीन को शास्त्रविपरीत बनाने का परिपाक है।

संगति—प्रसंगतः कुमति के बारे मे सैद्धान्तिक मत सुनाकर शिवजी पूर्वग्रन्थ से संगति जोड़ते हुए अग्रिम इतिहास सुना रहे हैं।

चौ०—कोपसमाजु साजि सबु सोई। राजु करत निज कुमति बिगोई ॥७॥

भावार्थ—कैकेयी कोप की सब सामग्री सजा कर सो गयी। जहां रानी राज्य कर रही थी वहां उसने अपनी कुमति से वैभव को बिगाड़ दिया।

चरव्यवस्था का अभाव, धर्मशास्त्रप्राधान्य

शा० व्या०—राजश्रीसमलंकृत राजा संपूर्ण राज्यसंचालन मे प्रतिभू है। राजनीतिशास्त्र में उसको प्रतिक्षण चारचक्षुष्मान् होकर देखते रहने का विधान है।[1] अन्तःपुर की व्यवस्था में राजा दशरथ प्रमाद में मालुम पड़ते हैं। यदि अन्तःपुर में चरव्यवस्था रहती तो राजा को वहां की घटना की सूचना तुरन्त लग जाती। वैसा नहीं हुआ।

वस्तुतः दृष्टस्थिति के अनुसार अन्तःपुर में राजविरोधिनी चर्चा को लेकर गड़बड़ी संभावित नहीं है, ऐसा निश्चय राजा को दृढ़ है। किंबहुना 'राजु करत' के उल्लेख से स्पष्ट है कि राजा राजकार्य में कैकेयी को भी साथ में रखते थे। संपूर्ण रानियों को कैकेयी ने नीति सूत्रों में बाँधकर रखा होगा।

राजा के अधिकृत सेना में धर्मशासन का प्राधान्य अत्यधिक था इसलिए अन्तःपुर में चरोंकी नियुक्ति की उनको अपेक्षा नहीं थी। धर्मशासन में प्रजा अनुच्छेद्या मानी जाती है। अतः राजा प्रमादी नहीं दैवी घटना ही उक्त गड़बड़ी में कारण है, जैसा कि चौ० १ दो० १८ की अर्धाली ('भावी वस प्रतीति उर आई') से स्फुट है।

दैवी घटना का प्राबल्य राजमृत्यु के चिन्हों से प्रकट है। इसी कारण कुमति ने अपना प्रभाव दिखाया। जिससे त्राता केवल श्री राम एवं भरत हैं।

तत्काल में राजनीतिकी चरव्यवस्था के अभाव या दैव की प्रबलता में विपरीत आचरण का फल हुआ कि कैकेयी को कोपसमाज सजाने में किसी प्रकार का भय नहीं रहा।

संगति—घर की व्यवस्था में राजा की निश्चिन्तता के संबंध में शिवजी सुना रहे हैं।

चौ०—राउर नगर कोलाहल होई। यह कुचालि कछु जान न कोई ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा के नगर में राज्योत्सवका हो-हल्ला मच रहा था। इधर किसी को इस कुचालको कोई खबर नहीं थी।

चरव्यवस्था की उपादेयता

शा० व्या०—राजा यदि राजनीति के अनुसार[2] राजनीति के व्यापार में चरों-दूतों के तरफ ध्यान नहीं देता तो विनष्ट हो जाता है। राजाओं के नेत्र ही चर माने गये हैं।[3] धर्मशासन में भी प्रजा की मनोवृत्ति का अध्ययन करने का निर्देश राजशास्त्र में उपलब्ध है, इसलिए कि प्रजाकी मनोवृत्ति सदा एकसमान नहीं रहती।[4] उसी का फल है कि थोड़ी सी चूक में संपूर्ण प्रजा को दुःख भोगना पड़ा।

कुचालि का तात्पर्य

चौ. ७। ८ दो. २३ में कहे कैकेयी के वचन कुचालि के द्योतक हैं अर्थात् निरपराध श्रीराम और कौसल्या पर क्रोध करना कुचाल है जिसका परिणाम भरत की उक्ति में 'पापिनि सबहि भांति कुल-नासा' (चौ. ६ दो. १६१) में स्पष्ट होगा।

---

१. स्वपन्नपिहि जागर्ति चारचक्षुर्महीपतिः (नी. सार स. १३)

२. आलोचयेद्बुद्धिगुणोपपन्नैः चरैश्च दूतैश्च परप्रचारम्। एतैर्वियुक्तो भवति क्षितीन्द्रो चरैरनेत्रैश्च समानधर्मा॥ नी. स. १३)

३. चारैः पश्यन्ति राजानः।

४. प्रादुर्भवन्त्यर्थसमं यस्माच्चित्तान्यनुक्षणम्।
तस्माद्योगीव सततं भावयेत् सुसमाहितः॥ (नी. सा. स. ५)

संगति—श्रीराम-राज्यारोहण सुनकर आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार का समाज प्रियश्रवणजन्य आवेग में अपना-अपना कार्य संपन्न करने में व्यस्त हैं। उनको विषयान्तर की ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं है। सभी राज्यारोहणोत्सव देखने के लिए उत्सुक हैं, नगर की सजावट में तत्पर हैं। उस स्थिति का वर्णन शिवजी कर रहे हैं।

दो०—प्रमुदित पुरनरनारि सब सजहिं सुमंगल चार।
एक प्रविसहिं एक निर्गमहि भीर भूप दरबार ॥२३॥

भावार्थ—अयोध्यापुरी के सब नर नारी हर्ष मे भरे मंगलाचार करते हुए सजावट कर रहे थे। राजा के दरबार में भीड़ एकत्रित हो गयी थी। कोइ आ रहा था, कोई जा रहा था।

प्रियदर्शनश्रवणजन्य हर्ष

शा० व्या०—सभी अपने अपने शरीर को भूषित कर रहे हैं। प्रियदर्शनजसुख प्रमोद सभी को हो रहा है। एक ओर कैकेयी भाविदुःख की कल्पना में आँसू वहा रही है। दूसरी ओर लोग रामराज्योत्सव की कल्पना में मानोरथिक सुख से ओतप्रोत हैं। सभी प्रजा वर्ग को इष्ट का योग दिखाई पड़ रहा है, यही उनका प्रमोद है।

संगति—उत्सव के पूर्व कतिपय सखाओं को श्रीमान् श्रीराम की परीक्षा लेने का विचार हुआ उसकी उपपत्ति आगे द्रष्टव्य है।

चौ०—बालसखा सुनि हिय हरषाही। मिलि दस पांच रामपहिं जाहीं ॥ १ ॥

भावार्थ—श्रीराम के बालसखा हृदय में बड़े प्रसन्न थे, दस-दस पांच-पांच की टोली बनाकर श्रीराम के पास जा रहे थे।

श्रीराम के शील औदार्य की परीक्षा

शा० व्या०—श्रीराम के शील औदार्य गुण की वास्तविकता को समझना बालसखाओं के परीक्षणका उद्देश्य है।

राजशास्त्र में कहा है कि राजकुमार के वास्तविक गूढतत्व को सहाध्यायी सहपांसुक्रीड़ित समझते हैं। वे ही राजकुमार के मर्म का उद्घाटन करते रहते हैं। इसके अभाव में रामचरित्र के आदर्श को समझने में राजनीति के अनुसार न्यूनता रहती। कहा जा सकता है कि राजसभा में उपस्थित होकर प्रजा ने श्रीरामचरित्र के गुणों का वर्णन किया ही है तथापि उतने से चरित्र (गुण) की वास्तविकता समझना पर्याप्त नहीं है क्योंकि इसमें राजा की बड़ाई एवं राजप्रसाद भी कारण हो सकता है।

बालसखाओं के परीक्षण का दूसरा यह भी कारण है कि चौ० ५ दो० १७ से लेकर चौ० ५ दो० १८ तक कहे कुब्जा के वचनों की अयथार्थता को तटस्थ व्यक्तियों के द्वारा समझाना कवि का उद्देश्य है। अतः राजकुमार का सहचारिवर्ग कुब्जा के समान आलोचक रहता तो मन्थरा के वचन और उसकी कुमति अयथार्था नहीं ठहरायी जा सकती। इसलिए तटस्थवृत्ति की निस्सन्दिग्धता के लिए यह परीक्षणक्रम सुनाया जा रहा है। यह कुब्जासंवादानन्तरग्रन्थ की संगति है।

मित्रों की दसपांच संख्या का प्रयोजन

ज्ञातव्य है कि मित्रों के वर्णनप्रसंग में कामसूत्रकार मित्र सहायविमर्श में उनके तीन प्रकार बताते हैं—१) स्नेहतः[1] २) गुणतः[2] ३) जातितः[3]। स्नेहतः नौ प्रकार के, गुणतः बारह प्रकार के, तथा

१. सहपांसुक्रीडितं उपकारसंबद्धं समानशीलव्यसनं सहाध्यायिनं यश्चास्य मर्माणि रहस्यविच्च विद्यात् यस्य चायं विद्याद्वा धात्र्यपत्यं सहसंबद्धं मित्रम्।

२. रजकनापितमालाकारगान्धिकसौरिकभिक्षुकगोपालकतांबूलिकसौवर्णिकपीठमर्दविटविदूषकादयो मित्राणि।

३. पितृपैतामहमविसवादकं अदृष्टवैकृतं वश्यं ध्रुवमलोभशीलमपरिहार्यममन्त्रविस्रावमिति मित्रसंपत्। (कामसूत्र)

जातितः आठ प्रकार के हैं। इन्हीं में से कतिपय मित्रों को ध्यान में रखकर दस पाँच से संकेतित किया है।

संगति—राजकुमार के छिद्र को प्रकट करने से सक्षम बालसखा मर्मज्ञ होते हैं। राज्यारोहण के निमित्त से राजकुमार में मद तथा मान के आने की संभावना हो सकती है। जिससे बालसखाओं की उपेक्षा हो सकती है। इस परीक्षा के हेतु से जैसे ही उन्होंने राममन्दिर में प्रवेश किया त्यों ही प्रभु की तरफ से भी उनके प्रति आदर और प्रेम का भाव औचित्य के साथ दृष्टिगोचर हुआ।[1]

चौ०—प्रभु आदरहि प्रेम पहिचानी। पूछहिं कुसल खेम मृदु बानी॥ २॥

भावार्थ—सखाओं के हार्दिक प्रेम को समझकर श्रीराम उनका स्वागत करते मीठी वाणी से सखाओं के कुशल क्षेम को पूछने लगे।

आदर में प्रेम तथा मानमदाभाव

शा० व्या०—प्रभु ने सखाओं के सामने अपने को ऐसे प्रस्तुत किया है जैसे सेवक स्वामी के सामने खड़ा होता है। कवि इस अंगांगिभाव को आदरशब्द से व्यक्त कर रहे हैं। यदि ऐसा अंगांगिभाव का व्यवहार श्रीराम की ओर से प्रकट न होता तो बालसखाओं को उनका प्रेमभाव सुखकर प्रतीत न होता। नीतिदृष्टि से श्रीरामने बालसखाओं के साथ ऐसा व्यवहार किया जिसको देखकर बालसखाओं को "अयं रामः मे हितं साधयिष्यति" (साधयति वा) का दृढ़ निश्चय है जिसको न्यायभाषामें अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितनाहार्यनिश्चय से पुष्ट कहा जायगा। यही प्रेम का पारिष्कारिक रहस्य है।

आजतक के जीवन में बालसखाओं ने जैसा प्रेम किया था, उस प्रेम की पहचान प्रभु अभी भी राज्यारोहणोत्सव के अवसर पर प्रकट कर रहे हैं। इस नैयत्य को समझाने के लिए कवि ने 'आदरहि' शब्द से आदर को हेतु तथा 'पहिचानी' शब्द से प्रेम को साध्य के रूप में निरूपित किया है जिसमें मान मद का अभाव भी अनुमित है।

क्षेमकुशल प्रश्न

ग्रन्थकार कहते हैं कि आरंभ में प्रभु क्षेम कुशल पूछ रहे हैं। उसका निष्कर्ष है—'कर्मणि कुशलः'। यह कर्म राजनीतिक कर्म का द्योतक है। उपनिषदों के अन्तर्गत "क्षेम इति वाचि" इस वचन के व्याख्यान में "क्षेमोनामोपात्तपरिरक्षणम्" कहा है इस आधार पर श्रीराम का क्षेम कुशल पूछना राजनीति से संबन्ध रखता है, यतः राजनीति का कार्य सुरक्षा करना है।

भविष्यत् मे प्रभु सर्व सम्पति के स्वामी कहे जायेंगे। वे आरंभ में ही अपने रक्षकत्व को व्यक्त कर रहे हैं। जिसका यह अर्थ हुआ कि जैसे उन्होंने अभीतक सबकी कुशलता का ध्यान रखा वैसे ही स्वामी होने पर भी उनके अनुशासन में कुशलता का बाध नहीं होगा।

राजत्व की अक्षुण्णता

श्रीराम के सप्रेम मिलन से आश्वस्त हो बालसखाओं ने प्रजा को भी पूर्ण आश्वस्त किया है यह जानकर कि अपना मालिक पूर्वकथित मित्रोंसे योग-क्षेम पूछता है तो वह उनके भी योगक्षेमको साधने में जागरूक है। वस्तुतःबालसखाओं का योग-क्षेम सिद्ध था फिर भी कुशल क्षेम पूछने से श्रीराम के राजत्व में अक्षुण्णता उनके मानमदाभाव से सिद्ध हो रही है।

---

१. सखीनीव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमनान् सुहृदश्च बन्धुभिः। स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्। (किरात)

संगति—श्रीराम की उपर्युक्त उक्ति के समय अनुरक्ति के लक्षण हैं,[1] चेहरे पर मदमान की विकृतियाँ भी नहीं हैं। उसका प्रकाशन बालकों की प्रशंसा से आगे व्यक्त है।

चौ०—फिरहि भवन प्रिय आयसु पाई। करत परसपर राम बड़ाई ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रेमपूर्वक श्रीराम की आज्ञा पाकर वे लौटे आपस में श्रीराम के बड़प्पन की प्रशंसा करते थे।

गुणों की वास्तविकता का अनुमान

शा० व्या०—सामने की गयी चर्चा से वास्तविकता का परिचय नहीं होता। बालमित्रों[2] ने प्रभु के समक्ष कुछ भी नहीं कहा, बाहर आकर आपस में चर्चा चलायी। ऐतिहासिक दृष्टि से विद्वानों के लिए यह श्रीराम के गुणों की वास्तविकता का परिचायक है तथा मन्थरा के वचनों की अयथार्थता का अनुमापक है।

इस विवेचन के फलस्वरूप जनपद में राजा के प्रति कृत्य व अकृत्य पक्ष का पता चलता है।

एकमत से कृत्यपक्ष का अनस्तित्व

प्रासाद से बाहर आकर बालसखा राजकुमार की गुणचर्चा करने लगे तो विशेषता यह हुई कि कुमार के विरोध में प्रतिवादीपक्ष नगर की ओर से उपस्थित ही नहीं हुआ अर्थात् प्रभु की छत्रछाया में रहने में सभी का स्वमत (एकमत) सिद्ध हुआ। इससे कृत्यपक्ष का अभाव सिद्ध होता है। इसका अपवाद अन्तःपुर में एकमात्र कैकेयी है जैसा आगे चौ० ७ में कहा जायगा।

संगति—अब सखा श्रीराम के प्रशंसनीय स्वरूप को उपस्थापित कर रहे हैं।

चौ०—को रघुवीरसरिस संसारा। सीलु सनेहु निवाह निहारा ॥ ४ ॥

भावार्थ—शील स्नेह को निभाने वाला श्रीराम के समान दूसरा संसार में कौन है?

श्रीराम का शील और प्रेम

शा० व्या०—शीलवान् वही है जिसके गुण महात्माओं के द्वारा प्रशंसित हों।[3] ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जो प्रभु श्रीराम की प्रशंसा मे आनन्दित न होता हो। स्नेह में ममताभाव रहने से अपने प्रेमी के प्रति सन्तों के चित्त का द्रवीभाव होता है उस अवस्था में वह प्रेम स्थिर है[4]। इसी प्रकार अधमप्रकृति में प्रेम गत्वर (विनाशी) होता रहता है वैसे ही शील भी संसारियों में प्रायः दंभ में परिणत होता रहता है। श्रीराम में शील और स्नेह दोनों ही स्थायी हैं।

स्वर की विकृति

इस प्रसंगसे ज्ञातव्य यह है कि यहां मित्रोंका प्रशंसनीय विषय श्रीरामका स्वरविशेष है। वे बचपन से ही वीर उत्तम प्रकृति हैं अतः मित्रोंके साथ की हुई वार्तामें उनका स्वर 'सा' किंवा 'रे' में ही स्पंदित होता रहता है,

१. ऊर्ध्वंप्रसारितत्वं नैर्मल्यं उत्फुल्लता चेति दृष्टेर्विचेष्टितानि, पुलकिता विकासश्चेति वक्त्रस्य तै रागं लक्षयेत् विपरीतैरपरागम्। (का० ज० स० १२)

२. एवं स्वविषये कृत्यानकृत्यांश्च विचक्षणः।
परोपजापात् संरक्षेत् प्रधानान् क्षुद्रकानपि ॥ अ० १।१४

३. सद्भिःसंभावनीयताहेतुर्गुणः शीलम्।

४. मनसोयत् द्रवार्द्रत्वं विषयेषु ममत्वतः।
भयशंकावसानात्मा स एव स्नेह उच्यते ॥ (भाव प्रकाशन अ. ४)

अर्थात् वे षड्ज या ऋषभ स्वर में ही वे बोलते थे। वही स्वर राज्यारोहण के समय भी सुनाई दे रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि राज्यारोहण के प्रसंग में भी मदमानाभाव होने से श्रीराम के वीरबोधक स्वर में परिवर्तन नहीं है।

राजनीति के अनुष्ठान का फल—कांचनसंधिका योग

जिस प्रकार देवमूर्ति श्रृंगार की अभिलाषा नहीं रखती पर पूजक अपनी इच्छा से पूजा कर उसका आनन्द लेता है। उसी प्रकार राज्यारोहण की सुखानुभूति श्रीराम में नहीं है किन्तु प्रजा राज्यारोहण का सुख लूटना चाहती है इसी से श्रीराम में स्नेह एवं शील परिलक्षित हैं जो कि उनमें पूर्वानुस्यूत थे।

राज्यारोहणनीति के अनुष्ठानात्मकराजधर्म का वास्तविक यही फल है कि जनपद में आजीवन शील एवं स्नेह को आत्मसात् करने वाले महात्मा से सन्धि का अवसर उपलब्ध होने पर सदाचार एवं नीति का लक्ष्य सिद्ध हुआ समझना चाहिये। इसी को शास्त्रकारों ने कांचनसन्धि अथवा संगतसन्धि कहा है। अर्थ एवं काम की प्रधानता रहती है तो कांचनसन्धि दुर्लभ हो जाती है। अर्थप्रयुक्त स्थिति के रहने पर व्यवहार में संगतसन्धि नहीं के बराबर हो जाती है। प्रभु ने अवतीर्ण होकर कांचनसन्धि की स्थापना करके राजनीति की प्रतिष्ठा सिखायी है।

'रघुवीर' का भाव

शील एवं स्नेह के अस्तित्व में करुणा (दया) का भाव भी बना रहता है। मित्रता एवं सौहृद्भाव दया में ही परिलक्षित होते हैं। करुणापूर्णव्यक्ति स्व एवं परके संरक्षणार्थ अपने और अनुयायियों में धर्मसंबन्ध को सुदृढ़ बनाये रखने का प्रयत्न करता रहता है। वैदिक सिद्धान्त को तन्मयतासे अपनाये बिना शील, स्नेह, करुणा, सौहृद, कांचनसन्धि, विश्वास्यता, परलोकविश्वास, शुचिता, त्याग आदि गुण हृदय में समुदित नहीं हो सकते। उक्त गुणों को स्वायत्त करने वाले महापुरुष वंश'श्रेष्ठ' के नाम से ख्याति प्राप्त होते हैं। कवि ने इसी आदर्श को 'रघुवीर' से व्यक्त किया है।

संगति—नीतिमान् के राज्य में निवास करने पर दुःखपरतन्त्रता या विनाश की संभावना नहीं रहती अतः मित्रगण रघुपति की छत्रछाया में निवास प्राप्त होने की प्रार्थना कर रहे हैं।

चौ० जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईस देउ यह हमहीं ॥ ५ ॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नाह यह ओर निबाहू ॥ ६ ॥

भावार्थ—कर्मगति के वश हम लोग जिस जिस योनि में भ्रमण करें, वहां वहां ईश्वर हमको यही सुयोग दे कि हम सेवक रहें और हमारे स्वामी सीतापति रहें। स्वामिसेवक का यह नाता हमारी ओर से सदा बना रहे।

पशुयोनि में सेवा-पात्रता

शा० व्या०—धर्म के अनुसार प्राणिमात्रों को भिन्न भिन्न योनियों में जाना अपरिहार्य है। मनुष्य को छोड़कर अन्य योनि में विचारपूर्वक कार्य करने की स्वतन्त्रता सुलभ नहीं है। तथापि प्रभु के विशेष अनुग्रहसे पशुयोनि में भी कचित् भक्तिसेवा की पात्रता दिखायी देती है जैसे काकभुशुण्डी, जटायु आदि। अतः मित्रगण प्रभु और अपने बीच स्वामि सेवक संबंध मात्र बना रहे तथा योन्यन्तरमें भी वही संबंध स्थिर रहने की प्रार्थना करते हैं। इसी भावको 'होउ नात यह निबाहू' कहकर राजनीत्युक्त कांचनसन्धि को दर्शाते हुए स्वामिसेवक भाव संबंध के अन्तर्गत सेव्य की आत्म गुण संपत्ति और सेवक की उपधाशुद्धि-पूर्वक शुचिता को भी ध्वनित किया है।[1] यही भारतीय राजनीतिका उद्देश्य है।

1. अर्थे शौचपरो नित्यं गुणैरेभिःसमन्वितः। भूतये भूतिसंपन्नं साधु विश्वासयेन्नृपम् ॥ (नी. सा. स. ५।१६। द्रव्यप्रकृतिहीनोपि सेव्यः सेव्यगुणान्वितः। (नी. सा. स. ५।)

बालसखाओं की प्रार्थना से शिक्षा

उक्त सेव्यसेवकभाव में यह विशेषता है कि यथामति यथाशक्ति सेवा करनेवाले सेवक की कार्य-प्रणाली पर सेवक की ओर से न्यूनता का भाव दृष्टिगोचर नहीं होता किंबहुना स्वामीका नैतिक धर्म यही है कि सेवक की न्यूनता को हटाकर उसके कार्यक्रम को पूर्ण बना देना।

यद्यपि यह प्रार्थना बालसखाओं ने की है पर वह सभी व्यक्तियों के लिए यह अनुकरणीय है अर्थात् प्रभु राम की सेवा में मनोयोग देनेसे अकल्याण या परतन्त्रता का दुःख कभी नहीं होगा।

सेव्यसेवकभाव में जाति प्रतिबन्धक नहीं

यह भी चिन्तनीय विषय है कि किसी भी जातिमें जन्म लेना सेव्यसेवकभावमें प्रतिबन्धक नहीं माना जाता। किंबहुना अपनी जाति की मर्यादा में रहने हेतु शास्त्रोंमें जो-जो कर्तव्य बताये हैं उनमें मर्यादित रहते भगवत् सेवाभाव से कार्य करने से सेवकभाव पूर्ण मानना भक्तिसंप्रदाय है जैसे केवट, शबरी, भरद्वाज, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, आदि।[1]

संगति—बालसखाओं के समान ही नगरवासी सभी एकमत हो प्रभु की सेवा करना चाहते हैं अपवाद के लिये कैकेयी एकमात्र कृत्यपक्ष है।

चौ०—अस अभिलाषु नगर सब काहू। कैकयसुता हृदय अति दाहू॥ ७॥

भावार्थ—स्वामी सेवक की आकांक्षा अयोध्या में सबको है। पर कैकेयी के हृदय में तो प्रलाप है।

कैकेयी केवल कृत्यपक्ष है

शा० व्या०—बालसखाओं के उपर्युक्त निर्णय से तटस्थ व्यक्तियों को विश्वास हुआ कि अयोध्या में राजा या राजकुमार के लिए कोई कृत्यपक्ष (क्रुद्ध लुब्ध-मति अपमानित) नहीं है।

खेद है कि बालसखाओं जैसी सेव्यसेवकभाव संबन्ध्यभिलाषा सब नगरवासियों की होने पर भी उस अभिलाषा को त्यागने वाली एकमात्र कैकेयी कृत्यपक्ष में स्थिता दिखाई देती है जिसमें दासी मन्थरा सहायिका है।

संगति—शारदा ने देव सन्तो एवं धर्म के हित के लिए जो पदक्रम उठाया था उस विषय का अध्याय समाप्त हुआ। उसकी पूर्णता में शिवजी व्याप्ति के माध्यम से सिद्धान्त समझाते हैं।

चौ०—को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीचमते चतुराई॥ ८॥

भावार्थ—कुसंगत में पड़कर कौन विनष्ट नहीं होता। नीचों की राय में चलने वालों की बुद्धि की चतुरता समाप्त हो जाती है।

कुमति की उत्पादिका नीच संगति

शा० व्या०—नीचों की संगति का लक्षण कुमति है जिसका अन्तिम फल नाश है। या यों कहा जाय कि नाशजनक कुमति की उत्पादिका संगति ही कुसंगति या नीचसंगति है।

दो०—"कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत। पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल विनीत॥"[2] के अनुसार स्मरण रखना चाहिये कि कैकेयी पुनीत आचरण वाली पति-अनुकूला है और प्रभुपद में

---

१. विशेष विचार अरण्यकाण्ड में द्रष्टव्य है। २. (बा० का० दो० १८२)।

प्रीति रखनेवाली है। उसकी बुद्धिमत्ता और योग्यता 'राजु करत' से स्पष्ट है।[1] जैसे राजकाज में वह राजा दशरथ की सहायता करती थी वैसे ही श्रीराम के वनवास में उसका योगदान है। 'विमल वंश यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू' में प्रभु के संकल्प का संकेत पाकर सरस्वती ने अपनी माया से उसकी मति में फेर कराकर रामवनवास को कार्यान्वित कराया। प्रभु की इच्छा के अनुकूल होने से उसका कार्य प्रभु को प्रसन्न करनेवाला है, इसलिए प्रभु की दृष्टि में कैकेयी निर्दोषा और पुनीता है। प्रभु की इच्छा द्वारा प्रेरित जो दोष या दुर्गुण सेवक में दिखायी देते हैं वे सेवकधर्म के अन्तर्गत भक्तिशास्त्र के मत में पाप या दण्ड के योग्य नहीं माने जाते जैसा चित्रकूट में प्रभु के वचन से स्पष्ट है[2]—

भक्तिशास्त्र के उपर्युक्त सिद्धान्त के अन्तर्गत सती और नारद का चरित्र समझते हुए कैकेयी का चरित्र विवेचनीय है। कैकेयी की निर्दोषता गुरु वसिष्ठ के वचन 'अस बिचारि केहि देइअ दोषू। व्यरथ काहि पर कीजिअ रोषू' से भरतजी के सामने ध्वनित होगी जिसकी पुष्टि भरद्वाज ऋषि द्वारा दो० २०६ में स्पष्ट होगी।

संगति—कुबड़ी की कुमन्त्रणा के वर्णन के बाद अन्तःपुर की घटनाओं का चित्रण किया जा रहा है।

दो०—साँझ समय सानन्द नृप गयउ कैकई गेहँ।
गवनु निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेहँ॥ २४॥

भावार्थ—सन्ध्याकाल में राजा प्रसन्नमुद्रा में रानी कैकेयी के महल में गये मानो स्नेह-शरीरधारी हो कठोरता के पास जा रहा हो।

अन्तःपुर में राजा के प्रवेश की व्यवस्था

शा० व्या०—राजा दशरथ को रामराज्यारोहणोत्सवप्रयुक्तश्रम दिन में अधिक हुआ है। उसके परिहारार्थ कामशास्त्र के निर्देशानुसार राजा को अन्तःपुर में जाना है। अन्य रानियों के महल में न जाकर कैकेयी के महल में जाने का कारण मानिनी रानी को रामराज्याभिषेकोत्सव की हर्षप्रद सूचना स्वयं देने का औत्सुक्य है। दूसरी बात यह भी है कि कैकेयी राजकार्य में सहायिका भी है। धर्मनिष्ठ राजा नित्यकर्म (सायंकालीन संध्या-वन्दनादि) को संपन्नकर सायंकाल में रनिवास में गये—ऐसा कहना ही संगत है क्योंकि रामराज्याभिषेकनिमित्तक कार्य की प्रधानता में अर्थशास्त्रोक्त नियम 'तृतीये तूर्यघोषेण संविष्टः चतुर्थपञ्चमौ शयीत' को गौण रखकर अभिषेक-कार्य की यथावत् संपन्नता में कैकेयी की सम्मति के हेतु से 'कैकई गेह' में सायंकाल में ही राजा का जाना नीतिसम्मत कहा जायगा।

ज्ञातव्य है कि राजनीतिक सिद्धान्तानुसार अन्तःपुर का शोधन-कार्य राजा के प्रवेश के पूर्व होना चाहिये।[3] वैसा न होने का परिणाम है कि राजा को अन्तःपुर का सामयिक परिचय नहीं प्राप्त हुआ क्योंकि वह अन्तःपुर की व्यवस्था से निश्चिन्त थे।

---

१. राजु करत निज कुमति बिगोई—चौ० ७ दो० २३।
राजु करत यह दैअँ बिगोई—चौ० ३ दोहा ५१।

२. प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥ चौ० ७-८ दो० २४४

३. कारयेद्‌भवनशोधनमादौ। मातुरप्तिकमपि प्रविविक्षुः (नी० ७।३७)।
न च देवीगृहं गच्छेदात्मीयात् सन्निवेशनात्।
अत्यन्तं वल्लभोऽस्मीति विश्रम्भस्त्रीषु न व्रजेत्॥ (नी० ७।५०)

संगति—अन्तःपुर में रानी को यथास्थान न पाकर राजाने उसके बारे में पूछा होगा जैसा आगे कहा जा रहा है।

चौ०–कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भयबस अगहुड़ परइ न पाऊ॥ १॥

भावार्थ—कैकेयी कोपभवन में है, यह सुनकर राजा सकुचा गये। शंकाकुल मनस् में भय होने से उनका अगला कदम बढ़ने से रुक गया।

अन्तःपुर की कोपोत्पत्ति में राजा के भय का कारण

शा० व्या०—अन्तःपुर में कोपोत्पत्ति के मूल कारण की छान-बीन करने में सर्वप्रथम राजा को उसकी सुरक्षा-व्यवस्था पर ध्यान देना है। यदि सुरक्षा में प्रमाद होता है तो अन्तःपुर के दूषण में देर नहीं लगती। स्त्री-तत्व को प्रकृति ने स्वभावतः पुरुषों के लिए आकर्षण का विषय बनाया है। राजा के अन्तःपुर में सुन्दरियों का जमघट शास्त्र से प्राप्त है। अन्तःपुर का विपरीत होना राजनीतिक दृष्टि से भय का कारण बन सकता है, जिसमें राजा के प्रति प्रीति के अभाव की आशंका भी निहित है।

शास्त्रकारों ने पति के लिए पत्नी को प्रीति के द्वारा स्वाधीना रखने को कहा है।[1] इसके लिए स्त्री के हृदय में ऐसा विश्वास करा देना चाहिए कि वह "अयं पतिः मम सर्वप्रियं साधयति" समझती रहे। ऐसा विश्वास न होने पर स्त्री पति-विमुखा होकर अपने मनस् का अन्यत्र विक्षेप कर सकती है क्योंकि स्त्रियों के प्रति आकर्षण होने से उन पर पुरुषों की दृष्टि का निक्षेप होता रहता है। स्त्रियाँ स्वतन्त्र रूप से अपनी जीविका साधना चाहें तो उनके लिए जीविका का साधन प्रकृति ने उनके शरीर में ही बना रखा है।[2] अतः पुरुष का पत्नी के प्रति अरसिक होकर स्वस्थ-निश्चिन्त बैठना शास्त्रदृष्टि से इष्टापत्ति नहीं माना जा सकता।

सांकर्यदोष की प्रसक्ति

पति के संसर्ग में रहते भी यदि स्त्री के मनस्का अन्यत्र निक्षेप हो जाता है तो उसका आन्तरिक भाव बिगड़ने से सांकर्य-दोष होना अपरिहार्य है। फलतः ऐसे चिन्तन से होने वाला सांकर्य-दोष भावी वंश-परम्परा की शुचिता में बाधक सिद्ध होगा। अतः पति का कर्तव्य है कि पत्नी की इच्छा (विशेषतया कामेच्छा) का यथासंभव अनुसरण करता रहे।

अन्तःपुर के कोप को उपेक्षा में शत्रु-प्रवेश संभव

रानियों के कोप में यदि राजा मौन रह जाता है तो उनके असन्तोष को निमित्त बनाकर शत्रु को अन्तःछिद्र खोजकर विभेद की नींव डालने का अवकाश मिलता है। अतः अन्तःपुर कृत्यरूप से राज्य के विनाश का बीज हो सकता है।

स्त्री-संसर्गकी आकांक्षा, उसमें श्रमपरिहार तथा राग में परतन्त्रता

दैनिक कार्य में लगा पुरुष परिश्रम का अनुभव करने के बाद विश्राम के हेतु से अन्तःपुर की ओर उन्मुख होता है क्योंकि विषयानन्द की अनुभूति स्त्री-संसर्ग में है। आनन्द की अनुभूति में ईश्वर भी प्रकृति के संसर्ग में जगत्-निर्माण का कार्य करता है। इसी परम्परा में 'इयं सुखसाधनं' का विश्वास स्त्री के

---

१ 'स्त्रियं प्रेम्णा' (का० नी० ज० ३ स)

२ दाराणां चारुवृत्तित्वात् (नी० टीका १४।२१।५)।

प्रति पुरुष कर बैठा है। परिणाम यह होता है कि स्त्री की आसक्ति में पुरुष उग्रता-जुगुप्सा-आलस्य का भाव नहीं रखता। राग में विवेक नहीं रहता। अपने प्रिया के प्रति राग में उसको सदा उज्ज्वलमुखी देखने में उल्लसित पुरुष उसको कभी विकृतमुखी देखने में रुचि नहीं रखता। प्रिया के कोप का पुरुष पर ऐसा विलक्षण प्रभाव होता है कि अपनी स्वतन्त्रता को खोकर वह परतन्त्र हो जाता है। इसलिए रागी पुरुष अपनी मनोरथपूर्ति के लिए प्रिया के क्रोध को हटाने का पूरा प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में रखते कहना है कि विवेकी राजा दशरथ कामप्रयुक्त स्त्री-संसर्ग की आकांक्षा से अन्तःपुर में नहीं जा रहे हैं। उनके जाने का उद्देश्य आँशिक रूप में श्रम-परिहार एवं मुख्यरूप से राज्योत्सव के प्रबन्ध में कैकेयी की राय लेना है। रानी के कोप से राजा के भय का राजनीतिक कारण है जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है अर्थात् कोपजनित शंका ही भय का कारण है।

संगति : राजा दशरथ का यह भय कर्तव्य के प्रति प्रेरक होने से स्वाभाविक नहीं है बल्कि साहित्य-सिद्धान्तानुसार 'कृतक' भय है। इसकी पुष्टि में राजा के बल को बताते हुए समझा रहे हैं।

चौ० : सुरपति बसइ बाँहबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके ॥ २ ॥

भावार्थ : राजा दशरथ के भुजबल से आश्रित हो इन्द्र भी अपने को सुखी मानते हैं एवं संपूर्ण राजवर्ग उनका रुख देखते रहते हैं।

शा० व्या० : इन्द्र को असुरों की पीड़ा से बचाने में राजा के क्षत्रियोचित निर्भयता का स्वभाव प्रसिद्ध है।

इन्द्र सुरक्षित कैसे ?

'सुरपति बसइ बाँहबल जाके' के अनुसार वर्तमान में रावण के रहते इन्द्र कैसे सुरक्षित कहा जायगा ? इसके उत्तर में निम्नलिखित वक्तव्य है—

शुचि स्थल में राक्षसों का प्रवेश नहीं

यह सिद्धान्त है कि धर्म-सुरक्षित सीमा में धर्मतत्व की दृढ़ता रहती है तो असुरों को उस पवित्र स्थल में प्रवेश करने में अभिरुचि नहीं होती। कदाचित् हो भी जाय तो उनके शरीर में दाह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं अतः वे वहाँ से दूर हट जाते हैं। इसलिए अयोध्या, मिथिला आदि पवित्र नगरी में राक्षसों का प्रभाव नहीं था।

देव-मानव का संघटन

तात्कालिक राज्यों में जो देश प्रमाद में लिप्त हो गये, वे सब राक्षसों से आक्रान्त हो गये। वर-दृप्त राक्षसों को वहाँ से हटाना भी संभव नहीं था। वहाँ रहनेवाले पवित्रात्माओं को ऐसे अशुचि स्थलों को छोड़कर अयोध्या मिथिला आदि पवित्र स्थानों में शरण लेना पड़ा। श्रुतिकार्य में तन्मय रहने से धर्म का बल बढ़ता है। श्रुतिपालक महात्माओं के अयोध्या, मिथिला आदि पवित्र पुरियों में एकत्रित होने से उनके आश्रय में निर्भय स्थान समझकर देवों ने भी वहाँ शरण लिया जैसा श्रुति में 'देवानां पूर-योध्या' से अयोध्या को देवों की निवासस्थली कहा है। देवों के साथ सुरपति इन्द्र भी धर्मात्मा राजा दशरथ की पुरी में अपने को सुरक्षित मानते हैं।

देवों और मानवों का उपर्युक्त संघटन राजा दशरथ के बल और राजनीतिज्ञता को प्रकट करता है। इस संघटना का फल है कि असुरों से बचने के उपाय में सचेष्ट देवों की अनुकूलता वहाँ बैठे महात्माओं

के प्रत्युपकारार्थं राजनीत्युक्त 'वीवध-आसार' आदि पहुँचाने में प्राप्त है। राजा दशरथ के पुरुषार्थपूर्ण राजनीति-बल के प्रभाव से अन्य राजा उनकी अनुकूलता के इच्छुक बने हैं। देवों का अयोध्या में निवास होने में राजाका देवों के प्रति आदरसेवाभाव नियामक माना जायगा, न कि रावण की तरह देवों को वश में करके उनके प्रति अनादर-भाव।

संगति : राजा दशरथ के अग्रिम चरित्र में कवि काम-प्रताप का चित्रण करेंगे।

चौ० : सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु कामप्रताप बड़ाई ॥ ३ ॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे ॥ ४ ॥

भावार्थ : ऐसे बली राजा स्त्री के कोप को सुनकर मुरझा गये। काम के प्रताप की महिमा देखने योग्य है। जो शूल, वज्र या तलवार की चोट से अंगों को वेदना होते हुए भी विचलित नहीं होते वे भी कामदेव के पुष्पबाणों से आहत हो जाते हैं अर्थात् कामवश हो जाते हैं।

विषय-सेवन

शा० व्या० : कामतत्व में विषयसेवन के लिए सावधान करते हुए शास्त्रकारों ने विषयसेवन का अनुमोदन वहीं तक किया है जहाँ तक विषयों में अंगत्व या तत्परता न होने पावे।[1] चौ० ३ दोहा १९ में 'पाखु दिन' की व्याख्या के अन्तर्गत कही कामशास्त्र की व्यवस्था से संवलित कामदेव का कार्य राजा दशरथ को कामयमान बना रहा है जिसको 'कामप्रताप बड़ाई' कह रहे हैं।

कामप्रताप के बड़ाई का विचार

कामक्षेत्र में स्त्री यजमानस्थानीया है। जब वह पुरुष को वरण करती है तब पुरुष को पत्नी का अनुकरण करना पड़ता है। कामातिरिक्तविषय में स्त्री परतन्त्रा है, उसको पुरुष का अनुसरण करना है। कामतन्त्र में स्त्री अंगी है, पुरुष को अंग माना गया है। प्रस्तुत प्रसंग में काम-प्रताप दिखाकर स्त्री की स्वतन्त्रता का दिग्दर्शन कराया गया है।

राज्याभिषेकनिमित्तिक कर्म का संकल्प करने के बाद राजा दशरथ व्रतस्थ हैं। व्रतस्थिति में अपनी प्रिया के पास जाते देखकर कामदेव को विघ्न कार्य के अनुकूल अवसर मिला। 'विघन मनावहिं देव कुचाली' से स्पष्ट है कि देवता रामराज्याभिषेक में विघ्न करने की योजना बना रहे थे। 'कामप्रताप बड़ाई' यही है कि प्रस्तुत में व्रत-स्थिति में होने पर भी राजा तटस्थ न रह सकें और रानी की कोप-लीला को कामिनी लीला रूप में देखने लगें। काम-प्रताप का विशद वर्णन बा० का० चौ० ५ दोहा ८४ से सोरठा ८५ तक में द्रष्टव्य है।

कामशास्त्र के अनुसार पुरुष को, व्रतस्थदशा में भी, स्त्री को कामयमाना देखकर, कामचेष्टा में रत होने का विधान है। उदाहरणार्थं कश्यप महर्षि अग्निहोत्र का अवसर होते हुए भी दिति की कामवासना की पूर्ति करने को बाध्य हुए। दिति और कैकेयी की स्थिति में यह अन्तर है कि दिति ने अपनी सेवा के माध्यम से कश्यप को काम-परतन्त्र किया, कैकेयी अपने कोप के माध्यम से राजा को कामोन्मुख

---

१. निकामं सक्तमनसां कान्तामुखविलोकने।
गलन्ति गलिताश्रूणां यौवनेन सह प्रियः ॥ (नी० स० १)

बना रही है जैसा छन्द २५ में स्पष्ट है। यहाँ काम के प्रताप की बड़ाई यह है कि कैकेयी के कोप को प्रणयकोप समझकर राजा उसको कामयमाना समझने के भ्रम में आगे बढ़ गये जिसको कवि 'कामकौतुक लेखइ' से स्पष्ट करेंगे। काम के प्रताप से कैकेयी का कोप प्रणय-कोप के रूप में राजा के लिए 'सुमन-सर मारे' सिद्ध हो रहा है।

काम के प्रभाव में चार्वाक-मत की उपादेयता

शास्त्रकारों के मत से विषय-लालसा की अधीनता में कार्य करना नीतिसम्मत नहीं है। भगवदुपासना में रहते अपेक्षानुसार विषयों को शास्त्रमर्यादितरूप में स्वीकार किया जाय तो तृष्णा का प्राबल्य नहीं रहेगा। इस प्रकार ब्रह्मज्ञ विवेकी राजाओं की दिनचर्या में चार्वाक-मत को भी स्थान है। कृतार्थता की[1] स्थिति में इस समय राजा दशरथ उस[2] मत का अनुगमन करते हुए रानी को मनाने जा रहे हैं।

राजा की कामवशता का हेतु

राजा दशरथ के आराध्यदेव कामारि शिवजी हैं। अपने अनन्य उपासक को काम-संबंधी मोह से शिवजी ने क्यों नहीं बचाया ?

इसके समाधान में कहना है कि बा० का० सोरठा ८५ में कहे 'जे राखे रघुवीर ते उबरे तेहि काल महुँ' के अनुसार राजा के अव्यभिचरित मृत्युसूचक दैव की प्रबलता के कारण प्रभु की इच्छा समझकर शिवजी ने राजा को उक्त मोह से नहीं बचाया।

चौ०—सभय नरेसु प्रिया पहिं गयऊ। देखि दसा दुखु दारुन भयऊ ॥५॥

भावार्थ—भयभीत होते राजा अपनी प्रिया कैकेयी के पास गये। रानी की दशा को देखकर राजा को घोर दुःख हुआ।

शा० व्या०—पूर्वोक्त चौ० १ में 'भयबस' की व्याख्या में कही आशंकाओं का भय कैकेयी के पास जाते हुए राजा को उदित हो रहा है। 'दारुन दुख भयऊ' से स्पष्ट किया गया है कि राजा ने आजतक कैकेयी की ऐसी दशा नहीं देखी थी अर्थात् रानी ने ऐसा कोपप्रयुक्त व्यवहार पहले कभी नहीं किया था।

संगति—पूर्वोक्त चौपाई में 'देखि दसा' का स्वरूप वर्णन किया जा रहा है।

भूमि सयन पटु मोट पुराना। दिए डारि तन भूषन नाना ॥ ६ ॥

भावार्थ—रानी जमीन पर पड़ी है। पुराना मोटा वस्त्र पहनी है। अपने आभूषणों को शरीर से उतार कर फेंक दिया है।

शृंगाररस में पुरुष का नमन

शा० व्या०—कोप के समस्त साधन भूमि-शयन, पुराने वस्त्र, आभूषणों का फेका जाना, आदि जब राजा की दृष्टि में आये तब राजा ने अपने कर्त्तव्य का विचार किया। शृंगार-रस में स्त्री जब पतिविमुखी हो कोप की अवस्था में है तो उसको मनाने के हेतु यदि प्रणाम की अपेक्षा पड़े तो वह भी कर्त्तव्य माना गया है। शृंगार में नमनादि उपाय परिगृहीत हैं।

---

१. विनीत पुत्र का होना, राज्यरक्षण में दक्ष होना, राज्य की निष्कंटक स्थिति को बनाये रखना आदि राजा की कृतार्थता है।

२. सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी (अर्थशास्त्र वैदिक सिद्धान्त संरक्षिणी सांगवेदविद्यालय रामघाट काशी)।

अन्तःपुर को उपेक्षित करने से कुमन्त्रणा व्याप्त होने की संभावना रहती है, घर में ही विघटन की स्थिति पैदा हो सकती है जैसा पूर्व में चौ० १ दो २५ की व्याख्या में स्पष्ट किया है। ऐसी दशा में अन्तःपुर की स्वतन्त्रता महद्हानिकरी हो सकती है। दूसरी ओर राजा को आश्चर्य भी हो रहा है कि रानी का शील ऐसा नहीं है जो अभी दृष्टिगोचर हो रहा है।

संगति : राजा के व्यथा की कल्पना में शिवजी पार्वती को आगे सुना रहे हैं।

चौ० : कुमतिहि कस कुवेषता फाबी। अन अहिबातु सूच जनु भाबी ॥ ७ ॥

भावार्थ : कोप की अवस्था में कुबुद्धि कैकेयी का विकृत वेष कैसा खिल रहा है, मानो भावी वैधव्य को सूचित कर रहा हो।

दैव के साथ पुरुषार्थ की उपादेयता

शा० व्या०—इस अवसर पर आगे होने वाली घटना में शिवजी दैव ही को कारण ठहरा रहे हैं।

नीति के संचालन में दैव एवं पुरुषार्थ को[1] सम्मिलित आधार माना गया हैं। इनमें से एक भी क्षीण या दुष्ट हो जाय तो नीति का विनाश हो जाता है। इन दोनों में दैव की स्थिति का पता लगाना मानव के लिए संभव नहीं है। इसलिए शास्त्रकारों ने दैव को न सोचकर पुरुषार्थ की पूर्णता पर ध्यान देने के लिये कहा है।[2] यदि पुरुषार्थ में न्यूनता होती है तो तन्निमित्तक वैफल्य में नीतिमानों को सन्ताप का अनुभव करना पड़ता है। पुरुषार्थ पूर्ण होते हुए भी कार्य की विफलता होती है तो उसमें दैव कारण माना जाता है। इसमें दृष्ट अपराध न होने से नीतिमान् सन्तप्त नहीं होते।

अन्तःपुर में चरनियोजन की व्यवस्थाभाव में राजा निर्दोष

राजा दशरथ के राज्य में पूर्ण धर्मश्रद्धा जनमानस में जागरूक होने से अन्तःपुर में चरनियोजन की आवश्यकता नहीं थी। इस व्यवस्था में राजा के पुरुषार्थ में (अन्तःपुर रक्षा) न्यूनता नहीं थी। अन्तःपुर में पूर्ण सौहार्द-भाव था। सेवापरायणा कैकेयी के महल में कुमंत्रणा या स्वतंत्रता की संभावना नहीं थी। प्रत्येक रानियों के स्वभाव को समझकर राजा ने अन्तःपुर को सभी दोषों से बचाने की व्यवस्था कर रखी थी, तो भी राजा के सामने यह दुःख-प्रसंग आ पहुँचा तो कहना होगा कि इसमें हेतु केवल दैव (भावी) है अर्थात् सौत की आशंका से रनिवास में कलह, अन्याय, हठ, स्वतन्त्रा, स्वेच्छाचारिता आदि दोषों का उदय होने में दैव ही मुख्य (हेतु) है।

संगति : कैकेयी को मनाने के लिए राजा का उपक्रम आगे सुनाया जा रहा है।

चौ० : जाइ निकट नृपु कह मृदु बानी। प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी ॥ ८ ॥

भावार्थ : रानी के पास में जाकर राजा मधुरवाणी में बोले "हे प्राणप्रिये! किस कारण से कुपित हो ?

रानी को मनाने में राजा का कारकान्तरत्व

शा० व्या० : क्रोध को शान्त करने के लिए मृदु वाणी का प्रयोग उचित ही है।[3] राजा की दृष्टि में

---

१. दैवं मानुषं च कर्म लोकं पालयति। (का० ज० स० १)।

२. अत्युग्रं स्तुतिभिः।

३. दैवस्याचिन्त्यत्वान्मानुषमेव नयशौर्यादिक्रमास्याय स्वमण्डले श्रियं चिन्तयेत्। (नी० ज० अ० १)

अभी कामतन्त्र अन्तर्गत स्वतंत्रतात्मक कर्तृत्व रानी में है। राजा स्वयं कारकान्तर है, उसको कामतन्त्र में प्रेरित कराना रानी के अधीन है। इस कार्य में राजा अपने में प्रभुत्व (याजमान्य रूप स्वातंत्र्य) न समझकर अपने कारकान्तरत्वानुरूप शोभा को बनाने के लिए रानी में मृदुता लाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

स्वरवैचित्र्य में मृदुता

ज्ञातव्य है कि प्रकृत्या वीर का स्वर षड्ज ही होगा। कृतक भय होने से यह स्वर नीचे के सप्तक में उच्चरित होगा जो मृदु होगा जिसको 'मृदु बानी' कहा है।

संगति : आगे राजा कैकेयी से कोप का कारण पूछ रहे हैं। शिवजी के संवाद को ध्यान में लाकर कवि भवितव्यता को देखते हुए तात्कालिक चरित्र का चित्रण कर रहे हैं।

छन्द : केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि नेवारई।
मानहुं सरोष भुजंगभामिनि विषम भाँति निहारई॥
दोउ वासना रसना-दशन-बर—मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपति भवितव्यता—बस कामकौतुक लेखई॥ १॥

भावार्थ : कवि रानी के कौतुक का वर्णन कर रहे हैं "हे रानी ! किस कारण से गुस्सा हो गयी" ? रानी के अंगों पर हाथ फेर रहे हैं तो वह उनका हाथ झटक रही है, मानो नागिन क्रोध में क्रूरदृष्टि से टेढ़े होकर देखती हो। सर्प काटते समय जीभ लगाकर दाँतों को मर्मस्थान पर गड़ा देता है, उसी प्रकार कैकेयी दो वर की वासना लेकर याचना की चोट राजा पर करने के लिए मौका ढूँढ़ रही है। तुलसीदास जी कहते हैं कि होनहार के वश हो राजा भी इस समय कैकेयी की उक्त क्रियाओं को काम-कौतुक समझ रहे हैं।

कामक्रीड़ा की भ्रान्ति

शा० व्या० : मनाने की क्रिया में राजा ने प्रथमतः स्पर्श किया, रानी ने उसे ठुकरा दिया। जिसको राजा भवितव्यतावशात् रानी की कामक्रीड़ा समझ रहे हैं। इस प्रसंग में शास्त्रकारों का अभिमत ज्ञातव्य है।

स्त्री-स्वातन्त्र्य में शास्त्रसम्मति

धर्म एवं पुरुषार्थसिद्धि में स्त्री में यजमानसदृश कर्तृत्वरूप स्वतन्त्रता नहीं है, पर कामकेलि में स्त्री को उक्त स्वतन्त्रता दी गयी है। यदि कामकेलि में स्त्री रूठती है तो उसको अनुकूला बनाने में अपनी स्वतन्त्रता उपेक्षित कर देना शास्त्रसम्मत मालूम होता है। स्त्री में काम का प्राधान्य प्राकृतिक है। जन्मतः स्त्री कामकेलि में निपुणा है। कामशान्ति के बिना स्त्री सुरक्षिता नहीं रह सकती। इस सिद्धान्त के अनुसार कामकेलि में स्त्री की स्वतन्त्रता कर्तृता (यजमानसदृशी) मानी गयी है। इस केलिकृत्य में पुरुष को स्वतन्त्रता नहीं है बल्कि वह कारकान्तर, स्त्री-प्रेर्य है। कामकेलि में स्त्री की स्वतन्त्रता धर्मशास्त्र के विधान से ज्ञातव्य है—ब्रह्मचर्यपालन में स्थित व्रतस्थ पति को काम पीड़िता स्त्री प्रेरित करे तो ऋत्वभिगमन करने में पुरुष दोषार्ह नहीं माना जाता। ऐसे प्रयोग में स्त्री की कामशान्ति होना शास्त्र को इष्ट है। इसका उदाहरण चौ० ३ दो० २५ में कहे दिति-कश्यप के इतिहास से स्पष्ट है।

कामकौतुक में प्रणयमान का भ्रम

'काम कौतुक लेखई' से स्पष्ट होता है कि अर्थसिद्धि का अभाव ही कोप का प्रयोजक था। इस बातको राजा न जानकर भ्रम में रानी के कोप को प्रणय-कोप समझ रहे हैं।

भवितव्यता का तात्पर्य

वस्तुगत्या राजा उपरिबुद्धि भगवदुपासक हैं। उनको विपरीतार्थदर्शन नहीं होना चाहिए। वे राज-नीति का विध्वंस नहीं करने वाले हैं, नीति भी उनका विध्वंस नहीं करती। किन्तु कवि कहते हैं कि भवितव्यता इतनी प्रबल है कि वह ऐसे राजा को विपरीतार्थदर्शन करा रही है। निष्कर्ष यह कि प्रभु की इच्छा से यह सब हो रहा है।

संगति : काम-क्रीडा की भ्रान्ति में रानी को रिझाने और प्रसन्न करने की कल्पना में राजा का प्रयोग चल रहा है।

सो० : बार-बार कह राउ सुमुखि ! सुलोचनि ! पिकवचनि ! ।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि ! निज कोपकर ॥ २५ ॥

भावार्थ : राजा बार-बार पूछ रहे हैं "हे सुन्दर मुखवाली ! सुन्दर नेत्रवाली ! मधुर भाषिणि ! हाँथी की चालवाली ! रानी ! मुझे अपने रोष का कारण बताओ।"

संगति : कैकेयी के प्रसन्नतार्थ उसके कोप के कारणविकल्प को पूछने का क्रम आगे स्फुट कर रहे हैं।

चौ० : अनहित तोर प्रिया केइँ कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा ॥ १ ॥
कहु केहि रंकहि करौं नरेसू ?। कहु केहि नृपहि निकासौं देसू ? ॥ २ ॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी ॥ ३ ॥

भावार्थ : हे प्रिये ! तुम्हारा अनिष्ट किसने किया है ? किसके दो सिर हैं ? किसको यमराज के यहाँ जाना है ? अर्थात् तुम्हारा अनिष्ट करने वाला मरा ही समझो। कहो, किस गरीब को राजा कर दें ? किस राजा को देश-निकासा कर दें ? तुम्हारे वैरी देवता अमर भी हों तो उसको मार सकता हूँ। फिर पृथ्वी पर रहने वाले बेचारे नर-नारी तो कीड़े-मकोड़े के समान हैं, उनकी क्या गिनती ?

रानी के क्रोध का कारणविकल्प

शा० व्या : रानी के बिगड़ने में विशेषतया तीन कारण मालूम होते हैं। एक तो राजा के द्वारा रानी की इष्टसिद्धि (हित) न होना। दूसरा यह कि कोई बलवान् अनिष्ट का प्रतीकार न होना। अथवा उक्त दोनों क्रिया के बारे में राजा की उपेक्षा करना। प्रथम कारण में राजा ने 'कहु केहि रंकहि करौं नरेसू' कहकर अपने द्वारा इष्टसिद्धि समझायी। दूसरे में 'अनहित तोर केहि कीन्हा' कहकर सामान्यतया अहित करने वालों के प्रतीकारार्थ उनके नामों की जिज्ञासा दिखायी। इसमें दो प्रकार के अहितकारी हो सकते हैं। बलवान् और दुर्बल।' 'केहि दुई सिर' कहकर बलवान् को निरस्त किया। अहितकारी दुर्बलों के लिए दण्डनीति में तीन प्रकार के विधान बताये हैं। मृत्यु, अर्थहरण और परिक्लेश। इन तीनों प्रकार के दण्डों की मर्यादा एवं उनके अधिकारी तीन हैं। उनके दण्डक्रम के अनुसार 'केहि जमु चह लीन्हा' से मृत्युदण्ड का पात्र, 'केहि नृपहि निकासौं देसू' से अर्थग्रहण का पात्र तथा 'सकउ तोर अरि अमरउ मारी' से परिक्लेश

का पात्र कहा है। अवशिष्ट अपराधियों में रहे 'नर नारी' जिनको अत्यन्त दुर्बल होने के कारण त्रिविध उक्त दण्ड की मात्रा की दृष्टि से 'काह कीट बपुरे नर नारी' कह कर कैमुतिकन्यायेन दुर्बल सिद्ध किया है। कैकेयी को इतना ऊँचा सम्मान देने में राजा का तात्पर्य इतना ही है कि वह आभिमानिक सुख में प्रसन्ना हो जाय।

राजा के दण्डविधान में नैतिकता

प्रश्न : धर्मविजयी राजा के लिए रानी को इस प्रकार उच्च पद देकर अनैतिक बातें करना क्या शोभनीय कहा जायगा ?

उत्तर : इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि अपने राज्य की निरपराध स्थिति को बताते हुए राजा जो कुछ कह रहे हैं, वह अनैतिक न होकर राज्य में उन बातों की असंभावना को ही प्रकट करता हैं। इसका विस्तृत विवेचन नीचे किया जा रहा है।

अयोध्या में अपराधभाव की स्थिति

महाराजा दशरथ के राज्य में अयोध्या की स्थिति इस प्रकार है। राज्य में देवों से लेकर सभी व्यक्ति राजशासन की महत्ता को समझकर प्रीतिपूर्वक कार्यरत हैं। पवित्रात्मा होने के कारण स्वयं राजा भी विप्रकीर्णशक्ति-समूह के केन्द्र हैं। राज्य में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है कि जो राजद्रोह करने में तत्पर हो। राजा के प्रभाव से सभी के हृदय में धर्म का शासन व्याप्त है। इस बात को राजा अच्छी तरह जानते हैं कि अनीति तथा अशुचिता में रहने से देवता एवं विद्याएँ वहाँ से लुप्त हो जाती हैं। शुचिता में रहने वाले के समीप में देवता एवं विद्याएँ दुर्ग की भाँति वहाँ निवास करती हैं। नीतिमान् व्यक्ति हर प्रकार से निर्भय रहता है। अतः राजा निर्भय होकर कहते हैं कि उनके राज्य में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो अपराधी हो या राजशासन के द्रोह में खड़ा हो सके, ऐसा कोई माण्डलिक राजवर्ग भी नहीं है जो परिवार से विरोध रखता हो। निष्कर्ष यह है कि उनका राज्य ऐसा आदर्श राज्य है जिसमें उपर्युक्त दण्ड का पात्र कोई व्यक्ति नहीं है कवियों ने इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र भी दिये हैं[1]। मानसकार ने 'दुइ सिर' कहकर यही अर्थ प्रकट किया है। सारांश यही है कि देश में अहित करने वाला व्यक्ति नहीं है जो मृत्युदण्ड का अधिकारी, दरिद्र, द्रोही या देव प्रतिकूल हो।

सन्तों की वाणीकी यथार्थता

ज्ञातव्य है कि पवित्रात्मा मनीषियों की वाणी को शास्त्रवचनानुसार सफल होना ही है जो 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावत्ति' से स्पष्ट है। अतः राजा के वाक्यों को स्पष्ट रूप से न कहकर परोक्षरूप से सुनाना भवितव्यता से प्रेरित है। वस्तुगत्या राजवचन की सत्यता राजा के घर में ही होनेवाली है। जैसे 'अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा'—मन्थरा ही अहित कारिणी है। 'केहि दुइसिर'—कैकेयी को ही दो सिर या मुख है। एक मुख से पहले कह चुकी है—'कौसल्यासम सब महतारी। सुदिन सुमंगल सोई जेठस्वामि सेवक लघुभाई। मोपर करहि सनेह बिसेषी, आदि। दूसरे मुख से कहेगी—'तापस वेषविसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनवासी' आदि।

---

१. अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः संख्यया।
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाण वधिरश्राव्याः किलाकिर्तयः॥
गीयन्ते स्वरमष्टमंकलयता जातेन बन्ध्योदरात्।
मूकीनां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि॥ (नैषध)

'केहि जमु चह लीन्हा'—राजा को ही यमराज के यहाँ से बुलावा आया है। 'कहु केहि रंकहु करौ नरेसू'–आजीवन सेवकत्व मानकर भरत को रंक मान रही है, उसको राजा बनना है।

'कहु केहि नृपहि निकासौ देसू'-राज्यारोहण की घोषणा के बाद मनोनीत राजा श्रीराम को देश-निकासा अर्थात् वनगमन होनेवाला है। 'सकउँ तोर अरि अमरउ मारी'—देवताओं से प्रेरिता सरस्वती का कार्य कैकेयी का अहित करनेवाला है अर्थात् वैधव्य होनेवाला है। पर सरस्वती के कार्य में भरत को राजतिलक नहीं होगा यद्यपि वह राजसंचालन करेंगे।

राजा की गर्वोक्ति

प्रश्न : रानी की परतन्त्रता में राजा की गर्वोक्ति 'अमरउ मारी' क्या शोभनीय है ?

उत्तर : उत्तर में कहना है कि अधीनस्थ प्राणी मित्र को उत्साहित करने के लिए सब कुछ कहता है। कामतन्त्र में स्त्री स्वतन्त्रा है, पुरुष परतन्त्र है। प्रेयंने मालिक (प्रेरक) के अनुशासन को संपन्न करने की दृष्टि से जो भी कहा या किया वह दासता का अनुभाव है। उदाहरणार्थं परशुरामजी धर्म-प्रधान होने से पिता की अधीनता में मातृवध के लिए प्रवृत्त हुए, द्रोण आदि गुरुवर्ग भी दुर्योधन के आदेश का पालन करने को विवश हुए, उसी प्रकार दशरथ ने भी काम की अधीनता में प्रिया के अनुसरण में ऐसा कहा तो आश्चर्य नहीं। अवशिष्ट विचार अग्रिम चौ० में देखें।

संगति : कामप्रयुक्त मोहकता को समझने के लिए महाराज कैकेयी को संबोधन कर रहे हैं।

चौ० : जानसि मोर सुभाउ बरोरू ! । मनु तव आनन चंद चकोरू ॥ ४ ॥

भावार्थ : हे सुन्दर जाँघवाली ! मेरा स्वभाव तुम नहीं जानती हो कि मेरा मनोरूपी चकोर तुम्हारे मुख को चन्द्रमा के समान खिला हुआ देखना चाहता है।

कामतन्त्र में पुरुष का विश्वास

प्रश्न : छन्द २५ की व्याख्या के अनुसार कामतन्त्र के अधीनस्थ पुरुष अपने में कर्तृता नहीं रखता तो प्रेरिका स्त्री जो भी कहे वह सब विना विचार किये करना क्या ठीक होगा ?

उत्तर : उचितानुचित का विचार करना प्रत्येक का कर्तव्य है। परतन्त्र होने पर वह उचित कर्तव्य को नहीं सोचता तो वह दोष पुरुष में स्त्री के प्रति मोहकता के कारण उत्पन्न होता है। अर्थात् रागान्धता में राजा दशरथ कैकेयी के मोहकताप्रयुक्त राग में उपर्युक्त वचन सुना रहे हैं। राजा के उपर्युक्त वचन में कारण राजा का विश्वास है कि प्रिया कैकेयी पतिव्रता है, वह धर्मविरुद्ध कार्य में कदापि प्रेरिका नहीं होगी।

जहाँ धर्मविरोध सिद्ध है वहाँ कारकान्तर को उचितानुचित का विचार करना चाहिए। कारकान्तर मूर्ख यजमान को त्यागने में कारणावशात् या देववशात् असमर्थ हुआ तो अनुचित कार्यक्रम के परिणाम स्वरूप यजमान और कारकान्तर का विनाश अवश्यंभावी है जैसा छन्द २५ की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

संगति : कामतन्त्र का समय होने से राजा अपना कार्यान्वयि-प्रेयंत्व प्रकट कर रहे हैं।

चौ० : प्रिया प्रान सुत सरबसु मोरे । परिजन प्रजा सकल बस तोरे ॥ ५ ॥

भावार्थ : हे प्रिये ! हमारा सर्वस्व, प्राण के समान प्रियपुत्र, परिजन, कुटुम्बी, प्रजा आदि सब तुम्हारे वश में हैं।

शा० व्या० : बुद्धिमान् होते हुए भी प्रजासहित अपने को कैकेयी के अधीनस्थ करने में कारण यह है कि राजा कामशास्त्र के ज्ञाता हैं, रात्रि के कतिपय प्रहर बीत चुके हैं, एकान्त स्थल है।

संगति : प्रजासुत आदि रानी के वश में हैं—इस प्रतिज्ञातार्थ की यथार्थता समझाने के लिए राजा बोल रहे हैं।

चौ० ; जौं कछु कहौं कपट करि तोही। भामिनि! रामसपथ सत मोही ॥ ६ ॥

भावार्थ : यदि मैं कपट करके कहता हूँ तो हे भामिनि! मुझे एक बार नहीं, सौ बार श्रीराम की सौगन्ध है।

कपटार्थ परिष्कार व रामशपथ का प्रयोजन

शा० व्या० : यहाँ राजा के कपट प्रयोग का अर्थ होता है कि प्रतिज्ञातार्थ को देशकाल एवं परिस्थिति के बहाने से विसंवाद (विपरीत) करना। ऐसा विसंवादी कार्य राजा से नहीं होगा। इसका विश्वास दिलाने के लिए श्रीराम की शपथ राजा ने ली है। राजा के इस निर्णय से कि उनके राज्य में कोई अपराधी नहीं है, न तो कैकेयी ही दुष्टा है, प्रतिज्ञातार्थविपरीत कार्य की संभावना की नहीं जा सकती अर्थात् प्रतिज्ञातार्थ सत्य है, जो 'सपथ सत' से व्यक्त है।

शपथ की प्रतिष्ठा

ज्ञातव्य है कि जिसको वैदिक सिद्धान्त एवं तदुक्त पारलौकिक फलों पर पूर्ण विश्वास है वही व्यक्ति शपथ के अनुसार प्रतिज्ञातार्थ का आजीवन निर्वहण कर सकता है। ऐसे सत्यवादी राजा के बारे में आश्वस्ता प्रजा भी अपने स्वामी के साथ जीवन मरण के लिए तत्परा रहती है। अतः राजनीति में सत्यत्व के ऊपर अर्थशास्त्रकार ने भारी बल दिया है।[1] राजनीति में यह भी कहा गया है कि यदि राजा निर्व्यसनी सत्यपालक, त्यागी एवं शूर है तो वह राष्ट्र में प्रिय होता है। ऐसे राजा के विरोध में नेता लोग सामाजिक संघटन बनाने में असफल होते रहते हैं। राजा का वर्तमान एवं भविष्यत् दोनों एकमात्र सत्य और शपथ पर आधारित है। उनकी सत्यसंधता कभी टलती नहीं। इसलिये कैकेयी जो भी मागेगी वह दिया जायगा। स्त्री का कोप राजा को इष्ट नहीं है। वह उसको प्रसन्ना देखना चाहते हैं।

संगति : रानी की प्रसन्नता के लिए उसको इप्सित फल की उपलब्धि कारण है, उसी को पूर्ण करने में राजा रानी को स्वतन्त्रता या छूट दे रहे हैं।

चौ० : बिहसि मागु मनभावति बाता। भूषन सजहि मनोहर गाता ॥ ७ ॥

भावार्थ : राजा प्रसन्नता से हँसते हुए बोले कि मन चाही बात को माँग लो। हमारे मनस् को हरने वाले अपने सुन्दर अंगों पर गहने सजा लो। अर्थात् याचना के अनुकूल स्थिति में हो जाओ।

संगति : मंगलमय अवसर पर कैकेयी के आकस्मिक रोष की स्थिति से किसी अनहोनी घटना के प्रति राजा आशंकित हो रहे हैं। अतः यथाशीघ्र उसका निरास करना चाहते हैं।

---

१. शान्तिका अग्रदूत भा० १-२ (सांगवेदविद्यालय, रामघाट, वाराणसी,)

चौ० : धरो कुबरो समुझि जियँ देखू । बेगि प्रिया परिहरहि कुवेषू ॥ ८ ॥

भावार्थ : मौका बेमौका को समझकर मनस् में विचार करो । हे प्रिये ! अशुभ असुन्दर वेष को शीघ्रतया बदलो । 'बेगि' से राजा समय का संकोच प्रकट कर रहे हैं ।

शपथपर कैकेयी को विश्वास

शा० व्या० : राजा का तात्पर्य यह है कि कैकेयी के मनोरथ की सिद्धि यथाशीघ्र सम्पन्न कराकर प्रस्तुत मंगलमय राज्याभिषेक को सुनाया जाय ।

पूर्व में चौ० १ से ३ में राजा अपराधी के बारे में पूछ आये हैं। कैकेयी सोच रही हैं कि जनपद या पुर में कोई अपराधी नहीं है । अपने परिवार में अपराधी का विषय चिन्तनीय है । 'राम सपथ' सुनकर रानी को विश्वास हो गया है कि वह जो भी कहेगी उसको राजा पूर्ण करेंगे ही क्योंकि उनको सत्यसंधता से वह परिचिता है अर्थात् प्रतिज्ञा करके राजा उससे च्युत नहीं होते । अतः रानी ने यह निष्कर्ष निकाला कि 'मम मानोरथिकं कर्म सफलं कर्तव्यतया सत्यसंधेन शपथपूर्वकं प्रतिज्ञातत्वात् ।''

संगति : 'चन्द चकोर' की उक्ति से राजा के मोहकत्व को अनुकूल समझती हुई कैकेयी वरदानप्राप्ति में आश्वस्ता हो रही हैं ।

दो० : यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहसि उठी मतिमंद ।
भूषन सजति बिलोकि मृगु मनहुँ किरातिनि फंद ॥ २६ ॥

भावार्थ : मलिन बुद्धिवाली कैकेयी राजा की उपर्युक्त बातें सुनकर, इतने बड़े राम-सपथ का मूल्य अच्छी तरह विचार कर उठी । गहनों को शरीर पर सजाने लगी, मानो भिलनी हिरण को देखकर जाल को सँभालती हो

मानोरथिक सुख में कैकेयी का मतिमान्द्य

शा० व्या : राजा की प्रतिज्ञा सुनकर कैकेयी आनन्द की सीमा से इतनी बाहर हो गयी कि उसका मानोरथिक सुख भी प्रकट होने लगा जो उसके हास से परिलक्षित हो रहा है ।

एक ओर वेदसिद्धान्ताभिमत परलोकविश्वासमूलक प्रतिज्ञातार्थ निर्बहण से राजा को विश्वासार्ह मानना, दूसरी ओर वेदसिद्धान्त के विरोध में प्रवृत्ता शास्त्रगर्हिता कुबड़ी को भी विश्वासार्ह मानना रानी के बुद्धिमान्द्य का द्योतक हैं । इसीलिए कवि उसको मतिमंद कह रहे हैं ।

संगति : अपने इप्सित अर्थ की सिद्धि में मानोरथिक सुख की अनुभूति कर कैकेयी आभूषण पहन रही है । चौ० ४ दो० २६ में कही उक्ति से राजा को अपने अधीन जानकर रानी इष्टसिद्धि के लिए अपनी चेष्टाओं से राजा को भुलावा भी दे रही है । इसलिए 'घरी-कुघरी के बारे में राजा फिर कह रहे हैं ।

चौ० : पुनि कह राउ सुहृद जिय जानी । प्रेमपुलकि मृदु मंजुल बानी ॥ १ ॥

भावार्थ : राजा अपने मन में रानी को मित्र ही समझकर प्रेम में भरकर कोमल व सुन्दर वाणी में बोले ।

कैकेयी में सुहृत्त्व की भ्रान्ति

शा० व्या : पूर्वानुस्यूत सुहृद्भाव हास्य द्वारा प्रकट होता देख कर राजा ने कैकेयी को प्रसन्ना जाना और समझा कि दोषोपघात का उपशमन हो गया। शास्त्रकारों ने सुहृद् की व्याख्या इस प्रकार की है। "तन्मित्रं तत् सुहृत्त्वं च हृदयं यत्र शोभनम्' इस उक्ति को कवि ने 'सुहृद्' शब्द से व्यक्त किया है। कैकेयी के पूर्व चरित्र का स्मरण करके उसका तद्भावित्व रूप सुहृद गुण भी राजा को ध्यान में आ रहा है, क्योंकि कैकेयी ने युद्ध जैसे महान् सकट में अनुपेक्षणीय मित्रता दिखायी। सुहृत्त्व में विश्वास्यता का सामानाधिकरण्य है। उसी के आधार पर राजा कैकेयी के प्रति पूर्ण आश्वस्त हैं। मनस् की चंचल वृत्तियों में उसकी तत्कालीन कापट्य की सूक्ष्मता को वे नहीं समझ सके। राग के कारण राजा का उपरिबुद्धित्व काम नहीं कर रहा है। 'यावदुपकरोति तावन्मित्रं भवति,। 'उपकारलक्षण हि मित्र' के अनुसार सुहृत्त्व पहले था, अतएव आज भी होना चाहिए, ऐसा राजनीति को मान्य नहीं है। राजनीति द्वारा बताये हुए भवन-शोधन और चरकार्य के अभाव में रनिवास की वर्तमान घटना में वास्तविक तथ्यों से राजा अनभिज्ञ रह गये।

संगति : राजा अपराधी को दण्ड देना आदि विषय छोड़कर अपने मनोरथ के आवेग में राज्याभिषेक के बारे में सुना रहे हैं।

चौ० : भामिनि ! भयउ तोर मनभावा। घर-घर नगर अनंद बधावा ॥ २ ॥

भावार्थ : हे भामिनि ! तुम्हारे मनस् की ही बात हुई है। घर-घर में आनन्द उत्सव मनाया जा रहा है।

रूठने में अनौचित्य

राजा कैकेयी से कह रहे हैं कि हे "भामिनि" ! तुम्हारा इष्ट करने मैं जा रहा हूँ। ऐसे इष्टसिद्धि के अवसर पर रूठना क्या उचित है ?

संगति : इष्टसिद्धि के बारे में राजा कह रहे हैं।

चौ० : रामहि देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि ! मंगल साजू ॥ ३ ॥
दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू ॥ ४ ॥

भावार्थ : श्री राम को कल युवराज पद दूँगा। इसलिए हे सुन्दर मुखवाली ! "तुम मंगलसूचक साज सजाओ।" यह सुनकर उसका कठोर हृदय खौल उठा मानो पके बलतोड़ (फोड़े) घाव को छू दिया हो।

राज्योत्सव में कैकेयी की पीड़ा

शा० व्या : रामराज्याभिषेक सुनते ही रानी को हर्ष की जगह व्यथा हो गयी। पूर्व निर्दिष्ट भावी दुःख (भरत का सेवकत्व और सौत की सेवकाई की) की कल्पना में उसके हृदय में जो पीड़ा हो रही थी वह राज्योत्सव की बात सुनते ही तीव्र हो उठी। जैसे पके घाव को स्पर्श करने पर चिलक उठती हो। इससे स्पष्ट होता है कि रानी के दुःख का अनुभाव प्रकट हो रहा था, पर उसने छिपा लिया।

हास्य में अवहित्था

संगति : अपनी मनोरथसिद्धि में सहायक समझकर दुःख को तत्काल प्रकट न करना उसका कपट है।[1] राजा को विना धर्मबन्धन में बाँधे काम नहीं चलेगा ऐसा सोचकर प्रसन्नता की अवहित्था कर रही है। और हास्य की मुद्रा से राजा को मोह में डाल रही है।

चौ० : ऐसेउ पीर बिहस तेहि गोई। चोर नारि जिमि प्रगट न रोई॥ ५॥

भावार्थ : रानी ने हँसकर अपनो पीड़ा को ऐसे छिपा लिया जैसे चोर की स्त्री खुलकर सबके सामने नहीं रोती।

दंभ में श्रम

शा० व्या० : कैकेयी बड़े परिश्रम से अपनी पीड़ा दबा पा रही है। दंभ में परिश्रम होता ही है क्योंकि परस्पर विरोधी कार्य होने का भय बना रहता है। कैकेयी अपने भार्याधर्म को छोड़कर अवहित्था कर रही है। धर्मविपरीत होकर कार्य करने में प्रतिक्षण सचेतस्क रहना पड़ता है। ऊपर की चौपाइयों में शिवजी ने कैकेयी की मनःस्थिति का वर्णन 'पाक बरतोरू' से तथा "चोर नारि जिमि प्रकट न रोई" से उस पीड़ा को प्रकट न करने में कैकेयी का दंभ एवं अवहित्था प्रकट की है।

संगति : दंभ और अवहित्था के भावों को समझना राजा के लिए असम्भव नहीं था पर वे नहीं समझ पा रहे हैं, ऐसा शिवजी सुना रहे हैं।

चौ० : लखहि न भूप कपट चतुराई। कोटिकुटिलमनि गुरू पढ़ाई॥ ६॥

भावार्थ : राजा ने उसके कपट और चालाकी को नहीं समझा क्योंकि खोटे कर्म में दक्ष गुरु मन्थरा ने उसको शिक्षा दी थी।

कापट्य में दक्षता

शा० व्या० : कुटिल का पर्यायवाची शब्द "शठ" है—"शाठ्यं चित्तकौटिल्यं"। दो प्रेमियों के मध्य में शंका उत्पन्न कराकर भेद लगाने वाले को "राजशास्त्र" में शठ कहा है।" मन्थरा ने कैकेयी, कौसल्या, दशरथ, श्रीराम एवं भरतजी, आदि सभी में भेद का प्रयोग करने में कुशलता दिखायी है। अतः वह शठा है। राज्य में शठ यत्र-तत्र मिलते ही हैं। परन्तु प्रकृत भेद को लगाने की परम्परा को देखने के बाद शिवजी कह रहे हैं कि मन्थरा "कोटिकुटिलमनि" है क्योंकि दशरथ जैसे नीतिनिपुण राजा भी चकमे में आ गये और रहस्य को नहीं समझ सके। बुद्धिमती कैकेयी सब कुछ कहने पर भी 'करौं चख पूतरि आली' से उस दासी की शिष्या हो गयी। दासी के गुरुत्व को समझाने के लिए 'कुटिलमनि गुरू' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस अवसर पर कवि कह रहे हैं कि कैकयी के कपट को राजा ने नहीं समझा। साहित्य शास्त्र में 'कपट' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—"कपटस्य स्वरूपं तु भ्रमो मोहात्मकः स्मृतः"। कैकयी ने क्रोध में अपने क्रूर सत्व का प्रदर्शन किया जिससे राजा मोह में आ गये यह वस्तु-स्वभाव कपट है। 'भामिनी भयउ

---

१. शठः पक्षो चाल्यति द्वावप्यथोपिलब्धये॥ नी० सा० स० १८।

तोर मन भावा' का अनुवाद 'रामहि देउँ कालि जुबराजू', कहकर सुनाया गया । प्रस्तुत प्रसंग में कवि कपट शब्द का प्रयोग कर कपट का दूसरा भाव-'उक्तार्थ का अपलाप' बतला रहे हैं। 'चतुराई' का अर्थ है 'पराति-संधानं'। राजा कैकयी को अपने पक्ष में न मिला सके, पर कैकयी ने राजा को अपने पक्ष में मिला लेने पर बाध्य कर दिया , यही कपट चतुराई का भाव है

संगति : शिवजी कह रहे हैं कि भवितव्यता ही थी कि नीतिज्ञ राजा कैकयी के चातुर्य में फँस गये।

चौ० : जद्यपि नीतिनिपुन नरनाहू । नारि चरित जलनिधि अवगाहू ॥ ७ ॥

भावार्थ : यद्यपि राजा नीतिनिपुण, नीति को जानने में चतुर हैं पर स्त्रीचरित्र तो अगाध समुद्र है।

स्त्री-चरित्र की दुर्ज्ञेयता

शा० व्या० : 'नितिनिपुण' कहने का भाव है कि राजा तर्क-शास्त्र में कुशल होने से प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम—इन तीनों प्रमाणों के द्वारा अर्थनिर्णय करते हैं, भाव-विभावादि तथ्यों को भी समझते हैं, साध्य-हेतु की व्याप्ति के मूल तर्क एवं कार्य-कारण भाव की सूक्ष्मता को भी जानते हैं। उनका राजत्व भी इसी कारण से निर्बाध है। प्रभु की सेवा में तत्पर रहने से बुद्धि की शुद्धता भी असंदिग्ध है तथा बुद्धि में विपरीतार्थ भान नहीं होता, राज्य के अमात्य आदि सम्पूर्ण प्रकृतियों पर अपना अधिकार दृढ़ बनाये हुए हैं। प्रायः उनके कार्य में निष्फलता नहीं रहती। फिर भी स्त्रीचरित्र को न समझने का कारण राग है। अन्धापन लाना राग का स्वभाव है। रागान्धता में स्त्री-चरित्र रूपी समुद्र की थाह न लग सके तो आश्चर्य नहीं।

राजा दशरथकी रागान्धता का कारण दैव है

प्रश्न होता है कि इतनी नीतिनिपुणता होते हुए भी राजा दशरथ क्यों नहीं समझ पाये ? उत्तर में कहना है कि प्रभु की इच्छा और सरस्वती की माया इसमें कारण है जैसा छन्द २५ में 'भवितव्यता' और चौ० ७ दो० १२ में सरस्वती का 'आगिल काजु बिचारि' से स्पष्ट है। भवितव्यता से राजा की बुद्धि में विषयावगाहन न होने का कारण बताया गया है।

इन दोनों कारणों का नारिचरित्र की अवगाहता से समन्वय करते हुए कहना है कि भवितव्यता या अदृष्टविशेष किंवा प्रभु-इच्छा को कारण मानते हुए भी विवेचकों की बुद्धि जहाँ तक जा सकती है उसके अन्तिम बिन्दु को स्पर्श करना भी कर्तव्य होता है। अनुकूल बिन्दु 'नय' है, प्रतिकूलता में 'अपनय' है। इस प्रकार शिवजी विवेचकों का विवेचनीय अंतिम बिन्दु 'नारि चरित जलनिधि अवगाहू' से समझा रहे हैं। इसका उद्देश्य यह है कि सर्व साधारण जन अदृष्ट को हेतु मानकर दृष्ट नय-अपनय के विवेचन से विमुख न रहें।

नीतिमान् दशरथ की अपनीति से हानि नहीं

ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत प्रसंग में महाराज दशरथ एवं कैकेयी दोनों अनीति में फँसकर मनोरथ को तत्काल सिद्ध न कर सके तथापि अनीति के परिणाम स्वरूप राजा का ह्रास नहीं हुआ। किंबहुना उनका चरित्र प्रभु के चरित्र में पिरो गया। अतएव प्रभुचरित्र से सबंधित होने से दशरथ और कैकेयी का चरित्र निर्दुष्ट माना जायगा क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग को छोड़कर अन्यत्र वे अनीति में नहीं पड़े। यही उनकी महत्ता है। रामचरित्र में गुँथे जाने का सौभाग्य क्या साधारण जनों को सुलभ है ?

स्त्री-चरित्र से नय-अपनय की शिक्षा

वक्तव्य है कि अदृष्ट की दोहाई देकर अपनय के चक्कर में पड़ने पर साधारण प्राणियों को निष्फलता भोगनी ही पड़ेगी क्योंकि उनके कार्य का श्रीराम से सम्बन्ध न होने से वे दशरथ कैकयी जैसे पवित्रात्मा की स्थिति में न होंगे। अतः साधारण जनों को दृष्टविधया 'अपनय' समझाने के लिए रागान्धता रूपी दोष के निरूपणार्थ नारी-चरित्र की अगाधता का वर्णन किया गया है। इस विषय को पुनः स्पष्ट करते हुए कहना है कि भगवत्कृपापात्र होते हुए भी दशरथ जैसे नीतिज्ञ महात्मा स्त्री के हाव भाव से मोह में फँसकर मनोरथ सिद्धि में असफल रहे तो साधारण मनुष्य ईश्वर को ठुकराकर रागान्धता में पड़कर कहाँ गिरेंगे, इसके मार्जन के लिए नय-अपनय की शिक्षा अपेक्षित है।

इस निरुपण से क्या नारी-चरित्र पर लांछन माना जायगा ? इसका उत्तर अरण्यकांड में चौ० ८ दो० ३८ के विवेचन में देखना चाहिए।

वेद सिद्धनतको न मानना ही अविश्वास का मूल

कैकयी के पूर्वापर चरित्र से यह भली प्रकार सिद्ध होता है कि जब तक व्यक्ति वेद-सिद्धान्त की मान्यता में स्थिर है तब तक वह स्वधर्म से विचलित न होकर विश्वासार्ह है। जिस क्षण वह वेद-सिद्धान्त से विचलित होकर किसी दूसरे को गुरु मानने लगता है उस समय कैकयी की तरह उसकी विश्वास्यता भी समाप्त हो जाती है।

संगति : रागान्धता में कैकेयी की किस चेष्टा पर ध्यान न देने से नीति-निपुण राजा को विफल मनोरथ होना पड़ा, वह आगे कहा जायगा।

चौ० : कपट सनेहु बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहसि नयन मुहु मोरी ॥ ८ ॥

भावार्थ : कैकेयी झूठा प्रेम दिखाते हुए आँख और मुँह बना करके कटाक्ष फेंकती हुई बोली।

प्रेम के अनुभाव में दम्भ

शा० व्या० : नारि चरित के अन्तर्गत हास्य दिखाना, मुँह घुमाकर कटाक्ष आदि में रतिकला का प्रदर्शन पुरुष को आकर्षित करने का कार्य है। कपट चतुराई में मुँह फेरने से रानी स्नेह का दंभ कर रही है।

बिहसि की पुनरुक्ति का प्रयोजन

शा० व्या० : शिवजी ने रानी के अभिनय में तीन बार 'बिहसि' शब्द का प्रयोग किया है। दो० २६ में 'बिहसि' का प्रयोजन राजा को मूर्ख समझना है। पूर्व में चौ० ५ में 'बिहसि' व्यगात्मक भाव का द्योतक है। यहाँ 'बिहसि' से रतिभाव दिखाकर 'कपट सनेह' में राजा को भुलावा देना है।

संगति : कैकेयी राजा को 'कपट सनेहु' में भुलाकर प्रतिज्ञा कराने का उपक्रम कर रही है।

दोहा : मागु मागु पै कहहु प्रिय कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु बरदान दुइ तेउ पावत संदेहु ॥ २८ ॥

भावार्थ : 'हे प्रिये ! मांगो मांगो' तुम कहते तो हो, पर कभी भी देते लेते नहीं। तुमने दो वर देने को कहा था किन्तु वह भी मिलने में सन्देह है।

सत्यसंधता के अभाव का आरोप

शा० व्या० : इस दोहे में 'कबहु न देहु' सुनाकर राजा को लज्जित कर देना चाहती है। भाव यह है कि राजा केवल प्रेम का ढोंग करते हैं, पर वस्तुगत्या प्रेम नहीं है जिसमें प्रिया को 'अयं मम हित साधयिष्यति' का निश्चय हो। 'तेउ पावत सन्देह' कहकर राजा की सत्यसन्धता की उपयोगिता अपने पक्ष के लिए करते हुए राजा पर सत्यसन्धता के अभाव का आक्षेप कर रही है।

संगति : सत्यसन्धता के आरोप पर राजा सचेत न होकर रानी के वचन को प्रणयमान समझ रहे हैं प्रत्युत्तर में उसके मान की प्रशंसा कर रहे हैं।

चौ० : जानेउँ मरमु राउ हँसि कहई। तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई ॥ १ ॥

भावार्थ : राजा हँसकर बोले कि रहस्य की बात समझ गये कि तुमको रूठना बहुत अच्छा लगता है।

राग में विपरीतार्थदर्शन

शा० व्या० : रागादि के वशीभूत होने पर प्रेमी को विपरीतार्थदर्शन कैसे होता है, उस को यहाँ दिखाया जा रहा है। प्रणय-मान को प्रकट करके पूर्व में दिये गये दो वरों को मांगना मानिनीस्वभाव के अनुरूप राजा समझते हैं। राग में होने से राजा वास्तविक स्थिति का परिचय नहीं कर पा रहे हैं, यही विपरीतार्थदर्शन है।

संगति : 'कबहु न देहु न लेहु' कहकर रानी ने जो आक्षेप किया था उसका समाधान राजा कर रहे हैं।

चौ० : थाती राखि न मागिहु काऊ। बिसरि गयउ मोहि भोर सुभाऊ ॥ २ ॥

भावार्थ : दोनों वरों को धरोहर रखकर तुमने कभी मांगा नहीं। भोले स्वभाव के कारण मैं भी भूल गया।

भूल सुधारने में निग्रह क्यों

शा० व्या० : दो वर मांगे बहुत दिन हो गये तो भूल जाना स्वाभाविक है। तुम भी कैसी हो कि आजतक उन वरों को नहीं मांगा तो उसमें मेरा क्या दोष ? अब धरोहर को वापस लेकर मेरी भूल सुधार रही हो, यह अच्छा है। किन्तु मुझे निगृहीत क्यों कर रही हो ?

संगति : भूलजाने के दण्ड में दो के बदले चार वर देने का प्रस्ताव राजा रख रहे हैं।

चौ० : झूठेहुँ हमहि दोष जनि देहू। दुइकै चारि मांगि मकु लेहु ॥ ३ ॥

भावार्थ : राजा कहते हैं कि तुम्हारी याचना को मै ठुकराऊँगा तब न दोषी होऊँगा। अरे दो क्या, मैं चार बर देने की प्रतिज्ञा कर रहा हूँ।

'दुइकै चारि' का भाव

शा० व्या : ज्ञातव्य है कि इस समय राजा काम-तन्त्र की अधीनता में पूर्व दो वर के अतिरिक्त और दो वर देने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। पर कैकेयी ने कामहत की अवस्था में पूर्व प्रतिज्ञात दो वर के अतिरिक्त प्रस्तुत में कहे दो वरों पर ध्यान नहीं दिया क्योंकि यह दान धर्मतः आबद्ध नहीं है। इसलिए कैकेयी की दृष्टि में एतत्कालीन वरदान का स्थायी मूल्य नहीं है।

प्रश्न : यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कदाचित् कैकेयी अतिरिक्त दो वर मांगने में उद्युक्ता होती तो क्या परिस्थिति होती ?

उत्तर : कहना होगा कि उन वरों की मान्यता के लिए श्रीराम बाध्य न होते क्योंकि पहले के दो वर धर्ममूलक हैं। अतिरिक्त दो वर काममूलक हैं। तब क्या राजा की सत्यसन्धता पर आँच आती ? उत्तर में कहना है कि कैकेयी की वरयाचना में प्रभु-इच्छा समर्थ है। अर्थात् पूर्व प्रतिज्ञात दो वर देने में राजा की सत्यसन्धताकी रक्षा एव अतिरिक्त दो वर मांगने में कैकेयी की रुचि न होना प्रभु की इच्छा या विधान की समर्थता है। राजा के पक्ष से उक्त कथित वरों की उपपत्ति चौ० ८ दोहा ३४ की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

संगति : कैकेयी के मनोनुरूप पूर्वप्रतिज्ञात अर्थ को (दोनो वरों को) देने में राजा कुलीनता के स्वभाव से बाध्य हैं।

चौ० : रघुकुलरीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु वचनु न जाई ॥ ४ ॥

भावार्थ : रघुकुल में सदा से ही यह रीति चली आयी है कि चाहे प्राण चला जाय पर वचन न जाय अर्थात् वचन को रखने के लिए प्राण दे देते हैं।

कुलीनता का महत्त्व

शा० व्या० : कुलीनता का नाम लेकर राजा ने भारतीय राजनीति-सिद्धान्त की पुष्टि की है अपने प्रतिज्ञात अर्थ से च्युत न होना ही कुलीनता का लक्षण है।[1] कुलीनों का स्वभाव कीर्ति को बनाने के तरफ अत्यधिक रहता है। साहित्यशास्त्र में कीर्ति एवं यशस् में अन्तर बतलाया है। जगत्कल्याणकारिणी पूर्वपरम्पराप्राप्त कृति को ही कीर्ति संज्ञा दी गयी है।[2] उसी प्रकार जगत्कल्याणकारिणी कृति को वंश में कोई व्यक्ति इदंप्रथमतया नवीनरूप से अपनाता है तो वही यशस् कहा जाता है।[3]

प्रस्तुत प्रसग में अपने वचन का पालन संवादी के रूप में करना कुल-क्रमागत कार्य है। उसी पर राजा दृढ़ हैं, ऐसा कहकर कीर्ति को समझाया।

वचन-परिपालन में दृढ़ता

अपने वचन का परिपालन करने से वही व्यक्ति विचलित होता है जिसको परलोकविश्वास नहीं है। यह दोष परलोकविश्वासी वैदिकसिद्धान्तानुयायी कुलीनों में नहीं रहता। यदि ऐसा कुलीनत्व का अभिमान न होता तो जनमत के नाम पर राजा वर देने से डोल सकते थे।

संगति : इस तथ्य को समझाने के लिए परलोकविश्वास्यता आगे सुनायी जा रही है।

चौ० : नहिं असत्यसम पातकपुंजा। गिरिसम होंहि कि कोटिकगुंजा ॥ ५ ॥

भावार्थ : सब पापों का समूह भी असत्यरूप पाप के बराबर नहीं हो सकता। जैसे करोड़ों घुंघची इकट्ठा होकर भी पहाड़ के बराबर नहीं हो सकतीं।

---

१. कुलीनत्वान्न व्यभिचरति। (नीतिसार जयमंगला स० ३)
२. कृतिर्या रमयत्येव विश्वं सा कीर्तिरुच्यते।
३. स्वापदानप्रसूता चेद्यशः इत्यभिधीयते ॥ (भाव-अ० ३)

असत्यभाषण से सर्वाधिक निवृत्ति

शा० व्या० : असत्य भाषण में "पातकपुंजा" कहकर परलोक-भीति को दर्शाया गया है जो ऐकान्तिक अवसर पर भी सज्जनों को अधर्म से निवृत्त कराती है। यह परलोक-विश्वास भी अपौरुषेय वेद-सिद्धान्त को विना अपनाये स्थिर नहीं होता, ऐसा भारतीयों का मत है।

संगति : सिद्धान्त को 'वेद पुराण विदित मनु गाये' से अपनी सहमति प्रकट करते हुए राजा रानी को समझा रहे हैं।

चौ० : सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। वेद-पुरानविदित मनु गाए ॥ ६ ॥

भावार्थ : जितने सत् कर्म (पुण्य) हैं उनके मूल में सत्य रहता है, तभी वे शोभायमान होते हैं। ऐसा वेद पुराण में प्रसिद्ध है। मनु ने भी यही गाया है।

अर्थ में धर्म-सम्बन्ध की महत्ता

शा० व्या० : यह विचारणीय है कि राजा के लिए अर्थ के साथ सत्य की महत्ता का सम्बन्ध किस प्रकार अपेक्षित है ? शास्त्र का कहना है कि यदि देशवासियों को स्वराष्ट्र की एकता, उसका योगक्षेम और अर्जित सम्पत्ति का उपभोग उपलब्ध है तो वह देश समृद्ध माना जाता है। उसकी समृद्धिहेतु मात्स्यन्याय से देश को बचाने के लिए राजा की अपेक्षा होती है। यह कार्य तभी सफल होगा जब राजा मनोयोग से त्याग, सत्य, एवं शौर्य के अवलम्बन पर स्थिर रहे।[1] सत्य से च्युत होना राज्यविनाश का कारण माना गया है। अतः सत्य में अविश्वास होने से पारस्परिकप्रेमसम्बन्ध टूट जाता है, आत्मीयता भी विलुप्त हो जाती है, कृत्यपक्ष का यत्र-तत्र उदय होने लगता है, भेद की जड़ दृढ़ होने लगती है। ऐसे राज्य को ग्रन्थकारों ने दीमक लगे पेड़ से उपमा दी है अर्थात् वह राज्य खोखला हो जाता है। पूर्व में चौ० ५ में राजा ने कहा है कि असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं है। इसके विपरीत सत्य का आधार लेने पर "सुकृत सुहाए" से सुकृत का उदय कहा है।

संगति : राजा दशरथ उत्तमप्रकृति के हैं। वह शपथ के मूल्य को समझते हैं। शपथ के तत्व को ध्यान में रखकर अपने कर्तव्य की निष्ठा में कैकेयी को विश्वास दिलाने के लिए श्रीराम की शपथ ले रहे हैं।

चौ० : तेहि पर रामसपथ करि आई। सुकृत-सनेहअबधि रघुराई ॥ ७ ॥

भावार्थ : इतना होने पर भी रघुराई श्रीराम पुण्य और प्रेम की सीमा हैं। उनकी शपथ मैं कर चुका हूँ।

शपथ की दिव्यता में भी श्रीराम पर आंच नहीं

शा० व्या० : यदि सुकृत में कहीं भी असत्यता आ जायगी तो श्रीराम का जीवन खतरे में हो जायगा जो राजा को सह्य नहीं है। राजा शपथ के रूप में अत्यन्त परमप्रिय वस्तु श्रीराम के जीवन को दाँव पर लगा रहे हैं। ऐसा करने में राजा को प्रमादी नहीं समझना चाहिए क्योंकि उनको विश्वास है कि न तो असत्यता होगी और न श्रीराम का जीवन खतरे में पड़ेगा। इस दिव्य शपथ को सुनकर कैकेयी के हृदय में उठी शंका जैसा दो० २७ में वर्णित है निरस्त हो गयी और वर को प्राप्त करने में आश्वस्ता हो गयी।

---

१. भगवन् जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया। अहंममेत्यसद्ग्राहः भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु (भा० १०)॥

संगति : इस प्रकार स्वार्थ-साधना में आश्वस्ता हो बोलनेवाली कैकेयी को शिवजी कुमति कह रहे हैं।

चौ० : बात दृढ़ाई कुमति हँसि बोली। कुमत कुबिहग कुलह जनु खोली ॥ ८ ॥

दो० : भूपमनोरथ सुभग-बनु सुख सुबिहंगसमाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति ब-न भयंकरु बाजु ॥ २८ ॥

भावार्थ : अपनी बात पक्की कराकर कुमति रूपी रानी हँसकर बोली मानो अपनी कुमत रूप बाज पक्षी के ढक्कन को [शिकार मारने के लिए] खोला हो।

धर्म के आड़ में कार्य-सिद्धि

शा० व्या० : दृढ़ाई' का भाव है प्रस्तुत कार्य में वर माँगने की बात को शपथ द्वारा पक्की करना। उपयुक्त अवसर सोचकर कैकेयी देश काल की अनुकूलता देखते हुए वरदानात्मक धर्म के माध्यम से अपना कुमत सिद्ध करने जा रही है, इसलिए रानी को कुमति कहा है। जिस मति के आधार पर रानी अपना आशय प्रकट करेगी उससे दुःख एवं विपत्ति होना अपरिहार्य है, इसलिए कुमति कहा है।

राजा के मनोरथ पर आघात

खेद के साथ कहना पड़ता है कि दशरथ के मनोरथरूपी वन में जो सुख रूपी पक्षी विचरण कर रहे हैं उनको रानी का व वचनरूपी बाज एक झटके में समाप्त करने में उतारू है। शिवजी का यह वचन उत्तरकाल में निरूपणीय अर्थ का बोधक प्रतिज्ञा-वाक्य है। ग्रन्थकार की दृष्टि में राजा का कौन सा सुख है ? "विनीतं आत्मसम्पन्नं सैनापत्ये यौवराज्ये वा स्थापयेत्" इस नीतिविधान को सार्थक करने का मनोरथ ही राजा का सुख है। नीतिसार में विनयाधान का उपक्रम इस प्रकार है :—"आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत्। ततोऽमात्यान् ततो भृत्यान् ततः पुत्रान् ततः प्रजाः" इसके अनुसार प्रजा की दृष्टि में राजा दशरथ पूर्ण विश्वास के पात्र हो चुके हैं। श्रीराम को राज्य देकर अपने मस्तक से राज्य-भार दूर करने के लिए भविष्यत् में पूर्ण सुख की कामना कर रहे थे। स्वराष्ट्र मण्डल में अपना कर्तव्य पूर्ण हुआ समझकर वह मानोरथिकसुखनिमित्तक आनन्द ले रहे हैं। तभी कैकेयी की कुमति ने उनको समाप्त करना चाहा है। 'भयंकरु' का भाव है कि ऐसा भयकारी वचन जिसकी कल्पना राजा को नहीं थी।

संगति : अग्रिम तीन चौपाइयों में कहे कैकेयी के वर-याचनात्मक वचन बाज की चोट के समान भयंकर सिद्ध होंगे।

चौ०सुनहु प्रानप्रिय ! भावत जी का। देहु एक वर भरतहिं टीका ॥ १ ॥

भावार्थ : कैकेयी कहती है कि हे प्राणप्रिय ! [कपटोक्ति है] मेरे मनस् में उठनेवाली भावना में एक वर—भरत को राजतिलक हो, यह आप दें।

प्राणप्रिय का स्पष्टीकरण

शा० व्या० : इस समय कैकेयी कपटभाव में है, इसलिए राजा को भुलावे में रखने के लिए प्रानप्रिय कह रही है। राजा की दृष्टि में 'प्रानप्रिय' योगार्थक है अर्थात् प्राण से भी बढ़कर प्रिय। परन्तु रानी की दृष्टि में केवल पतिवाचक शब्द रूढ़ है। अथवा 'प्रानप्रिय' को सम्बोधन मानकर यह भी अर्थ निकलता

है कि कुमति में कैकेयी अपने ही को राजा का प्राणप्रिय मानकर विश्वास कर रही है कि भरतजी को राज्य देना राजा के लिए एक छोटी सी बात है, जिसको देने में प्राणप्रिया की भावना का आदर राजा अवश्य करेंगे।

चौ० : मागउ दूसर बर कर जोरी। पुरबहु नाथ मनोरथ मोरी ॥ २ ॥

भावार्थ : हाथ जोड़कर दूसरा वर माँगती हूं। मेरे मनोरथ को आप पूरा करें।

वर माँगने में कैकेयी का कर्तृत्वाभिमान

शा० व्याख्या : पहला वर माँगने में 'देहु' कहकर रानी ने जो निश्शंकता दिखायी है, वह दूसरे याचना में नहीं है। वर को यद्यपि कैकेयी जानती है कि श्रीराम को वन भेजना अच्छा काम नहीं है अर्थात् अनुचित है, तो भी वह अपना रागप्रयुक्त हठ नहीं छोड़ती। यही जीव का कर्तृत्वाभिमान है। इसलिए शिवजी रानी को मतिमन्द कह चुके हैं। स्मरण रखना चाहिए कि मन्थरा एवं कैकेयी अपनी अन्तरात्मा की प्रतीति के विरुद्ध आचरण करने के लिए हठ पर उतारू हैं, इसलिए मतिमन्द हैं।

द्वितीयवर में 'नाथ' सम्बोधन का कारण

द्वितीयवर की याचना में रानी का असूयाभाव राजा, कौसल्या एवं श्रीराम तीनों को दंडित करने में प्रकट है इसलिए कैकेयो हाथ जोड़कर अर्थात् विशेष विनय-भाव का अभिनय करते हुए "नाथ" सम्बोधन कर रही है जिसका अर्थ है पालन-पोषण करने वाला। इसका तात्पर्य है कि द्वितीय वर की पूर्ति से राजा उसका पोषण कर सकते हैं।

जीव को दुःखभागी होने का योग

अपनी अन्तरात्मा की प्रतिति के विरुद्ध, द्वितीयवर के अनौचित्य को समझाने पर भी कैकेयी अपना हठ नहीं छोड़ेगी। ऐसा हठ जब जीव करता है तव वह प्रायः दुःख का भागी होता है जैसा श्रीमद्भागवत में कहा है।[1]

राज्याभिषेक-विधि का बाध

दोहा ११ के निर्देशानुसार यहाँ इतना ही ध्यातव्य है कि कैकेयी की मनोरथ-पूर्ति के विशेष उल्लेख से श्री राम के वनवास का विधान 'राहूपरागे स्नायात्' विधि के समान नैमित्तिक विधि मालूम होता है। अत: श्रीराम को वन में भेजना कैकयी की मनोरथ पूर्ति के संपादन में अवश्य अनुष्ठेय है। फलस्वरूप इस नैमित्तिक विधि ने रामराज्याभिषेक-विधि को तत्काल में बाधित कर चौदह वर्ष के बाद उस विधि को अवकाश दिया।

पहले वर से लाभ (भरत टीका)

दोहा ११ में देवताओं ने राम-राज्याभिषेक में विघ्न करके श्रीराम को सुर काज के लिए वन मं भेजने की प्रार्थना सरस्वती से की है। उसमें सरस्वती का यह गौरव है कि देवताओं को "ऊँच निवास नीच करतूती" के आक्षेप से बचाते हुए देवताओं के हित-कार्य के साथ अयोध्या के रक्षण का भी ध्यान रखकर "देहु एक वर भरतहिं टीका" की याचना में कैकेयी की मति को प्रेरित करके

---

१. कवियों की उक्ति में संस्कारोद्बुद्ध रुचि का उल्लेख मिलता है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोपि जन्तुः।

अयोध्या का हित किया है। भरतजी ही एक मात्र ऐसे हितकारी हैं जो श्रीराम की अनुपस्थिति में अयोध्या की क्षतिपूर्ति कर सकते हैं। चौदह वर्ष की अवधि में अयोध्या का राज्य-संचालन भरतजी द्वारा नहीं होता तो सरस्वती के विघ्नकार्य में दोष माना जाता।

"देहु" और "भावत जी का" सम्बन्ध

कैकेयी द्वारा याचित दो वरदान के कथन में 'देहु' और 'माँगउ' शब्दों पर कुछ विचार व्यक्त करना है। 'भावतजी का' की उक्ति में पूर्वप्राप्त भावनाका संबध है। ऐसी भावनाओं का उल्लेख कवियों की उक्ति में मिलता है।[1] कैकेयी के हृदय में भी ऐसा ही भाव स्फुरित हो रहा है। यह स्फुरण कैकेयी के किसी पूर्व प्रबल संस्कार के उद्‌बोधका परिणाम हो सकता है, यद्यपि अपने पुत्र भरतजी को राजा बनाने की वासना उसकी पहले कभी नहीं रहीं जैसा मन्थरा को डाँटते हुए कैकेयी की उक्तिमें "जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई" आदि से स्पष्ट है।

राम-वनवास के लिए 'माँगउ' कहने से पहले वर की याचना में 'देहु' की तरह दूसरे वर में विनय-का विशेष अभिनय करते हुए सरस्वती द्वारा प्रेरित मति होने पर भी राजा के तेजस् के सामने उसको 'वर देहु' कहने का साहस नहीं हो रहा है। जिस प्रकार श्रीराम वनवास का वर माँगने में रानी को हिचक है उसी प्रकार उक्त वरदान में राजा को भी असमंजस है। एवं 'देहु' यह कैकेयी के स्वातन्त्र्य का द्योतक है। 'माँगउ' राजा एवं श्रीराम के निर्णयाधीन है। इसमें श्रीराम की बाध्यता और भरत की स्वतन्त्रता समझना है। कैकेयी की 'देन कहेउ वरदान दुई। तेउ पावत सन्देहु' इस उक्ति के उत्तर में 'थाती राखि न मागिहु काऊ। दुइ के चारि मागि मकु लेहु।"—राजा के इन दोनों वचनों की दुहाई देते हुए कैकेयी ने 'पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी' कहा है। अतः राजा के वचन की प्रामाणिकता रखने के लिए श्रीराम ने कैकेयी का वनवासात्मक मनोरथ स्वीकार किया। इसी प्रकार राजा के 'चहत न भरत भूपतिहि भोरे' वचन के सन्दर्भ को देखते हुए 'भरतहि टीका' की स्वीकृति भरत के ऊपर निर्भर करती है। निष्कर्ष यह है कि 'भावतजी का' से पूर्व वासना का उद्रेक, उसके तथा मनोरथ से सरस्वती द्वारा प्रेरित मनोभाव का प्राकट्य है। 'कर जोरी', 'नाथ' संबोधन आदि अनुभावों से स्पष्ट होता है कि कैकेयी दूसरे वर की पूर्ति पर अधिक महत्त्व दे रही है क्योंकि इसमें देवबल भी है।

विधिपालन की स्वतन्त्रता एवं परतंत्रता में मीमांसा

उपर्युक्त विषय में प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों के विचार की परम्परा मननीय है। प्राचीन आचार्य सत्यसन्ध सन्त महात्माओं ने निरवकाशहेतूपन्यासरहित वचनों को अपने तपः-प्रभाव से यदि प्रकट किया है तो उन वचनों को पालन करने में नवीन आचार्य अपना गौरव मानते हैं, उनमें तर्क करना इष्ट नहीं समझते हैं। जिन वचनों के पालन में प्राचीनों ने सत्परामर्श करने का अवसर दिया है उनकी मीमांसा, न्याय आदि द्वारा निर्णीत करके कार्यान्वयन की स्वीकृति में नवीन आचार्य स्वतन्त्र हैं। पहली परम्परा में श्रीराम हैं, दूसरी में भरत हैं।

चौ० : तापसवेषविसेषि उदासी। चौदह बरिस राम बनबासी॥ २॥

भावार्थ : मेरा मनोरथ यह है कि तापसवेषविशेष को धारण करते हुए श्रीराम चौदह वर्षों के लिए वनवास करें।

---

१. तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

तापसवेषविशेष का प्रयोजन

शा० व्या० : वेष-विशेष से तात्पर्य वानप्रस्थ की व्यावृत्ति करना है अर्थात् तापस बनकर नहीं, बल्कि तापसवेष धारण करके श्रीराम को वन जाना है। अतएव क्षत्रियोचित आयुध (धनुषबाण) से सुशोभित होना ही वेषविशेष है। राजनैतिकदृष्टि से राजवेष होने से विरोधी तत्त्वों के संघटन की सम्भावना है।

माता-पिता की आज्ञापालन की विशेषता

माता-पिता की आज्ञा का पालन ही तपोविशेष है। उसी को कवि ने तापस शब्द से उल्लिखित किया है। माता-पिता के वचन को यथार्थ करना ही पुत्र के लिए सर्वतोउपरि धर्म है। उस वचन के पालन में श्रीराम कटिबद्ध होंगे। श्री शारदा की अप्रतिम महत्ता है कि कैकेयी के उद्‌गार उसके सतीत्व के अनुरूप सिद्ध होकर 'तापस वेषविसेषि' को यथार्थ करने के लिए प्रयागराज में स्वयं तपस् ही मूर्तिमान् हो श्रीराम जी के चरणों में मस्तक झुकावेगा। यही कारण है कि श्री कौसल्याजी वन में जाने के लिए माता कैकेयी के वचन को प्रवर्तक मानेगीं।[1]

उदासीनत्व और उसका समन्वय

वनवासावधि में होनेवाली तपस्सिद्धि में इतिकर्तव्यतया अपेक्षित उदासीनत्व को यहाँ समझाया गया है। उदासी का अर्थ है स्वराज्य के बारे में कामना का सर्वथा परित्याग।

प्रश्न : १४ वर्ष पर्यन्त श्रीराम उदासीन तो नहीं थे तब माता-पिता के वचन का पालन कैसे सम्पन्न हुआ ?

उत्तर : द्वादश वर्षावधि में माता-पिता का आज्ञापालनात्मक तपस् सफल या पूर्ण होगा, तत्पश्चात् व्रतांगभूत उदासीनत्व का त्याग प्रभु करेंगे। फिर भी पिता की आज्ञा का अतिक्रमण मीमांसा की सम्मति में नहीं माना जायगा। उदाहरणार्थ 'अधीत्य स्नायात्' के अनुसार ब्रह्मचर्य में रहकर मधु-मांसादि से निवृत्त हो वेदाध्ययन करना ब्रह्मचारी के लिए कर्तव्य है। वेदाध्ययन-समाप्ति के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकारी होने पर वेदार्थ को विना समझे गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं कर सकता, अपितु गुरुकुल में रहकर मीमांसा आदि पढ़ने होंगे। उस समय ब्रह्मचारी होते भी वेदाध्ययनाङ्ग मधुवर्जनादि के नियम ढीले होते हैं। उसी प्रकार उपर्युक्त तपोवेषविशेष में उदासीनत्व की पूर्ति होने पर राम जी के लिए उदासीनत्व निरस्त होना अधर्म्य नहीं है। यदि वे इसका त्याग नहीं करते तो 'कानन राजू' का निर्वाह एवं राक्षसों का विनाश आदि कार्य नहीं कर पाते। क्षत्रिय का यही मुख्य धर्म है, उसको बाधित करना शास्त्र को इष्ट नहीं है।

तापसविशेष से इतर-व्यावृत्ति

एवं च 'तापसवेष विशेषि' का यह अर्थ होगा कि प्रयाग में जाते समय तपस् ही स्वयं रामजी के शरीर में प्रवेश कर अपने को श्रीराम का वेषविशेष बना लेगा।

तापसवेषविशेष से युधिष्ठिर आदि के वनवास की व्यावृत्ति होती है। जिस प्रकार परमाणु का विशेष स्वतःव्यावृत्त माना जाता है उसी प्रकार प्रभु श्रीराम का यह बनवास स्वतः व्यावृत्त है—यह विशेष की विशेषसूचना हैं। विशेष की व्याख्या दो० ११५ में द्रष्टव्य है।

---

१. जो पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥ (चौ०२ दो० ५६)

उदासीनत्व की उपपत्ति

प्रश्न : जब श्रीराम को चौदह वर्ष 'उदासी' होकर वन में रहना है तो वन में राक्षसों से युद्ध या लंका पर चढ़ाई और मुनियों को अभय करने में क्या श्रीराम की उदासीनता सिद्ध होगी ?

उत्तर : श्री राम ने चौदह वर्ष का वनवास माता-पिता के आज्ञापालनात्मक धर्म के रूप में स्वीकार किया है। जिसमें 'कानन राजू' भी कर्तव्य है। उस धर्मपालन में विघ्न उपस्थित होने पर राक्षसों से युद्ध करना अथवा वध आदि कार्य उदासीनत्व का प्रतिघात नहीं कहा जायगा क्योंकि 'तापसवेषविशेष उदासी' के आदर्श के रक्षार्थ पालनात्मक कार्य प्रभु ने किया है। उदाहरणार्थ शूर्पनखा श्रीराम के मुनिव्रत भंग में उद्यता थी और रावण श्रीराम के वध के लिए योजना बना रहा था। कहीं उद्देश्य लोप के अवसर पर व्रत के अंगों की न्यूनता अपनानी होती है, कहीं-कहीं निषिद्धों को भी उद्देश्य के वास्तविक रक्षार्थ विशेष अवस्था में तत्काल के लिए अपनाना पड़ता है, यह मीमांसा न्यायसम्मत है। यदि उदासीनत्व को अपनाते हुए स्वस्थ रहते, तो तीनों मूर्तियों में से किसी का या सबका विनाश होता तो राजा के वचन का प्रामाण्य नहीं कहा जाता। इस उद्देश्य से उदासीनत्व का त्याग उदासीनत्व का असाधक नहीं कहा जायगा।

स्मरणीय है कि श्री राम कौसल्या के सामने 'काननराजू कहकर "चौ० ६ दो० ५३" राजधर्म की पूर्वानुस्यूत स्थिति को दुहरावेंगे। इसके अविरोध में कैकेयी के सामने 'वनवास' स्वीकार करेंगे [चौ० २ दो० ४२] तदनुसार गुह के साथ हुए संवाद में मुनिव्रत को अंगीकार करेंगे [दो० ८८]। अतः राज्य के प्रति उदासीन रहना ही उदासीनता हैं। अरण्यकाण्ड में स्थान-स्थान पर कही मुनिव्रतोक्ति सप्रयोजन है। अथवा 'मतिफेरि' द्वारा सरस्वती कैकेयी के मुख से 'विशेषि' कहलाकर धर्मपालन स्थिर करवाती है। अर्थात् क्षत्रियजाति में अवतीर्ण राजा श्रीराम का विशेष कार्य क्षत्रियोचित प्रजापालन है, उसी को श्रीराम ने माता कौसल्या से कहे 'काननराजू में 'राजू' से व्यक्त किया जिसका चिह्न धनुर्धारण को तापसवेष में भी बनाये रखा। इसलिए सरस्वती द्वारा प्रेरित कैकेयी के वचन में उदासी का भाव उद्भासित मानना योग्य ठहरता है, न कि उदासीनत्व अथवा स्वामी श्रीराम के उदासीनत्व की विशेषता यह होगी कि सेवक भरत भक्ति—सिद्धान्त के आदर्श को अंगीकार करके नन्दिग्राम में उदासीन भाव को प्रकट करेंगे। अथवा देवताओं के वचन 'बिसमय हरष रहित रघुराऊ' से श्री राम की उदासीनता स्पष्ट है।

अथवा उदासी का अर्थ है उपकार या अपकार से अपने को अलग रखना।[1] उदासीन व्यक्ति को प्रपंच से पृथक् रहकर अपने ही अधिकृत मण्डल में उद्युक्त रहना पड़ता है। उक्त उदासीनता का परिणाम होगा कि श्रीराम द्वारा अयोध्या पर प्रत्याक्रमण की तैयारी नहीं हो सकेगी। इस प्रकार अर्थशास्त्र में कहे राजपुत्ररक्षण-प्रकरण के अनुसार आटविक बल को सन्नद्ध करके अयोध्या में रहने वाले राजकुमार भरत को मारने की तैयारी न हो सकेगी। उदासी अवस्था में अन्यायी राजा भी सहायक न होंगे क्योंकि उदासीन को सन्धि या विग्रह नहीं करना है। ऐसी स्थिति में वनवासी श्रीराम को सबल होने का कारण नहीं होगा। यदि वनवास के बाद राज्य में सत्ताधिकार का प्रश्न उठाया गया तो उसमें सफलता नहीं होगी क्योंकि बारह वर्ष पर्यन्त उदासीन रहने के कारण श्रीराम का स्वामित्व स्वयं उपेक्षित ठहराया जायगा।

उदासीनत्वका मानवता से संबंध

देवसापेक्षता के बिना केवल शास्त्रानुगमन से मानव अजेय शक्ति प्राप्त कर सकता है—इस धारणाको जगाने का कार्य श्रीराम ने किया है। इसका निष्कर्ष यह है कि शास्त्र के अनुगमन से देवों की

---

१. यो नापकरोत्युपकरोति वा स उदासीनः।

अनुकूलता होना निश्चित है, इसको नीति के अनुष्ठान में प्रयोग करके श्रीराम ने अपने चरित्र से दिखाया है जो संपूर्ण राजनीति के लिए आदर्श रूप में अनुकरणीय है।

सम्पूर्ण भारतीय राजनीति का मूल आधार सत्व गुण है जो हर्ष-विषादशून्यता में स्थिर होता है। अतः उदासीन होकर श्रीराम ने मानवता को प्रकट किया है—इस दृष्टि से उदासी-विशेषण सार्थक मालूम होता है। दो० ९५ के अन्तर्गत सुमन्त्र के माध्यम से श्रीराम की उदासीनता में हर्ष-विषाद-शून्यता भली प्रकार समझकर राजा दशरथ को सन्तोष होगा। 'वनवासी' तथा 'उदासी' का मन्तव्य छन्द ७५ में सुमित्रा ने लक्ष्मण को बताया है।

वनवास में चौदह वर्ष का समन्वय

प्रश्न : वनवास में चौदह वर्ष की अवधि का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर : इसमें कैकेयी की दृष्टि अलग है और सरस्वती की दृष्टि अलग है। कैकयी की दृष्टि से अपने पुत्र का राज्य स्थिर करने में चौदह वर्ष लगेगा। राजनीतिक पक्ष से विचार करने पर द्वादशविध राजमण्डल[1] प्रेम में ही अपने अधीन किया जा सकता है। प्रीति के बाद उन मण्डलों में अपने प्रति अनुरागावस्था उत्पन्न करने में भी समय लगेगा। इस स्थिति में राज-मण्डल जब तक प्रीति में नहीं पहुँचता है तब-तक राज्य निर्बाध रूप से भोग्य नहीं हो सकेगा। योगसिद्धि में कार्यसिद्धि की अवधि योगसूत्र के अनुसार १२ वर्ष बतायी गयी है। अतः कैकयी ने सोचा कि राज्य को दृढ़मूल बनाने में श्रीराम के प्रति राजमण्डल का अनुराग भी कम होता जायगा। बारह वर्ष के बाद राजमण्डल के प्रेमस्थिति को समझाने के लिए कुछ और समय भी लग सकता है तो दो वर्ष अधिक रख लिया जिसमें राजमण्डल से भय समाप्त हो जाय। चौदह वर्ष के अनन्तर यदि श्रीराम आते हैं तो राजमण्डल एवं जनपद उनको नहीं चाहेंगे। ऐसी स्थिति में राज्यारोहण श्रीराम के लिए संभव नहीं होगा क्योंकि एकतन्त्र-राज्य में भी राजा होना अनुरागाधीन माना गया है। इस प्रकार कुलराज्य को एकराज्य (भरतराज्य) में परिणत करने में चौदह वर्ष की अवधि कैकयी को ठीक जँची।

सरस्वती की दृष्टि में प्रथम १२ वर्ष मुनिव्रत होना है, कार्यसिद्धि के लिए एक वर्ष पंचवटी की लीला में अन्तिम एक वर्ष लंकाकाण्ड—रावण-वध आदि में लगेगा। इस प्रकार सरस्वती ने १४ वर्ष के लिए वनवास-याचना की प्रेरणा दी है। अथवा रावण-वध में चौदह वर्ष अभी बाकी होगा।

संगति : भरत-राज्य और राम-वनवास ये दो वरों का परिणाम होगा कि भरत राजकार्य में व्यस्त हो अन्यत्र नहीं जा सकते और श्रीराम भी 'तापस वेष उदासी' में वन छोड़कर नहीं आ सकते। द्वितीय वर को सुनने के बाद राजा का व्याकुल होना स्वाभाविक है।

चौ० : सुनि मृदु बचन भूप हियँ सोकू। ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू ॥ ४ ॥

भावार्थ : मधुर स्वर में कैकेयी का वचन सुन कर राजा हृदय में शोकान्वित हुए। जिस प्रकार चन्द्रमा की शीतल किरणों के स्पर्श से चकवा व्याकुल होता है।

---

१. अरिर्मित्रं अरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परं तथाऽरिमित्रमित्रं च। पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चात् पवाक्रन्दस्तनन्तरं आसारावनयोश्चेति।

२. रागोऽनुवृत्तोविच्छिन्नोऽनुराग इरितः।

राजा दशरथ के लिए श्रीराम का वियोग

शा० व्या० : श्रीराम का वियोग होना सुनकर ही महाराजा का हृदय शोकाक्रान्त हो गया।[1] शोक का अर्थ नीचे टिप्पणी में द्रष्टव्य है। पहले भी एक बार श्रीराम का वियोग महर्षि विश्वामित्र की याचना के अवसर पर हो चुका है। उस समय मुनि वसिष्ठ के द्वारा दी गयी भावी महान् मंगल की कल्पना में राजा के चित्त में शान्ति का अनुभव हो गया था। इस समय (अपना अन्तकाल समझ कर) भावी आशा की किरणें सर्वथा लुप्त हैं, अतः राजा विकल हैं। १४ वर्ष के बाद प्रभु का आगमन होगा—इस आशा को लेकर राजा दशरथ इस बार क्यों सुखी न हो सके ? इसका उत्तर दो० १५५ की व्याख्या में आगे दिया गया है।

मृदु वचन का भाव

'मृदु वचन' का भाव यहाँ यह है कि कैकेयी के कोपभरे वचनों के सुनने के बाद 'प्रानप्रिय' 'नाथ' आदि के सम्बोधन से उसकी कुछ मृदुता का भाव राजा को प्रतीत हो रहा है। दूसरा 'भाव' 'मृदु वचन' का यह भी है कि श्रीराम की आत्मीयता का ऐसा प्रभाव है कि 'चौदह बरिस रामु बनवासी' कहने में कोप-भावयुक्त कैकेयी भी बोलने में मृदु हो गयी। इस तात्कालिक मृदुता के प्रभाव में राजा को कुछ आशा भी हो रही है कि अल्पकालान्तर में शायद कैकेयी अपना दूसरा वर वापस ले ले जिसको कवि चकवा चकवी के रात्रिकालीन वियोग से संकेतित कर रहे हैं। अर्थात् चकवा को जैसे आशा रहती है कि रात्रि बीतने पर फिर प्रिय से संयोग हो जायगा वैसे राजा को भी अपना अभीष्ट (राम को वन न भेजना) पूर्ण होने की आशा बनी है।

कल्पनातीत विचार

संगति : चौ० १, २, ३ दो० २६ में कहे गये प्रसंग में राजा का निर्णय है कि रानी का अहित करने वाला कोई नहीं है। अतः वह सोच रहे हैं कि पूर्वनिर्णय में मिथ्यात्व कैसे आया ? तथा रानी के पूर्वापर वचनों में असंगति कैसे हुई ? ऐसी चिन्ता करते राजा विषाद में डूब गये, कुछ भी न बोल सके। राजा दशरथ की दशा को दो० २८ में कहे वचनरूप भयंकर बाज के झपट से त्रस्त पक्षियों के झुण्ड के समान व्यक्त किया है।

चौ० : गयउ सहमि नहि कछु आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा ॥ ५ ॥

भावार्थ : राजा ऐसे विह्वल हो गये कि कुछ बोल न सके। मानो बटेरों के झुण्ड पर बाज ने झपटा मारा हो।

राजा का जाड्य

शा० व्या० : विषाद में डूबकर राजा प्रतिभाहीन हो गये। उस अवस्था में वह न तो रानी के प्रस्ताव का समर्थन कर सके न अहित के बारे में पूछ सके अर्थात् अप्रतिभारूढ़ जाड्य के कारण मौन हो गये। यह जड़ता ऐसी ही है जैसे बाज के झटके से पक्षियों का झुण्ड निश्चेष्ट हो जाता है।

संगति : राजा की उस दशा को देखकर कवि ने सात्विकभाव का निरूपण करना प्रारम्भ किया।

---

१. प्रतियोगिनि प्रीत्या तन्नाशेऽसहिष्णुत्वलक्षणो द्वेषः प्रथमः, द्वितीयस्तु दुःखसाधन—विपदुपनिपातगोचरः। (काव्य प्रकाश विवरण ४-३८ श्लोक)

चौ० : बिबरन भयउ निपट नरपालू । दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ।। ६ ।।

भावार्थ : राजा एकदम विवर्ण अर्थात् तेजोहीन हो गये, मानो तालवृक्ष को बिजली मार गयी हो ।

राजा का वैवर्ण्य

शा० व्या० : सात्विकभाव में वैवर्ण्य परिगणित है । उसी की प्रधानता को समझाने के लिए कवि उसका पृथक् निरूपण कर रहे हैं ।

संगति : इसके बाद वियोगदु:ख का आंगिक अनुभाव समझाया जा रहा है ।

चौ० : माथे हाथ मूदि दोउ लोचन । तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन ।। ७ ।।

शोक का अनुभाव

भावार्थ : शिरस् को हाथ से पीटना, दोनों नेत्र मूँद लेना आदि शोक के लक्षण हैं जो अंगों में स्वाभाविक स्फुरित होते हैं । ऐसी सोच-दशा में राजा सोचने लगे मानो साक्षात् शरीर-धारी शोक की मूर्ति ही हो ।

शा० व्या० : जब बाज शिकार के लिए पक्षियों पर झपट्टा मारता है तो वे भय के मारे आँख बन्द करके अपनी गर्दन को दोनों पंखों के बीच में छुपा लेते हैं, ऐसी पक्षियों की स्वाभाविक क्रिया होती है ।

संगति : शोक में राजा क्या कह रहे हैं ? यह आगे कहा जा रहा है ।

चौ० : मोर मनोरथु सुरतरु फूला । फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ।। ८ ।।

भावार्थ : राजा सोचने लगे कि मेरा मनोरथ (रामराज्य तिलक) रूप कल्पवृक्ष में फूल उग गया था । फल लगने के समय कैकेयी रूप हथिनी ने उसको जड़सहित उखाड़ फेंका है ।

अयोध्या के भविष्यत् पर विचार

शा० व्या० : गुरु वसिष्ठ के सामने 'यह एक लालसा मन माहीं' से राजा ने रामराज्याभिषेक का मनोरथरूप कल्पवृक्ष लगाया । 'बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा' से मन्त्रियों के समर्थन होने के बाद उस वृक्ष का बढ़ना और शाखा फूटना कहा गया । राज्याभिषेक के निमित्ति से सामग्रियों का लाना, नगर की सजावट, बाज-बधावा आदि उस वृक्ष का फूलना है । राज्याभिषेक सम्पन्न होना ही उसमें फल लगना है । ऐसे फल लगने के समय में ही उसको कैकेयी रूपी हथिनी ने उखाड़ फेंका है । उपरोक्त सोच में राजा अयोध्या के भविष्यत् को प्रतिभासित कर रहे हैं अर्थात् श्रीराम का वनवास राजासहित सम्पूर्ण अयोध्या को दु:खप्रद होगा ।

संगति : श्रीराम को वन में भेजकर भरतजी के राज्यारोहण को प्रजा कभी भी स्वीकार नहीं करेगी अयोध्या नगरी शून्या हो जायेगी ।

चौ० : अवध उजारि कीन्ह कैकेयी । दीन्हीसि अचल विपति कै नेई ।। ९ ।।

भावार्थ : कैकेयी अवध को उजाड़ कर विपत्ति की नींव सुदृढ़ कर रही है ।

राजनीति में प्रमाद से देश का नाश

शा० व्या० : राजनैतिक सिद्धान्त है कि राजा की भूल सम्पूर्ण राष्ट्र को दुःखी बनाने में कारण होती है। इसलिए राजनीति में प्रमाद या भूल महान् अपराध माना गया है। रानी की तत्काल गतिविधि को समझने में राजा दशरथ की जो भूल हुई उससे अवधपुरी शोकग्रस्त हो गयी। राजा कह रहे हैं कि श्रीराम के वियोग में आनेवाली मृत्युरूप विपत्ति का योग मेरे लिए जैसे अचल हो रहा है वैसे ही द्वितीय वर की याचना से श्रीराम के विरह में राजा की मृत्यु से होने वाला वैधव्य कैकेयी के लिए अचल विपत्ति बनेगी। विलाप में समय का भान नहीं रहता अतः उक्ति स्वाभाविक दीर्घ हो जाती है, इसलिए यह दोहा भी ९ चौ० में समाप्त हो रहा है।

संगति : अति दुःख से राजा किंकर्तव्यमूढ़ हो रहे हैं।

दो० : कवने अवसर का भयउ गयउ ! नारि बिस्वास ।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्यानास ।। २९ ।।

भावार्थ : रामराज्याभिषेक का अवसर है। इस अवसर पर क्या हो गया ? स्त्री का विश्वास चला गया। जैसे योग की सिद्धि मिलने के अवसर पर अविद्या (अज्ञान या माया) योगी का विनाश कर देती है।

भ्रान्ति में अप्रतिभा होने पर राजा को खेद

शा० व्या० : राज्याभिषेकोत्सव का उपक्रम, रानी के सामने उक्त संस्कृत संकल्प, रानी की वर-याचना आदि को सोचते हुए राजा अपनी अप्रतिभा पर खेद प्रकट कर रहे हैं। जिस अनर्थ को राजा ने अपने हाथों से अपने ऊपर मढ़ लिया उसमें रानी को दोषवती न ठहराकर, स्त्री पर किये विश्वास को ही कारण मान रहे हैं। 'गयउ नारि विश्वास' का अर्थ विश्वास्यताऽवच्छेदक भार्यात्व नहीं है, बल्कि नारीत्व है। इसका विशेष विवेचन सुन्दर काण्ड में 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' के प्रसंग में किया गया है। राजा ने अभी तक कैकेयी में भार्यात्व को पूर्ववत् समझकर विश्वास किया था, परन्तु भार्यात्व हटकर अब उसमें केवल नारीत्व रह गया। भार्यात्व के भ्रम में राजा अपरिहार्य प्रतिज्ञा कर बैठे। इस समय (दशरथ और कैकेयी की स्थिति एक-सी है। जिस प्रकार राजा ने रानी भार्यात्व) के पूर्वग्रह में भ्रान्ति समझा उसी प्रकार कैकेयी राजा के पूर्वग्रह (आप्तत्व) में भ्रान्ति समझ रही है। इस प्रकार दोनों भ्रान्ति में पड़कर वर-याचना तथा धर्म-बद्ध वरदान की प्रतिज्ञा से दुःखभागी हो गये।

भ्रान्ति में फल की असिद्धि

'जतिहि अविद्या नास' का भाव है कि अपने साधन की फलसिद्धि की पूर्णता के यत्न में अविद्या के वशीभूत होकर संयमी जितेन्द्रिय व्यक्ति रहस्यवेत्ता न होने से कार्यसिद्धि के निकट पहुँचने पर भी, सिद्धि को खो बैठता है और अपना भी विनाश कर लेता है। ऐसे यति के उदाहरण से कवि समझा रहे हैं कि उपर्युक्त भ्रान्तिवश राजा दशरथ भी विपत्ति के चपेट में आ गये।

अविद्या में भ्रान्ति का स्थल

अविद्या में कहाँ-कहाँ भ्रान्तियाँ होती हैं ? इसको राजनीति-शास्त्र में बताया गया है।[1] भारतीय

---

१. अशक्येषु प्रवर्तमानस्यांगवैकलयं निष्फलक्लेशताविपविपत्तिरन्तस्तापश्च।

शास्त्रों में निर्दिष्ट आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चारों विद्याओं में जब तक जितेन्द्रिय व्यक्ति परिनिष्ठित नहीं होता तब तक अविद्या का विनाश कथमपि नहीं हो सकता। इस विषय को अरण्य काण्ड में चौ० ४, ५, दोहा १५ के विवेचन में व्याख्यात किया गया है। इन चारों विद्याओं को विना अच्छी तरह समझे तन्त्र-विद्या में भी सफलता मिलना संदिग्ध है।

संगति : राजा को वर देने का उत्साह हो गया।

चौ० : एहि विधि राउ मनहिं मन झांखा। देखि कुभाँति कुमति मन माखा ।। १ ।।

भावार्थ : चौ० ४ से दो० २९ तक में कही एहि विधि है जिसमें राजा मनही मन झींख रहे हैं। अर्थात् दुःख से कलप रहे हैं और पछता रहे हैं। राजा की ऐसी विकट दशा को देखकर कैकेयी मनस् में क्रोधिता हो उठी।

भ्रान्ति का परिचय होने पर कार्य में अनुत्साह

शा० व्या० : कवि कह रहे हैं कि राजा को जब अपनी भ्रान्ति समझ में आयी तब वह भीतर ही भीतर खिन्न होने लगे। अब उनका वर देने का उत्साह भी क्षीणहो गया क्योंकि कैकेयी का नारीत्वस्वरूप समझने के अनन्तर राजा के हृदय में अब न तो प्रियश्रवणादिप्रयुक्त आवेग है और न हर्ष।[1]

कैकेयी में क्रोध की पुनरावृत्ति

'देखि कुभाँति' से राजा के दानप्रयोजक औत्सुक्य के अभाव को देखकर कैकेयी क्रोध में आ रही है, जिसकी 'कुमति मन माखा' से व्यक्त किया है। ऋत्विजों का कर्तव्य हो जाता है कि यजमान की इच्छा का अनुसरण करें, वैसा न करने से यजमान का कर्तृत्व असत्प्राय हो जाता है, उसी प्रकार 'दुइ के चारि मागि मकु लेहू' से स्वातन्त्र्यपूर्ण कर्तृत्व देकर कैकेयी को यजमान बनाकर राजा उसके सामने ऋत्विक् स्थानापन्न हो गये। अब उसकी इच्छा का अनुसरण नकरने से कैकेयी को क्रोध आ रहा है। 'प्राणप्रिय' आदि कहकर रानी सामप्रयोग से वरयाचना कर चुकी है। तत्काल मनोरथपूर्ति होते न देखकर अब दण्डभय दिखाकर अपना कार्य सिद्ध करना चाहती है।

संगति : 'जनु सचान बन झपटेउ लाना' को चरितार्थ करते हुए कैकेयी कटु—उक्ति से राजा पर प्रहार कर रही है।

चौ० : भरतु कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोही ।। २ ।।

भावार्थ : कैकेयी क्रोध में बोल रही है कि क्या भरतजी तुम्हारा पुत्र नही है ? क्या मुझको मोल खरीद कर लाये हो ? उसके कहने का भाव यही है कि विवाहिता पत्नी न समझकर राज्याधिकार से वंचित करने में क्या पुत्र भरतजी की उपेक्षा करते हैं ?

कुलराज्य

शा० व्या० : राजनीति सिद्धान्तानुसार जब सभी वंश निर्मल है और राज्य संचालन-क्षम, विनीत एवं सात्विक हैं तो 'कुलराज्य' की घोषणा होनी चाहिए। इस पक्ष को ठुकराकर भरतजी के असान्निध्य

---

१. प्रियाप्रियाविकारित्वं। . . ..

में राज्याभिषेक कैसे हो सकता है ? इस पक्ष को प्रतिपादित करते कैकेयी आगे बोलती है क्या मैं "वैश्या हूँ ? या खरीदकर लायी हुई दासी हूँ ? जिससे मेरा पुत्र कुल से बहिष्कृत समझकर राज्यधिकार से वंचित किया जा रहाहै।"

संगति : राजा की इच्छा को ही नियामक मानने से पूर्वापर विरोध की स्थिति खड़ी होगी जो रानी कहने जा रही है

चौ० : जो सुनि सरु अस लाग तुम्हारे। काहे न बोलेहु वचनु सँभारे ॥ ३ ॥
देहु उतरु अनुकरहु कि नाहीं। सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं ॥ ४ ॥

भावार्थ : जो 'भरत हि टीका' को सुनकर तुम को मानो बाण लगा है तो पहले ही सोचकर क्यों नहीं बोले ? अर्थात् यह क्यों कहा कि "दुइ कै चारि मागि मकु लेहू, राम सपथ सत मोही।" यानी उत्तर दीजिये (हाँ कहिये या नहीं कहिये) आपतो रघुकुल में सत्यसंध प्रसिद्ध हैं।

राजा के परस्परविरोध का प्रकाशन

शा० व्या० : पहले तो राजा ने वर माँगने में कैकेयी को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी अब अपनी इच्छा के विपरीत होते देखकर वे देने में हिचक रहे हैं जो परस्पर विरोधी बात है।

सत्यसंधता और कुलीनता की दोहाई रामसपथ द्वारा देकर परस्पर विरोधी वचनों को बोलने में विवेक न करना दुरात्मा के लक्षण हैं। जो राजा में सिद्ध हो रहें है। अतः वर देने में "हाँ या नहीं" स्पष्ट उत्तर रानी चाहती है।

चौ० ४ दोहा २८ में राजा की उक्ति "रघुकुल रीति सदा चलि आई"। प्रान जाहुँ पर बचन न जाई, की याद दिलाते हुए कैकेयी कहती है कि राजा अपने वचन को पूर्ण करें।

संगति : इतने पर भी राजा नहीं बोले तो आगे का दण्ड बता रही है।

चौ० : देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू ॥ ५ ॥

भावार्थ : पहले तो वर देगें कहा। अब भले मत दीजिये। सत्य को आप छोड़ते है तो आप को अपयशस् मिलेगा।

शा० व्या० : यदि राजा वर देने की बात टालना चाहते हैं तो वे इह लोक में अपयशोरूप दण्ड के भागी होंगे क्योंकि राजशास्त्र के सिद्धान्तानुसार असत्य बोलने वाले राजा के प्रति प्रजा का अविश्वास होता है। जिसके परिणाम में अलक्ष्मी का प्रवेश होता है। अलक्ष्मी घर में रहेंगी तो कोष—दण्ड का तेजस् आदि सब समाप्त हो जायगा। फलतः राजत्व जीवित दशा में ही असत् प्रायः हो जायगा। जैसा राजा कि उक्ति चौ० ५-६ दो० २८ से स्पष्ट है।

संगति : चौ० ३ में "मागिलेहु" से राजा का देय पदार्थ वह सब है जो बालकाण्ड चौ० ३ दोहा २०८ में विश्वामित्र से कि उक्ति में 'मागहु भूमि धेनु धन कोसा-सर्वस देउ आज सहरोषा' से स्पष्ट है। कैकेयी अपनी महत्ता दिखाने के लिए उन सब पदार्थों चबेना के समान तुच्छ बताकर यह प्रकट करना चाहती है कि सत्यसंध राजा से ऐसी तुच्छ वस्तुएं मागने की अपेक्षा नहीं है।

चौ० : सत्य सराँहि कहेहु वरु देना । जानेहु लेइहि माँगि चबेना ॥ ६ ॥

भावार्थ : चौ० ४ से ६ दो २८ में सत्य की प्रशंसा कर को वर देने के कहा और मनस् में समझा कि चबेना जैसी कोई सस्ती वस्तु माँग लेगी ।

'अलभ्य वर की प्रार्थना'

शा० व्या० : राजा की सत्यता के गौरव के अनुरूप वही याचना शोभनीय और सफल कही जा सकती है जो त्वत्कृति विना संभव नहीं है अर्थात् श्रीराम को वनवास और भरतजी को राज्य—ऐसे अलभ्य योग को बनाने में केवल राजा समर्थ हैं। जिस प्रकार भक्त भगवान् से वरयाचना के प्रसंग में कहता है कि संसार के पदार्थ धन, धाम, सुत आदि क्या माँगू ? ये तो प्रत्येक जन्म में अयाचित ही मिलते रहते हैं। माँगना तो वह है जो और कोई देने में समर्थ नहीं न तो किसी से मिल ही सकता है।[1]

संगति : ऐसे अवसर भी आते हैं जब सत्य को छोड़ना पड़ता है। कैकेयी के वचनों को सुनकर सत्य को कार्यान्वियन करने में राजा की रुचि की कमी को देखकर उस रुचि के उत्पादनार्थ सत्यपालक महात्माओं के इतिहास की ओर राजा का ध्यान आकर्षित करते हुए रानी कह रही है।

चौ० : सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा । तनु, धनु तजेउ बचन पनु राखा ॥ ७ ॥

भावार्थ : राजा शिवि, महर्षि दधीचि और राजा बलि ने जो कुछ कहा, अपने वचनपालन में चाहे उनको तन धन का त्याग करना पड़ा, पर अपनी प्रतिज्ञा को उन्होंने बनाये रखा ।

सत्य-पालन में कीर्ति

शा० व्या० : जिनको इतिहास में अमर कीर्ति की स्थापना करनी होती है वे लोग किसी भी अवसर पर सत्य नहीं त्यागते, उदाहरण के लिए शिबि, दधीचि, बलि आदि प्रसिद्ध हैं। दशरथ भी उसी नामावलि में गिने जाने योग्य हैं। कैकेयी कहती है कि ऐसी स्थिति में क्या राजा उसके बचनों को पूर्ण नहीं कर सकते ? वह कोई ऐसा असंभव विषय उनके सामने नहीं रख रही है जिसके निमित्त उनको सत्य का परित्याग करना अपरिहार्य हो क्योंकि उसकी याचना 'थाती राखिन मागिहु काऊ' के अनुसार धर्मसंबद्ध है।

तीन राजाओं के कीर्तन का प्रयोजन

सत्यपालन करने वाले ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामकीर्त्तन में साक्षी रूप से तीन का नाम लेना अर्थशास्त्र के विधान ('त्रयाणां एकवाक्यत्वे संप्रत्ययः') के अनुसार है अर्थात् जिस एक अर्थ को पृथक्तया तीन साक्षी निरूपण करते हों, उसकी यथार्थता सर्वमान्य हो जाती है। अतः विभिन्न कालिक तीन महात्माओं के नाम सत्यपालन में प्रवृत्युपधाय रूचि उत्पन्न कराने हेतु से लिए गये हैं।

स्मरण रखना चाहिये कि पहले ही मन्थरा ने दो० १८ में "कहिसि कथा सत सवति कै" से सत्य और सौत की कथाओं का निरूपण किया है। उनमें सौत की कथा दो० १९ में कद्रू विनता के इतिहास से हो चुकी है। सत्य की कथा का उल्लेख कैकेयी द्वारा यहाँ हो रहा है।

संगति : शिवजी कह रहे हैं कि इस समय राजा को सत्य का महत्त्व प्रदर्शित करने वाले कैकेयी के ये वचन कठोर लग रहे हैं।

---

१. मयैतत्प्रार्थितम् व्यर्थम् चिकित्सेव गतायुषि ।
प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनं ।
भवच्छिदमयाचेहं भवं भाग्यविवर्जितः ॥ (भागवत ४ । ९ । ३४)

चौ० : अतिकटुवचन कहति कैकेई। मानहुँ लोन जरे पर देई ॥ ८ ॥

भावार्थ : कैकेयी अत्यन्त कठोर वचन बोल रही है, मानो घाव पर नमक छिड़क कर उसकी पीड़ा को बढ़ा रही हो। अर्थात् कैकेयी के वरयाचनावचन को सुनकर राजा को—शोक हुआ है उसमें कैकेयी के वचन से राजा की मनोव्यथा अधिक बढ़ गयी।

राजा दशरथ का दुःख

शा० व्या० : इस समय राजा के तीन दुःख शिवजी प्रकट कर रहे है। (१) कैकेयी के कोपयुक्त वचनों की कठोरता (२) प्रतिज्ञात वर न देने पर अपकीर्ति (३) सत्यपक्ष अपनाने पर राम-वनवास-जनितवियोग। उक्त त्रिविध दुःखों से निकलकर किसको त्यागना या किसको अपनाना यह महती समस्या उनके सामने खड़ी है जिसका समाधान न पाकर राजा विचार में डूबे पीड़ाक्रान्त हो रहे हैं। अन्ततः राजा इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि इस उलझन में फँसने वाली समस्या का समाधान रानी के हाथ में हैं। यदि वरयाचना वापस ले लेती है तो बच सकते हैं अन्यथा मृत्यु तो दिखाई पड़ ही रही है।

संगति : दुःखी होकर राजा अपनी कृत्यसाध्यतात्मक दीनता प्रकट कर रहे हैं !

दोहा : धरमधुरंधर धीर धरि नयन उघारे रायँ।
सिरु धुनि लीन्ह उसास असि मारेसि मोहि कुठायँ ॥ ३० ॥

भावार्थ : धर्मधुरंधर राजा ने इस समय धैर्य धारण किया। अपनी आँखों को किसी तरह खोला ('मूँदि दो लोचन' से पहले कह आये हैं कि राजा ने आँखें बन्द करली थी) सिर पीटते लंबी श्वास लेते हुए सोचा कि इसने मुझे बड़ो कठिन परिस्थिति में डालकर तलवार का आघात किया हैं।

राजा की धर्मधुरंधरता

शा० व्या० : शिवजी राजा दशरथ को 'धर्मधुरंधर धीर धरि' कह रहे हैं।

प्रथम विशेषण 'धर्म धुरंधर' का तात्पर्य इस प्रकार है—राज्य सत्यप्रचुर धर्म की नींव पर स्थिर रहता है क्योंकि नीतिमर्यादा में स्थित राजा में ही प्रजा की प्रेमपात्रता संभावित है। इस प्रकार धर्मराज्य के स्थैर्य का उपजीव्य है। यदि राजा निर्व्यसनी है तो सम्पूर्ण प्रजा भी अप्रमादिनी रहती है। राजा के धर्मच्युत होने पर प्रजा प्रमादिनी हो राष्ट्रकर्म से च्युता हो जाती है। फलतः अन्न आदि की उत्पत्ति क्षीण हो जाती है।[1] अतः नीतिमान् राजा धर्म को आजीवन निभाना अपना कर्तव्य समझते हैं। यहाँ धर्म की व्याख्या 'मानवाद्युपदिष्टं परिपालनम्' से हैं। सत्य को ठुकराया जाय तो राजा का राजत्व निरस्त हो जाता है वह निर्माल्य के समान त्याज्य भी हो जाता है। यह दोष राजा दशरथ में नहीं है। किंबहुना वह धर्म की धुरा को उठाने में इतने अभ्यस्त हैं कि कोई भी अवस्था नीति से च्युत होने की ओर उनको जब आकृष्ट करती है, तब वह अपने सत्य कर्तव्य से च्युत नहीं होते यही उनकी धर्मधुरंधरता है। 'धर्मधुरंधर' से यह भी संकेत है कि राजा कैकेयी की वरयाचना को 'थाती राखि न मागहु काऊ' की वचनबद्धता के योग से धर्मसंबद्ध समझते भी हैं।

---

१. प्रजायां व्यसनस्थायां न किञ्चिदपि सिद्ध्यति ॥ (नी० सं०)।

धीरधरि का भाव

धर्मपालन में च्युति न हो एवं वचनकी सत्यता भी रहे-एतदर्थं रानी को समझाने का प्रयत्न करना राजा की धीरता है। धैर्य के संबंध में वक्तव्य चौ० दो० ८१ की व्याख्या में द्रष्टव्य है वह चौ० ८ दो० ३ में समचितहो रही है। अपने वचनों से रानी ने राजा को ऐसी स्थिति में रख दिया है जिसमें हाँ या ना कहना भी उनको मुश्किल हो गया। सम्पूर्ण ओजस् समाप्त हो जाने से राजा का विषाद इतना बढ़ गया कि रामवनवासश्रवणमात्र से इतनी अत्यधिक पीड़ा हो गयी कि आँखें भी नहीं खोल पा रहे हैं। तथापि जिस प्रकार अपनी ग्लानि और दुःख में पुत्रजन्म के लिए धैर्य रखा[1] उसी प्रकार धैर्य के बल पर इस संकट की घड़ी में भी आँखें खोलने का प्रयत्न कर रहे हैं अर्थात् कैकेयी को समझाने में सफलता की आशा कर रहे हैं।

संगति : कैकेयी का रोष राजा की मृत्यु में कारण हो रहा है यह समझाने के लिए ग्रन्थकार रोषका वर्णन कर रहे हैं।

चौ० : आगे दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी ॥ १ ॥

भावार्थ : अत्यन्त क्रोध में जलती कैकेयीको सामने देखा, मानो क्रोध में तलवार निकाली हो।

कैकेयी का रोष

शा० व्या० : पति के उत्तर न देने से कैकेयी आर्द्रहृदया न होकर क्रोध में और भी कठोरा दिखाई पड़ रही है। शिवजी कैकेयी के क्रोध को राजा के लिए प्राणघातक समझकर 'रोष' कह रहे हैं। स्त्री-पुरुष का प्रणयसम्बन्धी क्रोध भी 'रोष' कहा जाता है। उसके प्रतीकार के लिए स्त्री-पुरुष में किसी एक के प्रार्थना करने पर उसको शान्त होना चाहिए। यदि ऐसा करने पर शान्त न हुआ तो जीवित की स्थिति नाजुक हो जाती है। मन्थरासंवाद में कहा जा चुका है कि कैकेयी का रोष राजा के प्रति द्वेष में परिणत हो चुका है, इसलिए प्रार्थना करने पर रानी रोषमुक्ता नहीं हो रही है।

संगति : अब रानी क्रोधरूपी तलवार का वार करने की तैयारी कर रही है।

चौ० : मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई ॥ २ ॥

भावार्थ : उक्त तलवार की मुठिया कुबुद्धि है, धार कठोरता है। कुबड़ी ने उसको सान रखकर तेज बना दिया है अर्थात् कैकेयी की कुमति में निष्ठुरता दीख रही है वह कुबड़ी द्वारा उभाड़ी गयी है।

कुबरी के कुमन्त्रणा का परिणाम

शा० व्या० : कैकेकी की क्रोध रूपी तलवार पर कुमन्त्रणा की धार चढ़ी है और कुमति के मूठ से जकड़ी हुई है। यदि कुमंत्रणा न होती तो राजा के मनाने पर रानी का क्रोध शान्त हो जाता।

संगति : रानी का क्रोध शान्त होते न देखकर राजा को सन्देह हुआ कि पीड़ा के अनुभव में क्या मृत्यु हो जायगी ? क्या राम राज्य देखने को नहीं मिलेगा ? अर्थात् 'योगेनान्ते तनु त्यजाम' भी नहीं होगा ?

चौ० : लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा ? ॥ ३ ॥

---

१. 'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी' (चौ० ४ दो० १८९ बा० का०)।

भावार्थ : राजा ने उस भयंकर रोषरूपी तलवार को देखा और समझा कि उसका बार सचमुच जीवन ले लेगा ? अथवा सत्य के पालन में ही जीवन जायगा क्या ?

यथासम्भव मृत्यु से बचने का उपाय

शा० व्या० : "मृत्यु र्बुद्धिमताऽपोह्यो यावद् बुद्धिबलोदयं" के अनुसार राजा ने कैकेयी का रोष शान्त करने के उपाय के अन्तर्गत अतिधीर होकर पुनः समझाने का उपक्रम किया है।

चौ० : बोले राउ कठिन करि छाती। बानी सबिनय तासु सोहाती ॥ ४ ॥

भावार्थ : राजा अपनी छाती को कड़ा करके (हृदय में बल को बटोर कर) नम्रतापूर्वक ऐसी वाणी में बोले जो उसको अच्छी लगे।

धीरता की ध्वनि

शा० व्या० : 'कठिन करि छाती' से राजा की अतिधीरता प्रकट हो रही है। 'सविनय' से राजा अपनी पूर्ण पराधीनता दिखा रहे हैं। इसमें शास्त्रनीति ('क्रुद्धं स्तुतिभिः') स्मरणीय है। अत्यन्त ग्लानि होने से निर्वेद की स्थिति में राजा गायनशास्त्र के सप्तस्वर के अन्तर्गत 'नी' के स्वर में प्रार्थना कर रहें हैं जिससे कैकेयी को उन पर करुणा आ जाय।

चौ : प्रिया ! वचन कस कहसि कुभाँती ? । भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती ॥ ५ ॥

भावार्थ : हे प्रिये ! विश्वास और प्रीति को बिगाड़कर भय की आशंका में ऐसी कठोर वाणी कैसे बोल रही हो ?

शीलविरुद्ध उक्ति

शा० व्या० : चौ० ६ दो० १५ में 'मो पर, करहिं सनेहु विशेषी। मैं करि प्रीतिपरीक्षादेखी' के विरोध में रामवनवास का वचन 'कहसि कुभाँती' है अर्थात् प्रीति की परीक्षा के बाद रामो मे 'हितं साधयिष्यति' यह विश्वास किस हेतु से समाप्त हो रहा हैं ? ऐसा पूछने में राजा कैकेयी का भ्रम दूर करना चाहते हैं।

संगति : इसको राजा आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० मोरे भरतु रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकरु साखी ॥ ६ ॥

भावार्थ : मैं शिवजी की साक्षी लेकर सच-सच कहता हूँ कि मेरे लिए श्रीराम और भरतजी दोनों आँखों की तरह एकसमान प्रिय हैं।

राम राज्य की अनिवार्यता

शा० व्या० : कुलराज्य की कल्पना को लेकर कहा जा सकता है कि कैकेयी के मनस् में यह बात आयी कि भरतजी को राज्याधिकार से वंचित किया जा रहा है, उस सम्बन्ध में राजा स्वीकार कर रहे हैं कि भरतजी और श्रीराम दोनों उनके नेत्र हैं। 'चक्षुर्बै सत्यं' से नेत्र की प्रामाणिकता अधिक मानी गयी है। 'भरतु रामु दुइ आँखी' से राजा स्पष्ट कर रहे हैं कि वह भरतजी को दूर रखना नहीं चाहते, परिस्थिति (आसन्न मृत्यु) से बाध्य होकर भरतजी की अनुपस्थिति में रामराज्यारोहण—कार्य करना पड़ रहा हैं। श्रीराम के समान भरतजी भी प्रिय हैं इसकी प्रामाणिकता में 'संकरु साखी' कहकर राजा शंकरजी की शपथ ले रहे हैं। शंकर जी राजा के उपास्य हैं, अतः उनको साक्षी बनाने से अपनी प्रतिज्ञा को विशेष महत्व

दे रहे हैं। मोहवशा रानी अपने पूर्वग्रह में अप्रामाण्य बुद्धि नहीं कर रही हैं जब कि भरतजी को उपक्षित करने से राजा के वचनप्रमाण में न्यूनता आ जायगी और राजा को नीतिमत्ता से च्युत होना पड़ेगा। 'दुइ आँखी' में से राजा ने ध्वनित किया है कि वचन की सत्यता यह है कि श्रीराम और भरतजी दोनों प्रमाण हैं।

शपथ में अन्तर

'संकरु साखी' के प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि सत्य या विश्वास को प्रामाणित करने के लिए राजा दशरथ कहीं श्रीराम की शपथ और कहीं शंकर का साक्ष देते हैं। जब श्रीराम के सम्बन्ध का प्रसंग आता है तब शंकर को साक्षी बनाते हैं। बाकी विषय में श्रीराम की शपथ लेते हैं। यह श्रीराम और शंकर में अभेद की दृष्टि का द्योतक है।

राजा के कहने का तात्पर्य है कि भरतजी और श्रीराम दोनों राज्य में रहें। अन्यथा कैकेयी द्वारा श्रीराम को वन में दूर भेजकर प्रथम वर ('देहु एक वर भरतहि टीका') की चरितार्थता नहीं होगी अर्थात् श्रीराम के न रहने पर राजा जीवित नहीं रहेंगे तो 'देहु भरतहि टीका' वर दोनों का संभव नहीं होगा।

संगति : अब प्रश्न है कि यदि श्रीराम राजा होंगे तो भरतजी को सेवक बनना पड़ेगा ? क्योंकि भरतजी के सेवकत्व को लेकर ही कैकेयी को दुःख है उसका समाधान आगे किया जा रहा है।

चौ० : अवसि दूतु मैं पठइब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता॥ ७॥
सुदिन सोधि सबु साजि सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥ ८॥

भावार्थ : सबेरा होते ही मैं दूतों को अवश्य भेजूँगा। दूतों से सुनते ही भरतजी और शत्रुघ्नजी दोनों भाई शीघ्र आवेंगे।

शुभमुहूर्त देखकर सब तैयारी करके भरतजी को डंकेकी चोट पर राज्य दूंगा।

'देउँ भरत कहुँ' का तात्पर्य

शा० व्या० : राजा के कहने का तात्पर्य यह है कि रामवनवासवाला दूसरा वर न मांगकर कैकेयी अपने ही हित में भरतजी को राज्य देने के लिए, राजा को जीवित रखे तभी भरत को राज्य देने की घोषणा की सार्थकता है। भावान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि इस युक्ति से राजा अपनी मृत्यु को टालने का प्रयास कर रहे हैं अर्थात् भरतजीको राज्य देकर श्रीरामको वन जाने से बचा लिया जाय तो राजा जीवित रह सकते हैं।

घोषणान्तर में अपच्छेदन्याय

जब श्री राम को राज्य देने की घोषणा हो गयी तो फिर भरतजी को राज्य देने की घोषणा के संकल्प का औचित्य कैसे होगा ? इसके समाधान में मीमांसा का अपच्छेद-न्याय समझना होगा, जिसके अनुसार किसी एक निमित्त के प्रसंग में प्रायश्चित के रूप में अनुष्ठान की प्रसक्ति होने पर यदि वैसा ही दूसरा निमित्त उपस्थित हो जाय तो द्वितियनिमित्तक प्रायश्चित करना पड़ेगा। इस निर्णय में मीमांसकों का तर्क यह कि दूसरा निमित्त प्रथम निमित्त को बाधित करके उपस्थित होता है, तब दूसरे निमित्त के अवसर पर प्रथम निमित्त का अभाव हुआ। अतः पूर्वनिश्चित प्रायश्चित्त भी अननुष्ठेय नहीं जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में कैकेयी के वरयाचनात्मक धर्म-बन्धनरूप निमित्त के उपस्थित होने पर पूर्वनिर्णीत रामराज्य-घोषणा तत्काल में बाधित हो जाती है। इसलिए निमित्तान्तरविशेष में 'देउँ भरत कहुँ राजु बजाई' का अनुचित न होना मीमांसानुमोदित ही है।

संगति : तर्क की दृष्टि से भरतजी को राज्य देने में दो अड़चनें हो सकती हैं। एक भरत में गुणसंपत्ति का अभाव दूसरा श्रीराम का विरोध। प्रथम के संबन्ध में राजा द्वारा भरत को राज्यसंपत्तिप्रदान करने- की स्वीकृति से भरतजी की आत्मगुणसम्पन्नता अनुमेय हो जाती है। दूसरी अड़चन के सम्बन्ध में श्री राममें राज्य के प्रति अलोभ बता रहे हैं।

दो० : लोभु न रामहि राजु कर बहुत भरतपर प्रीति।
मैं बड़-छोट विचारि जियँ करत रहेउँ नृपनीति॥ ३१॥

भावार्थ : श्रीराम को राज्य का कोई लोभ नहीं है। भरतजी के ऊपर उनकी बहुत प्रीति है। मैं तो बड़े छोटे का विचार करके राजा के योग्य राजनीति का पालन कर रहा था।

शा० व्या : चौ० १, २, ३ दो० ३ में श्रीरामको राज्य देने का निर्णय 'भये राम सबबिधि सब— लायक' कह कर हो चुका है। उस विवेचन में यह स्पष्ट कर दिया है कि कुलराज्य की संभावना को बाधित कर ज्येष्ठत्व को ही नियामक मानकर रामराज्य का निर्णय किया गया।

विकल्प में राजनिर्णय के नियामकत्व की मीमांसा

राजा दशरथ श्रीराम या भरतजो नीतिमर्यादा का त्याग नहीं करते। फिर भी एकराज्य के सामने कुलराज्य की संभावना से दो विकल्प जब उपस्थित हो गये तब मनुका निर्णय 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' स्मरणीय एवं अनुकरणीय है अर्थात् किसी एक विकल्प को स्वीकार करना नियामक की इच्छा पर निर्भर है। इसका यह तात्पर्यनहीं है। कि निर्णायक अपनी इच्छा को नियामक मानकर कभी एक पक्ष को, कभी दूसरे पक्ष को स्वीकृत करनेमें स्वतन्त्र है। विकल्प के अवसर पर एक पक्ष की स्वीकृति हो जाने पर भविष्यत् में भी उसी पक्ष की स्वीकृति मान्य होगी। यही शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है। इसके उदाहरण में एकादशी व्रत का विधान है। व्रतारंभ में धर्मशास्त्रसम्मत एकादशी में पूर्व या अपर दिन की एकादशी स्वीकार करने में व्रती को स्वतंत्रता है, उसी के अनुसार पूजा-अर्चा की मर्यादा भी स्थिर हो जाती है। उसके बाद किसी निमित्त के उपस्थित होने पर गृहीत पक्ष का त्याग और एकादशी के दिनान्तरात्मक पक्ष का स्वीकार शास्त्रसम्मव नहीं है, न तो प्रभु को इष्ट है क्योंकि प्रभु के विधान में सदा एकरूपता मानी गयी है। जैसे सृष्टि के आरम्भ में गणेशजी की पूजा दूर्वा से करने का विधान था, वह आज भी अनुस्यूत है। घर में भी अर्चावतार के लिए नियमानुसार जिस दिन उपोषण आदि किया जा रहा है, अर्चावतार उसी का आकांक्षी आज भी है। यह न्याय अर्थशास्त्र के 'समयस्यानपाकर्म में भी अनुमोदित है।

विकल्प में एकनिर्णयकी अमान्यता का परिणाम

सूर्यवंश में बहुत से व्यक्ति अभी कुलराज्य में अधिकारी हैं। पर पूर्वनिर्णय की एकरूपतामे ही राजत्व की छबि है। इस मर्यादा को उत्तर-पीढ़ी ने त्यागना न्यायसंगत नहीं है, किबहुना अधर्म ही माना जायगा। उपरोक्त विकल्प के मान्यता के निर्णय के अवसरपर पूर्वनिर्णय की एकरूपता में ही लोक- स्थिति का सन्तुलन बना रह सकता है। अन्यथा न्याय-अन्याय, संपत्ति के अर्जन आदि की मर्यादा स्थिर न रहेगी। परिणाम में आज का न्याय भविष्यत् में अन्याय और आज का अन्याय भविष्यत् में न्याय होगा। कौन कितनो संपत्ति का मालिक है, कौन नहीं है—इत्यादि विषय अनिर्णीत दशा में पहुँच जायगा। इसके परिणाम में मात्स्यन्याय होने लगेगा। प्रतिक्षण संविधान भी परिवर्तित होते रहेंगे जिसके फलस्वरूप राजा पर प्रजा का विश्वास समाप्त होगा।

सूर्यवंश की मान्यता

अभी तक सूर्यवंश में धर्म की एकरूपता से ही प्रजा का विश्वास स्थापित हुआ है। मनु से अभी तक विधान की एकरूपता है। इसी न्याय को लेकर दशरथ ने भविष्यत् की पीढ़ी में विश्वास स्थिर करने के लिए ज्येष्ठत्व को आधार मानकर श्रीराम के राज्यारोहण की घोषणा की, यही नृपनीति है।

भरतजी के गुण का प्रकाशन

प्रश्न : यदि प्रश्न किया जाय कि भरतजी की आत्मगुणसंपत्ति का प्रकाशन प्रजा के सामने कैसे होगा ?

उत्तर : उसके समाधान में कहना है कि एकराज्य में (रामराज्य में) राजनीतिशास्त्र के अनुसार। सेनापति या युवराज-पद में भरतजी के समासीन होने पर उनके गुणों का प्रकाशन हो सकता है।

अपने निर्णय में विश्वास

'देउँ भरत कहुँ रांजु, कहकर राजा विकल्प को स्वीकार कर सकते हैं। पर ऐसा करने पर भी राजा को अपने पूर्ववर्णित विकल्प की स्थिरता पर विश्वास है जिसको आगे चलकर चौ० १-४ दो० ३६ में 'चहत न भरत भूपतिहि भोरे' तथा 'करिहहि भाइ सकल सेवकाई' कहकर स्पष्ट करेंगे।

संगति : चौ० १-६ दो० १८ में मन्थरा द्वारा उपस्थापित शंका के आधार पर कैकेयी के मानस में जो सन्देह कौसल्या के प्रति हो सकता है,[1] उसका समाधान आगे कर रहे है।

चौ० : रामसपथ सत कहउँ सुभाऊ। राममातु कछु कहेउ न काऊ ॥ १ ॥
मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूछे। तेहि ते परेउ मनोरथु छूछे ॥ २ ॥

भावार्थ—एक बार नहीं, सौ बार रामकी सौगन्द खाकर मैं शुद्ध भाव से कहता हूँ कि रामजी की माता ने मुझसे कभी भी कुछ भी नहीं कहा है (अर्थात् उसके सिखाने से कुछ नहीं किया है) मैंने स्वयं सब किया है। परन्तु तुम से बिना पूछे किया, इसी से विफल मनोरथ हो रहा हूँ।

मन्त्रणाऽभाव से अपराध की है, नहीं संभावना

शा० व्या० : 'मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूछे' रानियों से मन्त्रणा न करने में क्या राजा दोषी है ?

उत्तर : शास्त्रसिद्धान्त के अनुसार किसी विषय पर विचार करने के लिए विवेकपूर्ण मन्त्रणा में राग-द्वेष नहीं होना चाहिए। पुत्र को प्रस्तुत में राज्य देना विषय है। राज्याधिकारी के रूप में दो पुत्र (श्रीराम और भरतजी) उपस्थित हैं। दोनों आत्मगुणसम्पन्न सब भांति योग्य हैं। दोनों की माताएँ भी योग्यता में कम नहीं हैं। उन दोनों का प्रेम पुत्रों के प्रति वात्सल्य-मातृत्व के अनुरूप है। फिर भी स्त्रियों में स्वाभाविक रागद्वेष-भावना रहती है। यद्यपि वर्णाश्रम-समाज में कोई-कोई पतिव्रता उसका अपवाद हैं, तो भी प्रायः यही देखा गया है कि स्वाभाविक पुत्रस्नेह के वश सपत्नियों में रागद्वेष की सम्भावना रहती ही है। ऐसी स्थिति में किसी एक के पुत्र को राज्याधिकार-प्रदान के विषय में उनसे मन्त्रणा करने में पति बाध्य नहीं कहा जा सकता। 'पत्नी से मन्त्रणा' शीर्षक में आगे स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत में राज्याभिषेक विषय है जिसमें कौसल्या और कैकेयी दोनों रानियों के पुत्रों का संबन्ध है। एक ओर कौसल्याजी पुत्र श्रीराम के स्नेह में उल्लसिता हो उनके राज्याभिषेकनिमित्त से दान पूजा देवप्रार्थना कर

---

१. चतुर गँभीर राममहतारी। बीचु पाइ निजबात सँवारी ॥

रही है, दूसरी ओर कैकेयी अपने पुत्र के राग में उसको राज्याधिकारी बनाने की योजना कर रही है। दोनों में अन्तर यह है कि कौसल्या में द्वेष नहीं है, कैकेयी में राग के अतिरिक्त द्वेष भी है। जिसके वश हो वह राजा, कौसल्या और श्रीराम को दण्डित करना चाहती है।

प्रश्न : यदि राजा ने कैकेयी से मन्त्रणा की होती हो क्या दुःख का यह अवसर नहीं आता ?

उत्तर : दो० १५ के अन्तर्गत कैकेयी की उक्तियों के आधार पर मानना होगा कि आरम्भ में मन्त्रणा की होती तो रानीका विचार राजा के अनुकूल होता। परन्तु सरस्वती के मतिफेरि-कार्य के प्रभाव से मन्थरा-गुरु के उपदेश के अनन्तर कैकेयी का रागद्वेष प्रकट नहीं होता क्या ? अतः मन्त्रणा करने और न करने का जब एक ही परिणाम होता तो राजा के मन्त्रणा न करने का औचित्य उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार स्पष्ट है।

'मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूछें' में राजा की अपराध संभावना के सम्बन्ध में कहना है कि 'कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी। भोज्येषु माता शयनेषु रंभा' की उक्ति के अनुसार सुशीला रानी राजा के राज्याभिषेक-कार्य में मन्त्रणा की आशा रख सकती है। इस दृष्टि से राजा की यह उक्ति उपर्युक्त अपराध संभावना में संगत कही जा सकती है। यहाँ भी स्मरणीय है कि चौ० ७ दो० २३ व चौ० ३ दो०५१ में कहे 'राजु करत' से ध्वनित है कि कैकेयी राजकार्य में राजा की सहायिका थी।

'मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूछें' कहकर अभी केवल अपराध की सम्भावना में राजा बोल रहे हैं कि यदि राजी ने मन्त्रणा की होती तो दु ख का अवसर न आता।

'मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूछे। तेहि ते परेउ मनोरथ छूछें' से ऐसा समझना ठीक होगा कि राजा यह पूछ रहे हैं कि क्या तुम्हारी सम्मति को न लेने से मनोरथ अपूर्ण हो रहा है ? अर्थात् राजा की इस उक्ति को निर्णयरूप में लेकर सिद्धान्त समझना भूल होगी क्योंकि दो० ३५ में राजा ने 'लागेउ तोहि पिसाच जिमि' बतला कर इतर सम्भावितों को अर्थात् 'तोहि बिनु पूछे' को अन्यथासिद्ध कर दिया है। अतः राजा में अपराधसंभावना नहीं है।

पत्नी से मन्त्रणा

वर्णाश्रम समाज में धर्मार्थ-समृद्धि करने के लिए पत्नी को पति की आज्ञा लेने का विधान है। अतः पति का आनुकूल्य होते हुए भी उसकी आज्ञा लेकर जैसे पत्नी को काम करना शास्त्रतः प्राप्त है वैसा विधान पति के लिए शास्त्र में निर्दिष्ट नहीं है। वैवाहिक विधान के अन्तर्गत सप्तपदी में भार्या मित्र कही गयी है। पति पत्नी के स्नेहपूर्ण मित्रता में भेद की सम्भावना को दूर रखने के उद्देश्य से पत्नी की भी सम्मति को लेने में नीति की दृष्टि से औचित्य है।

नीति–दृष्टि से पत्नी की सम्मति की अनपेक्षा

"तूही सराहसि करसि सनेहू। 'सो सुनि मोहि भा संदेहू" [चौ० ७ दो० ३२] के अनुसार श्रीराम के सम्बन्ध में कैकेयी की अनुकूलता को राजा निस्संदिग्ध समझते हैं। तो रामराज्याभिषेक-कार्य में उसकी सम्मति की अपेक्षा करना रानी की पुनीतता पर सन्देह या आरोप कहा जायगा। किंबहुना धार्मिक कार्यक्षेत्र में पत्नी का अनुगमन पूर्व नियोजित है, ऐसा मानते हुए किसी अवसर पर यदि पत्नी से बिना पूछे कार्य किया तो भी शास्त्रतः कोई प्रत्यवाय नहीं है। गुरु वसिष्ठ की सम्मति लेने के अनन्तर दिनभर के कार्यक्रम की व्यस्तता में इतना अवकाश था ही नहीं कि राजा कैकेयी की पूर्वसम्मति लेते। यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि राजकीय विधान में जब चाहे तब राजा रनिवास में आ-जा नहीं सकते।

इसलिए अवकाश पाने पर राजा कैकेयी के महल में रात्रि में गये हैं। अतः कैकेयी को विना पूछे कार्य करने में राजा दोषी नहीं कहे जा सकते।

कैकेयी के महल में प्रवेश

प्रश्न : प्रश्न हो सकता है कि राजा अन्य रानियों के महल में न जाकर कैकेयी के महल में क्यों गये ?

उत्तर : इसका उत्तर यही है कि ऋतुकाल के १५ दिन बीतने से और कैकेयी राजकार्य में राजा की सहायिका थी। "राजु करत" से राम राज्योत्सव के कार्यक्रम में कैकेयी से मन्त्रणा का विचार संगत मालूम होता है।

प्रश्न : कैकेयी को राज्योत्सव की सूचना क्यों नहीं दी गयी ?

उत्तर : इसका समाधान चौ० १ दो० ८ की व्याख्या में किया गया है।

राजा को रानी के प्रति आश्चर्य

कैकेयी की प्रीति में राजा की ऐसी आसक्ति है कि रानी को क्रोध की मुद्रा में वे देखना नहीं चाहते। अथवा जबकि "देउँ भरत कहुँ राजु बजाई" स्वीकार कर लिया है तब भी वह क्यों क्रोधावेश में है ? वरदान की प्राप्ति में होने वाले, "भरत जुबराजू" को सुनकर उसको मंगलसाज आरम्भ करना चाहिए। अथवा जब कैकेयी क्रोधको छोड़कर शान्ता और प्रियदर्शिनी हो जायगी तभी द्वितीय वर रामवनवास के विषय में राजा के मन्तव्य को वह ध्यान से सुनेगी। शान्त मनस्स्थिति में ही विषय की यथार्थता का बोध होता है। अतः रामवनवास से होनेवाली हानि समझाना सार्थक हो सकेगा। प्रथमवर की स्वीकृति में भरतजी को राज्य देने की बात "संकरु साखी" से पक्की कर देने पर भी रानी का क्रोध क्यों नहीं जा रहा है ? इन तत्वों पर राजा को आश्चर्य है। इसलिए रानी को प्रसन्नता की स्थिति में लाने के लिए फिर "भरत जु व राजु" कहकर उसका रोष शान्त करना चाहते हैं।

संगति : पूर्व में कहे "देउँ भरत कहुँ राजु बजाई" की पुष्टि करते हुए प्रथम वर का कार्यान्वियन समझा रहे हैं।

चौ० : रिस परिहरु अब मंगलसाजू। कछु दिन गएँ भरत जुवराजू ॥ ३ ॥

भावार्थ : रोष को दूर करके अब तो तुम मंगल का साज सजाओ क्योंकि कुछ दिन बीतने पर भरत युवराज होंगे ही।

शा० व्या० : प्रथमवर से भरतराज्य की पुष्टि तभी संभव है जब कैकेयी क्रोध को त्यागकर शान्ता व प्रियदर्शिनी हो जाय पहले चौ० ६ से ८ दो० ३१ में "देउँ भरत कहुँ राउँ बजाई" कह चुके हैं। यहाँ "कुछ दिन गए भरत जुवराजू" कहने में नवीन बात यह है कि इस वर को कार्यान्वित करने के पहले कैकेयी को शान्त होना आवश्यक है।

संगति : श्रीरामवनवासात्मक दूसरे वर के संबंध में राजा ने कहना आरम्भ किया।

चौ० : एकहि बात मोहि दुखु लागा। वर दूसर असमंजस माँगा ॥ ४ ॥

भावार्थ : एक ही बात का मुझको बड़ा दुःख लगा है, जो तुमने दूसरा बर माँगा है जिसको देने में दुविधा या अड़चपन है।

शा० व्या० : राजा को असंमजस यह हो रहा है कि "सबहि रामप्रिय जेहि बिधि मोहि" के अनुसार

श्रीराम कैकेयी के भी प्रियपात्र हैं तो वर की याचना से मेरे द्वारा उनको बनवासरूपी दण्ड क्यों दिला रही है ? यह कैकेयी की असाधुता या नाटक है। इतनी सुशीला बुद्धिमती होती हुई भी श्रीरामको दूर करके पति के प्राण की परवाह नहीं कर रही है।

संगति : श्रीराम का वनवास सुनकर राजा को क्लेश हो रहा है, रानी सुखिनी हो रही है, इसलिए सन्देह हो रहा है।

चौ० : अजहूँ हृदउ जरत तेहि आंचा। रिस परिहास कि साँचेहुँ साँचा ॥ ५ ॥

भावार्थ : रामवनवास सुनकर अभी तक मेरा हृदय क्लेशाग्नि के संताप से जल रहा है, यह रानी का क्रोध है या हँसी-मजाक की बात है या वास्त में सच है। राजा को यह असमंजस है, उसके निर्णयार्थ परामर्श आवश्यक है।

सन्देह निरास

शा० व्या० : राजा कैकेयी से कह रहें हैं कि मुझे सन्देह में न रखो। तुम्हारे पूर्वचरित्र "तुहु सराहसि करसि सनेहू" से रानी के वर्तमान चरित्र में वैधर्म्य को देखते हुए साधुत्वासाधुत्वका निर्णय नहीं कर पा रहे हैं। अतः रिस परिहास के संबंध में राजा का प्रश्न सप्रयोजन है।

राजा होने की हैसियत से सन्देह को किसी एक कोटि का यथार्थ अवगाहन करने के पूर्व सत्परामर्श का होना आवश्यक है, तभी राजा कैकेयी के साधुत्व या असाधुत्व का निर्णय कर सकते हैं। इसलिए पूछ रहें है कि सच-सच बताओ कि यह परिहास है या क्रोध ? जिसमें सन्देह समाप्त हो जाय। ज्ञातव्य है कि आगे भरतजी भी सन्देह व्यक्त करेंगे "कौ तू अहसि ? सत्य कहु मोही"। (चौ० ७ दो० १६२)

कैकेयी से रिसपरिहार की प्रार्थना

"राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राम मातु भलि सब पहिचाने" से कैकेयी का परिहास तथा जस कौसिला मोर भल ताका। तस फलु उन्हहि देउँ करि साका' से क्रोध स्पष्ट है। 'राम मातु कछु कहेउ न काऊ। कहु तजि रोषु रामु अपराधू' "सबु कोउ कहइ राम सुठि साधु" कहकर राजा रिस व परिहास के संदेह का निरास करना चाहते हैं।

संगति : बिना अपराध के श्रीराम के लिए वनवास की याचना करना ठीक नहीं है।

चौ० : कहु तजि रोषु रामअपराधू। सबु कोई कहइ राम सुठि साधू ॥ ६ ॥

भावार्थ : कौसल्या के प्रति क्रोध को छोड़कर श्रीराम का अपराध बताओ अर्थात् किस अपराध से तुम उनको वनवास दे रही हो ? श्रीराम को तो सभी लोग निर्दोष साधु कहते हैं।

श्रीराम को अपराधी समझने में रानी का दुर्नय

शा० व्या० : श्रीराम को वनवासरूपी दण्ड देने की याचनापर राजा कह रहें हैं। जबतक श्रीराम का कोई अपराध सिद्ध नहीं होगा तबतक वह दण्ड्य कैसे माने जायँगे जैसा चौ० ८ दो० ३२ से स्पष्ट है कौसल्या के प्रति द्वेष होने से क्रोध के भावावेश में ही कैकेयी को श्रीराम में अपराध प्रतीत हो रहा है। यही रानी का दुर्नय है। वास्तव में रानी ही दण्डया है जैसा दो० ४२ में कवि स्पष्ट करेंगे।

श्रीराम की साधुता का अनुमापक संवासी एवं विद्वानों का मत

प्रश्न : कैकेयी कह सकती है केवल राजा ही श्रीराम को साधु समझते हैं या अन्यलोग भी ?

उत्तर : 'रामः साधुः निरपराधी, उत्तमगुणसम्पत्तिमत्त्वेसति संवासिसम्मताभिगामिकगुणबलसत्वारोग्यास्तब्धताऽचापल्यशीलसंपत्तिमत्वात्'। एवं च राजनीतिसिद्धान्त में साधुताका अनुमापक संवासिमत एवं विद्वत्समुदाय का मत माना है जो श्रीराम के राज्यारोहण के बारे में प्राप्त है जैसा दो० पाँच के अन्तर्गत कहा है। 'सुठि साधु' का अर्थ है कि राजकुमार में बल, सत्व, आरोग्य, शील अस्तब्धता अचापल्य वाग्मिता प्रागल्भ्य प्रतिभा आदि गुण पूर्णतया उदित हैं। श्रीराम का राज्यारोहण सुनकर प्रजा सुख का अनुभव करके सर्वत्र साधु-साधु का वचनात्मक अनुभाव प्रकट[1] कर रही है।

संगति : कैकेयी तो श्रीराम के गुणों की प्रशंसा करती रहतीं थी, अभी श्रीराम के गुणों को दृष्टिगोचर न रखते उनको वनवास देने का क्या कारण देखती है? ऐसा सोचकर राजा को कैकेयी पर सन्देह हो रहा है।

चौ० : तुहूं सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहि भयउ संदेहू ॥ ७ ॥

भावार्थ : तुम भी श्रीराम की प्रशंसा करती थी, बड़ा स्नेह रखती थी। अब तुम्हारी बातें सुनकर मुझको सन्देह हो रहा है? प्रश्न का उत्तर चौ० २ दो० १७ संगति में स्पष्ट किया है।

कैकेयी में अविश्वास्यता

शा० व्या० : अभी तक कैकेयी का क्रोध दूर नहीं हो रहा है, यह देखकर राजा को स्पष्ट सन्देह हो रहा है कि रानी ने उनसे मिथ्याव्यवहार किया है। इसके फलस्वरूप कैकेयी भविष्यत् में उपेक्षिता एवं त्याज्या हो जायगी।

श्रीराम में अपराधाभाव का अनुमान

संगति : कैकेयी की तरफ से श्रीराम को अपराधी मानकर वनवास का दण्ड दिया जा रहा है। उसी के निराकरण के लिए राजा श्रीराम के स्वाभाविक इन्द्रियजय को हेतु मानकर 'रामः कालत्रयेपि अपराधाभाववान्, ऐसा सिद्ध कर रहे हैं।

चौ० ; जासु सुभाव अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातुप्रतिकूला? ॥ ८ ॥

भावार्थ : जिस श्रीराम का स्वभाव शत्रु के भी अनुकूल रहता है अर्थात् शत्रु का भी हित करनेवाला है वह श्रीराम माता कैकेयी के प्रतिकूल कैसे हो सकते हैं?

शा० व्या० : उपर्युक्त तर्कों से राजा ने श्रीराम की निर्दोषता सिद्ध की है और कैकेयी का आप्तत्व संदिग्ध ठहराया गया है। उक्त सन्देह को दूर किये विना वह अब विश्वासार्हा नहीं हो सकती।

'अरिहि अनुकूल' का भाव

'सो किमि करहि मातु प्रतिकूला'? से कवि सुखपरक व्याख्या करके न्यायसिद्धान्त को[2] स्फुट करते हैं। रोष में विरोधी भाव लाकर कैकेयी रामराज्याभिषेक को अहित मानकर दुःखिता हो रही है। अच्छा तो यह होता कि क्रोधान्धता को त्यागकर वह प्रभु के चरित्र को अनुकूलतया समझे। इसकी अनुमानप्रणाली यह होगी "रामः मातुरनुकूलतया वर्तनशीलः लोकसंग्राहकशीलसदाचारवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं।"

---

१. हाहाकारः साधुवादः।

२. अनुकूलवेदनीयं सुखं प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।

इस व्यतिरेक को नीतिसिद्धान्त के अनुसार समझते हुए कवि कैमुतिक न्याय से 'अरि अनुकूला' कह रहे हैं जिसका अर्थ यह हुआ कि श्रीराम लोकसंग्राहक सदाचार में रत होते हुए अरि के प्रति भी अनुकूल रहते हैं अरि भी अनुकूल हो जाते हैं। तब उनको कैकेयीमाता के प्रतिकूल होने की सम्भावना कहा है।[1]

श्रीराम के प्रति शत्रु को भी अनकूलता

प्रश्न : क्या श्रीराम का कोई शत्रु ऐसा है ? जिसकी अनुकूलता दृष्टान्तरूप में कही गयी है।

उत्तर : इसके समाधान में मुनि परशुरामजी के चरित्र में उनकी अनुकूलता का वर्णन बा० का० दो० २८५ के अन्तर्गत स्मरणीय है। "सुनहु राम जेहि शिवधनु तोरा। सहसबाहुसम सो रिपु मोरा" कहनेवाले परशुरामजी ने क्षत्रियान्तक के आवेश में पहले तो क्रोध किया, बाद में सन्देह दूर हो जाने पर उन्ही परशुराम जी ने अरिभाव को त्यागकर श्रीराम की स्तुति की। (वा० का० दो० २८४)

मातुप्रतिकूला व अनकूला

ज्ञातव्य है कि राजा दशरथ के वचन ("सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला") की समता ग्रन्थकार ने चौ० ६ दो० ४१ से दो० ४२ तक में श्रीराम के कहे वचनों से प्रकट की है। श्रीराम के स्वभाव का वर्णन भरतजी की उक्ति चौ० ५ से दो० २०० में द्रष्टव्य है।

प्रतिकूलवेदनकर्मत्वाभाव सिद्ध करने के लिए सदा अनुकूलवेदनकर्मत्व नहीं कहा जाय तो वह किंचित्-कालिक होकर भविष्यत् में बाधित हो सकता है। अर्थात् वैसा प्रतिकूलवेदनीयत्वभाव प्रभु में नहीं है। बल्कि चारों भाइयों में श्रीराम का प्रतिकूलवेदनीयत्वाभावगुण ही असाधारणगुण है। यहि "सबविधि सब लायक" की पूर्ण सार्थकता है। सारांश यह है कि नृपनीति की पूर्णज्ञता होने से राजा दशरथ राजकुमार श्रीराम के असाधारण गुणविशेष का परिचय दे रहे हैं। कठिन अवस्था में भी सत्यसंधता के पालन में उनकी तर्कशक्ति स्थिर है। कैकेयी में धर्मश्रद्धा होते हुए भी तर्क का अभाव है।

संगति : क्रुद्धा एवं मानिनी रानी के विग्रह को शान्त करने के लिए प्रथमवरदान में भरतजी को राज्य देने की स्वीकृति करना राजनीति के सिद्धान्त के अनुकूल है। पर दूसरे वरदान के पीछे कैकेयी का पूर्वोक्त अविवेक है जिसको राजा समझाने का प्रयास कर रहे हैं।

दो० : प्रिया ! हास रिस परिहरहिं माँगु बिचारि विवेकु।
जेहि देखौं अब नयनभरि भरत राजअभिषेकु ॥ ३२ ॥

भावार्थ : हे प्रिये ! चाहे तुम्हारी हँसी हो या रोष हो, उसको अब छोड़कर विवेकपूर्वक विचार करके (दूसरा वर) माँगो जिससे प्रथम वर को सार्थक करने के लिए भरत के राज्याभिषेक को अपनी आँखों से देखूं।

वरयाचना में प्रमाणविषयक विवेक

शा० व्या० : निरुपाधिक तर्कशुद्ध व्याप्ति एवं पक्षधर्मता के माध्यम से प्रमाण की पुष्टि होने पर ही अनुमेय की वास्तविकता समझी जाती है तभी विवेक की अस्तिता कहीं जा सकती है। जिसको "मागु विचारु विवेकु" कहकर समझा रहे हैं।

---

१. इति पथि विनिवेशितात्मनो रिपुरपि गच्छति साधु मित्रताम्।
तदवनिपतिमत्सरावृते विनयगुणेन जगद्वशीभवेत्। (नी० सा० स० ३)

रानी के पूर्व चरित्र में विरोध दिखाकर राजा युक्ति से रानी के वचन की अप्रमाणिकता में भ्रम प्रमाद आदि दोषों को बता रहे हैं, जिसके प्रभाव से कैकेयी द्वितीयवररूप प्रमेय की यथार्थता को न समझे। परिणाम यह होगा कि कैकेयी के शब्द को कीमत देने पर भी याचित द्वितीय वररूप प्रमेय-सिद्धि संदिग्ध होगी। इसलिए अच्छा यह है कि रानी दूसरा वर वापस ले ले।

कैकेयी के वरयाचनात्मक वचन की प्रमेयसिद्धि में संदिग्धता

यदि प्रथमवर को कार्यान्वित करने में भरतजी को राज्याभिषिक्त किया जाता है तो राजा-दशरथ की शासनप्रयुक्त स्वतन्त्रता समाप्त होगी। भरतजी का शासन हो जाने से व श्रीराम को वन जाने से रोकेंगे तब राजा अपने शासन के कर्तृत्व का बल—द्वितीय वर को पूर्ण करने में नहीं दिखा सकते, अथवा लोकसम्मति के विरुद्ध राजाद्वारा भरत जी को राज्य मिलने पर प्रजाद्रोह हो सकता है, उस स्थिति में राजा और भरत जी की रक्षा की व्यवस्था किये विना श्रीराम वन में कैसे जा सकते हैं? यदि कहा जाय कि श्रीराम को वनवास पहले दिलाया जाय, तब भी भरतजी को राज्य देना सम्भव नहीं होगा क्योंकि श्रीराम के वनवास से उत्पन्न वियोगस्थिति में चारों पुत्रों के अभाव की सन्धि में राजा का शरीर नहीं रहेगा। तब भरतजी का राज्याभिषेकोत्सव देखना या तिलक देना कैसे सम्भव होगा? जबकि भरतजी यहाँ हैं ही नहीं। अतः दोनों वर का यौगपद्य बाधित होगा। इस दृष्टि से प्रमेय और प्रमाण का विचार करते हुए कैकेयी को वरद्वययाचना में विचार करना आवश्यक है।

अंधशाप से समन्वित–'राम बिनु' से ध्वनित पुत्राभाव

वनवास में श्रीराम को भेजने पर उनके अभाव में पति की मृत्यु तक हो सकती है ऐसा कैकेयी नहीं सोचती, क्योंकि उसके मानस में यह भाव आया होगा कि विश्वामित्र मुनि के साथ श्रीराम के चले जाने पर राजा जीवित रह गये तो इस अवसर पर भी श्रीराम के वियोग के वे सह लेंगे।

किन्तु ज्ञातव्य यह है कि अन्धशाप का परिणाम यही होगा कि पुत्रवियोग में राजा की मृत्यु होनी है। अर्थात् श्रीराम वन में जायेंगे तो लक्ष्मणजी उनका साथ छोड़ नहीं सकते। इधर श्रीराम व लक्ष्मणजो वन में चले जाते हैं, उधर भरतजी शत्रुघ्नजी पास में हैं नहीं। तो शाप के विधान से राजा के मृत्यु का योग घटित होगा।

संगति : इस सम्भावना को राजा आगे व्यक्त कर रहे है।

चौ० : जिये मीन बरु बारिबिहीना। मनिबिनु फनिकु जिए दुःख दीना॥ १॥
कहउँ सुभाउ न छलु मनमाही। जीवनु मोर रामबिनु नाही॥ २॥

भावार्थ : चाहे मछली पानी को छोड़कर जीवित रह जाय, या साँप मणि के बिना छटपटाता हुआ जीवित रहे, पर मैं मनस् में छल न रखकर कहता हूँ कि मेरा जीवन श्रीराम के विना नहीं रहेगा।

शा० व्या० : बा० का० चौ० ६ दो० १५१ में कहे 'मनिबिनु फनि जिमि जलु बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हइ अधीना" से समन्वित करने पर सिद्ध होता है कि राजा दशरथ पूर्वजन्म में मनुरूप में कही अपनी उक्ति का स्मरण कर रहे हैं। विश्वामित्रमुनि के साथ जाने पर राजा को श्रीराम का वियोग अवश्य हुआ था, पर पुत्र का वियोग नहीं था क्योंकि कि भरतजी व शत्रुघ्नजी घर में थे। इसलिए

केवल 'मनिबिनु फनि का योग हुआ राजा जीवित रह गये। श्रीराम-वनवासरूप वरदान से 'जल बिनु मीना' का योग यहाँ घटित होगा। अतः राजा को जीवित रहने की आशा नहीं है।

संगति : राजा पुनः कैकेयी को समझा रहे हैं कि वरयाचना में औचित्य देखकर चार वरों में से किन्हीं दो वरों को वह माँग लें।

चौ० : समुझि देखु सियाप्रवीना। जीवनु रामदरस आधीना ॥ ३ ॥

भावार्थ : हे प्रिये ! तुम तो चतुरा हो। मनस् में अच्छी तरह विचार कर देख लो कि मेरा जीवन श्रीराम के पास रहने से ही रह सकता है।

आपति को इष्ट कहने में बुद्धि का वैभव

शा० व्या : राजा के कहने का आशय यही है कि श्रीराम को वन में भेजकर आँख की ओट में उनको कर देने से जीवन को समाप्त कर देना क्या रानी के विचार में उचित प्रतीत होता है ? क्या यही उसकी बुद्धि की प्रवीणता है ?

संगति : राजा के छलरहित वचन में युक्तियुक्त तर्क को सुनकर भी कैकेयी नहीं समझ रही है। सरस्वती द्वारा प्रेरित मतिफेर से होनेवाली कुमति का यह प्रभाव है।

चौ० : सुनि मृदुबचन कुमति अतिजरई। मनहु अमल आहुति घृत परई ॥ ४ ॥

भावार्थ : राजा के वचन मृदु हैं पर कुमति होने से कैकेयी उनको सुनकर जल रही है, मानो जलती हुई आग में घी पड़ गया हो। अर्थात् रानी के रोषाग्नि की ज्वाला प्रज्वलित हो गयी।

शा० व्या० : जिस द्रव्य के स्पर्श से कानों एवं हृदय को सुख प्रतीत हो वही मृदुत्व है।[1] इसलिए मीमांसासिद्धान्त में वचन को द्रव्य माना गया है। विनययुक्त स्वर में महाराज सत्पक्ष रख रहे हैं, पर रानी की कुमति उसको समझने में प्रतिबन्ध कर रही है।

संगति : विचारपूर्वक विवेक न करने से कैकेयी राजा का छल समझकर उनको सुना रही है।

चौ० : कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउर माया ॥ ५ ॥

भावार्थ : रानी कहती है कि चाहे जैसा कितना भी उपाय लगाओ यहाँ तुम्हारी मायाँ नहीं लगी।

तर्क में दोष

शा० व्या० : मन्थरा ने कैकेयी के हृदय में सौत एवं पति के प्रति ऐसा विपरीत ग्रह उत्पन्न कर लिया है कि उसको हटाना महती समस्या बन गयी। ज्ञातव्य विषय यह है कि राजा रानी के चरित्र को उपहास के रूप में समझ रहे हैं रानी पति के चरित्र को छलप्रयोग के रूप में। ऐसी स्थिति में किसी पक्ष से तर्क को उत्पन्न करने की चेष्टा की जाय तो वह सफल नहीं होगी, क्योंकि मूलशैथिल्य व इष्टापत्ति के द्वारा तर्क में शिथिलता आ जाती है, किंवा जो भी अनुमान साध्य को समझाने के लिए रखा जाता है उसमें पक्षेतरत्व-शंका खड़ी होती है। ऐसा देखा जाता है कि दो प्रेमियों के बीच भेद उत्पन्न हो जाने पर वस्तुगत्या अपराधी न होते हुए भी उनका भेद दृढ़ता से उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। अन्त में दोनों में विछोह हो जाता है। ऐसे भेद में दृढ़ा होकर कैकेयी "इहाँ न लागहि राउर माया" कह रही है।

१. सुखस्पर्शत्वमेवाहुः मृदुत्वमिति तद्विदः ॥ भावप्रकाशनम् ३ अ० ।

उपर्युक्त चौपाई में लाक्षणिकप्रयोग के रूप में कोटिशब्द उपायवैयर्थ्य का द्योतक है।

संगति : रानी अपना इष्ट दोहराती जाती है।

चौ० : देहु कि लेहु अजसु करि नाही। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाही ॥ ६ ॥

भावार्थ : या तो वर दो, या नहीं कहकर अपयशस् लो। मुझको प्रपंचकी बातें अच्छी नहीं लगती।

कीर्ति या अपकीर्ति

शा० व्या : जिस प्रकार राजा ने दों में से एक वर लेने को कहा उसी प्रकार रानी भी कहती है कि राजा या तो पांचभौतिक शरीर रखें या कीर्तिशरीर रखें। जैसा पूर्वमें 'तनु धरु तजेउ वचन बनु राखा' से स्पष्ट कर चुकी है। इससे अधिक युक्तिविचार सुनना नहीं चाहती। क्योंकि वह राजवचन छलात्मक या मायात्मक समझती है। प्रपंच का अर्थ है विस्तार या उपन्यास। हाँ या नहीं के अतिरिक्त राजा के तर्क-वचनों को रानी प्रपंच समझती है जो पूर्वकथित कुमति का प्रभाव है।

संगति : चौ० ६ दो० ३२ में राजा के कहे वचन 'कहु तजि रोषु रामअपराधू'। सबु कोइ रामु सुठि साधू' का उत्तर रानी दे रही है।

चौ० : राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने ॥ ७ ॥

भावार्थ : श्रीराम साधु हैं, तुम साधु सयाने हो। श्रीराम की माता भी भली है। मैंने सबको पहचान लिया है।

रामसाधु आदि का भाव

शा० व्या० : दोहा १८ के अन्तर्गत मन्थरा की उक्तियों से राजा, कौसल्याजी और श्रीराम के बारे में कैकेयी ने जो समझा है उस पर वह 'सब पहिचाने' से व्यंग्योक्ति का प्रयोग कर रही है। चौ० ८ दो० १९ में 'जौ सुतसहित करउ सेवकाई तौ घर रहहु न आन उपाई' के अनुसार आजीवन श्रीराम का सेवकत्व करने में वह अपराध समझती है उसीको "रामसाधु' कहकर व्यक्त किया है। रचि प्रपंचु भूपहि अपनाई" "राम तिलक हित लगन धराई' को समझकर 'तुम्ह साधु सयाने' से राजा को अपराधी बताया है। 'चतुर गंभीर राम महतारी' बीचु पाइ निज बाँत सवारी' आदि से कौसल्याजी को अपराधिनी समझकर उसे "राममातु भलि" कह रही है। श्रीराम-वनवासरूपी एक वर से ही तीनों को दण्डित कर दुःखभागी बनाना चाहती है।

संगति : पूर्व चौपाई में राजा श्रीराम और सौत कौसल्याजी के प्रति व्यंग्यात्मक उक्तियों द्वारा अपराध का आक्षेप करते हुए सब के अपराध के पीछे कौसल्या को ही मूल कारण ठहराती है।

चौ० : जस कौसिलां मोर भल ताका। तस फलु उन्हहि देउँ करि साका ॥ ८ ॥

भावार्थ : कौसल्याजी ने जैसा मेरा हित सोचा है वैसा ही फल उन सबको दूँगी कि वे भी याद करेंगे।

अपराध का मूल कारण कौसल्या

शा० व्या० : सबका क्रोध कौसल्याजी पर निकलने का कारण यही है कि कौसल्याजी के सम्बन्ध से ही राजा एवं श्रीराम अपराध के पात्र ठहराये गये हैं जैसे लोहे के संपर्क में अग्नि को भी प्रहार मिलता है।

संगति : राजा दशरथ में असत्यताप्रयुक्त दोष नहीं है तो वह अपयश के भागी कैसे होंगें ? इसको कैकेयी बता रही है। व अपना संकल्प सुना रही है।

दो० : होत प्रातु मुनिवेष धरि । जौ न रामु बन जाई ।
मोर मरनु राउर अजसु । नृप समुझिअ मन माँहि ॥ ३३ ॥

भावार्थ : सबेरा होते ही यदि श्रीराम मुनिका वेष धारण करके वन में नहीं चले जायगें तो हे राजन् ! आप अपने मनस् में यह निश्चित समझिये कि मेरा मरण और आप का अपयशस् होकर रहेगा।

दूसरे वरदान (राम वनवास) में कैकेयी का हठवाद

शा० व्या० : जैसे राजा भरतजी को राज्य देने का वर देने को तैयार हैं वैसे कैकेयी कौसल्याजी को दण्डिता करने के लक्ष्य से श्रीरामवनवासप्रयुक्त दूसरा वर लेने में कृतसंकल्पा है। श्रीरामवनवास को राजा अशक्य समझ रहे हैं। कैकेयी कहती है कि वह राजा के लिए अशक्य नहीं है। जैसे राजा ने श्रीराम-वनवास से अपनी मृत्यु को बताकर कैकेयी को दूसरा वर वापस लेने को विवश करना चाहा है वैसे ही रानी उस वर की अपरिहार्यता को बताते हुए कहती है कि यदि कल सबेरे श्रीराम वन के लिए प्रस्थान नहीं करेंगे तो वह भी प्राणों का उत्सर्ग करेगी। यह नई आपत्ति रानी ने खड़ी की है। इस प्रकार कैकेयी के मत से राजा के पक्ष में दो दोष आता है। एक तो सत्यसंध होकर वर न देने से अपयशस्, दूसरा रानी की मृत्यु।

बा० का० दोहा १८८ "कौसल्यादिनारि प्रिय सब आचरन पुनीत।
पतिअनुकूल प्रेम दृढ़ हरिपदकमल विनीत॥ के अनुसार कैकेयी की पुनीतता और भक्ति समझाते हुए कैकेयी के चरित्र का गौरव चिन्तनीय है। सीताविरह में दुखी प्रभु श्रीराम की परीक्षा में सती के चरित्र को जानकर शिवजी ने जैसा सोचा "बहुरि राम माथहि सिरु नावा। मेरि सतिहि जेहि झूंठ कहावा' (छा० का० चौ० ५ दो० ५६) उसी प्रकार प्रभु की इच्छा से सरस्वती की मायाद्वारा प्रेरिता कैकेयी के चरित्र को सोचना है। राममाया के विधान के अधीन होकर जिस प्रकार सती-शरीर से अपने पति शंकर का त्याग इष्ट मानकर सती ने दक्षयज्ञ में प्राण त्याग किया उसी-प्रकार प्रभु के विधान के अनुकूल श्रीरामवनवास को कार्यान्वित करने में कैकेयी अपने जानकी बाजी लगाने को उद्यता है, उसमें पति के मरण से होनेवाले वैधव्य को भी इष्टापत्ति के रूप में वह स्वीकार करती है। जैसा अर्थशास्त्र में सत्याग्रह की आलोचनाएँ 'दुर्गालंभ' आदि प्रकरणों में उपवर्णित हैं वैसा ही कैकेयी का यह हठवाद है। अर्थात् दूसरे वर के कार्यान्वियन में यदि श्रीराम को वनवास नहीं होगा तो वह प्राण-त्याग कर देगी।

वरयाचना क्रम का सार्थक्य

कैकेयी के वरयाचनाक्रम में पहले भरतजी को राज्याभिषेक बाद में श्रीराम को वनवास होना है। पहला वर पूर्वोक्त चौपाई १-२ की संगति में स्पष्ट किया गया है कि भरतजी के राजा हो जाने पर एक तो श्रीराम का वन में जाना कठिन होगा यदि वनवास हो भी जाता है तो भरतजी के रहते राजा मर नहीं सकेंके। इसलिए अन्धशाप की भवितव्यता बनाने के लिए सरस्वती ने कैकेयी की मति को फेरकर द्वितीयवर श्रीरामवनवास को प्राथमिकता दिलायी है। इसके फलस्वरूप शाप के विधान से पुत्र-वियोग होने से राजा की मृत्यु का योग आवेगा और श्रीरामवनवास होने से देवहितकार्य भी बनेगा।

संगति : रामवनवास को पूर्ण करने की आशा में कैकेयी के रोष की गतिविधि का आस्वाद लेते हुए शिवजी बोल रहे हैं।

चौ० : अस कहि कुटिल भई उठि ठाडी। मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी ॥ १ ॥

भावार्थ : ऐसा कहकर कुटिलतापूर्ण कैकेयी तनकर खड़ी हो गयी। मानो रोषरूपी धारा का प्रवाह निकला हो।

क्रोध व भक्ति का विरोध, राजधर्म

शा० व्या० : भक्तिशास्त्र में क्रोधव्यसन और भक्ति का विरोध माना गया है। उसी प्रकार दासभाव से हटने पर ही क्रोध की उत्तेजना होती है जैसा कैकेयी के प्रस्तुत चरित्र में दर्शनीय प्रेम के समाप्त हो जाने पर प्रणयमान का रूप दिख रहा है। धर्म एवं अर्थ का प्रतिघात भी व्यसन में होता है—इस सिद्धान्त को[1] कैकेयी के क्रोध-व्यसन से स्पुट किया गया है।

प्रश्न : राजा दशरथ उपर्युक्त अवस्था में कैकेयी को दूर क्यों नहीं कर देते ?

उत्तर : ऐसा न करना राजा दशरथ का राजधर्म है। जैसे अपयशस्, प्रतिज्ञाभंग, श्रीराम की शपथ और कुलमर्यादा राजा को विवश कर रहें हैं जिनसे प्रभावित हो अपनी मृत्यु को भी योग्य समझते हैं। यह धृति एवं धर्मनीति का महान् आदर्श है।

संगति : शिवजी कहते हैं कि व्यक्ति पाप-पर्वतों से घिरे क्रोध-नदी के प्रवाह में बहते हैं तो विद्वानों को कौतुक नहीं होता।

चौ० : पापपहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोधजल जाइ न जोई ॥ २ ॥
दोउ बर कूल कठिनहठ धारा। भँवर कूबरी बचनप्रचारा ॥ ३ ॥
ढाहत भूपरूपतरु मूला। चली बिपतिबारिधि अनुकूला ॥ ४ ॥

भावार्थ : कैकेयी की रोषरूपिणी नदी पापरूपपहाड़ से निकली है क्रोधरूपी जल उसमे भरा है। जो आसानी से दिखायी नहीं पड़ता (नदी के उद्गम स्थल से निकलने वाला जल बहुत पतली धारा में बहता है, स्पष्ट नहीं दिखायी पड़ता)। दो वर उस नदी के दोनों किनारे हैं। वरद्वय को लेने का हठ उसकी तेज धारा है जिसमें कुबड़ी के वचनरूपी भवरे पड़ रही हैं। वह राजारूपी बड़े भारी वृक्ष को समूल गिराना चाहती है। उसकी धारा विपत्तिरूपी समुद्र की ओर बढ़ रही है।

क्रोध का फल

शा० व्या० : व्यसनपर्यवसित क्रोध से क्रोधी के पाप अनुच्छेद्य होते हैं। नदी का उद्गम जिस प्रकार पहाड़ों से होता है उसी प्रकार यहाँ क्रोधनदी के उद्गम में पापरूपी पर्वतों का संगम दर्शाया गया है। 'क्रोधस्यैतत् फलोदयात्', होने से दो वर ही इस क्रोध के फलोदयरूप अवधि है। कवि ने दोनों वरों को नदी का दोनों तीर माना है। इस नदी का विस्तार कैकेयी के प्रत्यभिनिवेशरूप हठ के विस्तृत मैदान में हो रहा हैं। उस नदी में मन्थरा के वचन भँवर की तरह घूम रहे हैं। जिसमें राजा पूर्णतया फँसे हैं। धर्म-के नाम पर उसी में डूबने की स्थिति तक पहुँच गये हैं। क्रोध व्यसननदी पर्यवसान में दुरपनेय विपत्ति रूप समुद्र में समा जाती है। तब क्रोधकर्ता व्यक्ति पूरे जीवन में विपत्ति से बाहर नहीं निकल पाता। यही क्रोध का परिणाम हैं।

संगति : सत्यता को ध्यान में रखते हुए युक्ति से राजा कैकेयी को क्रोध से निवृत्त करना चाहते हैं, पर वह अपना हठ त्यागने को तैयार नहीं है। यह देखकर राजा सोच रहे हैं।

---

१. धर्मार्थप्रतिघातीनि व्यसनानि परित्यजेत्।

चौ० : लखि नरेस बात फुरि साँची । तिय मिस मीचु सीसपर नाची ॥ ५ ॥

भावार्थ : राजा ने अच्छी तरह मनस् में समझ लिया कि यह बात सचमुच सही होनेवाली है कि स्त्री के बहाने मृत्यु ही मेरे सिरपर नाच रही है।

मृत्यु का निर्णय

शा० व्या० : राजा प्रतिभाविहीन से हो गये। कैकेयी का हठ न छोड़ना, श्रीराम का वनवास होना आदि मृत्यु के अनुमापक दीख रहे हैं। तब राजा विशेषसोच में पड़ गये कि "योगेनान्ते तनुं त्यजेत्" संकल्प जो पूरा करने की सोचा है वह मृत्यु हो जाने से कैसे पूरा होगा ?

संगति : फिर भी "मृत्युर्बुद्धिमताऽपोह्योयावत् बुद्धिबलोदयम्" के अनुसार राजा क्लेशसहचरित मृत्यु से बचने के लिए उपायान्तर कर रहे हैं।

चौ० : गहि पदविनय कीन्ह बैठारी । जनि दिनकरकुल होसि कुठारी ॥ ६ ॥

भावार्थ : विनम्र हो रानी का पैर पकड़कर उसको बैठाया विनती किया कि वह सूर्यवंश की मर्यादा को मिटाने में कुल्हाड़ी का कार्य न करे।

राजा का नमस्कार

शा० व्या० : रामवनवास के वर को किसी तरह टालकर अपने को मृत्यु से बचाने के लिए राजा किसी प्रकार भी रानी को मनाने के भाव से उसका पैर पकड़ रहे हैं। 'क्रुद्धं स्तुतिभिः' सिद्धान्त के अनुसार रानी के क्रोध को शान्त करने के उद्देश्य से विनती कर रहे हैं। बैठने से शरीर की वृत्तियों में स्थिरता आती है। उसमें ज्यों-ज्यों कालक्षेप होता है त्यों-त्यों क्रोध की तेजी कम होती है। इसलिए रानी को बैठा रहे हैं। पूर्वोक्त दोहे में कैकेयी ने 'राउर अजस' कहकर राजा को अपयशस् का भागी कहा था, उसी प्रकार यहाँ 'दिनकर कुल कुठारी' से राजा कैकेयी को लगनेवाले अपयशस् को समझा रहे हैं अर्थात् लोक में यही ख्याति होगी कि कैकेयी के हठ के कारण राजा का परलोकगमन और श्रीराम को वनवास हुआ।

संगति : "दिनकर कुल विटप कुठारी" के अपयशस् को भी रानी ने नहीं माना तब—

चौ० : मागु माथु अबहीं देउँ तोही । रामबिरह जनि मारसि मोही ॥ ७ ॥

भावार्थ : दूसरे वर के रूप में हे देवि ! मैं अपना मस्तक काट कर दूं। पर श्रीराम के विरहाग्नि में झुलसा कर मत मारो।

श्रीरामस्वरूप की आकर्षकता में और अन्नमय आदि कोश का तिरस्कार

शा० व्या० : राजकुमार श्रीराम स्नेहशील की खान होने से पिताश्री को इतने आकर्षक हो गये कि उनका विरह पिताश्री को कैसे सहन हो सकता है ? रामचरितमानस के मत से श्रीराम आनन्द व प्रेमरूप हैं। जिनको त्यागने में साधुगण कभी भी अग्रसर नहीं होते। इस आनन्द की उपलब्धि के आगे शरीर-समर्पण करना छोटी सी बात है। उपनिषद में आनन्दकोष को अन्नमयादिपंचकोषों में सर्वातिशायी माना है। उसकी उपलब्धि के लिए शरीर, मनोमय, प्राण आदि सबको छोड़ना इष्ट माना जाता है। राजा भी यहाँ उस आनन्द की उपलब्धि के लिए अपना मान आदि खोकर कैकेयी की चरणवन्दना आदि से

मनोमयकोष का तिरस्कार कर रहे हैं। प्राण, मानमय कोष का विसर्जन "माँगु माथ" कहकर दिखाया है। अतः राजा प्रभु की आनन्दलहरी में श्रीराम को अयोध्या में रहने के लिए पुनः पुनः प्रार्थना कर रहे हैं।

संगति : प्रार्थना में राजा केवल अपना स्वार्थ ही नहीं साध रहे हैं। बल्कि कैकेयी को आपत्ति भी समझा रहे हैं।

चौ० : राखु राम कहुँ जेहि तेहि भांती। नाहि त जरिहि जनमभरि छाती ॥ ८ ॥

भावार्थ : श्रीराम को जिस किसी तरह भी हो घर में रखो, नहीं तो जन्मभर तुम्हारा हृदय सन्तप्त रहेगा।

प्रार्थना के अतिक्रमण में शाप

शा० व्या० : राजा के कहने का निष्कर्ष यह है कि उनको तो केवल मरने का दुःख होगा। पर कैकेयी को जन्मभर दुःख भोगना पड़ेगा।

"जरिहि जनम भरि छाती" की उक्ति कैकेयी के लिए राजा का शाप हो जायगा। अर्थात् कैकेयी जीवनभर पुनीता होती हुई भी गिरा ने अपने को ही अपयशस्विनी बनाने में बाध्य क्यों किया ? इस शंका का दुःख अपने व्यवहार की ग्लानि में भोगना पड़ेगा।

'दुइ कै चारि मागि' की यथार्थता

'झूठेहु हमहु दोष जनि देहू। दुई कै चारि मागु मकु लेहू' चौ० ३ दो० २८ में उक्त चार वरों की प्रामाणिकता रखते हुए राजा दशरथ कैकेयी को विचारविवेकपूर्वक वर माँगने को कह रहें हैं। अर्थात् 'हास रिस परिहरि' का यह भाव होगा कि कैकेयी के माँगे दो वर हास एवं रिस से युक्त हैं। अर्थात् श्रीराम-वनवास हास है, और 'भरतहि टीका' सौत के प्रतिरोष की प्रतिक्रिया है। अतः उक्त वरों को त्याग दें। विचार करके विवेक के साथ दो वर जो कि "भरत राज अभिषेकू" और दूसरा आगे चौ० ८ दो० ३४ में कहा "राखु राम जेहि तेहि भाँति" से मांगकर राजा के वचन "दुइ के चारि" का प्रामाण्य रह जायगा। एवं च पहले माँगे हुए दो वर भरतजी को राजतिलक, व श्रीराम को वनवास है तथा भरतजी को राज्याभिषेक और श्रीराम को गृहवास–इन दो वरों को ग्राह्य समझने का विचारविवेक कैकेयी को करना है। 'विप्रवधू कुलमान्य जठरी' आदि की उक्तियाँ इन्हीं दो वरों के निर्वचन में समझनी होगी।

दो० : देखि व्याधि असाध नृपु परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरतवचन राम! राम! रघुनाथ! ॥ ३४ ॥

भावार्थ : कैकेयी की व्याधि को असाध्य समझकर अर्थात् रानी का रोष दूर करने का उपाय न देखकर राजा भूमि पर गिर पड़े और अपना माथा पीटने व आर्ति में राम राम कहने लगे।

उपासकों का विशेष कार्य

शा० व्या० : घोर वेदना में भी धैर्य रखकर प्रभु का नामस्मरण करना प्रभु की कृपापात्र उपासकों का ही काम है। "सुतविषयक तब पदरति होउ" के अनुसार राजा को तन्मयता में प्रभुरूप में पुत्र रघुनाथ श्रीराम का स्मरण हो रहा है।

संगति : राजा का गिरना सिर पीटना आदि साहित्यशास्त्र में त्रास का अनुमापक कहा है आगे दर्शाया जा रहा है।

चौ० : व्याकुल राउ सिथिल सब गाता । करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता ॥ १ ॥

चौ० : कंठु सूख मुख आव न बानी । जनु पाठीनु दीनु बिनु पानी ॥ २ ॥

भावार्थ : राजा व्याकुल हो गये। उनके सब अंग ढीले पड़ गये। उनकी ऐसी दशा हो गयी जैसे हथिनी ने मानो कल्पवृक्ष को उखाड़ फेंका हो। उनका गला सूख गया। मुँह से बोली नहीं निकली। मानो विना जल के मछली दीन हो गयी हो।

गुणसंक्रमण न होने का कारण

शा० व्या० : रानी अपने पूर्वाग्रह के कारण ही राजा की व्याकुलता को प्रत्यक्ष देखती हुई भी उनकी वंचना समझ रही है। मायावी की माया से व्याप्त द्रष्टा जिस प्रकार दुःखी व्यक्ति की आर्ति से प्रभावित नहीं होता उसी प्रकार कैकेयी मायाविनो मन्थराद्वारा उस दशा को प्राप्त है जिससे राजा की वेदना का संक्रमण उस पर नहीं हो रहा है। शास्त्रकारों ने ऐसा संक्रमण न होने का कारण सहृदयता का अभाव बताया है।

संगति : शिवजी ने कहा कि रानी पूर्व की अपेक्षया अत्यधिक क्रोध की ज्वाला में सन्तप्ता होकर पूर्वोद्धृतविषय को दोहरा रही हैं।

चौ० : पुनि कह कटु-कठोर कैकेई । मनहुँ घाय महुँ माहुर देई ॥ ३ ॥

भावार्थ : कठोरहृदया कैकेयी फिर कटुवचन बोलने लगी मानो घाव पर जहर लगा रही हो।

घाव पर चोट

शा० व्या० : वर-याचना से राजा को जो चोट लगी थी। उसको कैकेयी के पूर्वकथित कटुवचनों ने घाव बना दिया था। अब रानी जो कटुवचन बोलने वाली है उससे राजा की वेदना बढ़कर उनके लिए घातक होगी जैसे घाव पर विष का प्रयोग हो।

संगति : कैकेयी के वक्ष्यमाण कटुवचनों को कवि आगे प्रकाशित कर रहे हैं।

चौ० : जौं अँतहु अस करतब रहेऊ । मागु-मागु तुम्ह केहि बल कहेऊ ? ॥ ४ ॥

भावार्थ : कैकेयी कहती है कि आखिर में यही करना था तो माँगने क लिए तुमने किस बल पर बार-बार कहा ?

अंतहु करतब का भाव

शा० व्या० : 'सकृत् जल्पन्ति राजानः' सिद्धान्तानुसार अपने वचन को राजा क्यों स्थिर नहीं रखते ? विना विचार किए वर देने की प्रतिज्ञा उन्होंने क्यों की ? कैकेयी के पक्ष से ये विचार केहि बल' के अन्तर्गत चित्त्य हैं कि अपनी धरोहर को लेने से आप का ही बोझ हलका होगा।

थाथि के प्रत्यावर्तन में हलकापन

अंतहु से चौ० १ दो० २६ से चौ० ७ दो २८ तक राजा की कही उक्तियों का अंत कहा। अस करतब" से चौ० ४ दो० ३१ से चौ० ३ दो० ३३ तक राजा के वचन में वरदान के संबंध में कहे असमंजस से दिखाया है। मांगु-मांगु से राजा की उक्तियों में पुनः-पुनः मागु कहने पर रानी की चिढ़ प्रकट की है। जैसा "बिहसि मांगु मन भावति बाता" (चौ० ७ दो० २६) "दुइ कै चारि मांगु मकु लेई" (चौ० ३ दो० २८) "मांगु बिचारि विवेकू" (दो० ३२) "मांगु माथ अबहीं देउँ तोही" (चौ० ७ दो० २६) आदि में स्पष्ट है।

संगति : उक्त प्रकार से राजा के पूर्वापरचरित्र में विरोध बतलाकर कैकेयी राजा को कपट या दंभ दिखाना चाहती है।

चौ० : दुइ कि होइ एकसमय भुजाला ? । हँसब ठठाइ फुलाउब गाला ।। ५ ।।
दानि कहाउब अरु कृपनाई । होइ कि खेम कुशल रौताई ।। ६ ।।

भावार्थ : हे राजन् ! ठठाकर हँसना और साथ ही गाल फुलाना ये दोनों काम क्या एक संग हो सकते हैं ? उसी प्रकार दानी कहलाना और कंजूसी भी करना एक साथ नहीं हो सकता। जैसे रौद्रता में लड़ाई झगड़े में क्षेम कुशल नहीं रह सकता।

राजा का दंभ

शा० व्या० : "हँसब ठठाइ फुलाइब गालू" से राजा की दानशीलता पर आक्षेप 'हँसब ठठाइ फुलाउब गाला' का सामान्य भाव इस प्रकार कहा जायगा। वरदान पहले चौ० १ दो० २८ में 'राउ हँसि कहई' तथा चौ० ३ में 'दुइ कै चारि माँगी मकु लेहू' से राजा का 'हँसब ठठाइ' भाव हुआ जो रानी की दृष्टि से प्रिया को चंगुल में फसाने के लिए था। वर देने के समय 'एहि विधि राउ मँनइ मन झाँखा' "देखि कुभाँति कुमति मन माखा" (चौ० १ दो० ३०) "जानि दिनकर कुल होसि कुठारि' (चौ० ६ दो० ३४) से राजा का 'फुलाउब गाला' से भाव हुआ जिसमें राजा के विरोध को रानी क्रोध या दंभ समझती है।

पूर्व में कहा जा चुका है कि दो प्रेमियों के बीच भेद उत्पन्न होने पर परस्पर में प्रीति की अवहित्था या शंका होने लगती है जैसा राजा की उक्ति दो० २९ से स्पष्ट है। कैकेयी की प्रस्तुत उक्ति में भी यही भाव लक्षित है। "हसब ठठाइ फुलाउब गाला' की उक्ति का प्रयोग करने में रानी का उद्देश्य 'दानि कहाउब अरु कृपनाइ' से राजा के वरदानवचन की सत्यता पर आक्षेप करना है। 'बिहसि माथु मन भावति बाता। दुइ कै चारि मागि मकु लेई। प्रान जाइ पर बचन न जाइ' से 'दानी कहाउब' को स्पष्ट किया और 'बर दूसर असमंजस मागा' आदि से राजा की कृपणता दिखायी। क्रोध के आवेश में 'होइ कि खेम कुसल रौताइ' की उक्ति से कैकेयी राजा को सावधान कराना चाहती है। अर्थात् १ से ३ चौ० २६ दो० में कहे अपने शौर्य के अभिमान में राजा न रहे। चौ० १-२ दो० २१ में कैकेयी अपने प्रति अरिभाव की कल्पना को लेकर नैहर में जाने की बात कह चुकी है। वहाँ जाकर रहने पर कोई उपद्रव खड़ा हो जायगा तो राजा की कुशलता भी संदिग्ध हो सकती है, ऐसा कहना कहाँ तक संगत होगा ? इस पर विद्वान् विचार करें। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि सरस्वती द्वारा मतिफेरकार्य में कैकेयी की उक्ति में उक्त अर्थ का स्फुरण कवि को इष्ट नहीं है क्योंकि प्रभु की इच्छा की अनुकूलता तक ही मतिफेर की सीमा है।

संगति : पुनः रानी सामप्रयोग करते हुए राजा के वचनप्रमाण की दुहाई देकर धैर्य धारण करने को कहती है।

चौ० : छाड़हु बचन कि धीरज धरहु । जनि अबला जिमि करुना करहुं ।। ६ ।।

भावार्थ : रानी कहती है वरदान का अपना वचन भंग करो या धैर्य धारण करो। स्त्री के समान करुणा (दीनता) मत दिखाओ।

शुचिकुलीनता से धीरता का अव्यभिचरितत्व

शा० व्या० : प्रतिज्ञा को त्यागने से मानव धीरता से वंचित हो जाता है। पुराणसिद्धान्त में कलियुग को धीरता का अपहारक माना गया है।[1] दशरथ का युग कलियुग नहीं था। इसलिए धीरता को छोड़ने का कोई कारण नहीं था। कुलीन व्यक्ति ही धीरता को आजीवन निभाते हैं।[2] अपनी प्रतिज्ञा को व्यभिचरित करना कुलीनों के लिए महान् अपराध है।[3] यदि वे इस अपराध में भागी होते हैं तो संसार में सद्वृपक्षत्त ही[4] समाप्त हो जायेग। शास्त्र में अपनी प्रतिज्ञा से विचलित न होना पुरुष की गम्भीरता बतायी गयी है।[5]

ज्ञातव्य है कि राजा का प्रत्याख्यान सुनने पर भी कैकेयी अपने हठ पर दृढ़ा है। यह भी साहित्यिकों के मतानुसार धैर्य ही है।[6]

संगति : विलाप करना अश्रु निकालना स्त्रीस्वभाव का परिचायक है। ऐसा करती हुई रानी वरप्राप्ति के लिए राजा के पुरुषत्व को उभारती है। तथा प्रतिज्ञातार्थ से विचलित न होने में सत्यसंघता की चरितार्थता बता रही है।

चौ० : तनु तिय तनय धामु धनु धरनी। सत्यसंध कहुं तृनमम बरनी ॥ ८ ॥

भावार्थ : सत्यसंध के लिए वचन की सत्यता के रक्षार्थं शरीर, पत्नी, पुत्र, भवन, धन और भूमि तिनके के समान त्याज्य कहे गये हैं।

तनु आदि से व्यंग्यता

शा० व्या० : 'तनु तिय तनय, धामु धनु, धरनी' से राग के विषय दर्शाये गये हैं। सर्वसाधारण—जन रागवश उनको त्यागने में असमर्थ होते हैं। पर दैवीसम्पत्तिसम्पन्न व्यक्ति उनको सहज त्याग देते हैं। जैसा भरतजीके चरित्र में (चौ० ४-५ दो० ३२४ में) निरूपित है। प्रतिज्ञातार्थ के निर्वहण में परलोक का अटूट सम्बन्ध है। दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न भारतीय समाज जितना महत्त्व परलोकसंबध को देता है उतना शरीर को नहीं। शरीर को तृण समझने में क्षत्रिय तो सर्वतः उपरि है। पाँचभौतिक शरीर आज नहीं तो कल काल का कवल होगा ही। अतः इस विनाशी शरीर द्वारा चिरस्थायी यशःशरीर की उपलब्धि में ही जीवन का कल्याण है। प्रतिज्ञातार्थनिर्वहण नीतिसंगत होने से यश.शरीर का कारण माना जाता है। इस सम्बन्ध में व्यासजी का वचन द्रष्टव्य है।[7] तथा कालिदासजी की उक्ति भी स्मरणीय है।[8]

संगति : राजा किसी भी अवस्था में दैवसम्पत्ति-सम्पन्न होने से अपने प्रतिज्ञातार्थ से हट नहीं सकते। अतः राजा को अपना अन्तिम निर्णय सुनाना होगा जिसके लिए कैकेयी उत्सुका हो रही है।

---

१. कलि सत्वहरं पुंसाम्। कर्णधार इवार्णवम्। भा० १।१।२३

२. आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ॥ का० नी० ३ ॥

३. कुलीनत्वान्न व्यभिचरति।

४. कुलीनमार्यंश्रुतवद्विनीतमलोलुपं सत्यमहार्यमन्यैः। कृतज्ञतोजर्मातिसत्वयुक्तं सद्वृत्तपक्ष खलु तंयविद्यात् च

५. अविज्ञातेङ्गिताकारो भावो गांभीर्यमुच्यते। भावप्रकाशन १ अ०

६. मानग्रहो दृढो यस्तु तद्धैर्यमिति कथ्यपते। भावप्रकाशनं अ० १

७. अद्यवाऽब्दशतान्ते वा मृत्यु प्राणिणां ध्रुववैः वः ॥

८. पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु यशःशरीरे भव मे दयालुः ॥ (रघुवंश)

दो० : मरमवचन सुनि राउ कह, कहु कछु दोषु न तोर ।
लागेहु तोहि पिसाच जिमि, कालु कहावत ओर ॥ ३५ ॥

भावार्थ : कैकेयी के मर्मवचन को सुनकर राजा कहते हैं कि जो कुछ वह कहे उसमें उसका कुछ दोष नहीं है। लगता है उसके ऊपर पिशाच भूत सवार है जो काल कहा जायगा।

मर्म का अर्थ

शा० व्या० : राजनीति में मर्म का अर्थ दुश्चेष्टित समझना चाहिये। रानी कैकेयी का वचन दुश्चेष्टित होने से विनाश का साधक है। राजा की मृत्यु और रानी का वैधव्य ये दोनों दुश्चेष्टितरूप मर्मवचन हैं। अथवा आयुर्वेद के अनुसार मर्म वह है जिससे जीवन का अटूट सम्बन्ध है। राजा के लिए रानी के दूसरे वर से रामवनवासजनितवियोग ही मर्म है। जिसके समर्थन में रानी के पूर्वोक्तवचन हृदयविदारक हैं।

पिशाच के आवेश में कैकेयी की परतन्त्रता

असम्भवनीय हठ को देखकर राजा सोच रहे हैं कि कैकेयी अपने में नहीं है। इसकी अनुमान-प्रणाली इस प्रकार होगी। "इयं भार्या पिशाचस्वभाववती, ईदृश कटुवचनश्रावयि पतिजीविता-कांक्षाशीलविरोधिकर्मकर्तृत्वात्।" निष्कर्ष यह है कि रानी परतन्त्रता में बोल रही है उसके मूल में सरस्वती की प्रेरणा होगी ऐसा अनुमान राजा को नहीं हो सकता। क्योंकि राजा को निश्चय है कि अमरगण उसके विरोध में कर्म नहीं करेंगे। ऐसा निश्चय होने से कोई आक्रामक पिशाच का परिशेषानुमान राजा को हो रहा है। क्रोध ही पिशाच है।

प्रश्न : पवित्रात्मा दशरथ के सामने यह पिशाच भी कैसे आ सकता है ?

उत्तर : उसके समाधान में कहना है कि पिशाच का यह प्रभाव राजा की आसन्नमृत्यु का साधक है। 'लागेहु तोहि पिशाच' की एकवाक्यता दो० ३६ में 'जागति मनहुँ मसान' से है।

संगति : प्रश्न है कि अपने शब्द की प्रामाणिकता के लिए क्या राजा भरतजी को राज्य देंगे ? तब कैकेयी की वर्तमान कुमति की विशेष व्याख्या करते हुए राजा इसका समाधान कर रहे हैं।

चौ० : चहत न भरत भूपतहि भोरे । बिधिबस कुमति बसी जिय तोरे ॥ १ ॥

भावार्थ : भरतजी राजपद भूलकर भी नहीं चाहते, अथवा वह स्वभावतः राजा होने के इच्छुक हैं नहीं। विधाता के विधान के वश होने के कारण ऐसी कुमति का संचार रानी के हृदय में हुआ है। अर्थात् 'देहु एक वर भरतहि टीका' का मनोरथ कर रही है।

शा० व्या० : राजा कहते हैं कि मैं भरतजी को राज्य दे सकता हूँ पर उनको विश्वास है कि भरतजी राज्य को स्वीकार नहीं करेंगे।

विधिवस कुमतिसे मतिफेरी का निर्वचन

ज्ञातव्य है कि कुमति से मनोरथ का वैपरीत्य और विपरीत गिरा भी संगृहीत है। इसके मूल में जो मन्थरा की उक्ति 'जो सुतसहित करहु सेवकाई (चौ० ८ दो १९) से सेवकत्व दोष दिखाया है। कैकेयी की उसमें स्वाभाविक सहमति नहीं है। जो उसकी उक्ति "जेठ स्वामि सेवक लघुभाई" से स्पष्ट है।

अर्थात् सेवकत्वाभाव के बाध में सेवकत्व कैकेयी को स्वीकृत तथा। जब मन्थरा ने पुनः कैकेयी की मति में अपने तर्कसे परिवर्तन किया तब उसके प्रभाव से "भरतश्च सेवकः" इस भाव के विपरीत मति हुयी। जिसमें कैकेयी की वरयाचना हुई। श्रीराम के प्रति भरतजी के सेवकत्व से कैकेयी भी परिचिता है फिर भी वह उनके लिए राज्य चाहती है यही उसकी कुमति है। कैकेयी का यह आहार्यज्ञान है। जो विधिबस का फल है। यहाँ विधि का यह तात्पर्य है कि उसने हृदय में प्रवेश कर कैकेयी को वश में कर लिया है। यह विधि देवों की कुचाल हैं जैसा दो० ११ में कहा है।

संगति : पूर्व में यह विवेचन हो चुका है कि कि राजा ने अन्तःपुर की धर्मस्थिति को देखते हुए चरनियोजन की आवश्यकता नहीं समझी जो राजनीति की दृष्टि मे राजा की चूक कही जा सभती है। अतः नीति का पालन न करने का दोष उनको दुःख होने का कारण क्यों न माना जाय? इसके समाधान में राजा कह रहे हैं।

चौ० : सो सबु मोर पापपरिनामू। भयउ कुठाहर जेहि विधि वामू॥ २॥

भावार्थ : यह सब मेरे पाप का फल है। जिसके कारण इस कठिन परिस्थिति में "विधि वाम" हुआ है।

दैव में दुःखसाधनता

शा व्या : यह सब मेरे पूर्वकृतपाप का फल है। कौन सा पाप है? यह अभी राजा को स्मरण नहीं हो रहा है इसका रहस्य आगे चौ० ४ दो० १५५ में "तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्य, ही सब कथा सुनाई" से स्फुट होगा। 'फलस्वाम्यंऽहि' अधिकारः इस मीमांसा के अनुसार पापफल स्वीयपुत्रवियोग का अधिकारी राजा स्वयं है। 'विधिवाम' का भाव है कि राज्यमहोत्सव की अभिलाषा सर्व सम्मति से समर्पित होने पर भी उसके पूर्ण होने के अवसर पर विधाता ने पाप का यह फल भोगने की परिस्थिति लादी है। निष्कर्ष यह कि दृष्टरूप से अपनी चूक न होने की जिम्मेदारी रखने पर भी राजा दुःख से नहीं बच रहे हैं। इसमें दैव ही कारण है।

कुठाहर का भाव

'कुठाहर विधिवामू' का भाव है कि राजा को सत्यसंघता की रक्षा में परिवार की सापेक्षता देखनी पड़ रही है। जिसमें राजा का वह पुण्यातिशय कहा जायगा कि उनके वचन के पालन में परिवार का सहयोग मिलकर रहेगा जो श्रीरामवनगमन और चित्रकूट में भरतमिलन से पूर्ण होगा।

प्राण संकट में भी सत्य का पालन

प्रश्न : गवृत्त्यर्थे प्राणसंकटे···· नानृतं स्यात् जुगुप्सितं भा० ८। १९।

इस वाक्य के अनुसार राजा ने संकट देखते हुए भी सत्य क्यों नहीं छोड़ा?

उत्तर : समाधान में कहना है कि राजा ने सोचा कि जब मृत्यु निश्चित है उसमें पुत्रवियोग होकर ही रहेगा विधि के विधान को टालना संभव नहीं तब विधाता के गौरव को मानना है।

प्रश्न : ग्रन्थकार ने चौ० ४ दो० १५५ में कहीं पाप की सम्पूर्ण कथा का उल्लेख यहाँ क्यों नहीं किया?

उत्तर : रामचरितमानस भक्ति और राजनीति से उपबृंहित है। इन दोनों में दैववाद विशेषतया चिन्तनीय नहीं माना जाता। भक्तिसिद्धान्त में भगवदादेश का पालन करना मुख्य कर्तव्य है। राजनीति में मानुषकर्म पुरुषार्थ की उपादेयता पर जोर दिया गया है। जो 'नय' के नाम से प्रसिद्ध है।[1] दैव दृश्य न होने से उसकी वास्तविकता समझ में नहीं आती। कभी-कभी दैवचिन्तन का यह परिणाम होता है कि कार्यसिद्धि आसन्न होते हुए भी पुरुषार्थ 'नय' के अभाव से बाधित होती है। राजनीति के कथनानुसार दैववादीपर शत्रु को आक्रमण का अवसर प्राप्त होता है[2] अतः दैववाद का चिन्तन पुरुषार्थ की शून्यता में शोभनीय नहीं माना जाता। इसका अर्थ यह नहीं कि दैव निरर्थक हैं। शास्त्र का कहना है कि 'नय' का पालन करते हुए भी कार्यसिद्धि वाधित हो सकती है ऐसे समय में दैववाद को प्रधानता देकर कार्य की असफलताप्रयुक्तविषाद एवं ग्लानि को हटाकर तत्कालीन कर्तव्य पर ध्यान देना नीतिज्ञों के लिए कर्तव्य है। इसीलिए मानसकारने दैवसंगत पाप (शाप) की बात यहाँ प्रकाश में नहीं लायी।

संगति : राजा दशरथ भी पाप (अनय) कर्म की 'दुहाई' देकर अपनी मृत्यु के माध्यम से कैकेयी को दण्ड देना चाहते हैं। साथ ही रामराज्यको निर्विवाद करने की व्यवस्था कर रहे हैं।

चौ० : सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई, सबगुणधाम राम प्रभुताई ॥ ३ ॥

भावार्थ : अवधराज्य पुनः सुव्यवस्थित रूप में बसेगा, और शोभित होगा, सब गुणों के आकार श्रीराम का प्रभुत्व स्थापित होगा।

कैकेयी को उपांशुदण्ड

शा० व्या० : राजा कैकेयी को उसके अनर्थावह कर्म (जैसे निरपराधी, श्रीराम को दण्ड के रूप में वनवास का भागी बनाना)—दण्ड दे रहे है जिससे वह भविष्यत् में ऐसा कार्य न करे और सदा के लिए अपने अपराध का स्मरण रखे। इसके परिणाम में पुत्र भरतजी के द्वारा भर्त्सनारूप अपमान भी सहना होगा। राजनीति की दृष्टि से यह उपांशुदण्ड है।[3]

राजा के निर्णय में दीर्घकालदर्शिता

कैकेयी के लिए उक्त दण्ड की कल्पना करके राजा पूर्वनियोजित निर्णय की स्थिरता में भविष्यवाणी सुना रहे हैं। श्रीराम का वनवास होने पर अयोध्या शून्य हो जायगी जैसा चौ० : ८ दो २९ में 'अवध उजारि कीन्हि कैकेयी' से कल्पित है। भविष्यत् में श्रीराम ही राजा होंगे। दो० ३१ में कहे 'भरत रहेहु नृपनीति' के अनुसार रामराज्य के निर्णय को राजनीतिसम्मत बताकर अपने वचन की प्रमाणता को सिद्ध कर रहे हैं। जिस निर्णय में राग मान मद अदि मूल हेतु नहीं हैं वही नीति अनुच्छिन्न हैं।[4] राजा के इस निर्णय में दीर्घकालदर्शिता गुण है।

---

१. अस्मिन् योगक्षेमनिष्पत्तिर्नयः विपत्तिरपनयः। नी० सा० स० १४।

२. दंभोऽभिमानोऽथच धार्मिकत्वं दैन्यं स्वयूथस्य विमाननं च॥
द्रोहो भयं शत्रुप्वुपेक्षणं च। एतानि काले समुपाहितानि कुर्वन्त्यवश्यं खलु सिद्धिविघ्नम्।

३. तथोपांशु नयेद्दण्डं यथाऽन्यो न विभावयेत्। नीतिसार।

४. तस्याः प्रवर्तमानाया विघ्नेनानुच्छेदात्।

राजा दशरथ की ऊहशक्ति

उक्त निर्णय में राजा की शास्त्रज्ञता और इसमें उनकी ऊहशक्ति प्रकट है। यथार्थं ऊहापोह में वही अधिकार रख सकता है। जो कार्यंकारणभाव का ठीक निर्णय कर सके अर्थात् कार्य एवं कारण के बीच अन्वयव्यभिचाराभाव एवं व्यतिरेकव्यभिचाराभाव का विचार कर सके। प्रस्तुत में राजा के निर्णय में अन्वयव्यभिचाराभाव (कारण के रहते कार्य का होना) व्यतिरेकव्यभिचाराभाव (कारण न होने में कार्य न होना) ज्ञातव्य है।

ज्योतिष और सामुद्रिक सिद्धान्त से निर्दिष्ट लक्षणों से श्रीराम को राजा होना निश्चित है। वो तत्काल में स्व स्वंतर कारणों के रहते कैकेयी द्वारा विघ्न होनेपर भी विघ्नाभाव होनेपर कार्य होकर ही रहेगा। अर्थात् श्रीराम को राजा होने में सामुद्रिक शास्त्रोक्त लक्षण उपस्थित हैं। वर्तमान में रापजद-प्राप्ति में सभी कारणान्तर होते हुए भी प्रतिबन्धका भाव की कमी है अतः अन्वयव्यभिचार नहीं है सामुद्रिक लक्षणों की पूर्णता अन्य भाइयों में न होने से वे सम्राट् हो नहीं सकते। यह व्यतिरेकव्यभिचाराभाव है।

अन्वयसहचार का उदाहरणान्तर

ज्योतिष शास्त्र के निर्देशानुसार श्रीराम की पूर्वोक्त राज्यप्राप्ति राजनीतिसिद्धान्तसम्मत तभी मानी जायगी जब कारणों की सत्ता के अन्तंगत श्रीराम के प्रति लोकानुराग सिद्ध हो। इसको चरितार्थं करने के लिए ही लंका से लौटने पर अयोध्या में प्रवेश करने के पहले प्रभु हनुमानजी को भेजकर लोकानुराग की पुष्टि करेंगे। चित्रकूट से लौटने में अयोध्यावासियों की मनःस्थिति[1] देखते हुए राजनीति मत से उक्तपुष्टि अपेक्षित मानी जायगी।

अयोध्या को जीवनदान

राजा का यह निर्णय आकाशवाणी के समान परिजन पुरजन आदि सबके जीवन का आधार बनेगा। जैसा कि सुमन्त्र की मनोदशा का वर्णन करते 'जिउन जाइ उर अवधि कपाटी चौ० ४ दो० १४५ से कहा है।

राजनीति को अपेक्षित सभी गुणों की पात्रता चौ० १ से ४ दो० ३ तथा ३१ के अनुसार श्रीराम में विद्यमान होने से कुलीनता के अनुरूप भरतादि तीनों भाई ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम की विशेषता का अनुभव करते हुए उनके सेवकत्व में आनन्दित होंगे।[2]

संगति : श्रीराम के राज्य प्राप्ति के अनन्तर अन्य भाइयों के बारे में राजा अपना सत्परामर्श निर्णय सुना रहे हैं।

चौ० : करिहहिं भाई सकल सेवकाई। होइहिं तिहुँ पुर रामबड़ाई ॥ ४ ॥

भावार्थ : सब भाई श्रीराम का सेवकत्व करेंगे तीनों लोक में श्रीराम का यशस् फैलेगा।

---

१ राम प्रेम अतिसय न बिछोहे भय उचाट बस मन थिरनाहि दुविध मनोगति प्रजा दुखारी चौ० ४ से ६ दो० ३०२।

२. 'करिहहिं भाई सकल सेवकाई' की एक वाक्यता भरतकी उक्ति ('तात न रामहिं सौंपे मोहीं') चौ० ५ दो० १६० तथा कैकेयी की उक्ति (जेठ स्वामि सेवक लघुभाई) चौ० ३ दो० १५ से स्पष्ट है।

राजनिर्णय की महत्ता

शा० व्या० : राजा के उपर्युक्त निर्णय को प्रमाण मानकर भाइयों की कुशलता का विश्वास कर श्रीराम वन में लक्ष्मणलाल को सेवकरूप में ले जायँगे लंका में लक्ष्मणशक्ति के अवसर पर विपरीत स्थिति में भी राजा के वचनप्रामाण्य का स्मरण करेंगे। (चौ० ६ दो० ६१ लं० का०) भरतजी श्रीराम की आज्ञा मानकर चौदह वर्ष की अवधि में सेवकरूप में अयोध्या का संचालन करेंगे शत्रुध्नजी भरतजी के अनुगत रहकर सेवा करेंगे इस प्रकार राजा के उपर्युक्त वचन का प्रामाण्य सिद्ध होगा।

राजा के निर्णय की चरितार्थता श्रीराम के लंका से लौटने पर अयोध्या में स्थापित होगी जैसा उ० का० में चौ० ७ दो० २० में 'राम राज बैठे त्रैलोका', चौ० १ दो० २५ में 'सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई से स्पष्ट है।

संगति : 'जहँ कुमति तहँ बिपति निदाना, के अनुसार कुमति के फलस्वरूप कैकेयी का आजीवन कलंक तथा रामराज्य के विघात से अपना पश्चात्ताप बतला रहे हैं।

चौ० : तोर कलंकु मोर पछिताऊ। मुएहु न मिटिहि जाइहि काऊ॥ ५॥

भावार्थ : तुम्हारा कलंक हमारा पछतावा किसी तरह नहीं जायगा मरने पर भी नहीं मिटेगा।

राजा ने शाप न देने का कारण

प्रश्न : विघ्न पहुँचाने वाली कैकेयी को राजा ने समर्थ होते हुए भी शाप क्यों नहीं दिया ?

उत्तर : दो० ७७ में राजा की उक्ति 'औरू करै अपराधु कोउ और आव फलु भोगु। अति विचित्र भगवत् गति को जग जौन जोगु' से स्पष्ट होता है कि श्रीराम में प्रीति करनेवाली कैकेयी की विपरीत मति प्रभु प्रेरित , शाप देना भगवदिच्छा के विरुद्ध समझकर राजा ने रामनिर्णय में विघात करना राजनीति के विरोध में होगा। अतः कैकेयी पर 'तोर कलंक' से दण्डित करना राजनीतिमत से उस पर एक प्रकार से अनुग्रह किया है। चौ० दो० १६८ की व्याख्या में कहा गया है कि राजशास्त्र के अनुसार राजा के दण्ड से दण्डित होना अपराधी के लिए अनुग्रह का बीज है। जो कालान्तर से दण्डित व्यक्ति का कल्याण करता है।[1]

वर देने में राजा की सत्यसंधता

प्रश्न : राजा ने श्रीराम को वनवास पर कण्ठतः स्वीकृति नहीं दी तो वर देने की प्रतिज्ञा पूर्ण न होने से राजा को सत्यसम्बंध कैसे कहा जाय ?

उत्तर : 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' उक्ति के अनुसार राजा ने श्रीराम के वनवास का प्रतिषेध नहीं किया अतः रानी का हठ देखकर चौ० १-२ दो० ७-८ के अनुसार उनका मौन स्वीकृति मान ली गयी जो सुमन्त्र को दिये गये आदेश में (दो० ८१ से ८२ तक) स्पष्ट है। अथवा अग्रिम चौपाई में अक्षरशः राजा ने कैकेयी को वर दिया है। अपात्र में वाचा दान करना रेती में पानी बरसाने के समान है इसलिए स्पष्ट शब्दों में स्वीकृति नहीं दी राजशास्त्र में भी अपात्रवर्षा को कोश का क्षय कहा है।[2] इस प्रकार राजा ने शब्दशः नहीं अनुष्ठानतः राम के वनवास की अनुमति दी है। अतः उनकी सत्यसंधता अक्षुण्ण है।

---

१. शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः। यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः (श्री० भा०द० स्क०)।

२. अपात्रवर्षाणाज्जातु किं स्यात् कोशक्षयादृते। नी०स० ५।

संगति : कामप्रयुक्त रागान्धत्व चले जाने पर राजा की सत्यसंधता धर्म के रूप में स्थिर हो गयी तब कैकेयी से वार्तालाप करना उन्हें रुचिकर नहीं लग रहा है।

चौ० : अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचनओट बैठु मुहुँ गोई ॥ ६ ॥

भावार्थ : राजा कैकेयी से कह रहे हैं कि अब तुमको जो अच्छा लगे वही करो अपना मुँह छिपाकर मेरे आँखों की आड़ में बैठो।

शा० व्या० : प्रेम के रसाभास में पारस्परिक पारतन्त्र्य की समाप्ति व राग दूर होते ही सन्त महात्मा राजा का रसाभास दूर हो गया जो राजा के उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है। सत्यसंध राजा के उक्त वचन की प्रामाणता भरतजी द्वारा कैकेयी की भर्त्सना में कहे वचन से (चौ० ८ दो० १६२ में जो 'हँसि सोहसि मुह मसि लाई। आँखि ओर उठि बैठहि जाई') प्रकट होगी। प्रेम से पारस्परिक बन्धन की मर्यादा में रहना भारतीय समाज में दम्पति का धर्म है। उस अवस्था में धर्मप्रयुक्त पारस्परिक परतन्त्रता रहती है। दोनों के प्रेम के विच्छेद की संभावना को अवकाश नहीं मिलता। प्रेम की यह अवस्था ही रति (रस) रूप में परिणत हो शुचि और शोभायमान होती है। धर्म के तिरस्कार में रस के स्थान पर रसाभांस स्थान ले लेता है। धर्मात्मा राजा दशरथ रसास्वाद में औचित्य रखते हैं। अतः रसाभास से दूर हो रहे हैं।

इसके विपरीत कैकेयी धर्म को तिरस्कृत करके स्वतन्त्रा हो रागद्वेषवश रसाभास को ग्रहण कर रही हैं। यह विधि की विडम्बना है। इसलिए राजा ने 'तोहि नीक लागि करु सोई' कहकर अपना सम्बन्ध हटाकर रानी के रसाभास में अपना कारकत्व समाप्त किया। प्रस्तुत उक्ति में राजा का राग-द्वेष नहीं है। कौतुक यही है कि रानी राजा के उक्त वचन को अपने मनोरथपूर्त्यात्मक वरदान की स्वीकृति समझकर सिद्धि में हर्षानुभव कर रही हैं।

संगति : प्रेमविच्छेद की स्थिति में भी धर्मात्मा राजा रागद्वेषशून्य होकर रानी की वन्दना कर प्रार्थना कर रहे हैं।

चौ० : जब लगि जिऔं कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी ॥ ७ ॥

भावार्थ : राजा हाथ जोड़कर कैकेयी से प्रार्थना कर रहे हैं कि जब तक वह जीवित रहें तब तक रानी पुनः उनसे कुछ न कहे।

प्रेमविच्छेद में संभाषण का विरोध

शा० व्या० : दो प्रेमियों में धर्मबन्धन के विच्छेद का परिणाम है कि वे अपने-अपने स्वतन्त्रकर्तृत्व को इष्ट मानकर पारस्परिक संभाषण करना रूचिकर ही समझते। प्रेमबन्धन को विशृंखलित करनेवाली अन्तिम अवस्था में राजनीतिसिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति में दौर्जन्य होने पर उसको दूर से नमस्कार करना उचित है।

संगति : अपनी मनोरथपूर्तिमें स्वतन्त्रता रखकर कैकेयी को भी पछत्ताना पड़ेगा।

चौ० : फिरि पछितैहसि अन्त अभागी। मारसि गाइ नहारू लागी ॥ ८ ॥

भावार्थ : अन्त में तुम अपने को अभागिनी मानकर पछताओगी। इस समय तो तुम मामूली बात के लिए गाय को मारने के समान कार्य कर रही हो।

कैकेयी का अभाग्य

शा० व्या० : कैकेयी को अभागिनी कहने का तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थ करने पर भी भाग्य उसका साथ नहीं देगा। अर्थात् भरतजी को राजा बनाने में वह असफला होगी। भरतजी के द्वारा भर्त्सना होने पर सन्ताप हाथ लगेगा। 'नहारू लागी' से ध्वनित है कि राज्य जैसी तुच्छ वस्तु के लिए रामवनवासार्थ प्रयत्नशील होने का परिणाम गोहत्यासदृश पश्चात्ताप कैकेयी को होगा।

भरतजीमाता के भर्त्सना करते हुए भी निर्दोष

राजा की उक्त व्यवस्था के कारण ही माता के प्रति कटु वचन सुनाने पर भी भरतजी दोषी नहीं ठहराये जायँगे। क्योंकि पिता श्री के वचनानुकूल कार्य होने से वह दोषांकुश का काम करेगा।

पुरुषार्थ की त्रुटि में सन्ताप

नीतिशास्त्र में पुरुषार्थ की सिद्धि में दैव की उपयोगिता समझाते हुए कहा गया है कि शास्त्रविहित कर्तव्य के अनुष्ठान में कियेजाने वाले पुरुषार्थ में फलसिद्धि न होने पर दैव उपालभ्य होता है। उस समय पश्चात्ताप का अपने की अनुभव नहीं होता। पौरुषकार्य में त्रुटि होने पर फलसिद्धि के अभाव में सन्ताप का अनुभव होना निश्चित है। फिर 'पछितैहसि' से रानी के पुरुषार्थ की त्रुटि में उसका पश्चात्ताप लाक्षित किया। 'अन्त अभागी' से परलोक में पापभागिनी न होने पर भी इहलोक में रानी की धिक्कृति एवं सन्ताप को बताया।

'गाय और नहारू' के दृष्टान्त का ध्वनितार्थ

सम्पूर्ण शास्त्रों में गाय को उत्तमोत्तम मंगल माना गया है। नहारू (तांत का बन्धन) प्राप्त करने के लिए गाय को मारना मूर्खता एवं पाप है। इसी प्रकार महामंगलरूप श्रीरामराज्यभिषेकोत्सव पर आघात करना राज्यप्राप्तिरूप विषयसुख की कामना करना कैकेयी की मूर्खता है। नहारु का उपयोग बन्धनकार्य के लिए होता है उसका बन्धन इतना सुदृढ़ होता है कि जल्दी वह छूटता नहीं। नहारुरूप बन्धन जितना सुदृढ़ है उतना ही विषयसुख का बन्धन (मोह) कठिन है।

गोहत्या जैसे उपपातकों के प्रति तत्कालीन विचार भरतजी की उक्तियों (दो० १६७ से १६८) के विवेचन में द्रष्टव्य है।

संगति : उपर्युक्त बातें कहते-कहते राजा को मूर्छा आयी।

दो० : परेउ राउ कहि कोटि-विधि काहे करसि निदान।
कपट सयानि न कहति कछु जागति मनहुँ मसान ॥ ३६ ॥

भावार्थ : कैकेयी अपना अन्त या विनाश क्यों कर रही है? इसके सम्बन्ध में अनेक कोटि एवं विधि के द्वारा कहे जाने पर भी वह न मानी तो राजा मूर्छित हो गिर पड़े। (अर्थात् हार गये) पर रानी कपट में इतनी चतुरा है कि कुछ बोलती नहीं। वह ऐसी शान्ता है मानो कोई श्मशान में प्रेत जगा है।

कैकेयी अनुमान से वंचित

शा० व्या० : शिवजी कहते हैं कि राजा अपनी कोटि अर्थात् श्रीराम को वन में न भेजने के पक्ष को निरुपित कर पंचावयवात्मकन्यायप्रयोगरूप विधि को उपस्थापित कर परार्थनुमान करवाना चाहते थे

पर अनर्थप्रयुक्त कापट्य में रानी उस अनुमान को नहीं कर रही है। 'कहे करसि निदानु कहने का भाव यह है कि जैसे तन्त्रप्रयोग में श्मशान पर सिद्धि करने वाले को नरकभय या अनिष्ट की आशंका होने पर भी उसका भय न मान कर वह सिद्धि के लिए तत्पर रहता है उसी प्रकार कैकेयी राजा के कथन से अपने अनिष्ट का भय न मानकर चुपचाप है यही उसका कपट चातुर्य हैं। दो० ३५ में कहे गये 'लागेउ तेहि पिसाच' का क्रम 'जागति मनहु मसान' से समन्वित समझना होगा।

'कपट सयानी' का भाव है कि अपने अनिष्ट का भय होते हुए भी उसको छिपाने में रानी दक्षा है। क्योंकि मन्थराद्वारा 'कोटि कुटिल मानी गुरु पढ़ाई' से वह दीक्षिता है अथवा राजा के कथन (तव लागि जनि कछु कहनि बहोरी) का पालन करने का स्वांग बनाकर 'मौन' रहने का कपट करने में अपनी चतुरता दिखा रही है।

संगति : कैकेयी के मनस् में उसकी हठवादिता समझ कर राजा पुत्रवियोग में संतप्त हो रहे हैं।

चौ० : राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बिहालू ॥ १ ।

भावार्थ : व्याकुल होकर राजा राम राम की रट लगा रहे हैं। उनकी दयनीय दशा ऐसी है मानो बिना पंख के पक्षी पड़ा हो।

शा० व्या० : उपर्युक्त दोहे में 'कहे परेउ राउ' से व्यक्त है कि कैकेयी को समझाने में अपनी हार मानकर राजा अपने को कर्तृत्वहीन पा रहे हैं। राजा की इस अवस्था को 'बिनु पंख बिहंग बिहालू' से व्यक्त किया है। इस समय एक मात्र आश्रय प्रभु हैं ऐसा समझ कर राजा रामनाम का स्मरण कर रहे हैं।

संगति : इस समय राजा के मनस् की कल्पना का विषय कवि व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० : हृदयं मनाव भोरु जनि होई। रामहि जाइ कहइ जनि कोई ॥ २ ॥
उदउ करहु जनि रवि ! रघुकुलगुर !। अवध बिलोकि सूल होइहि उर ॥ ३ ॥

भावार्थ : राजा मनस् ही में मना रहे हैं कि सबेरा न हो और कोई जाकर श्रीराम को सूचना न दे कि उनको वन जाना है। हे रघुकुल के गुरो ! अर्थात् सूर्यवंश के आदि पुरुष सूर्य ! आप दिन का उदय मत करिये क्योंकि सूर्यवंशियों के राज्य अवध की दुःखद स्थिति को देखकर आपके हृदय में पीड़ा होगी।

राजा की कल्पना

शा० व्या० : कैकेयी के वरदान की बात प्रकाशित न हो ऐसा सोचते हुए राजा कल्पना कर रहे हैं कि रात्रि दीर्घ हो जाय और प्रातःकाल आये ही नहीं। इसके लिए सूर्य से प्रार्थना कर रहे हैं कि वह उदित न हों। क्योंकि दो० ३३ में रामवनगमन को प्रातःकाल ही क्रियान्वित करने का प्रण रानी कर चुकी है। राजा जानते हैं कि सत्यसंघ पिताकी वरदानात्मक प्रतिज्ञा को जानते ही आज्ञापालक पुत्र श्रीराम माता कैकेयी की धर्मसंबद्ध वरयाचना को सुनकर वचन का पालन करने में तुरन्त वनवास स्वीकार लेंगे और वन में चले जायेंगे।

राजा की उक्त कल्पना में प्रकृतिविरोध या वाक्यार्थदोष न मानकर व्याकरण के निर्देशानुसार हेतु-हेतु मद्भाव मात्र समझना चाहिए। 'रघुकुल गुर' का भाव है कि रघुकुल का उद्भव सूर्यवंश से होने से रघुकुल के गुरुजनों में सूर्य का प्रथम स्थान है। अतः अपने ही वंश में रघुकुल के अवधराज्य की दुर्दशा देखने पर सूर्य को वेदना होगी।

संगति : शिवजो राजा एवं कैकेयी के चरित्र को देखकर उनकी प्रीति और कठोरता का वर्णन कर रहे हैं।

चौ० : भूप–प्रीति कैकेई-कठिनाई । उभय अवधि बिधि रची बनाई ।। ४ ।।

भावार्थ : राजा दशरथ की प्रीति और कैकेयी की कठोरता दोनों की सीमा विधाता ने रचकर बनायी है अर्थात् राजा प्रीति की सीमा हैं। कैकेयी कठोरता की सीमा है।

राजा एवं रानी की मानसिक द्रुति

शा० व्या : चौ० १ दो० ३३ से दो० ३५ तक में कहे कैकेयी और राजा के संवाद को स्मरण करके शिवजी राजा को प्रेम की और कैकेयी को कठोरता की अन्तिम सीमा में पहुँचे दिखायी पड़ रहे हैं। दो० ३५ के अन्तर्गत कैकेयी के उद्गार कठोरता की चरम सीमा को छू रहे हैं। मृत्यु की भवितव्यता समझते हुए भी कर्तव्य की धीरता में श्रीराम के प्रति प्रीति में राजा हृदय का द्रवीभूत होना और उसमें रामनाम का स्मरण होना प्रीति की अन्तिम सीमा है। राजा के उक्त द्रवीभाव का विवेचन चौ० १ दो० ५ की व्याख्या में द्रष्टव्य है। यहाँ महत्व की बात यह स्मरणीय है कि जिस प्रकार गुरु वसिष्ठ का योगदान राजा के द्रवीभाव को बनाने में है उसी प्रकार कैकेयी की कठोरता भी राजा की उक्त प्रीति में सहायक हो रही है।

संगति : राम-राम रटते आखिर सबेरा हो ही गया पर राजा को कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है।

चौ० : बिलपति नृपति भयउ भिनुसारा । बीना बेनु शंखधुवनि द्वारा ।। ५ ।।

पढ़हि भाट गुन गावहिं गायक । सुनत नृपहिं जनु लागहिं सॉयक ।। ६ ।।

मंगल सकल सोहाहिं न कैसे ? । सहगामिनि हिं बिभूषन जैसे ।। ७ ।।

भावार्थ : अपनी कल्पना में राजा को विलाप करते-करते सबेरा हो गया। मंगलवाद्य वीणा वंशी शंख आदि की ध्वनि दरवाजे पर होने लगी मंगलगान में भाटों, गायकों द्वारा गुणगान होने लगा। उन सबको सुनकर राजा को ठेस हो रही है। मानो बाण की चोट लग रही हो। ये सब मंगलव्यापार राजा को वैसे ही अच्छा नहीं लग रहा है जैसे पति के संग सती होनेवाली स्त्री को आभूषण रुचिकर नहीं लगते।

राजा को प्रातःकाल जगाने की विधि

शा० व्या : अर्थशास्त्र के अनुसार रात्रि के अष्टधाविभक्त षष्ठ प्रहर में वाद्यवादन एवं प्रभात का मंगलगान राजा को जगाने के लिए होना चाहिए।[1] यद्यपि ये वाद्यगान मंगलसूचक हैं। फिर भी उनको सुनते ही प्रातःकाल की याद में राजा को दुःख का अनुभव होने लगता है।

मंगलशब्द का पर्यवसान

राज्योत्सव के मिमित्त घर-घर में विशेष मंगल हो रहा है। पर थोड़ी देर बाद श्रीरामगमन से नगरी शून्य होनेवाली है। इसको याद करके राजा को व्यथा हो रही है। सौभाग्यआभूषणों को सती होने के अवसर पर धारण करना विधानप्रयुक्त है यद्यपि उन आभूषणों में सती की रुचि नहीं है। इसी

१. षष्ठे सूर्यघोषेण प्रतिबुद्धः शास्त्रं इतिकर्तव्यतां च चिन्तयेत्।

प्रकार राजविधान के अन्तर्गत प्रभात में मंगलगान व वाद्य का बजना है। 'सह गामिनी' से संकेत है कि सती का मृत पति के साथ चिता पर सहगमन का जैसा विधान है वैसा ही अन्धशाप का विधान राजा की मृत्यु में घटित होनेवाला है। कवि मंगल में शोभाकर्तृत्वा भाव दिखा रहे हैं। अर्थात् मंगल में मंगल-कर्तृत्व का अभाव हो रहा है।

संगति : राजा को रामविरह की वेदना में जागते रात्रि बीती प्रजा को रामदर्शन की लालसा में नींद नहीं आयी।

चौ० : तेहि निसि नींद परी नहिं काहू। रामदरस लालसा उछाहू ॥ ८ ॥

भावार्थ : उस रात्रि में किसी को भी नींद नहीं लगी। क्योंकि सब लोग राज्योत्सव में श्रीराम की शोभा देखने के लिए लालायित थे।

प्रजा का उल्लास

शा० व्या० : 'सब काहू' से सम्पूर्ण राजसमाज रनिवास और प्रजा विवक्षित हैं। रामराज्योत्सव की उत्कंठा में प्रजा को भी नींद नहीं आयी। प्रातःकाल के शुभ अवसर की प्रतीक्षा में वे जगते रह गये। अर्थशास्त्र के आदेशानुसार। ब्राह्ममूर्त में ऋत्विग् आचार्य पुरोहित श्रोत्रिय आदि उपस्थित हैं जो राजा की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

संगति : जनपद को राजदर्शन की अभिलाषा हो रही है। क्योंकि सुबह का समय हो गया है।

दोहा : द्वार भीर सेवक सचिव। कहँहि उदित रबि देखि।
जागेउ अजहुँ न अवधपति ?। कारन कवनु विशेष ॥ ३७ ॥

चौ० : पछिले पहर भूपु नित जागा। आजु हमहि बड़ अचरजु लागा ॥ १ ॥

भावार्थ : प्रातःकाल होते ही राजद्वार पर भीड़ लग गयी राजा के सेवकगण मन्त्री और समाज जो वहाँ उपस्थित थे वे सूर्योदय को देखकर कहने लगे कि अभी तक राजा जागे नहीं इसका क्या विशेष कारण हो सकता है ? रात्रि के अन्तिम प्रहर में राजाश्री नित्य जाग-जाते थे आज नहीं जगे हैं तो लोगों को बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है।

शा० व्या : राजदरबार में चतुर्थ कक्षा में[1] संबंधी दौवारिक मन्त्री आदि। तथा उसके बाहर पुरजन आदि सामान्य जनों के ठहरनेका विधान है। सूर्योदय होने पर भी राजा उपस्थित नहीं हो रहे हैं। देर होने से राज्याभिषेकका मूहूर्त साधना कठिन हो जायगा अभी तक के इतिहास में राजा ने अपने कार्य-कलाप में प्रमाद[2] नहीं किया है ऐसे उत्सव के अवसर पर प्रमाद होना अनहोनी बात है। इसका आश्चर्य प्रकट करते हुए सब लोग सोच रहे हैं कि राजा के न जगने का कारण कोइ विशेष है। न्याय सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्तिमान् पदार्थ विना कारण के आकस्मिक नहीं हो सकता। 'आजु' का भाव है कि रामराज्या-भिषेक के मूहूर्त का अवसर है। मूहूर्तको न साधना शास्त्र की अवहेलना है। राजा ने आजतक शास्त्र-विपरीत आचरण नहीं किया अतः राजा के न जगने में 'बड़ अचरजु' से शास्त्रनिष्ठा भी व्यक्त है।

---

१. शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्णेत द्वितीयस्यां कक्षायां कंचुकोष्णिषिभिः वर्षवराभ्यागारिकैः तृतियस्यां कुब्ज वामनकिरातैः चतुर्थ्यां मन्त्रिभिः सम्बन्धिभिः दौवारिकैश्च प्रासपाणिभिः।

राजा के न जगाने में कारणविशेष

अर्थशास्त्र का कहना है कि राजा के प्रमादी होने से उसकी सम्पूर्ण द्रव्यप्रकृति अमात्य से प्रजातक प्रमादिनी हो जाती है और कर्तव्य को भूल जाती हैं[१] राजा दशरथ प्रमादी नहीं है अतः उनके न जगाने का कारण कोई विशेषकारण होगा।

संगति : राजा के न जगाने के कारण को सोचते हुए जब प्रजा की चिन्ता बढ़ी तब सब लोगों ने मिलकर प्रतिनिधि के रूप में राजा के अन्तरंग मन्त्री सुमन्त्र को भीतर प्रवेश करने की प्रार्थना की।

चौ० : जाहु सुमन्त्र जगावहु जाई। कीजिय काजु रजायसु पाई ॥ २ ॥

भावार्थ : प्रजा ने मन्त्री से अन्तर्गृह में जाकर राजा को जगाने के लिए कहा और उनकी आज्ञा लेकर (राज्याभिषेकोत्सव) कार्य का आयोजन शुरू करने को कहा।

राजा को जगाना सेवक का कर्तव्य

शा० व्या० : राज्य की सुरक्षाहेतु राजा को समय पर जगाना सेवक का कर्तव्य बताया है नहीं तो राज्य का विनाश हो सकता है। सुमन्त्र मन्त्री और सारथी है अन्तःप्रवेश के लिए उनको अधिकार प्राप्त है।

संगति : जनता के आदेश पर वह अन्तःपुर की द्वीतीयकक्षा पार करके राजा के पास जाने को तैयार हुए।

चौ० : गए सुमन्त्रु तब राउर माहीं। देखि भयावन जात डेराही ॥ ३ ॥

भावार्थ : जनता के अनुरोध पर सुमन्त्र को रनिवास में जाना पड़ा। रनिवास का दृश्य उनको भयानक दिखाई पड़ा तब राजा के पास जाने में उनको डर लगी।

अन्तःपुर में प्रलयावस्था

शा० व्या० : सुमन्त्र को अन्तःपुर की दशा अद्भुत् दिखाई दी वहाँ में ऐसा सन्नाटा छा रहा है कि कोई किसी से बोलता नहीं भीतर से कोई आदेश प्राप्त न होने से कोई सेवक बाहर-भीतर आता-जाता भी नहीं।

संगति : महल की अवस्था का वर्णन अब किया जा रहा है।

चौ० : धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा। मानहुँ बिपति बिषाद बसेरा ॥ ४ ॥

भावार्थ : रनिवास की भयानकता ऐसी है मानो खाने के लिए दौड़ रहा है आँख उठाकर देखने की हिम्मत नहीं होती मानो विपत्ति के दुःख ने डेरा डाल दिया है।

विपत्ति का सुमन्त्र को आभास

शा० व्या : महल विपत्ति और विषाद से भरा मालूम पड़ता है। वहाँ उपस्थित प्राणियों का सत्व समाप्त हो रहा है। राजा रानी के मदभेद में होने वाले संवाद की विषमता का संक्रमण अन्तःपुरवासियों पर हो रहा था जिससे सुमन्त्रको भविष्यत्कालीन विपत्ति का आभास हो रहा था। सुमन्त्र 'वर्षवर' आदि आंगारिकों' से राजा का हाल-चाल सुनना चाहते थे पर कोई उत्तर नहीं मिल रहा है।

---

१. प्रमादिनं मनु प्रमाद्यन्ति द्विषद्भिः चापि सन्धीयेत।

चौ० : पूछे कोउ न ऊतरु देई । गये जेहि भवन भूप कैकेई ।। ५ ।।

भावार्थ : पूछने पर भी कोई बता नहीं रहा है तब सुमन्त्र महल में चले गये जहाँ राजा और कैकेयी थी ।

शा० व्या : जब किसी से कोई उत्तर नहीं मिला तो सुमन्त्र द्वितीयकक्षा से चलकर सीधे रानी के महल में चले गये । जहाँ राजा रानी विराजमान थे ।

चौ० कहि जय जीव बैठ सिरु नाई । देखि भूपगति गयउ सुखाई ।। ६ ।।

भावार्थ : 'कहि जय' कहकर सुमन्त्र ने राजा को मस्तक झुकाकर अभिवादन किया बैठ गये और एकदम उदास हो गये ।

सुमन्त्र का शोषण व उसका कारण

शा० व्या० : राजशास्त्र के अनुसार मन्त्री सूत राजा की जे-जैकार से प्रशस्ति करते रुक गये । सदा की भाँति किये जै-जैकार के प्रत्युत्तर में राजादेश (उत्सव सम्बन्धी) न पाकर उनके मौन से मन्त्री विचारने लगे कि आजतक राजा को अनुत्साहित नहीं देखा । राज्यारोहणमहोत्सव के अवसर पर ऐसा रहना अमंगलसूचक मालूम होता है । राजा में हर्षप्रयुक्त आवेग जैसा कल दिखाई देता था । वह कहाँ चला गया ? राजा अचेतनावस्था में क्यों पड़े हैं ? परिस्थिति की गम्भीरता को सोचते सुमन्त्र स्वयं सहम गये ।

संगति : सुमन्त्र को देखकर चौ० ३ दो० ३७ में कही उषःकालकल्पना में राजा पुनः मूर्छित हो गये ।

चौ० : सोचबिकल बिबरन महि परेऊ । मानहुं कमल मूलु परिहरेऊ ।। ७ ।।

भावार्थ : सोच (रामवनवास) में व्याकुल राजा पीले पड़ गये । मूर्छित हो जमीन पर गिर पड़े । उनकी दशा ऐसी थी कि मानो कमल जड़ से अलग हो कुम्हला कर गिर गया हो ।

राजा की मूर्छा

शा० व्या० : शोक में विकल होते हुए भी दैनंदिन चर्चा के स्वभावानुसार राजा उठकर बैठे ही थे कि सुमन्त्र को देखकर उनका शोक उद्दीप्त हो गया । आदेश देने की इच्छा होने पर भी बोल न सके । मूर्छित हो गिर पड़े । कैकेयी के हठ से दुःखित हो मूर्छा की अवस्था में प्रभाहीन हो गये । जैसे मूलच्छेद होने पर कमल की दशा होती है । भाव यह कि श्रीरामजन्म के समय से होनेवाली श्रीरामराज्यारोहणोत्सव की एक मात्र अभिलाषा में रहे थे । उसको कैकेयी के वर-याचना ने ध्वस्त किया ।[1] सुमन्त्र के पहुँचने पर रानीका विधान प्रकट होने की पूर्ण सम्भावना में उत्साहहीन हो राजा मुरझा गये ।

संगति : चौ० ६-४ दो० २० में कहे कैकेयी के दुस्स्वप्न के फलस्वरूप अशुभ का आरम्भ और शुभ का तिरोभाव दर्शाते हुए कवि अनिष्ट की आशंका में होने वाला मन्त्री का भय दिखा रहे हैं ।

---

१. मोर मनोरथ सुरतरु फूला । करत करिनि जिमि हतेउ समूला ।

चौ० : सचिउ सभीत सकइ नहिं पूछी। बोली असुभभरी सुभ छूछी ॥ ८ ॥

भावार्थ : मंत्री सुमंत्र भय का कारण पूछ नहीं सके। शुभ से शून्य और अशुभ से भरी रानी कैकेयी स्वयं बोली।

अशुभ भरी आदि का भाव

शा० व्या० : जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है कि मन्त्री के सभीत होने का कारण राजा की चिन्ताजनक अवस्था और रामराज्योत्सव में विघात्त की शंका है। राजा के पास उपस्थिता रानी कैकेयी ही जयजीव का उत्तर दे रही है। रानी जो बोलेगी उससे अनिष्ट की आशंका में मंत्री को जो भय हो रहा है उसकी यथार्थता आगे स्पष्ट हो होगी। 'असुभभरी' से राजा की मृत्यु और उससे होनेवाला रानियों का वैधव्य, रामवनवास और उससे होनेवाला विरहसंताप आदि अशुभजनक घटना दिखायी है। 'सुभ छूछी, से स्वकल्पित वरदान में 'भरतहि टीका' से रहित होने के अतिरिक्त, रामराज्य में भरत के सेवकत्वप्रयुक्त शुभ से भी कैकेयी का वंचित होना कहा है।

'असुभभरी' के विवेचन में नीतिसिद्धान्त में[1] बताया दुर्जनों के प्रवेश का क्रम स्मरणीय है। चौ० १ से ४ दो० १३ में कहा गया है कि रामराज्योत्सव की सजावट देखकर दुष्टा मन्थरा ने साधुभाव में बैठे राजा श्रीराम, कौसल्या और कैकेयी के सौहार्दपूर्ण मार्ग में प्रवेश करके किस प्रकार भेद लगाकर विघ्न उपस्थापित करने का विचार किया? राजा ने कैकेयी से बिना पूछे उत्सवका कार्य किया है, इस मर्म को पकड़कर दुष्टात्मा दासी ने उक्त सुहृदों के मार्ग में विघ्नकार्य का आरम्भ किया, उसके पूर्ण होने तक उन सबको मिलने नहीं दिया—यही अशुभ का सूत्रपात है।

प्रश्न : पूर्व व्याख्या में निरूपित कैकेयी के चरित्र की निर्दोषता को ध्यान में रखते हुए 'असुभभरी सुभ-छूछी' कहना कहां तक संगत है?

उत्तर : इसके समाधान में कहना है कि प्रभु के 'अनुचित एकू' संकल्प से सरस्वती द्वारा किये मतिफेरी-कार्य में कैकेयी की उक्त अशोभनीय स्थिति रामकार्य में घटक होने से प्रभु की इच्छा के अनुकूल है। इसका फल यह होगा कि कैकेयी के प्रति प्रभु की प्रियपात्रता स्थापित होगी, कैकेयी के पुत्र भरतजी की रामभक्ति उजागर होगी, अन्त में त्रैलोक्य का शुभ होगा। सच्चा सेवक वही है जो प्रभु की इच्छा के अनुकूल आचरण करने में अपने मान सौभाग्य आदि को बलि चढ़ाने में तत्पर रहे।

संगति : कैकेयी अब सुमन्त्र से कह रही है।

दो० : परी न राजहि नींद निसि, हेतु जान जगदीसु।
रामु रामु रटि भोर किय, कहइ न मरमु महीसु ॥ ३८ ॥

भावार्थ : राजा को रात में नींद नहीं आयी। उसका कारण भगवान् ही जाने। राजा ने राम राम रटते रटते सबेरा कर दिया, अपने मनस् की बात नहीं कह रहे हैं।

शा० व्या० : 'जगदीसु' से जगदीश्वर प्रभुराम और 'जान' से गमन का अर्थ करने से यह व्याख्या होगी कि प्रभु राम के वनगमन की चिन्ता के हेतु से राजा रात भर नहीं सोये। किन्तु निद्रा न आने का मर्म वे प्रकट नहीं कर रहे हैं। श्रीराम का वन में जाना दुश्चेष्टित या विनाशकारी है ऐसा सोचकर ही

---

१. निरन्तराः सतां मार्गं प्रविशन्ति महीपतिं दुष्टात्मानस्तु सचिवास्तस्मात् सुसचिवो भवेत् (नीतिसार सं० ४।

राजा सुमन्त्र को कुछ आदेश नहीं दे रहे हैं। अथवा राजा राजपुत्र श्रीराम को जगदीश समझकर उनके चिन्तन में 'राम-राम' रट रहे हैं। श्रीराम का जगदीश्वरत्व आगे राजा की उक्ति में स्पष्ट होगा।[1] राजा को आन्तरिक वेदना है जिसको खुलकर नहीं बोल रहे हैं।

वास्तविक बात यह है कि कैकेयी ने वर के सम्बन्ध में राजा से जो निर्णय माँगा था उसको राजा ने स्पष्ट न कहकर 'अब तोहि नीक लागु करु सोइ' कहा (चौ० ५-६ दो० ३६)। 'जान जगदीसु' से कैकेयी के कहने का तात्पर्य यह है कि अपना निर्णय या तो राजा स्वयं जानते हैं या सर्वज्ञ साक्षी जगदीश्वर ही जानते हैं। अथवा जगदीश्वर प्रभु श्रीराम ही राजा का निर्णय जानते हैं अर्थात् राजा की चिन्ता का कारण रामवनवास है और श्रीराम जानते हैं कि वनवास स्वीकार करना है जैसा कैकेयी के वचन दो० ४० के उत्तर में श्रीराम कहेंगे दो० ४१।

संगति : राजा का निर्णय कैसे स्पष्ट हो ? इसके उत्तर में कैकेयी कहती है कि जब अपना निर्णय राजा स्वयं जानते हैं या जगदीश्वर जानते हैं तो श्रीराम को बुलाना आवश्यक है जिससे उनका निर्णय शीघ्र स्पष्ट हो जाय।

चौ० : आनहु रामहि बेगि बोलाई। समाचार तब पूछेहुँ आई ॥ १ ॥

भावार्थ : कैकेयी सुमन्त्र से बोली—श्रीराम को शीघ्र बुलाकर ले आओ तब आकर समाचार पूछना।

अपनी निर्दोषता प्रकट करने में कैकेयी की उक्ति

शा० व्या० : उक्त संगति के अनुसार जब राजा अपना निर्णय नहीं प्रकट कर रहे हैं तब श्रीराम को ही शीघ्र बुलाना चाहिए जिससे श्रीराम के सामने राजा का निर्णय स्पष्ट हो जायगा, ऐसा कहने में कैकेयी अपनी निर्दोषता प्रकट कर रही है। संभव है राजा श्रीराम के सामने बोलें, तब सुमन्त्र भी उनका आदेश सुन सकेंगे। 'समाचार' से कैकेयी का मन्तव्य श्रीराम वनवासपरक है।

संगति : राजा परायत्तसिद्धिक नहीं है, अतः सचिव कैकेयी के कथनमात्र से श्रीराम को बुलाने के लिए जाना पसन्द नहीं करते। किन्तु राजा के रुख को समझकर सुमन्त्र श्रीराम को बुलाने जा रहे हैं।

चौ० : चलेउ सुमन्त्रु राउरुख जानी। लखी कुचालि कीन्ह कछु रानी ॥ २ ॥

भावार्थ : सुमन्त्र समझ गये कि रानी कैकेयी ने कुछ दुश्चेष्टित कार्य किया है। राजा का रुख श्रीराम को बुलाने के संकेत के अनुकूल जानकर सुमन्त्र चले।

सुमन्त्र का निर्णय

शा० व्या० : श्रीराम को बुलाने जाते हुए प्रस्तुत घटना के मूलकारण का विचार करते हुए इस निर्णय पर पहुँचे कि कैकेयी की कोई कुचाल से ही ऐसा घटित हो रहा है—इसमें तर्क एवं अनुमान—प्रणाली निम्नलिखित है।

सुमन्त्र के निर्णय का क्रम व अनुमानप्रणाली

१. 'मानहु विपति विषाद बसेरा, (चौ० ४ दो० ३८, से यह कहा जा सकता है कि राज्याभिषेकरूप कार्यानिस्तरणप्रयुक्तविषाद राजा में व्यक्त हो रहा है। २. कार्यानिस्तरण होने का कारण कैकेयी के अतिरिक्त

---

१. चौ० ६ से ८ दो० ७७ तक में कहा 'सुनहु तात तुम्हें कहँ मुनि कहहीं। रामु चराचर नायक अहहीं' आदि।

कोई नहीं हैं। ३ 'राजा कार्यानिस्तरण-जन्यदु:खवान् विषादात्' इस अनुमिति के पूर्व, परामर्श होते समय कैकेयी के अतिरिक्तव्यक्तिप्रयुक्तत्वाभाव कार्यानिस्तरण में सिद्ध है। अतः परिशेषानुमान और उपस्थिति-कृतलाघव से कैकेयीप्रयुक्तकार्यानिस्तरणजन्यदुःख राजा में अनुमित है। इस अनुमानप्रणाली को कविने बड़ी खूबी से 'लखि' शब्द से व्यक्त किया है। ज्ञातव्य है कि स्पष्टहेतु के अभाव में कवि अनुमित न कहकर लखिशब्द का प्रयोग कर मन्त्री की प्रतिभा को दर्शा रहे हैं।

मन्त्री का कर्तव्य

'कुचालि कीन्ह कछु रानी' से स्पष्ट होता है कि सुमन्त्र समझ गये कि कैकेयी ही अनर्थ का कारण है। वह अपने दोषों को छिपाना चाहती है। सुमंगल के अवसर पर ऐसी घटना होने पर भविष्यत्कालीन निर्णय के बारे में विचार करना मन्त्री का कर्तव्य है। परन्तु विना हेतु को समझे साध्य (निर्णय) का निर्णय (अनुमिति) नहीं हो सकता, न परामर्श ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में सुमन्त्र सोच रहे हैं।

प्रश्न हो सकता है कि 'कुचालि' की स्थिति को सुधारने के लिए बुद्धिमान् मन्त्री सुमन्त्र ने कोई प्रयत्न क्यों नहीं किया ? इसके समाधान में कहना है कि रोष की दशा में कोई उपदेश सफल नहीं होता बल्कि क्रोधी के द्वेषभाव को हटाने में व्यर्थ सिद्ध होता है। खेद है कि रोष के पूर्व की अवस्था में सुमन्त्र को रानी के पास जाने का सुयोग नहीं मिला।

संगति : पूर्वोक्तस्थिति में सुमन्त्र का शारीरिक अनुभाव कवि व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० : सोचविकल मग परइ न पाउ। रामहि बोलि कहहि का राऊ ? ॥ ३ ॥

भावार्थ : सोच में व्याकुल मन्त्री को कम्प हो रहा है जिससे पैर लड़खड़ा रहें हैं रास्ता चलना मुश्किल हो रहा है। मन्त्री सोच रहे हैं कि श्रीराम को बुलाकर राजा क्या कहेंगे ?

पैर का कम्पन अपशकुन है

शा० व्या० : स्वामी के सम्बन्ध में शुचि सेवकों के अन्तःकरण में हर्ष न होना स्वामी के लिए अपशकुन (दुर्निमित्त) अशुभ का सूचक माना गया है जिसको यहाँ 'सोचबिकल' से व्यक्त किया है। श्रीराम जैसे साधु शीलवान् के पास जाने में भय-विषादवश पैर में कम्पन हो पैर आगे न बढ़ते हों तो अपशकुन ही मानना चाहिये। ज्ञातव्य है कि सुमन्त्र सामान्यतया अमंगल का अनुमान कर रहे हैं, न कि अमंगलविशेष का, अर्थात् जब तक वे सभी कारणकलापों को नहीं समझते तबतक अमंगल (व्यसन) विशेष का अनुमान उनको कैसे होगा ?

संगति : सुमन्त्र को इतना निश्चय हो गया कि राजा कुचाल से सम्बन्धित अमंगल के सम्बन्ध में श्रीराम से कहेंगे। ऐसी स्थिति में वे धैर्य को अपना कर श्रीराम को बुलाने जा रहे हैं।

चौ० : उर धरि धीरज गयउ दुआरे। पूछहिं सकल देखि मनु मारे ॥ ४ ॥

भावार्थ : हृदय में धैर्य धारण कर सुमन्त्र महल के दरवाजे पर आये तो सब लोग उनको देखकर पूछने लगे।

सुमन्त्र का धैर्य

शा० व्या० : राजा और प्रजा का रक्षण करना अपना कर्तव्य समझकर सुमन्त्र धैर्यपूर्वक विचार

कर रहे हैं कि पैरों के कम्पन आदि जो अपशकुन हो रहा है उसका प्रकाशन करना अभी अनुचित है। इसलिए व्याकुलता को छिपाने हेतु हृदय में बल रखकर वे धैर्य धारण कर रहे हैं जो 'उर धरि धीरजु' से व्यक्त हैं। अपनी घबडाहट को छिपाना 'मनु मारे' से व्यक्त है। 'पूंछहिं' से पूछने का विषय वही है जो चौ० १-२ दो० ३८ में कहा है।

संगति : सुमन्त्र जनता के प्रश्न का अशंकित दृष्टिपूर्वक समाधान कर रहे हैं।

चौ० : समाधान करि सो सबही का। गयऊ जहाँ दिनकरकुलटीका ॥ ५ ॥

भावार्थ : 'पूंछहिं' के उत्तर में सब जनता का समाधान करके सुमन्त्र वहाँ पहुँचे जहाँ सूर्यकुलमणि श्रीराम विराजमान थे।

समाधान का स्पष्टीकरण

शा० व्या० : चौ० १-२ दो० ३८ में कहे विषय के सम्बन्ध में पूछने पर मन्त्रीद्वारा प्रजा को दिये गये समाधान में यह अनुमान किया जा सकता है कि सुमन्त्र ने कहा होगा कि रामराज्याभिषेकोत्सवकार्य का चिन्तन करने से राजा थक गये हैं इस कारण वे जल्दी नहीं उठ सके। अग्रिम कार्य के निर्णयार्थ श्रीराम को बुलाने जा रहे हैं। समाधान से ऐसा संकेत मालूम होता है कि सुमन्त्र को आशा है कि श्रीराम के सामने जाने पर बिगड़ी बात बन जायगी।

अन्तर्गृह की भेद की शोचनीय दशा को प्रकाश में लाकर चर्चा का विषय बनाना बुद्धिमान् मंत्री के लिए उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से प्रजा में विरोध एवं आक्रोश उत्पन्न होने का भय है जो राज्य के विघटन होने का कारण हो सकता है। अतः सुमन्त्र जैसे विश्वस्त मंत्री ने रानी की संभावित कुचाल से होनेवाली आशंका को प्रजा के सामने प्रकट नहीं किया।

संगति : मन्त्री की उक्त बुद्धिमानी को देखकर कवि आगे की चौपाई में उनकी सुमन्त्रनाम कीर्तन से सार्थकता बताते हुए श्रीराम ने किया आदर सुना रहे हैं।

चौ० : राम सुमंत्रहि आवत देखा। आदर कीन्ह पितासम लेखा ॥ ६ ॥

भावार्थ : श्रीराम ने सुमन्त्र को (अपने भवन में) आते देखा तो पिताश्री के समान मानकर उनका सम्मान किया।

सुमन्त्र में पिता का साधर्म्य

शा० व्या० : सुमन्त्र सूतजातीय होते हुए भी मन्त्रकुशल हैं। पिताश्री के परमादभूषित आज भी हैं। सेवापरायण भृत्य होते हुए भी सुमन्त्र ऐसे मन्त्री हैं जो राजकुमारों को नीति की शिक्षा देने में कुशल हैं। इस राजसाधर्म्य को समझकर श्रीराम निरन्तर उनका आदर करते रहे हैं जैसा 'लेखा' शब्द से ध्वनित है। 'गुरुं प्रणतिभिः' के अनुसार श्रीराम सुमन्त्र को पितातुल्य मानकर उनका आदर कर रहे हैं। राजकुमार श्रीराम का सुमन्त्र के प्रति अंगांगिभाव है। उसको समझाने के लिए 'आदर' शब्द का प्रयोग किया है।

संगति : श्रीराम के आदर सत्कार को स्वीकार करने के बाद राजा की आज्ञा सुनाकर सुमन्त्र श्रीराम को लेकर लौटे हैं।

चौ० : निरखि बदनु कहि भूपरजाई। रघुकुलदीपहि चलेउ लिवाई ॥ ७ ॥

भावार्थ : श्रीराम के मुख का अवलोकन करके राजा की आज्ञा सुनायी और रघुकुलमणि श्रीराम को लेकर सुमन्त्र लौटे।

शा० व्या० : यहाँ कवि ने 'निरखि बदनु' यद्यपि पहले कहा है। तथापि अर्थक्रम के वलीयष्ट्व से शब्दक्रम को हटाकर ऐसा समझना होगा कि प्रथमतः सुमन्त्र ने राजा की आज्ञा सुनायी फिर श्रीराम के चेहरे को देखा। प्रसन्नता या अप्रसन्नता के भाव को परीक्षा करना 'निरखि' शब्द से व्यक्त किया गया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हृदय के भाव का परिचय

ज्ञातव्य है कि ३८वें दोहे का वक्तव्य सुनाते हुए भक्तों ने इस समय की मुखाकृति को वैज्ञानिक दृष्टि से देखा अर्थात् कैकेयी की कुचाल से रामराज्याभिषेक में आने वाले विघ्नों का प्रभाव श्रीराम पर क्या पड़ेगा ? इसको देखने में 'बदनु निरखि' का तात्पर्य यह है कि सुमन्त्र आश्वस्त हो गये कि श्रीराम को अभिषेकोत्सव में औत्सुक्य नहीं है [क्योंकि भरत की अनुपस्थिति में अभिषेक होना इष्ट नहीं है जैसा श्रीराम के मनस् का विचार 'विमल वंश यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू' से व्यक्त है]। इसीलिए श्रीराम की मुखश्री की एकरूपता को मंगलाचरण के श्लोक में 'प्रसन्नतां या न गता-भिषेकतः तथा न मम्ले वनवासदुःखतः' कहकर कवि ने गाया है।

'रघुकुलदीप' का यह भाव है कि रघुकुल में जो अन्धकार की स्थिति आनेवाली है उसमें श्रीराम का चरित्र सूर्य की तरह प्रकाश देकर मोहान्धकार को दूर करेगा तथा चौ० ४ दो० २८ में राजा दशरथ की उक्ति में कहे वचनप्रामाण्य को स्थिर रखकर रघुकुल के यशस् को उज्ज्वल करेगा।

संगति : राजा की आज्ञा को सुनकर प्रभु श्रीराम पूर्वनियोजित कार्यक्रम को स्मरण कर निर्णय कर रहे हैं कि कैकेयी माता का वचन भी वनवास में सहायक होगा जैसा दो० ४१ में 'संमत जननी तोर' तथा चौ० ८ दो० १२५ में 'दीन्ह बनु रानी' से स्पष्ट होगा। इस भाव को लेकर राजदर्शनार्थ श्रीराम बाहर निकले।

चौ० : राम कुभाँति सचिवसंग जाहीं। देखि लोग जँह तँह बिलखाहीं ॥ ८ ॥

भावार्थ : मन्त्री के संग श्रीराम का अकेले जाना अशोभनीय है जिसको देखकर लोग दुःखित हो रहे हैं।

शा० व्या० : 'कुभाँति' से स्पष्ट किया है कि श्रीराम अपने वैभव को त्यागकर जा रहे हैं। अथवा वसिष्ठ जी के कहे 'राम करहु सब संजम आजू' (चौ० दो० ३१) के अनुसार श्रीराम का राजकीयसाजवेष से रहित जाना जनता को कुभाँति लग रहा है। अथवा रोज जिस भाँति श्रीराम बाहर निकलते थे उससे आज के निकलने में अन्तर दिखायी पड़ना कुभाँति का सूचक हो रहा है। इस कुभाँति को देखकर जनता ने प्रभु का हृद्गत वास्तविक भाव न भी समझा हो तो भी इतना अवश्य हुआ कि जनता की घवड़ाहट बढ़ गयी।

राजाओं की अलंकृति में प्रयोज्यता

इस समय सुमन्त्र के साथ बिना साज के श्रीराम ने जाना प्रजा को अच्छा नहीं लग रहा है। भारतीय राजनीति में राजा को आदर से देखना व अलंकारों से विभूषित करना प्रजा का कार्य है जो साहित्यिक दृष्टि से प्रियश्रवणादिजन्यआवेग का सूचक है, जिसमें राजा को सजा हुआ देखना, हाथी पर चढ़ाना आदि प्रजा को मनोहर लगता है। प्रजा के द्वारा सजा नहीं राजा संस्कृति में प्रयोज्यता है।

संगति : दोहा ३८ के अन्तर्गत सुमन्त्र के संबंध में 'देखि भयावन जात डेराही' आदि कहा गया है, वैसा भय कैकेयी के महल में प्रवेश करते हुए श्रीराम को न होना उनके प्रभुत्व का परिचायक है। अतः श्रीराम सीधे राजा और रानी के पास पहुँच रहें हैं।

दो० : जाइ दीखि रघुवंसमनि, नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि, मनहुँ बृद्ध गजराजु ॥ ३९ ॥

भावार्थ : रघुवंशमणि श्रीराम ने महल में जाकर राजा को बहुत ही शोचनीयदशा में देखा मानो बूढ़ा हाथी सिंहिनी को देखकर भयग्रस्त पड़ा हो।

श्रीराम के सामने राजा-रानी की अवस्था

शा० व्या० : 'कुसाजु' का भाव है कि राजा के शरीर से राजोचित अलंकार और साज गिर पड़ा है। 'निपट कुसाजु' से स्पष्ट किया है कि जिस स्थिति में सुमन्त्र ने राजा-रानी को देखा था (चौ० ७ दो० ३८) उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। सिंहिनी और वृद्ध गजराज के दृष्टान्त से रोष की पंचम अवस्था (चौ० १ दो० ३४) में कैकेयी सिंहिनीसदृशी है और 'सोच बिकल बिबरन महि परेउ' की दशा में राजा बूढ़े हाथी के समान दीन-सुखहीन हैं।

संगति : राजा की मूर्च्छावस्था की विकलता को लक्षणान्तर से कवि बता रहे हैं।

चौ० : सूखहिं अधर जरहि सबु अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू ॥ १ ॥
सरुष समीप दीखि कैकेई। मानहुँ मीच घरी गनि लेई ॥ २ ॥

भावार्थ : राजा का ओंठ सूख रहा है। सम्पूर्ण शरीर में ताप हो रहा है, मणि से अलग हो जाने पर मानों साँप की तरह दीन हों। रोष में भरी कैकेयी पास में दिखायी पड़ी मानो साक्षात् मृत्यु अन्तिम घड़ी गिन रही हो।

श्रीराम के विचार में अशुभसूचना

शा० व्या० : वर्तमानगति को प्राप्त हुए राजा को देखकर सुमन्त्र की भाँति श्रीराम भी सोच रहे हैं कि ये लक्षण अशुभ के सूचक हैं। राजा चिन्तासागर में निमग्न दिखाई पड़े। राजा के दुश्चिन्ह में कारणभूता कैकेयी सामने खड़ी है, जरा भी तरस नहीं खा रही है अर्थात् उसमें दुःख का लेश भी नहीं दिखाई पड़ रहा है। सान्त्वना देना तो दूर रहा रोष में राजा की मृत्यु को ही बुला रही है। सुमन्त्र ने चौ० २ दो० ३९ जो अनुमान किया था 'लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी' वही श्रीराम के सामने प्रत्यक्ष है।

संगति : पिताश्री की उस अवस्था के प्रति प्रभु की करुणा व्यक्त हो रही है।

करुणामय मृदु रामसुभाऊ। प्रथम दीख दुःख सुना न काऊ ॥ ३ ॥

भावार्थ : करुणापूर्ण मृदुस्वभाव वाले श्रीराम ने राजा के दुःख को कभी सुना भी नहीं था वे उसको पहले-पहल देख रहे हैं।

शा० व्या० : राजलक्ष्मीसम्पन्न राजप्रासाद में जहाँ भौमस्वर्गसुख पूर्ण है उसमें परिपोषित श्रीराम ने परिवार के सम्बन्ध में कानों से भी दुःख नहीं सुना था, देखना तो दूर रहा। अपने परिवार में प्रथमबार राजा का यह दुःख उनको दृष्टिगोचर हो रहा है।

संगति : कोमलस्वभाववाले व्यक्ति कठिन अवस्था में दुःख सहन करने में कुशल नहीं होते बल्कि मूर्छित हो जाते हैं, यह दोष श्रीराम में नहीं है जैसा वनवास को सुनकर सहर्ष वन में जाने से स्पष्ट है। धैर्य में[1] रहकर वे माता कैकेयी से पिताश्री के दुःख का कारण पूछ रहे हैं।

चौ० : तदपि धीर धरि समउ बिचारी। पूँछी मधुरवचन महतारी ॥ ४ ॥

भावार्थ : उस पर भी राजा का ऐसा दुःख देखने पर श्रीराम ने धैर्य धारण किया और प्रस्तुत समय का विचार करके मधुरवाणी में माता कैकेयी से पूछा।

धैर्य, धैर्यभास, वैराग्य, कुशल

शा० व्या० : शास्त्रों में धैर्य आदि की व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध है जो व्यक्ति गुरुजनों में भक्ति रखते हैं तपस्याशील हैं वे सुख दुःख का परित्याग करते हैं, यही नीतिमानों की धीरता है। (व्यसने अभ्युदये-चाविकारकरं अध्यवसायकरंवा, धृतिरनुद्विग्नता") इसको न्याय की परिष्कृत भाषा में इस प्रकार कहा जाता है 'वर्तमान वस्तुमात्रविषयिणी स्पृहा'। जिसको गुरु वसिष्ठ द्वारा प्राप्तशिक्षा का यथार्थरूप श्रीराम ने इस अवसर पर प्रकट किया है। प्रस्तुन में श्रीराम की दृष्टि 'धीरा' कही जायगी जो 'समय विचारी' से नीतिसम्बन्धी आशय को प्रकट कर रही है। सारांश यह कि जिस समय जो नैतिक प्रमाणत्रयप्र मित कर्तव्य करना चाहिये उसको करने में उत्साह का उदय धृतिभाव में होता है तभी वैराग्यसंपत्ति मानी जाती है। अन्यथा भजन के नाम पर वैराग्य के आभास में व्यक्ति कुपंथ की ओर मुड़ते हैं और मोह में दुःख संताप के भागी होते हैं। इसलिए यथासमय यथोचित कर्तव्य के पालन में हर्ष रखना ही विराग है। जिसको साध्य-साधनभाव का पूर्ण विमर्श है वही विद्या के उपयोग में कुशल है।

धृतिसंबलित शास्त्रशिक्षा का फल

पुरुषार्थसाधन में धृति का बल प्रधान माना है। जीवन में जो भी घटनाएँ होती हैं उनमें रक्षक धैर्य ही है। संस्काररूप वासना से आबद्ध जीव रागवश कार्यकलाप में जब तत्पर होता है व तदनुकुल कार्यसिद्धि उसे होती है तब वह अपने को सुखी समझता है। ऐसा होना सदा सम्भव है नहीं। अतः जीव प्रायः दुःखी देखा जाता है। यदि धृतिमान् होकर शास्त्रसिद्धान्त को अपनाया जाय तो कार्य में पुरुषार्थ की न्यूनता को स्थान नहीं मिलेगा क्योंकि तत्तच्छास्त्रों में महर्षियों ने सिद्धि निश्चित कर बतायी है। यदि ध्यान देकर उनकी शिक्षा का सदुपयोग किया जाय तो दुःखी होने का कोई कारण नहीं।

'समय बिचारी' का भाव यह कि प्रभु श्रीराम अच्छी तरह जानते हैं कि जबतक सम्पूर्ण नागरिकों का एकमत नहीं होता तथा अनौचित्य का सर्वथा निवारण नहीं हो जाता तबतक राजपद-ग्रहण करना राजनीतिशास्त्र के विरुद्ध है।

चौ० ४ दो० १० में 'रामहृदय अस बिसमय भयऊ' से श्रीराम के मनस् के उद्वेग से स्पष्ट है कि राज्यारोहण में दैवानुकूल्य नहीं है। पुरुषार्थ की दृष्टि से भरतजी की अनुपस्थिति में राज्योत्सव दोषयुक्त है। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीराम राज्य के लोभी नहीं हैं। उनको पुरुषार्थ और दैव से हीन राज्यारोहण की सार्थकता नहीं मालूम पड़ती, जो राजा का शोक देखकर इदंप्रथमतया दुःख से भी स्फुट है। शास्त्र पढ़कर धैर्य की प्रतिपत्ति और भय एवं स्खलन में प्रतीकारक्षम मति का उदय हुआ तो विद्या का सार्थक्य है जो 'समय बिचारि' से प्रकट है। श्रीराम जानते हैं कि विषय स्वरूपतः न सुख है न दुःख है, उसकी अनुभूति भोक्ता के आन्तरिक भाव पर निर्भर है।

---

१ स्फुटप्रभवं गम्भीरं धोरमित्युच्यते बुधैः। भा० न० ५ अ०।

श्रीराम की धृति का आदर्श व उन्नति का बीज

धीरता में रहने पर अन्तःकरण में खलबली नहीं होती। यदि कभी विचलित होने का अवसर आता है तो विवेक से पुनः धैर्य की स्थिति प्राप्त हो जाती है। श्रीराम में धर्म विवेक धीरता तीनों गुण विद्यमान हैं। प्रथमतः सुमन्त्रद्वारा 'भूपरजाई' को सुनावाद में राजा की दुःखदस्थिति और कैकेयी का स्वरूप देखकर श्रीराम को कर्तव्यनिर्णय में देर न लगीं, यही रामचरित्र का उत्साहवर्धक सत्यप्रदर्शक धृति का आदर्श है जो उन्नति का बीज है। 'तदपि धीर धरि समउ विचारी' कहकर कवि ने इस बीज का परिचय कराया है।

धीरता का परिचायक स्वरविशेष

मधुरवचन से श्रीराम की धीरता व्यक्त है। श्रीराम की धीरता उनके स्वर से प्रकट है। राजा की दयनीय दशा देखकर भी श्रीराम के सा, रे, व प के स्वर में अन्तर नहीं आया है। वस्तुतः उनका स्वाभाविक मुख्यस्वर पंचम, पिक के समान है जिस स्वर पर मुग्ध होकर शिवजी बोले कि इस स्वर की मधुरता वनवास की बात सुनकर भी बनी रहेगी।

संगति : माता कैकेयी के रोषभाव को देखकर श्रीराम मधुरवचन में पूछ रहे हैं।

चौ० : मोहि कहु मातु ! तातदुःखकारन। करिअ जतन जेहि होहि निवारन ॥ ५ ॥

भावार्थ : हे मातः ! मुझे पिता श्री के दुःख का कारण बताओ। मैं वह उपाय करना चाहता हूँ जिससे उनका दुःख दूर हो जाय।

शा० व्या० : चौ० ७-८, दो० ४१ में कही पुत्रत्व की सार्थकता के अनुकूल पिताश्री की दुःखनिवृत्ति करना कर्तव्य बताते हुए माताजी से दुःख का कारण पूछ रहे हैं।

संगति : स्वार्थ में तत्परा कैकेयी श्रीराम के वचन का लाभ उठाती हुई वरयाचनासिद्धि के अनुकूल आकांक्षा में उत्तर दे रही है।

चौ० : सुनहु राम सबु कारनु एहू। राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू ॥ ६ ॥

भावार्थ : हे श्रीराम ! सुनो राजा के दुःख का कारण यही है कि उनका तुम्हारे ऊपर अधिक स्नेह है।

शा० व्या० : राजा स्वदुःख का कारण सुनाने में संकोच कर रहें हैं क्योंकि उनका श्रीराम के प्रति अत्यधिक स्नेह है। प्रियवस्तु से बिछुड़ने की कल्पना में वेदना का आधिक्य होने से चित्तवृत्ति स्नेहमयी कही जाती है।[1] श्रीराम में ऐसी ही चित्तवृत्ति होने के कारण राजा दुःख का कारण सुनाने में असमर्थ हो रहे हैं। इसलिए श्रीराम माता कैकेयी से प्रार्थना कर रहे हैं कि राजा के प्रतिनिधि के रूप में आप दुःख का कारण बतायें।

श्रीराम के प्रति राजा के 'बहुत सनेहू' में पक्षपात नहीं

चौ० ६ दो० ३१ में राजा की उक्ति 'मोरे भरतु रामु दुइ आँखी' पर व्यंगात्मक भाव रखते हुए कैकेयी के मति फेर की दृष्टि में 'राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू' राजा का पक्षपात कहा जा सकता है पर वस्तुगत्या अत्यधिक स्नेह का कारण राजा के जन्मान्तरीय संस्कार का उद्बोध है। प्रसंगतः, यह भी स्मरणीय है कि चारों भाइयों की सृष्टि ही ऐसी हुई है कि राजा को क्या, सभी को श्रीराम स्वभावतः अधिक प्रिय हैं जैसा बा० का० चौ० ६ दो० १९३ में स्पष्ट है।

---

१. मनसो यत् द्रवाद्रंत्वं विषयेषु ममत्वः। भयशंकावसानात्मा स एव स्नेह उच्यते। आ० न ४

संगति : पुत्र की प्रार्थना सुनकर कैकेयी उसका उत्तर दे रही है।

चौ० : देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना। माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना ॥ ७ ॥
सो सुनि भयउ भूप उर सोचू। छाड़ि न सकहिं तुम्हार संकोचू ॥ ८ ॥

भावार्थ : कैकेयी कह रही है कि राजा ने मुझको दो वर देने को कहा था। जो मुझे अच्छा लगा वह मैंने माँगा। उसको सुनकर राजा के मनस् में सोच होने लगा क्योंकि तुम्हारा संकोच उनसे छोड़ा नहीं जाता।

मनोरथ की स्वीकृति में वरसंबंधित धर्म का प्रकाशन

शा० व्या० : अनर्थ की प्रसक्ति में अर्थ-कामसंबंधप्रयुक्त आदेश का पालन करना नीतिसंगत नहीं माना जाता।[1] राजा के दो वर देने की प्रतिज्ञा में धर्मसम्बद्ध पूर्वोतिहास को[2] सुना कर 'मोहि सुहावा' से उस वरयाचना के प्रति अपनी कर्तृता में अर्थ का बल न रखकर धर्म का बल कह रही है। अथवा कैकेयी की अपनी वासना उक्त कर्तृता में ध्वनित है जैसा चौ० १ दो० २९ में 'भावतजोका' की व्याख्या में कहा गया है।

राजा का सोच व संकोच

अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार राजा ने कैकेयी को अपनी इच्छा से वर माँगने में स्वतन्त्रता दी। अब वर देने में राजा अपना स्वातन्त्र्य क्यों चाहते हैं ? फिर भी जबतक वे वर देंगे नहीं तब तक वह कैसे प्राप्त होगा ? मान लिया जाय कि राजा वर देने को राजी हो जायँ तो भी जबतक श्रीरामजी की अनुकूलता नहीं होती तब तक राजा वर देने को तैयार नहीं होंगे। इसी सोच में राजा किंकर्तव्यमूढ़ हो गये हैं।

'संकोच' का अर्थ हिचकिचाहट, आगा-पीछा करना या लज्जा है। 'भए राम सबविधि सब लायक' को समझ, गुरु वसिष्ठ व सचिवसहित पंचों की सम्मति लेकर रामराज्याभिषेक का निर्णय करने के बाद दो० ३१ में कही नृपनीति के विरुद्ध कैकेयी के वांछित दो वरों को ('भरतहि टीका' और 'रामु वनवासी') स्वीकार करने में राजा को सोच हो रहा है। इस कारण से राजा को संकोच है।

श्रीराम से सम्बन्धित संकोच में लज्जा इसलिए हो रही है कि गुरुजी द्वारा श्रीराम को राज्याभिषेक की बात अवगत कराने के बाद वरदान की वचनबद्धता में अपनी विवशता कैसे दिखावें ?। किंबहुना श्रीराम के सामने अपना मुँह दिखाने में भी लाज लग रही है। इसीलिए संकोच के कारण राजा कुछ भी नहीं बोल रहें हैं। यह आगे श्रीराम की उक्ति 'जातें मोहि न कहत कुछु राऊ' से स्पष्ट होगा।

संगति : वरयाचना को पूर्ण करने में क्या श्रीरामजी अनुकूल होंगे ? इस आशय से रानी कह रही है।

दो० : सुतसनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु।
सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिनकलेसु ॥ ४० ॥

भावार्थ : राजा बड़े संकट में पड़ गये हैं–एक तरफ पुत्र श्रीराम का स्नेह है, दूसरी ओर अपने वचन की सत्यता को बनाये रखना है। यदि तुम कर सकते हो तो राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके उनका कठिन दुःख दूर करो।

---

१. घृतेऽपि मन्त्रे मन्त्रज्ञः स्वयं भूयो विचारयेत्। तथा वर्तते मतिमान् यथा स्वार्थं न पीडयेत्। नी० १२।४०

२. थाती राखि न मागिहु काउ। बिसरि गयहु मोहि भोर सुभाऊ। (चौ० २ दो २८)

राजा की समस्या का हल—पुत्र श्रीराम के अधीन

शा० व्या० : 'सकहु त धरहु सिर' में श्रीरामको मीमांसोक्त रीति से कृतिसाध्यता, बलवदनिष्टाननुबन्धिता एवं हितसाधनता का अनुमान करते हुए पिता के क्लेश को दूर करने में वचन का पालन करना है। श्रीराम के प्रति राजा का स्नेह इतना विलक्षण है कि उसको त्यागना क्लेशप्रद है। दूसरे तरफ अपने वचन का उल्लंघन करने में 'नहि असत्यसम पातकपुंजा' का स्मरण करके असह्य पीड़ा का अनुभव कर रहें हैं क्योंकि धार्मिकजीवन सत्यप्रतिज्ञा के निर्वाह में है। यही महान् संकट उपस्थित है। ऐसे समय श्रीराम को ही कर्तव्यनिर्णय करना है। अर्थात् राजा की प्रतिज्ञा को कार्यान्वित करने में श्रीराम ही समर्थ हैं जिसकी उपघायकत्ता (कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तिता) को समन्वित करना उनका काम है। भाव यह कि राजा का वचन सुनते ही दूसरे क्षण में कार्यपूर्ति होनी चाहिये, इसी भाव से कैकेयी 'सकहु त' कह रही है।

कुलीनता

ज्ञातव्य है कि संदिग्ध वाक्य को सुनाते हुए भी कैकेयी का अन्तर्विश्वास इस प्रकार है कि राजा और पुत्र दोनों कुलीन हैं। कुलीन का स्वभाव यह है कि अपने वचन के विपरीत आचरण करने की प्रसक्ति होने पर उनको अतिक्लेश होता है, अतः कुलीन अपनी निष्ठा को बनाये रखते हैं। कुलीनों के लिए प्रतिज्ञातार्थ के विपरीत कार्य करने से बढ़कर क्लेश दूसरा नहीं है। कुलीनता के संस्कार को जगाते हुए राजा का क्लेश दूर करने का उपाय बताने के लिए कहना रानी का स्वार्थसाधन है।

श्रीराम को दूर कर प्रतिपक्ष के क्लेश में इष्टापत्ति

रानी स्नेह की उपेक्षा करके श्रीरामवनगमन से राजा को प्रतिज्ञातार्थनिर्वहणजन्यपुत्रवियोगज क्लेश पहुँचाने में सबसे अत्यधिक मान्यता दे रही है। इसी हेतु से श्रीराम को राज्य से दूर करने के लिए अव्यर्थ प्रयोग को कैकेयी ने अपनाया है, चाहे वनवासक्लेश से राजा का अन्त हो जाय। क्योंकि राजनीति में प्रतिपक्ष को क्लेश देना विजिगीषु के लिए अपने हित में मान्य है। कैकेयी को विश्वास है कि कुलीनता के नाम पर सत्पुत्र श्रीराम राजा के वरदानरूप प्रतिज्ञातार्थनिर्वहण में सहायक होंगे।

रामवनगमनार्थ राजा के आयसु का विचार

प्रश्न : श्रीरामवनगमन के लिए राजा का 'कंठतः' आदेश कहीं नहीं हैं तो रानी 'आयसु धरहु' कैसे कह रही है ?

उत्तर : यद्यपि राजा ने स्पष्टतः आदेश नहीं दिया है फिर भी उन्होंने जब यह समझा कि कैकेयी किन्ही प्रकारों से अपना हठ नहीं छोड़ती, स्वमनोरथ पूर्ति में तुली है, तब राजा ने सुना दिया 'अब तोहि नीक लागि करु सोई'—इसी को कैकेयी ने अर्थान्तरित करके आयसु कहा है। पिताजी की उपस्थिति में माता के माध्यम से व्यक्त 'आयसु' को श्रीराम ने पिताजी की आज्ञा मान लिया जैसा दो० ४१ में (जननी सम्मत आयसु) से स्पष्ट है। राजा के आदेश का विचार चौ० २-३ दो० ४५ व्याख्या में द्रष्टव्य है।

'आयसु धरिय' में अन्धत्व का विचार

प्रश्न : अपने मनोरथसिद्धि के उद्देश्य से कहे 'आयसु धरहु' से पित्राज्ञा को मानना क्या श्रीराम की नीतिमत्ता या धर्म के प्रति अन्धविश्वास कहा जायगा ?।

उत्तर : भारतीय राजनीति में राजा का राज्यारोहण तबतक पूर्णसम्मत या सफल नहीं माना जाता जबतक सबका शतप्रतिशत मत उपलब्ध नहीं होता। बाह्य एवं आभ्यन्तर मण्डल में राजा के प्रति पूर्ण मधुर मनोवृत्ति यदि टिकी रहेगी तभी प्रजा का स्नेह स्थायी होगा। श्रीरामराज्याभिषेकोत्सव में बाह्य मंडल की पूर्णसम्मति प्राप्त है। पर सौत का पुत्र रहते उसकी अनुपस्थिति में आभ्यन्तरमत की अनुकूलता अज्ञात है। संभव है जिस प्रकार मन्थरासहित कैकेयी के हृदय में शत्रुता का भाव जागृत हुआ उसी प्रकार प्रजा में भी विरोधी भाव जगा तो विघटन हो सकता है। राजनीतिक दाँव-पेंच में आभ्यन्तर का विरोध होने पर गुप्तरूप से विषप्रयोग, अभिचार, उद्वर्त्तन आदि ओपनिषदप्रयोग से राजा मारा भी जा सकता है। श्रीराम ने पहले ही 'विमलबंस यह अनुचित एकू'। 'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू' के संकल्प से राज्यारोहण को अनुचित ठहराया है। प्रस्तुत में आभ्यन्तरमत की प्रकाशिका माता कैकेयी के माध्यम से व्यक्त 'आयसु' को पित्राज्ञा मानकर श्रीराम ने नीतिमत्ता का परिचय दिया है। इसको अन्धविश्वास नहीं कहा जा सकता।

कैकेयी का साम से दमन

प्रश्न : राजा के निर्णय में विघ्न करने वाली कैकेयी का दमन करना राजनीति की दृष्टि से उचित है या अनुचित है ?

उत्तर : इसके समाधान में इतना कहना पर्याप्त होगा कि राज्यत्याग करके पित्राज्ञापालनात्मक 'साम' प्रयोग से माता का दमन करना श्रीराम की राजनीतिक दूरदर्शिता है जिसका फल होगा कि कैकेयी का विरोध सदा के लिए समाप्त होकर स्नेह की स्थिति का साधक होगा, दमन का यह भी एकप्रकार है। यतः राजशास्त्र में साम, दान, दण्ड और भेद चारों को दम कहा गया है।[1]

संगति : जिसप्रकार शत्रु को प्रत्याक्रमण की तैयारी न करते देखकर अथवा प्रत्याक्रमण में असमर्थ समझकर 'विजिगीषु' निश्चिन्त बैठता है उसी प्रकार चौ० ६ से ८ तक कही उक्तियों में राजा की क्रियाशून्यता को जानकर कैकेयी और अधिक निर्भया होकर बोल रही है।

चौ० : निधरक बैठि कहइ कटु-बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी ॥ १ ॥

भावार्थ : निर्भया होकर बैठी कैकेयी कह रही है। उसकी वाणी में इतनी कटुता भरी है कि जिसको सुनकर वह (कटुता) भी घबड़ा जाय।

कैकेयी की वाणी की कटुता का फल

शा० व्या : किसीप्रकार की भीति न रखते हुए कैकेयी पूर्वसम्वाद को इसप्रकार सुना रही है जिसको सुनाने वाले शिवजी भी स्वयं क्लेश का अनुभव कर रहे हैं। दो० ३३ में कैकेयी की कटुवाणी में नीति और धर्ममर्यादा का अतिक्रमण, राजा का मृत्यु के निकट पहुँचना, उसके मृत्यु की उपेक्षा करके आत्महत्या की धमकी देना, निरपराध श्रीराम को वन में भेजना, निराकांक्ष भरतजी को बरबस राजसिंहासन पर बैठाने का प्रयत्न करना, प्रजा की द्वेषपात्रा बनना आदि वक्ष्यमाण फल कटुता का है। 'कठिनता अति अकुलानी' का भाव यह है कि जिसके स्नेहमय अभिनय की विशेषता से पाषाण भी पिघल जाते हैं उसके प्रति कैकेयी द्रवीभूता नहीं हुई, इसमें आश्चर्य है।

---

१. स्वपरपक्ष दमनोपायाशेषसामाद्युपग्राही द्रष्टव्यः। नो० सा० स० २।

संगति : कैकेयी के दुर्वचन का प्रयोग राजा के मरण में सहायक हो रहा है जैसा कवि समझा रहे हैं।

चौ० : जीभ कमान वचन सर–नाना । मनहुँ महिप मृदु-लच्छ समाना ।। २ ।।

जनु कठोरपनु धरें सरीरू । सिखहि धनुषविद्या बरबीरू ।। ३ ।।

भावार्थ : शरीरधारिणी कठोरता कैकेयी के रूप में जीभ को कमान व वचनों को अनेक बाण बनाकर राजा को सुगम लक्ष्य के समान समझ रही है मानो कोई बड़ा वीर धनुर्विद्या सीख रहा हो।

वाणी की कटुता की उपमा

शा० व्या० : कैकेयी की दृष्टि में राजा अपकारी है—यही सुहृत् में अरित्व देखना है। एकार्थाभिनिवेशित्व ही अरित्व है, उसमें सुहृद्-व्यक्ति भी विजिगीषु के मार का लक्ष्य होता है। राजा के हृदय को विदीर्ण करना लक्ष्य-संधान करना है। कैकेयी के विविधवचन बाण का काम कर रहे हैं। उन को जीभरूपी कमान से रानी चला रही है। 'सिखई' का भाव है कि 'कोटि कुटिलमनि गुरु पढ़ाई' के अनुसार मन्थरा से जो सीखा है, उसका मानो अभ्यास कर रही है।

संगति : पुत्र का अभिप्राय समझकर कैकेयी पूर्ववृतान्त सुना रही है।

चौ० : सबु प्रसंगु रघुपतिहि सुनाई । बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई ।। ४ ।।

भावार्थ : रघुपति श्रीराम जी को सब प्रसंग सुना कर कैकेयी स्थिरा ही बैठ गयी मानो निष्ठुरता ही शरीरधारिणी होकर उपस्थित है।

पिताश्री के वचनप्रामाण्य में कठोरता का योगदान

शा० व्या : 'बैठी' से संकेत है कि कैकेयी श्रीराम का विचार जानने के लिए स्थिरा हो गयी है। 'जनु कठोरपनु धरें सरीरू' राजा को लक्ष्य करके कहा गया था, यहाँ 'तनु धरि निठुराई' श्रीराम के प्रति कहकर कैकेयी की उग्रतर कटिबद्धता दिखायी है जो रामवनवास को कार्यान्वित करने में दृढ़ता लाने के लिए है। प्रभु की इच्छा के अनुरूप वनवासकार्य में सहायक होने के लिए कठोरता व निष्ठुरता ने कैकेयी का वरण किया है। अर्थात् श्रीरामसेवा में अपने को सार्थक करने के लिए उन्होंने शरीर को उपस्थापित किया है। उसका फल यह हुआ कि जिस प्रकार कैकेयी के वचन को सुनकर सुमन्त्र ने 'लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी' का अनुमान कर लिया उसी प्रकार 'सब प्रसंगु रघुपतिहि सुनाई' द्वारा श्रीराम ने भी दो० ३६ के अन्तर्गत कहे राजा के वचन की प्रमाणता को पूर्ण समझकर उससे प्रमेयसिद्धि का अनुमान और पक्का कर लिया।

संगति : वनवास के लिए प्रेरित करने में कैकेयी की निष्ठुरता का प्रकट होना प्रभु को इष्ट है जैसा कि उसके अन्तर्गत श्रीराम के मनोभाव वाणी से प्रकट है मन से प्रथमतः शिवजी श्रीराम की मनोवृत्ति को सुना रहे हैं।

चौ० : मन मुसुकाइ भानुकुलभानू । रामु सहज आनंदनिधानू ।। ५ ।।

भावार्थ : कैकेयी के निष्ठुरताप्रयोज्यवचन को सुनकर सूर्यवंश के अवतंस श्रीराम मन ही मनस् में मन्दस्मित होकर प्रसन्न हुए। वैसे तो प्रभु श्रीराम सहज आनन्द के निधान हैं ही।

शा० व्या० : उक्त चौ० के पूर्वार्ध में 'भानुकुलभानू' से शरीर के सम्बन्ध से सूर्यकुलोद्भव अवतारी श्रीराम की प्रतिक्रिया को स्पष्ट किया जिसमें विमलवंशोचित धर्म, ज्ञान, वैराग्य का उदय दिखाया हैं। भानु से अज्ञानतिमिरध्वंसी सूर्य ज्ञानरूप में प्रकाशित है जिसमें सत्वक्षय या विषाद की थोड़ी झलक भी श्रीराम के मुख पर नहीं है। उत्तरार्ध में श्रीराम के प्रभुत्व से सम्बन्धित स्थिति को श्रीराम के स्वाभाविक आत्मानन्दगुण को दिखाते हुए आनन्दतत्व से युक्त प्रभुत्व को प्रकट किया है।

स्नेहशील में संघटन

विषयतृष्णा में जीव का हृदय संतप्त रहता है। विषयसिद्धि होने पर कामना की ज्वाला क्षीण होती मालूम होती है। पर तृष्णा की ज्वाला तीक्ष्ण हो जाय तो वह दुःख के गर्त में भी ले जाती है। विषयतृष्णा से रहित हो स्नेहशील पूर्वक आचरण करने से स्वराज्य-मंडल में संघटन बनता है। 'मन मुसुकाई' से श्रीराम की आन्तरिक तृष्णाशून्य व हर्ष विषादरहित स्थिति बतायी हैं। अर्थात् राज्यारोहण को सुनकर श्रीराम जैसे सुखी नहीं हुए वैसे ही वनवास का प्रस्ताव सुनकर दुःखी भी नहीं हैं, यही नीतिमान् का आत्मानन्द गुण है जिससे स्वराष्ट्र घनमित्रभाव में आबद्ध होता है।

संगति : उत्तर में शिवजी श्रीराम की वाणी को सुनाने के पूर्व उसकी पवित्रता एवं मंजुलता भी समझा रहे हैं।

चौ० : बोले वचन बिगतसबदूषन। मृदु मंजुल जनु वाग विभूषन ॥ ६ ॥

भावार्थ : श्रीराम कैकेयी से जो वचन कहेंगे वह सब दोषों से रहित और सुन्दर होगा, मानो वाणी का श्रेष्ठ विभूषण हो।

विगतदूषण का ध्वनितार्थ

शा० व्या० : श्रीराम कैकेयी को सारगर्भित संक्षिप्त वाणी आगे सुना रहे हैं। श्रीराम का वचन 'विगत-सबदूषण' व 'मृदुमंजुल वाविभूषन' होने पर भी कैकेयी उसमें कुटिलता देखेगी, जैसा आगे दो० ४२ में स्पष्ट है। कवि ने उसका निरास पहले से ही प्रभु के राज्यत्यागसंकल्प को सुनाकर (चौं० ७ दो० १०) कर दिया है। यह प्रभु की सर्वज्ञता का सूचक है। 'विगतसबदूषन' को वचन का विशेषण मानकर यह अर्थ होगा कि असूया दंभ व्यंग विसंवादिता, असंबद्धता आदि दोषों से रहित वचन है। यदि 'विगतसबदूषन' विशेषण श्रीराम के लिए माना जाय तो अर्थ यह होगा कि श्रीराम के कायिक वाचिक मानसिक व्यापार में काम, मद, मान आदि दोषों का थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है जैसा राजा की उक्ति, (सबु कोइ कहइ रामु सुठि साधू चौ० ३ दो० ३२) एवं कैकेयी की उक्ति (तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता चौ० ३ दो० ४३) से स्पष्ट होगा। पूर्व चौपाई में 'राम सहजआनन्दनिधानू' से कवि श्रीराम की निर्विकारिता को स्पष्ट कर आये हैं।

मृदु मंजुल का भाव

'मृदु मंजुल' का भाव है कि सदा श्रीराम के द्वारा पंचम स्वर में उच्चरित शब्द स्पृहणीय मधुर होते है। ऐसे वचनों की सहज सरलता ही मंजुलता है।

वाग्विभूषण

'वाग्विभूषण' से व्यक्त है कि अर्थशास्त्र के निर्देशानुसार वाणी में पदों व वाक्यों का यथावत् विभाजन, अन्यूनानतिरिक्तता, गांभीर्य, माधुर्य, औदार्य, स्पष्टत्व गुण प्रकट हैं। 'वाण्येका समलंकरोति पुरुषं वाग्भूषणं भूषणम्' से निर्णीत विशेषण समन्वित श्रीराम का स्वरूप 'राम कुभांति सचिव संग जाहीं' से आस्वाद्य है।

संगति : उत्तर में श्रीराम कैकेयी को सारगर्भित संक्षिप्त वाणी सुना रहे हैं।

चौ० : सुनु जननी ! सोइ सुतु बड़भागो। जो पितु-मातु-वचन अनुरागो ।। ७ ।।

भावार्थ : हे मातः ! सुनो वही पुत्र बड़भागी है जो माता-पिता के वचन मानने में अनुराग रखता है।

पुत्र का बड़भागित्व व अनुरक्तत्व

शा० व्या० : अर्थशास्त्र के निर्देशानुसार वही पुत्र बुद्धिमान् है जो माता-पिता द्वारा उपदिष्ट धर्म व अर्थ का अनुष्ठान करने में स्थिर तथा तत्पर है[1], वही विनय-सम्पन्न सौभाग्यवान् भी है। अर्थशास्त्र में अन्य पुत्रों को तो कर्कटकधर्मा ही कहा है। वह दोष बड़भागी पुत्र में नहीं हैं। भारद्वाज मुनि के मतानुसार कर्कटक-सधर्मा पुत्र को बाल्यकाल में ही उपांशुदण्ड से दण्डित करने का विधान है। इस मत की प्रसक्ति बड़भागी उन पुत्रों के लिए चरितार्थ नहीं होती जिनकी शुचिता कर्म, माता-पिता एवं आहारसंबन्धिनी शुचिता से सुरक्षित है। निष्कर्ष यह कि सत्यसंध पिता के वचन को प्रमाण मानकर तत्प्रमित अर्थानुष्ठान में अप्रकंप-प्रवृत्तिमान् पुत्र दुर्लभ है। वैसे दुर्लभ पुत्र की सुरक्षा पर प्रकृति स्वयं ध्यान रखती है, यह उसका पुत्रवात्सल्य है जैसा भरत के चरित्र से स्पष्ट होगा।

अनुराग का अनुमान में बल

पिताश्री के वैध प्रेरणा में पुत्र अनुरागी है तो उक्त प्रेरणा सफल है ही अतः बड़भागित्व से संपन्न पुत्र श्रीराम पित्राज्ञापालनात्मक वनवास में हितसाधनता के साथ बलवदनिष्टाननुबन्धिता एवं कृति-साध्यता का अनुमान करने में पूर्ण विश्वास रखते हैं। अर्थात् 'पितु मातुवचन अनुरागी' से केवल धर्म ही नहीं, अर्थ की प्राप्ति भी असंदिग्ध है। इतना ही नहीं बड़भागो पुत्र को पिताश्री के वचन सुनकर दुःखा-समानकालीन सुख की भी अनुभूति होती है, वही श्रीराम को वनवास के प्रति हो रही है।

संगति : उक्त अनुमानप्रणाली को श्रीराम अग्रिम चौपाई में ध्वनित करते हुए 'सकहुत' का उत्तर दे रहे हैं।

चौ० : तनय मातु-पितुतोषनिहारा। दुर्लभ जननि ! सकलसंसारा ।। ८ ।।

भावार्थ : हे मातः ! माता पिता को परितोष देनेवाला पुत्र पूरे संसार में दुर्लभ है।

तोषनिहारा से आश्वासन व आदर्श

शा० व्या० : पिताश्री के प्रति पुत्र का स्वाभाविक प्रेम न होना और कामपरतन्त्रता व तारुण्यमद होना—ये दो तत्व पुत्र को पिताश्री के सन्तोष से वंचित कर देते हैं,यह दोष बुद्धिमान् पुत्र में नहीं रहता। जो 'सबहि रामु प्रिय जेहि विधि मोही, (चौ० ३ दो० ३) से पिताश्री की संतुष्टता तथा 'मो पर करहि सनेह विसेषी, (चौ० ६ दो० १५) से माता की संतुष्टता व्यक्त है। अब 'तोषनिहारा' का यह भाव होगा कि श्रीराम भविष्यत् में भी माता-पिता को पूर्व के जैसा संतुष्ट करते रहेंगे। अर्थात् दो० ४० में माता के कहे 'सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु' को चरितार्थ करने का आश्वासन दे रहे हैं। प्रस्तुत प्रसंग में सत्यसन्ध पिता के वचन को प्रमाण मानकर चतुर्विध पुरुषार्थ की उपलब्धि में विश्वास, दुर्जय शक्ति पर

---

१. क्रियमाणो धर्मार्थावुपलभते चानुतिष्ठति च बुद्धिमान्। कौ० अ०। १।१७।१३

विजय, एवं अनुष्ठेय की प्रवृत्ति में सफलता का अनुमान करके धर्म में अप्रकंप कप्रवृत्त होना बुद्धिमान् अनुरागी पुत्र के लिए असाधारण आदर्श है। उसी की शिक्षा देने के लिए प्रभु स्वयं पुत्ररूप में अवतीर्ण हैं। दो० ४० में कैकेयी के कहे वचन को ध्यान में रखकर 'मेटहु कठिन कलेसु' के उद्‌देश्य से भी तोषनिहारा कहना संगत है।

सकल संसारा

'सकल संसारा' से आधिक्येन अर्थप्रधान अजितकाम ही संसार में दृष्टिगत होता है। ऐसे संसार में सूर्य की तरह शुचिकुल में उत्पन्न, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, से संपन्न कोई विरला बुद्धि मान् पुत्र ही वचन-प्रमाण के आधार पर माता-पिता का परितोष करने वाला होता है।

राजा व राजपुत्र की वृत्ति-विधान का स्मरण

सत्यसन्ध पिता व तत्सम पुत्र की धर्मार्थप्रधानता को देखते हुए राजा और राजपुत्र की वृत्ति का विधान अर्थशास्त्रानुसार स्मरणीय है। दशरथ और श्रीराम दोनों ही नीतिमान् हैं, दोनों के चरित्र उपर्यनुसूचित वृत्ति के विधान से सम्मत है। तथा उपर्युक्त अनुमानप्रणाली में उक्त विधान को ध्यान में रखकर सत्यसंधता का निर्देश किया गया है जिसको प्रभु 'मातु पितु तोषनिहारा' कहकर व्यक्त कर रहे हैं। ऐसा ही व्यक्ति राजपद के अधिकृत हो सकता है। अतएव भारतीय राजनीति में सर्वसाधारण के लिए राजपदाधिकार की अनुमति नहीं है।

संगति : पुत्र के उपर्युक्त आदर्श को सामने रखकर श्रीराम योग्य माता-पिता के वचनप्रमाण प्रयुक्त वनवास की स्वीकृति से लप्स्ययान फल अर्थात् कृत्युद्देश्य बता रहे हैं।

दो० : मुनिगनमिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर ॥
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि सम्मत जननी ! तोर ॥ ४१ ॥

भावार्थ : वन में सब प्रकार से मेरा हित है। उसमें विशेष हित मुनियों का मिलन है। उसमें भी विशेष पिता की आज्ञा का पालन है। हे मातः ! पुनः उसके ऊपर तुम्हारी सम्मति भी है।

वनवास का स्वोद्दिष्ट फल

शा० व्या० : राजनीतिसिद्धान्त में सत्संगति का फल धर्म एवं अर्थसमृद्धि बतायी गयी है। सन्त अपने प्रमाणप्रमित यथार्थ उपदेश से आत्मवान् की अविद्या को निरस्त कराकर उसे विद्या का प्रकाश कराते हैं। वही फल वनवास में साधुसंगति से प्राप्त होगा जो 'सबहि भाँति हित मोर' पद से व्यक्त है।

माता कैकेयी की उक्ति 'सकहु त आयसु धरहु सिर' से श्रीराम ने कृतिसाध्यता हितसाधनता का जो अनुमान किया था उसी को यहाँ 'सबहिं भाँति' से व्यक्त किया है।

संगति : दूसरे वर का संबंध अपने से ही होने से उसीको प्राथमिकता देकर श्रीराम ने अपना समर्थन स्पष्ट कर दिया। अब प्रथम वर के बारे में भरतजी को राज्य मिलने में अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० : भरतु प्रानप्रिय पावहि राजू। बिधि सबबिधि मोहि सनमुख आजू ॥ १ ॥

भावार्थ : प्राणप्रिय भरतजी राज्य पावें इसमें विधाता आज सभी प्रकार से मेरे अनुकूल हुए हैं।

योग्यतम व्यक्ति के शासनारोहण में सन्तोष

शा० व्या० : प्राय: देखा जाता है कि राज्याधिकारी को राजपद देने का निर्णय हो जाने पर यदि उसके राज्यारोहण में बाधा होती है तो पुत्र को क्रोध शोक विषाद का होना स्वाभाविक है। पर श्रीरामजी भरतजी के राजपदप्राप्ति को इष्टापत्ति मानकर हर्ष प्रकट कर रहे हैं जो कुलीनता का परिचायक है। 'भरतु प्रानप्रिय' से व्यक्त है कि प्रभु का प्राणप्रिय वही हो सकता है जिसमें 'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु' के अनुसार प्राणिमात्र के प्रति प्राणप्रियता हो। इसको सहित्यशास्त्र में शमप्रकृति कहा है। चौ० ७ दो० ११ में कहे 'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू' द्वारा प्रभु के संकल्प का बल पाकर सरस्वती ने विधि का अनुसरण किया। उसके अनुसार अपना वनवास एवं भरतजी का राज्य होना विधि की सार्थकता है जिसको प्रभु 'विधि सब बिधि मोहि सम्मुख आजू' से व्यक्त कर रहे हैं। ज्ञातव्य है कि कैकेयी की वरयाचना प्रभु की इच्छा के अनुकूल होने से उसकी निर्दोषता प्रभु को मान्य है। 'सबबिधि' के अन्तर्गत वह विधि भी है जिसका उल्लेख चौ० १ से ७ बा० का० में प्रभु के अवतारकार्य से संबन्धित है।

संगति : वन जाने में श्रीराम की स्वीकृति बुद्धिमत्तापूर्ण है या मूढ़तामूलक है? उसका उत्तर आगे दे रहे हैं।

चौ० : जौ न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़समाजा ॥ २ ॥

भावार्थ : ऐसे कार्य के लिए भी यदि मैं वन में नहीं जाता तो मूर्खों के समाज में मेरी पहली गिनती होनी चाहिए। (यहाँ 'गनिअ' विधिलिङ का प्रयोग समझना है।)

सुविचारित कार्य में प्रवृत्त न होना मूर्खता है

शा० व्या० : 'ऐसेहु काजा' में विशेष बल उस कार्य पर है जिसके द्वारा वनवास एवं भरत का राज्य कार्यान्वित करते हुए कैकेयी माता की मनोरथपूर्ति करनी है। 'बिना विचारे जो करे सो पाछे पछिताय काम बिगारे आपनो जग में होत हँसाय' की उक्ति को ध्यान में रखकर 'प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा' का यह अर्थ होगा कि 'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू' से अनौचित्य समझकर प्रभु ने जो विचार किया है उसको वे कार्यरूप में परिणत न करें या वन में नहीं जावें तो श्रीराम को मूर्खों की पंक्ति में प्रथमस्थान मिलेगा।

संगति : मूर्खता की उपपत्ति समझा रहे हैं।

चौ० : सेवहि अरँडु कलपतरु त्यागी। परिहरि अमृत लेहि बिषु मागी ॥ ३ ॥
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं। देखु बिचारि मातु! मन माहीं ॥ ४ ॥

भावार्थ : कल्पवृक्ष को छोड़कर रेंड़ के पेड़ की सेवा करना तथा अमृत छोड़कर विषको माँगकर लेना मूर्खों का कार्य हैं। मूर्ख भी कल्पवृक्ष या अमृत की प्राप्ति का योग या समय आ जाने पर उसको ग्रहण करने में चूकते नहीं तो हे मातः! तुम मानस में विचार करके इस अवसर को देखो।

वनवास में अमृतत्व, व राज्य में विषत्व

शा० व्या : वनवास कल्पवृक्ष व अमृत है क्योंकि जिसमें साधुसंग से उत्तम शिक्षा, विवेक, धैर्य सत्व, बल आदि लोकसंग्राहकगुणों की उपलब्धि हो। वही अमृत व कल्पवृक्षहै, उसको छोड़कर राज्यरूप विष को चाहना

मूर्खता है। राजा, कौसल्याजी व श्रीराम के प्रति कैकेयी द्वारा उत्थापित शंका से आभ्यन्तरगृह शंकाक्रान्त होगा तो शंकाविष का प्रभाव भरतजी की अनुपस्थिति को लेकर देशभर में फैल सकता है। ऐसी स्थिति में राज्यारोहण करनेसे प्रजापालन वैसा ही होगा जैसा एरंड की पेड़ की छाया में विश्राम की कल्पना। मुर्खता के उपर्युक्त दृष्टान्तों में ध्यान देने की बात यह है कि कल्पतरु को छोड़कर एरंड के पेड़ का सेवन व अमृत को छोड़कर विष मांगने में मूर्ख को भी वृक्ष की छाया में विश्राम या अमृत की ओर झुकाव लेने की समझ रहती है जिसको 'तेउ न पार अस समउ चुकाहीं' से व्यक्त किया है। वैसा साधर्म्य श्रीराम को इष्ट नहीं है।

कार्य एवं काल के योग की उपेक्षा में हानि

कार्य और काल का योग बार-बार नहीं आता[1] कार्य व काल के योग को अवसर कहा है। यहाँ कल्पवृक्ष की छाया की उपलब्धि और राज्यरूपी विष का त्याग कार्यरूप में उपस्थित था ही उसमें काल का योग भी आ गया जिसको प्रभु 'पाइ अस सम समउ' कह रहें हैं। कार्य व काल इसके योग को प्रमाद से चूकना अवसर चूकना है। जो 'प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा' का द्योतक होगा। श्रीराम कैकेयी से कहते हैं कि मेरे इस विचार पर आप विश्वास रखें।

आशा में दृढ़ता

'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' के अनुसार सरस्वती द्वारा प्रेरिता कैकेयी का जो प्रतिभात (मनोरथ भावतजी का से) व्यक्त है उसी पर स्थिर रहने का संकेत 'देखु' से भी है। दो ३२ में राजा के 'मागु विचारि' कहने से कैकेयी के मनोरथ के असत् होने की जो संभावना थी उसको दूर करके प्रभु ने कैकेयी के मूलमनोरथ को 'विचारि' द्वारा सत् ठहराया है। प्रभु के 'देखु विचारि' की उक्ति पर दृढ़ रहकर आगे कैकेयी भरतजो की भर्त्सना होने पर भी मौना ही रहेगी। यह सुनकर कैकेयी का चेहरा खिल उठा क्यों कि उसको अभिमत सिद्ध होने की प्रबल आशा दिखायी पड़ी।

संगति : अब श्रीराम पिताश्री की विकलता का कारण कैकेयी से पूछ रहे हैं।

चौ० : अब एक दुखु मोहि बिसेषो। निपट-बिकल-नरनाथकु देखी ॥ ५ ॥
थोरिहिं बात पितहि दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी ! ॥ ६ ॥

भावार्थ : हे मातः ! राजा को नितान्त व्याकुल देखकर जो दुःख हो रहा है वही मेरा एक विशेष दुःख है। थोड़ी सी बात में पिता को इतना बड़ा दुःख हो, इसका मुझे विश्वास नहीं हो रहा है।

हर्षविषादशून्यता में श्रीराम को दुःख कैसे ?

शा० व्या० : श्रीराम ने अपने जीवन में सीताश्री को दुःखी मूर्छित नहीं देखा। इस समय उन्हीं को व्याकुल देखकर श्रीराम को पीड़ा हो रही है। इसका कारण यह है कि स्वयं में हर्ष विषाद न होते हुए भी भक्तों के सुख दुःख में अपना सम्बन्ध यदि प्रभु नहीं रखते हैं तो भक्तों के सम्मानादिकार्य की प्रसक्ति न होगी।

---

१ न कार्यकालं मतिमानतिक्रमेत कदाचन। कथञ्चिदेव भवति कर्मयोगः सुदुर्लभः ॥ नी० स० ११

फलतः प्रभुभजन में प्रीति या धर्म आदि कार्य में भक्तों की प्रवृति नहीं होगी ? अतएव भक्त की प्रत्येक गतिविधि का स्मरण करते हुए प्रभु का तदनुरूप भाव प्रकट होता रहता है।[1] जैसा कि 'पर दुखेः दुःखी सुखी सुख देखे पर' से यह सन्त का स्वभाव स्फुट है।

"अथवा राजपुत्र का शरीर सुकुमार है उसकी युवावस्था है। उसको वनवास में अत्यन्त संकट भोगना पड़ेगा" ऐसा सोचकर अभी पिताश्री दुःखी दिखाई दे रहे हैं। जैसा कैकेयी से कही राजा की उक्ति से स्पष्ट है।[2] उसी का सम्मान करते प्रभु अपने को दुःखी कह रहे हैं।

संगति : राजा की धीरता को ध्यान में रखकर उनके दुःख की हेतुता का विचार करते हुए अपने में अपराध की शंका श्रीराम कर रहे हैं।

चौ० : राउ धीरगुनउदधि अगाधू। भा मोहि ते कछु बड अपराधू ? ॥ ७ ॥

भावार्थ : राजा तो धैर्यगुण के अथाह समुद्र हैं तब उनको दुख कैसे हो रहा है ? क्या मुझसे ही कोई बड़ा अपराध हो गया है ?

राजदुःख की कारणमीमांसा

शा० व्या० : सत्यसंघ महात्माओं को विषयों के संयोग से भी प्रमाद नहीं है अतः उनको हर्ष-विषाद नहीं होता महाराज स्वयं धीर महात्मा हैं। तो उनमें दुःख की प्रसक्ति कैसे हुई ?

उत्तर : उनके दुःख के प्रति कारणान्तर के अभाव में परिशेषानुमान से श्रीराम कह रहे हैं कि मुझसे ही बड़ा अपराध हो गया है जिसको स्नेह के वश वह प्रकट नहीं कर पा रहे हैं। घ्यातव्य है कि राजा के दुःख का वास्तविक कारण उनकी सुत-विषयक रति है जो जन्मान्तरीयवर से भी संबन्धित है। 'बड़ अपराधू' यही है कि पूर्वप्राप्त वर के फलस्वरूप श्रीराम को राजा का सुत होना व उनसे विछुड़ना पड़ रहा है।

चौ० : जाते मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ ॥ ८ ॥

भावार्थ : इसी कारण से राजा मुझसे कुछ नहीं कह रहे हैं। तुम्हें मेरी शपथ है। उसे सच-सच बता दो।

अपने अपराध की सूचना हेतु श्रीराम की प्रार्थना

शा० व्या० : 'जाते मोहि न कहत' से स्पष्ट होता है कि महाराज दशरथ जातिस्मर न होने से जन्मजन्मातरीय वृत्तान्त की याद नहीं कर पा रहे हैं। अभी प्रभु कहते हैं कि पूर्वजन्म के बृत्तान्त को छोड़कर वर्तमान का विचार करते हुए कहना है कि महाराज के दुःख का कारण मेरा अपराध ही हो सकता है ?

---

१. न तस्य कश्चित् द्रयितः सुहृत्तमो न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः। भा० १०

२. 'बिबरन भयउ निपट नरपालू' (चौ० ६ दो० २९)
एकहि बात मोहि दुख लागा। बर दूसर असमंजस मागा। अजहुँ हृदय जरत तेहि आँचा (चौ० ४-५ दो० ३२)।

अपराध को नहीं समझ पा रहा हूं। मेरा अपराध बताने में कैकेयी से श्रीराम जी कछु सतिभाऊ' कह रहे हैं। अर्थात् बिना किसी प्रतारणा के सत्य सुनाने को कह रहे हैं।

संगति : श्रीराम के प्रश्नोत्तर में कैकेयी के मतिफेरप्रयुक्त अभिनय का चित्रण शिवजी कर रहे हैं।

दो० : सहज सरल रघुबरबचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक खलवक्रगति जद्यपि सलिलु समान ॥ ४२ ॥

भावार्थ : रघुपति के वचन स्वभावतः सरल हैं पर कुमति के कारण कैकेयी उनको कुटिल समझ रही है। जैसे जल का स्तर सर्वत्र एक समान होने पर भी जोंक टेढ़ी चाल से ही उस पर चलती है।

कुमति से प्रेरिता कैकेयी की कुटिलता

शा० व्या : चौ० दो० १० में 'विमल वंश यह अनुचित एकू। बंधुबिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू' के संकल्प से कवि ने अर्थपरायणता से रहित श्रीराम की आन्तरिक सरलता को दर्शाया था। यहाँ उसी सरलता की अभिव्यक्ति श्रीराम के वचन में दिखायी है।

संगति : श्रीराम के 'मोरि सपथ' से आश्वस्ता होकर 'कहुँ सतिभाँऊ' से उत्साहिता हो कैकेयी अपने मानसिक व्यापार को छिपाकर कायिक व्यापार से श्रीराम को निरपराधी कहने में जो नाट्य दिखा रही है उसको शिवजी सुना रहें हैं।

चौ० : रहसी रानि रामरुख पाई। बोली कपटसनेहु जनाई ॥ १ ॥

भावार्थ : अपने मनोरथपूर्ति में श्रीराम के रुख को अनुकूल पाकर कैकेयी प्रसन्ना हो गयी और स्नेह का स्वांग प्रकट करती हुई बोली।

स्नेह में कापटय व स्थिरत्व

शा० व्या० : यह जानती हुई की राज्य का हस्तान्तरण साधारण बात नहीं है, तो भी अपना वरयाचनात्मक प्रयोग भरतजी को राज्यश्री का वरण करने के लिए प्रस्तुत करेगा, यह कैकेयी के लिए हर्षविषय है। 'अनुकूलवेदनीयं सुखं' को अपने कपटप्रेम को वचनात्मक चेष्टाओं से रानी व्यक्त कर रही है, 'रहसी' उसी का द्योतक है।

'कपटसनेहु में चिन्तनीय विषय यह है कि रानी का प्रस्तुत रागसंवलित प्रेम साहित्य की भाषा में गत्वर कामप्रयुक्त है। वह विश्वासहीन होने से शुद्ध नहीं है। गत्वर स्नेह में कामना की प्रधानता है। उसके विपरीत होने पर प्रियतम का गत्वर स्नेह नष्ट होता हैं। स्थिर स्नेह में स्वकामना का प्राधान्य नहीं किन्तु प्रियतम के सुख में सुखं होना इसका स्वभाव है स्थिर स्नेह को प्रियतम के मनस् के विरुद्ध काम करना नहीं भाता ऐसा स्नेह श्रीराम में है। उसी स्नेह में 'जननी, माता' आदि शब्दों से कैकेयी को वह निरन्तर सम्बोधन करते हैं। भक्तों में ऐसा ही स्थिर स्नेह होता है।

संगति : चौ० ६ से ८ दो० ३२ में राजा की कही उक्ति को याद करके रानी श्रीराम की निर्दोषता या निरपराधता को प्रीतिपूर्वक गा रही है। पर मनोरथपूर्ति की कामना में उसका यह वक्तव्य 'कपट होने से स्नेहु के अन्तर्गत नही गिना जायगा'।

चौ० : सपथ तुम्हार भरत कै आना। हेतु न दूसर मैं कछु जाना ॥ २ ॥

भावार्थ : तुम्हारी और भरतजी की कसम खाकर कहती हूँ कि राजा के न बोलने का कोई दूसरा कारण मैं नही जानती।

कपटस्नेह की अनुवृत्ति में भी प्रभुकृपा

शा० व्या० : व्याकरणशास्त्र के अनुवृत्ति नियम के अनुरूप कैकेयी की अग्रिम उक्तियों में चौ० २ से ६ तक कपटस्नेह की अनुवृत्ति मननीय होगी। चौ० ८ दो० २० में राजा के प्रति 'कपटसनेहु' में राग था जिसकी पूर्ति में राजा असमर्थ थे। प्रभु ने माता के 'कपट समेहु' को अपनी इच्छा में सार्थक मान लिया यह प्रभु की प्रभुता है।

शपथ की उपयोगिता व राजा का दोष

कवि के कहे 'कपटसनेहु जनाई' को ध्यान में रखकर 'सपथ तुम्हार भरत कै आना' की उक्ति के सम्बन्ध में कहना है कि कैकेयी श्रीराम की शपथ का मूल्य न्यून करके भरत की शपथ को प्रधानता दे रही है। 'मोरि सपथ' के उत्तर में भरतजी की सपथ लेकर अपने कथन की बलवत्तर प्रामाणिकता को श्रीराम के कहे 'कहु सति भाउ' को सिद्ध करना चाहती है। 'हेतु न दूसर मैं कछु जाना' में कौन सा मुख्य हेतु है? जिसको रानी जानती है? इसके उत्तर में चौ० ७-८ दो० ४० में कही कैकेयी की उक्ति स्मरणीय है।[1] ध्यातव्य है कि वरयाचना भी कैकेयी की दृष्टि में अपराध नहीं हैं क्योंकि राजा ने वर माँगने को कहा तब रानी ने वर माँगा। फिर भी राजा स्वयं सत्यासत्य के चक्कर में नयापनय के बीच पड़कर निर्णय के अभाव में अस्थिर हैं, जैसा दो० ४० में कहा गया है, इसमें दोष उन्हीं का है।

संगति : पूर्वोक्त चौ० ७ दो० ४२ के उत्तर में कैकेयी श्रीराम को निरपराध कह रही है।

चौ० : तुम्ह अपराधजोगु नहीं ताता !। जननी-जनक-बन्धुसुख दाता ॥ ३ ॥
राम ! सत्य सबु जो कछु कहहू। तुम्ह पितु-मातु-वचनरत अहहू ॥ ४ ॥

भावार्थ : हे तात ! तुम अपराध के योग्य नहीं हो। तुम तो सदा से माता-पिता बन्धु को सुख देने वाले हो। तुम जो कुछ कहते हो वह सब सत्य है। तुम तो पिता माता के वचन का पालन करने में तत्पर हो।

कैकेयी का कापट्य व श्रीराम का सारल्प

शा० व्या० : 'मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ' के उत्तर में कैकेयी भरतजी की शपथ लेकर जो कहती है वह सत्य है। इसमें संशय नहीं। पर 'कपटसनेहु' इसमें इतना ही है कि रानी श्रीराम को निर-

---

१. बेन कहेउ मोहि दुइ बरदाना। माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना ॥
सो सुनि भयउ भूप उर सोकू। छाड़ि न सकहि तुम्ह संकोचू ॥

पराधी बताते हुए भी कामना यही रखती है कि वरयाचना के कार्यान्वियन में श्रीराम का ऐसा सहयोग हो कि कार्यपूर्ति में पिताश्री की ओर से कोई बाधा न हो। तभी श्रीराम का जननीजनकबंधुसुखदातृत्व सिद्ध होगा। सत्य बोलकर अपना स्वार्थ साधना यही रानी का कापट्य है। अथवा राजा की उक्ति 'सत्यमूल सब सुकृत सहाए। बेद—पुरानबिदित मनु गाए' (चौ० ६० दो० २८) के अनुसार भारतीय राजनीति ने सत्व की प्रधानता में सर्वहितकारित्व को माना है वह यथार्थ है। क्योंकि सत्वगुण में ही सबकी सुख दुःख का भान होता है। किन्तु स्वार्थभाव में परिजन प्रजा आदि के सुख को 'जननी-जनक-बंधुसुख दाता' में ही सुख को सीमित करना रानी का कापटय है। जिस प्रकार कैकेयी ने श्रीराम के अपराधाभाव का साधक 'जननी-जनक-बंधुसुखदाता' को माना उसी प्रकार वह सुखदातृत्व का साधक 'पितु-मातु बचनरति अहहू, को मानती है, उसमें भी कपटभाव है। पर वरदान में पिताश्री की वचनबद्धता में उपर्युक्त हित समझकर तथा दो० ४० में कहे माता के वचन के पालन में 'पितु आयसु जननी सम्मत, की उक्ति के अनुसार आज्ञाकारिता में श्रीराम तत्पर हो गये यह उनका सारल्य है।

संगति : दो० ४० में कहे 'सकहुँ त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसू' को स्पष्ट करते हुए कैकेयी कहती हैं कि श्रीराम वचनरतत्व और सुखदातृत्व के समानाधिकरण्य को व्यभिचरित न ही होने देंगे। ऐसा समझाकर कैकेयी अपना वक्तव्य पूर्ण कर रही है।

चौ० : पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेंहि अजसु न होई॥ ५॥
तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादरु कीन्हे॥ ६॥

भावार्थ : माता कैकेयी अपने को निछावर करती हुई कहती हैं। "पिताश्री को समझाकर वही कहो जिससे चौथेपन में उनको अपयशस् न मिले। तुम्हारे समान पुण्यात्मा पुत्र को जिसने जन्म दिया उस (पिता का) का निरादर करना अथवा उनके वचनों का पालन न करना उचित नहीं है।

राजा को अपमानित्व की शंका और उसका निरास

शा० व्या० : 'जाते मोहि न कहत कछु राऊ' (चौ० ८ दो० ४२) के उत्तर में कैकेयी ने राजा के निम्न शंका को ध्वनित किया है। वह यह कि श्रीराम पिताश्री के वरदानसम्बन्धी वचन ("थाती राखिन माँगेहुँ काऊ") को यदि मान्यता नहीं दे तो इससे बढ़कर मेरा राजा, (और क्या अपमान होगा? इस कल्पना में राजा दुःखी हो रहे हैं। 'पितहि बुझाइ' में कैकेयी का संकेत मुख्यतया इसी बात की ओर है कि वरदानात्मक वचन के पालन का आश्वासन देकर श्रीराम पिताश्री को निःशंक बनावें। अन्यथा वृद्धावस्था (चौथेपन) में उनके सत्यसंधता को व्यभिचरित करने के अपयशस् का भागी होना पड़ेगा। इस प्रकार बार्हस्पत्यमत को अपनाते हुए धर्म को ओट में रखकर प्रशंसा का उपयोग, (कैकेयी का ध्येय) वनवास की प्रवृति में श्रीराम को अभिरुचि उत्पन्न कराना है। (चौ० ६ का तात्पर्य श्रीमद्भगवत् की उक्ति से समन्वित है।[1]) महान् परिश्रम से कैकेयी उपर्युक्त धर्मपूर्ण वचन इसलिए सुना रही है कि श्रीराम वन जाने का विचार कहीं बदल न दें। निष्कर्ष यह है कि कैकेयी धर्म की आड़ में कपट रखकर श्रीराम को वैध अर्थ में प्रेरणा दे रही है।

---

१. 'सर्वार्थसंभवो देहो जनितः पोषितो यतः। न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा।' १०

कैकेयी में भक्ति का स्थैर्य

इस प्रकार कैकेयी के वचन में 'सतिभाउ' प्रयुक्त सत्योक्ति तथा मनोरथसिद्धिहेतुक 'कपट सनेहु' दोनों का समावेश है। यहाँ स्मरणीय है कि 'तस्मात् वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा। स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात्' के अनुसार कैकेयी का प्रभु के प्रति स्नेहबन्धन पूर्ण है। सरस्वती की माया से होनेवाले मतिफेर में कपटस्नेह की तात्कालिक प्रसक्ति प्रभुभक्ति में नान्तरीयक होने से वह कैकेयी के स्नेह भक्ति का नाशक नहीं होगी। अत एव माता की निर्दोषता प्रभु को स्वीकार्य होगी।

विद्या का सदुपयोग व असदुपयोग

प्रश्न : धर्म का आश्रय लेकर भी कैकेयी अपने चरित्र की कुटिलता पर ध्यान क्यों नहीं दे पा रही है ?

उत्तर : विद्वत्संगति की उपेक्षा करने पर अध्ययन से प्राप्त होने वाली विवेककुशलता का असर अध्येता के मनस् पर नहीं होता। क्योंकि विवेकमूलक प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक मदमान के रहते केवल विद्या के सहारे पूर्वाग्रह से संस्कृत मनोवृत्ति को बदलना कठिन है। राजनीति में ज्ञान के भेद-प्रतिबुद्ध एवं अप्रतिबुद्ध कहे गये हैं। मनोनियमन में समर्थ प्रतिबुद्ध ज्ञान है, इसके विपरीत अप्रतिबुद्ध ज्ञान है। विद्वत्संगति के अभाव में अपनी स्वतन्त्रता या निरंकुशता पर अधिक ध्यान देनेवाले मानी व्यक्ति के लिए विद्या का उपयोग स्वार्थसाधन में होता है अर्थात् विद्या के परतन्त्र न रहकर वह उस को स्वहित में अर्थपरतन्त्र बना देता है जिससे वह विद्या के प्रकाश से वंचित हो जाता है। अतः धर्मशीलता नष्ट हो जाती है. विपत्ति में वह सहिष्णु नहीं रह पाता। मानी होने से वह अवहित्था में कार्य करता है। बहुत परिश्रम करने पर भी विद्या का उपर्युक्त फल न प्राप्त होने से, किंबहुना दुर्जनसंसर्ग से वह दुर्गति में पड़ जाता है जैसा मन्थरा की कुसंगति में पड़कर बुद्धिमती कैकेयी की मति में फेर हुआ। यह दोष श्रीराम में नहीं है, वे निरंकुश नहीं हैं, विद्वत्संगति में रहते हैं। अतः विद्या के प्रकाश में उन्होंने सत्तर्कपूर्ण विवेक का आश्रय प्राप्त है।

संगति : रानी को उपर्युक्त वचन सुनाते हुए शिवजी उनको शुभ ही कह रहे हैं।

चौ० : लागहि कुमुखवचन शुभ कैसे ?। मगहँ गयादिक तीरथ जैसे ॥ ७ ॥

भावार्थ : कैकेयी के वचन कुत्सित मुख से निकले हैं फिर भी वे शुभ हैं जैसे मगध देश में गयादितीर्थ हैं।

'कुमुख वचन' शुभ कैसे

शा० व्या० : 'कपट सनेहु' से युक्त वाणी निन्द्य है, अतः कवि ने कैकेयी के मुँह को कुमुख कहा है, तथापि उससे निसृत वाणी को शास्त्रसम्मत होने से शुभ कहा है जैसे शास्त्रनिषिद्ध देश अर्थात् मगध में जाना धर्मवर्जित होते हुए भी उसमें स्थित गया आदि तीर्थ शुभ माना गया है। उसी प्रकार धर्मशील राजा के प्रति कटु बोलनेवाला व प्रभु के राज्याभिषेक के विरोध में रामवनवास कहनेवाला मुख निन्द्य है। पर उससे निसृत वाणी प्रभु के प्रस्तुत कार्य में साधिका होने से शुभ है, क्योंकि उस वाणी के पालनकर्ता के लिए वह कीर्तिप्रद भी है।

संगति : कैकेयी के वचन में 'कपटसनेहु' को समझते हुए भी श्रीराम उसको स्वीकार कर रहे हैं।

चौ० : रामहि मातुबचन सब भाए। जिमि सुरसरिगतसलिल सुहाए ॥ ८ ॥

भावार्थ : माता कैकेयी के सब वचन श्रीरामको अच्छे लगे। अर्थात् प्रभु की स्वीकृति या प्रसन्नता में समन्वित होने से कैकेयी के कपट स्नेहपूर्ण वचन शोभायमान हो रहे हैं जैसे सब प्रकार का जल गंगाजी में मिलकर सुशोभित होता है।

कैकेयी के वचन का स्वतन्त्रप्रामाण्य

शा० व्या० : प्रभु के विधान के अनुकूल होने से कैकेयी के वचन स्वतन्त्र निरपेक्ष प्रमाणरूप में श्रीरामको स्वीकृत हैं। विधि के विधान का यह एक कौतुत है कि राजा की इच्छा (राम राज्याभिषेक) का शास्त्रत: अनुमोदन, "फल अनुगामी महिपमनिमन अभिलाषु तुम्हार" करनेवाले गुरुजी के वचन को सुनकर प्रभुकी प्रतिक्रिया 'रामहृदय अस विसमय भयउ' से अनुचित व्यक्त हुई तो भी कैकेयी के वचन कपटस्नेह-युक्त होने पर भी नीत्यनुकूल होने से प्रभु के मनस् को भा रहे हैं।

वाग्धारा की पवित्रता

स्वार्थ में दुष्ट के द्वारा व्यहृत होने पर भी शास्त्रवचन का प्रामाण्य विस्खलित नहीं होता। जिस प्रकार निषिद्ध स्थलों से बहनेवाला गन्दा पानी गंगाजी की धारा में मिलकर पवित्रता को प्राप्त हो जाता है अथवा गंगाजी उसको सुन्दर पवित्र बना देती हैं। उसी प्रकार कैकेयी के कुमुख से निकलनेवाली वाग्धारा प्रभु की नीतिसंगत विचारधारा में मिलकर शोभा को प्राप्त हो रही है अथवा प्रभु ने उसको अपनी विधि की अनुकूलता में समन्वित करके प्रवृत्तिसाधक प्रमाणरूप में स्वीकार किया है।

संगति : राजा की मूर्च्छावस्था में ही श्रीराम की स्वीकृति होते देखकर कैकेयी को सन्तोष हो रहा है। राजा जग रहे हैं।

दो० : गइ मुरुछा रामहि सुमिरि नृप फिरि करवट लीन्ह।
सचिव रामआगमन कहि विनय समयसम कीन्ह ॥ ४३ ॥

भावार्थ : मूर्च्छा हटते ही राजा ने श्रीराम का स्मरण किया और करवट बदला। तभी समयानुसार विनय प्रदर्शित करते हुए मन्त्री ने श्रीराम के आने की सूचना दी।

संगति : मूर्छावस्था राजा को नामस्मरण से विस्खलित नहीं कर रही है—यह दशा राजा के अन्तकाल में द्रवीभूत चित्त के संस्कार की द्योतक है जैसा अग्रिम चौपाई में स्पष्ट हो रहा है।

चौ० : अवनिप अकनि रामु पगु धारे। धरि धीरजु तब नयन उघारे ॥ १ ॥
सचिव सँभारि राउ बैठारे। चरन परत नृप रामु निहारे ॥ २ ॥
लिए सनेहविकल उर लाई। गै-मनि मनहुं फनिक फिरि पाई ॥ ३ ॥

भावार्थ : राजा ने जब श्रीराम का आना सुना तब धैर्य धारण करके आँखें खोलकर वे देखने लगे। सुमन्त्र की सहायता से राजा उठकर बैठने में समर्थ हुए। श्रीराम को अपने चरणों पर नतमस्तक होते देखा। स्नेह में व्याकुल राजा ने तुरन्त श्रीराम को हृदय से लगा लिया। मानो खोयी हुई मणि सर्प को फिर से मिल गयी हो।

अल्पकालिक आश्वासन

शा० व्या० : मूर्छावस्था में राजा अशक्त हो गये हैं, इसलिए मन्त्री उनको उठाने में सहायता कर रहे हैं। द्वितीय वर की याचना में कैकेयी का हठ देखकर व्याकुल राजा को श्रीरामरूप मणि के खो जाने की प्रतीति मूर्छावस्था में बनी रही। अभी श्रीराम को सामने देखकर राजा को पुनर्मिलन का सुख हो रहा है। 'मनहुँ' से कवि ने ध्वनित किया है कि श्रीरामरूप मणि की प्राप्ति अल्पकालिक है।

चौ० : रामहि चितइ रहेउ नरनाहू। चला विलोचन बारिप्रवाहू ॥ ४ ॥
सोकबिबस कछु कहै न पारा। हृदय लगावत बारहि बारा ॥ ५ ॥

भावार्थ : स्नेह में स्तब्ध राजा श्रीराम को देखते ही रह गये। उनके नेत्रों से अश्रुप्रवाह निकलने लगा। शोक के वशीभूत हो राजा कुछ न कह पाये, बारम्बार हृदय से लगाते रहे।

राजा की शोकविवशता

शा० व्या० : नीतिमान् प्राणप्रिय पुत्र श्रीराम का वियोग निश्चित समझकर राजा शोकावेश में कुछ भी नहीं बोल पा रहे हैं। प्रेम का अनुभाव हृदय से बारम्बार लगाना, प्रेमाश्रु (सात्त्विक भाव) बहाना आदि प्रकट हो रहा हैं।

संगति : दृष्टोपाय से श्रीराम को वन जाने से रोकना संभव न जानकर दैव को प्रबल समझा तत्र राजा शोकविह्वल हो अपने व्रत को उपेक्षित कर उसके प्रतिपक्ष में पूर्वपक्ष का उपस्थापन सोच रहे हैं। जिसके अन्तर्गत ईश्वर की प्रेरणा से पुत्र को रोकने के लिए सर्वेश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं। 'इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिअ न कोटि जोग जप साधे' (चौ० ८ दो० १० बा० का०) के अनुसार राजा की शिवजी से विशेष प्रार्थना करना युक्ति संगत नहीं किन्तु विचारांध में पूर्वपक्ष है। अथवा श्रीराम को अनुष्ठानतः वनवास की आज्ञा समझाने के लिए पुर्वोत्तरपक्षरूप में उत्तर ग्रन्थ प्रस्तुत है। अथवा कामप्रताप से राजा कामी थे ऐसा आक्षेप होता है उसके समाधानार्थं उत्तरग्रन्थ हैं।

चौ० : बिधि हि मनाव राउ मन माहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं ॥ ६ ॥
सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव ! मोरी ॥ ७ ॥
आसुतोष ! तुम अवढरदानी ! । आरति हरहु दीनजन जानी ॥ ८ ॥

भावार्थ : राजा विधि (ब्रह्मा) से मन ही मन मनस् में मना रहे हैं कि ऐसा हो जाय जिससे रघुनाथ रामजी वन में न जायें। शिवजी का स्मरण करके राजा प्रार्थना कर रहे हैं। "हे सदाशिव ! हमारी विनती सुनें। आप तो शीघ्र प्रसन्न होनेवाले हैं। बिना विचार के देनेवाले हैं। हमको अपना दीन सेवक जानकर हमारा दुःख हरिये।

ब्रह्मा व शिवजी को प्रार्थना से पूर्वपक्ष का आरंभ

शा० व्या : बा० का० दो० १८७ के अन्तर्गत प्रभु के अभयदान से विश्वास है कि महान् संकट उपस्थित होने पर ब्रह्मादि सुरों की प्रार्थना पर प्रभु ध्यान देते हैं। अतः ब्रह्माजी से ऐसा विधान बनाने की प्रार्थना कर रहे हैं कि श्रीराम वन में न जा सकें। अवढरदानी शिवजी प्रभु वरदान की

मर्यादा रखते आये हैं, अतः शिवजी के उपासक राजा अपना संकट दूर करने के लिए उनसे प्रार्थना कर रहे हैं। यह प्रार्थना स्वव्रत की विरोधिनी होने से यहाँ से चौ० १-२ दो० ४५ तक का ग्रन्थ राजा का पूर्वपक्ष है। राजा ने कहा 'आसुतोष' सम्बोधन चौ० २ दो० ३१० बा० का० में कहे 'इन्ह सम काहुँ न सिव अवराधे' से, तथा 'अवढर दानी' सम्बोधन 'काहुँ न इन्ह समान फल लांचे' से संगत हैं।

त्रिदेवों की परतन्त्रता

ध्यातव्य है कि त्रिदेव प्रभुसंकल्प की मर्यादा में सतत संलग्न रहते हैं। प्रभु-इच्छा के विपरीत कार्य करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं है। उनको कदाचित् मोह हो भी जाय तो वह प्रभु-इच्छा के अधीन ही होता है। अतः राजा की स्नेहाधीन प्रार्थना पर स्वीकृति देने में प्रभु के विधान के विरुद्ध स्वतन्त्र कर्तृत्व की समर्थता त्रिदेव में नहीं है।

संगति : शिवजी के द्वारा श्रीराम को घर में रहने की प्रेरणा देने की उपपत्ति समझा रहे हैं।

दो० : तुम्ह प्रेरक सबके हृदय, सो मति रामहि देहु।
बचनु मोर तजि रहहिं घर, परिहरि शीलु सनेहु ॥ ४४ ॥

भावार्थ : 'हे शिवजी ! आप सबके हृदय में प्रेरणा देनेवाले हैं। श्रीराम को आप ऐसी बुद्धि दें कि वह मेरे वचन को न मानें, अपने शील स्नेह को छोड़कर घर में रहें।

(पूर्वपक्ष में) शिवजी को 'प्रेरक सबके हृदय' कहने का भाव

शा० व्या० : सम्पूर्ण विश्व दृश्य होते हुए भी जड़ है, उसमें स्वतन्त्रतया कर्तृत्व की शक्ति या चेष्टा नहीं है। चेतन आत्मा की प्रेरणा से जड़ में चेष्टा होती है। अद्वैत सिद्धान्त से आत्मा देहभेद से पृथक्-पृथक् नहीं है, केवल उपाधिभेद ही आत्मा के पृथक्त्व का आभास कराता है। द्वैत सिद्धान्त से जीव जड़ दोनों के लिए अन्तर्यामिरूप से शिव ही प्रेरक है। इसलिए श्रीराम को प्रेरणा देने में अपने इष्टदेव शिवजी को राजा समर्थ मानते हैं। उपासना की दृष्टि से अपने इष्ट को सर्वसमर्थ मानना शास्त्रसम्मति से सिद्ध है।

श्रीराम के इष्ट शिवजी ही हैं। भारतीय राजनीति के मत से नेता को सदा अवग्रह की अपेक्षा रहनी चाहिए। इस समय श्रीराम नीतिशिक्षण में तत्पर चरित्रनायक के रूप में अवतरित हैं। राजा की प्रार्थना में कहीं उक्ति 'सो मति रामहि देहु' से नीति की कार्यान्वयिता शिवजी के प्रेरणा की अधीनता में रहने से सिद्ध होगी। शिवजी की प्रेरणा से होनेवाले शील-स्नेह के परित्याग का प्रतिभूत्व अवढरदानी में होगा तो उसका परिहार श्रीराम करेंगे नहीं। आसन्न मृत्यु के समय का विचार मोहात्मक अतः पूर्वपक्ष है।

प्राणसंकट में विपरीत विचार या वचन दोष नहीं है

स्मरण रखना है कि प्राणसंकट के समय नीति एवं सत्य से थोड़ा हटकर प्राण बचाने का उपाय करना भी शास्त्रसम्मत है[1] जैसा महाभारत में प्राणरक्षार्थ सत्यवादी युधिष्ठिर की उक्ति 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा' से स्पष्ट है। इस दृष्टि से राजा की प्रार्थना में दोष नगण्य है। इस समय राजा अभूतपूर्व संकटस्थिति में पड़कर आसन्नमृत्यु से आत्मरक्षणार्थ विधिविपरीत अर्थ का चिन्तन कर रहे हैं।

---

१. आत्मानं सततंरक्षेत्, सर्वाज्ञानुमतिः प्राणात्यये।

श्रीराम को वन जाने में मति न हो अथवा पिता के वचन प्रमाण का उल्लंघन करने में श्रीराम की प्रवृत्ति हो अथवा वनगमनात्मक कार्य में श्रीराम को कृत्यसाध्यता का निर्णय हो—ऐसा सोचना राजा का मोहात्मक अपलाप नहीं कहा जायगा। क्योंकि प्राण संकट में राजा के विचार या वचन को 'वचनु मोर' का बाधक माना जाना पूर्वपक्ष को इष्ट है।

श्रीराम के 'परिहरि सीलु सनेहु' का समन्वय

भारतीय राजनीति में राजा का शील-स्नेह-गुण प्रजारंजन का आधार माना गया है। यहाँ 'रहहिं घर' से संगत 'परिहरि सीलु सनेहु' का तात्पर्य इतना ही है कि घर के बाहर राज्य में प्रजानुराग को बनाये रखने में श्रीराम के शील-स्नेह का प्रतिभूत्व अब नहीं रहेगा क्योंकि श्रीराम के समान स्नेहशीलगुणसम्पन्न भरतजी के राजशासन में प्रजारंजन का कार्य अबाधित रहेगा। अतः परिहरि का तात्पर्य सर्वथा शील स्नेह से वंचित होना नहीं है बल्कि दो० ३२ में 'जेहि देखौं अब नयन भरि भरत राजअभिषेकु' के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए श्रीराम के स्नेह-शील का कारकत्व राज्यकर्म से हटाकर घर में सीमित करना है। इस प्रकार घर में श्रीराम के रहने से राज्यहानि की कोई सम्भावना न होने से समन्वय है।

संगति : उपर्युक्त विचार से सत्यसंधता की च्युति में अपने अपयशस् की आपत्ति को राजा इष्टापत्ति मान रहे हैं।

चौ० ; अजसु होउ जग सुजसु नसाऊ। नरक परौं बरु सुरपुरु जाऊ॥ १॥
सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचनओट रामु जनि होहीं॥ २॥

भावार्थ : चाहे संसार में अपयशस् हो अथवा सुयशस् हो, चाहे नरकवास हो अथवा स्वर्गगमन हो, हे शिवजी ! मुझे सब दुःख सहाओ (आपत्ति सभी इष्ट है)। पर श्रीराम को आँखों की ओट में मत होने दो।

अपयशस् का लाभ एवं सुयशस् की हानि में आपाद्यत्वाभाव

शा० व्या० : 'अजसु 'होउ' का भाव है कि श्रीराम के घर में रहने से रावण द्वारा आतंकित दुरवस्था बनी रहेंगी तो धर्मस्थापन, साधु-सन्तों को अभयदान आदि कार्य नहीं होगा। अथवा कैकेयी की उक्ति 'देन कहेहु अब जनि बरु देहू तजहु सत्य जग अपजसु लेहू' के अनुसार राजा को संसार में अपयशोभागी होना पड़ेगा, दोनों ही इष्ट है।

'सुजसु नसाऊ' का भाव है कि राजा के वचनप्रामाण्य के भंगप्रसंग में जहाँ सत्यसंधता का यशस् नष्ट होगा वहाँ राजा की भविष्यवाणी 'होइहिं तिहुँ पुर राम बड़ाई' से होनेवाला श्रीराम का त्रैलोक्य-व्यापी यशस् अवरुद्ध होने से राजा यशोभागी नहीं होंगे।

राजा को स्वर्ग-नरक की प्राप्ति इष्ट या आपत्ति नहीं है

'नरक परौं' का भाव है कि अपनी वचनबद्धता के अर्थान्तर से पूर्वोक्त दोहे में कहे विचार के अनुसार सत्यसंधता के भंग दोष से राजा को नरकवास की प्रसक्ति उसी प्रकार हो सकती है जिस प्रकार दो० ४४ की व्याख्या में उद्धृत असत्य का किंचिन्मात्र अंश होने से सत्यवक्ता युधिष्ठिर को कुछ क्षण के लिए नरक में जाना पड़ा। वैसी ही दशरथ की स्थिति सत्यभंग में समझनी होगी।

'सुरपुर जाऊ' से राजा का स्वर्गवास उनके पूर्वसुकृत (सत्यमूल सब सुकृत सुहाए) से सिद्ध है। उसमें सुख नहीं है। तीनों की उपपत्ति निम्नलिखित है।

नरकदुःख व सन्तविरह के दुख में अन्तर से उपपत्ति

'संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटिसम दारुन दाहू' के अनुसार अपयशस् लौकिक महान् दुःख है। अलौकिक बड़ा दुःख नरकवास है। लोक-परलोक के दुःख से बड़ा दु.ख सन्तवियोग है। अतः राजा श्रीराम के वनवास में सन्तवियोग के दुःख के आगे अपयशस् एवं नरक को इष्ट मानकर स्वीकार कर रहे हैं। क्योंकि 'सन्तमिलनसम सुख जग नाहीं' के अनुसार सन्तमिलन सबसे बड़ा सुख है। इस प्रकार उपजीव्य-उपजीवक-भाव में कहीं राजा की उक्ति उपपन्न है।

राजोक्ति की अननुकरणीयता

राजा के उपर्युक्त कल्पित विचार का निष्कर्ष रागान्ध जीवों के लिए ज्ञातव्य है। अर्थात् स्नेह-शील की उपेक्षा करने से अपयशस्, नरकपतन आदि दुःसह दुःख जीवों को भोगना पड़ेगा। इसके साथ यह भी ध्यातव्य है कि 'लोचनओट राम जनि होहीं' के अनुसार जो उपासक बड़ी से बड़ी विपत्ति में प्रभु का आश्रय लेने में दृढ़संकल्प और अत्यन्त एकाग्र हैं, उनके सर्वविध कल्याण की व्यवस्था प्रभुकृपा से होती रहती है। अतः ऐसे शास्त्रविपरीत विचार या चरित्र सन्त ही के लिए क्षम्य हो सकता है, न कि साधारण जीव के लिए।

संगति : शास्त्रज्ञ राजा दशरथ उपरिबुद्धि होते हुए भी अल्पज्ञ की तरह धर्मविरुद्ध कल्पना क्यों कर रहे हैं? इसके समाधान में सरस्वती का उदाहरण चिन्तनीय है। जिस प्रकार सरस्वती के विचार की प्रक्रिया 'ऊँच निवासु नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती' आदि से दो० १२ के अन्तर्गत दिखायी गयी है, उसी प्रकार जीवभाव में 'अस मन गुनइ' से राजा के मनस् की चंचलता में होनेवाले काल्पनिक विचार को पूर्वपक्ष के उपस्थापन से दिखाया गया है। सिद्धान्ततः: राजा का शरीर व चित्त धर्म में ही रत है, वहीं अनुष्ठेय है। उसी को राजा के मौन से कवि उत्तर पक्ष समझा रहे हैं।

चौ० : अस मन गुनइ राउ नहिं बोला। पीपरपातसरिस मनु डोला ॥ ३ ॥

भावार्थ : मनस् में ऐसा विचार करते हुए राजा कुछ नहीं बोले। पीपल के पत्ते की तरह उनका मन डाँवाडोल होने लगा।

राजा के विचार में सैद्धान्तिक प्रक्रिया (उत्तर पक्ष)

शा० व्या० : उत्तर समझाते हुए कहना यही है कि शोकावेग में मनस् डोल रहा है जैसे पीपल का पत्ता अर्थात् पीपल के पत्ते थोड़ा-सा वायु का झोंका लगने से हिलने लगते हैं, पर वृक्ष की स्थिरता पर उसका प्रभाव नहीं होता, उसी प्रकार 'अस मन गुनइ' द्वारा होनेवाले काल्पनिक विचारों की प्रक्रिया 'मन डोला' से व्यक्त की गयी है। फिर भी राजा स्वसिद्धान्त में ही मनस् को ले आये। फलतः धर्मका जय हुआ। अर्थात् उक्त विचारों को कार्यान्वित करने की प्रवृत्ति धर्मतत्व से पुष्ट सत्यसंधता से पूर्ण राजा के मनस् में नहीं हुई। जैसा 'राउ नहिं बोला' से स्पष्ट है। चौ० १ दो० ४४ में राजा के 'धरि धीरजु की सार्थकता 'राउ नहिं बोला' से संगत है।

राउ नहिं बोला उत्तरपक्ष है

'राउ नहिं बोला' से शिवजी राजा का उत्तर पक्ष समझा रहे हैं। पुत्र के वियोगविलाप में राजा अपनी मृत्यु को व उससे बचने का उपाय एक मात्र रामनिवास ही समझ रहे हैं। मृत्यु से बचने के लिए प्राण संकट में अनृत बोलना पाप नहीं है, ऐसा जानते हुए भी राजा का शरीर वाणी आदि, सत्य के महान् व्रत में इतने ओत-प्रोत हैं कि राजा कभी काम आदि के झोक में आये ही नहीं। उसी का यह फल है कि राजशरीर सत्यव्रत से डिगा नहीं, केवल मनस् डोलता रह गया। परिणाम यह हुआ कि व्रत में आसीन राजा पुत्र को अपने आदेश से नहीं रोक सके जो कि चौ० ५ दो० ४६ 'उतर न दीन्हा' से कवि ने संकेतित किया है। परिणाम यह हुआ कि 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इस न्याय से श्रीराम समझ गये कि वनवासवर राजा को मान्य है। यही न्याय सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणंव्रज' उक्ति में समझना होगा। ईश्वर के शरण में जाने वाला जीव श्रीकृष्ण के उपदिष्ट 'सर्वधर्म में इतना तत्पर होता आया है कि वह ईश्वरादेश (धर्मपालन) कभी छोड़ नहीं सकता। इस रीति से राजा ने पूर्वपक्ष का समाधान अनुष्ठान से दिया है।

राजा के मौन में उपास्य भी मौन हैं

स्नेह की चरम सीमा होते हुए भी रानी ने जिस सत्यसन्धता के बल पर वरयाचना की, महाराज उसका प्रत्याख्यान नहीं कर रहे हैं, अपितु तूष्णींभाव में हैं अर्थात् उत्तर पक्ष में स्थिर हैं। चित्त का पत्ता ही डोल रहा है। इसीसे पिताश्री का प्रतिबुद्ध ज्ञान और परलोकविश्वास, शास्त्रप्रामाण्यबुद्धि, आजीवन धर्म सेवा आदि की अक्षुण्णता सिद्ध है। अतः कहना होगा कि महाराज ने कही वरवितरण की बात बनावट नहीं किन्तु यथार्थ है। तभी उसके विपरीत आचरण करने में राजाको लज्जा है अतएव मौन हैं। अर्थात् वनवास जाना ही प्रतिज्ञा की पूर्ति है। इस रीति से मौनको आज्ञा मानकर उसपर प्रभु अपनी स्वीकृति दे रहे हैं। स्वयं राजा को सामर्थ्य नहीं तो राजवचन के विपरीत आचरण करने में, उनके उपास्य को कैसे सामर्थ्य होगा ? इसलिए शिवजी ने भी राजा के मौन को समझ कर स्वयं भी मौन धारण किया।

संगति : सर्वज्ञ श्रीराम पिताश्री के मनस् की रागावस्था में विचारित पूर्वोत्तर पक्ष को जानकर समयोचित समाधान माता को श्रीराम सुनावेंगे उसका उपक्रम कवि कह रहे हैं।

चौ० : रघुपति पितहि प्रेमबस जानी। पुनि कछु कहिहि मातु अनुमानी ॥ ४ ॥

भावार्थ : रघुनाथ श्रीरामजी ने पिताश्री को प्रेम के वश में जाना। उनके सैद्धान्तिक विचार को समझा। फिर पिता श्रीके तूष्णींभाव से अनुमान किया कि माता कैकेयी फिर कुछ कहेगी।

माता को बोलने के अवसर का अप्रदान

शा० व्या० : 'जब लगि जिऔं कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी' (चौ०६ दो०३६) में कहे राजा के वचन की मर्यादा रखते हुए कैकेयी माता को फिर कुछ बोलने का अवसर न देकर 'लोचन' ओट रामु जनि होहीं' में राजा की स्नेहपरवशतास्थिति को स्वयं सँभालते हुए श्रीराम बोलना चाहते हैं। 'पुनि कछु कहिहि मातु' से पिता श्रीके प्रति कटुवचन से पुनराघात का अनुमान कर श्रीराम उसको रोकना चाहते हैं, क्योंकि माता कैकेयी की रहस्यमयी कठोरवाक् प्रभु समझते हैं। इतिहास से प्रसिद्ध है कि राजकार्य में सहायिका रानी कैकेयी ने देवासुरसंग्राम में राजा के रथ के पहिये की धुरी टूटने पर अपनी उँगली का सहारा देकर इन्द्र की ओर से युद्ध करनेवाले राजा दशरथ को विजय पाने में सफल बनाया था। उसी के

अनुरूप कैकेयी के प्रस्तुत चरित्र में रानीकी कठोरवाणी, श्रीराम को वनगमन में प्रवृत्त कराने के उद्देश्य से देवहित की साधिका होने से पर्याप्त हो गयी। वह कठोरता सत्यसन्धता की रक्षा में राजा को सफल बनानेवाली तथा अन्त में रामवियोग से होनेवाले प्राणत्याग के समय राजा के मनोयोग एवं चित्त की द्रवीभूत अवस्था को बनाने वाली सिद्ध हो गयी है। इससे अधिक बोलना व्यर्थ है समझकर आगे माताजी को बोलने का अवकाश न मिले इस हेतु से 'मातु अनुमानि" कवि ने कहा है।

संगति : कवि श्रीराम के वक्तव्य में देशकालोचित्य समझा रहे हैं।

चौ० : देस-काल–अवसर अनुसारी। बोले बचन बिनीत बिचारी ॥ ५ ॥

भावार्थ : देश काल और अवसर के आनुकूल्य का विचार करके श्रीराम विनयपूर्ण वचन बोले।

'देस काल अवसर' का तात्पर्य

शा० व्या० : "एतौ परस्परापेक्षया कार्यं साधयतः" के अनुसार देश और काल की परस्परसापेक्षता में कार्य की संपन्नता होती है। कार्य में इन दोनों का योग अवसर है। ऐसा योग जल्दी आता नहीं। जब वह योग आ जाता है तब उसका सदुपयोग करने में चूकना बुद्धिमत्ता नहीं मानी जाती। श्रीराम देश, काल तथा कार्य के योग को जाननेवाले हैं।

'देस' से अन्तःपुरका ऐकान्तिक स्थल, 'काल' से मन्थरा द्वारा कैकेयीको समझाया 'होइ अकाजु आजु निसि बीतें (चौ० ८ दो० २२) से काल और उक्त देश काल के योग में कार्य करने का समय 'अवसर' है। 'बिचारी' से प्रभु जानते हैं कि चौ० ६ से ८ दो० १० में कहे गये अपने संकल्प को कार्यान्वित करने का अवसर आ गया है। इसी समय वनवास की स्वीकृति सुना दी जाय तो चौ० ३-४ दो० ३६ में कहे वचन की प्रमाणता में राजा आश्वस्त हो जायँगे और 'मनु डोला' की स्थिति में स्वप्रतिज्ञातार्थ से अंतःकरण की वृत्ति डाँवाडोल न होने पावेगी। देश-काल-अवसर की अनुकूलता में कार्य करने का लाभ यह होगा कि राजा के उक्त वचन की फलश्रुति वनवास-कार्य को सफल करेगी। नरक में नहीं जाना होगा। राजा का यशस् बना रहेगा।

संगति : वृद्धों आप्तजनों के सामने बोलने के समय कैसी विनम्रता रखनी चाहिये,? प्रभु सिखा रहे हैं।

चौ० : तात ! कहउँ कछु करउँ ढिठाई। अनुचित छमब जानि लरिकाई ॥ ६ ॥

भावार्थ : हे पितः ! मेरा कुछ कहना ढीठता करना है। इस अनौचित्य को मेरा लड़कपन समझकर आप क्षमा करें।

श्रीराम का विनय (धृष्टता की क्षमायाचना)

शा० व्या० : बड़े लोगों के सामने उनके विचारों का औचित्यानौचित्य बताना छोटे की धृष्टता मानी जाती है। अतः बड़ों के विचारों की चूक को सँभालते हुए उनकी मर्यादा को रखते किस प्रकार विनम्र होकर बोलना चाहिये ? इसको श्रीराम अपने वक्तव्य से प्रथमतः क्षमायाचनाद्वारा दिखा रहे हैं। क्षमा-प्रार्थना से धृष्टतारूप दोष दोषांकुश हो शिष्टता में अलंकृत होता है। 'करउँ ढिठाई' का भाव है कि पिताजी की वर्तमान इच्छा के विपरीत उनके धर्मप्रवृत्त पूर्वप्रतिज्ञातार्थ को ही उचित ठहराना धृष्टता है जिसके लिए प्रभु क्षमा माँग रहे हैं। इसी प्रकार का भरतजी का विनय गुरुजी, माता कौसल्या आदि के स्नेहाविष्ट वचन को न मानने की धृष्टता में 'उतरु देउँ छमब अपराधू' से प्रकाशित होगा।

धृष्टता का त्याग आदेशपालन

ज्ञातव्य है कि धृष्टताको त्यागना या रखना त्रयीधर्म की स्थापना के अधीन है जैसा भरतचरित्र में ज्ञात होगा अर्थात् नीतिकी स्थापना में भरतजी की उक्त धृष्टता शोभनीय होगी, उसका प्रयोजन समाप्त होने पर प्रभु के निर्देश से भरतजी धृष्टता का त्याग करके त्रयीधर्म की स्थापना में प्रवृत्त होंगे, आदेश का पालन करेंगे। यही उनका विनय है।

संगति : क्षमा-याचना के अनन्तर अपना प्रस्ताव पिताश्री के सामने रखने का उपक्रम कर रहे हैं।

चौ० : अति लघु-बातलागि दुखु पावा। काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा ?॥ ७॥
देखि गोसाईंहि पूँछिउँ माता। सुनि प्रसंगु भए सीतलगाता॥ ८॥

भावार्थ : बहुत छोटी सी बात के लिए आपको इतना दुःख हुआ। किसी ने भी पहले ही मुझको क्यों नहीं बता दिया ?। हे गोसाई ! आपको दुःखी देखकर मैंने माता से पूछा तो उनसे सब प्रसंग सुनकर मुझको सन्तोष हुआ।

निर्णय में गौरव

शा० व्या० : जिस प्रकार वाक्यार्थ के निर्णय में लाघव-गौरव का विचार किया जाता है उसी प्रकार श्रीराम का कहना है कि कैकेयी के वरयाचना के समय ही मुझे (श्रीराम) बुलाकर राजन् ! अपने वचन-प्रामाण्य का निर्णय आप करा लेते तो कैकेयी के साथ लंबा संवाद करने का कष्ट उठाने के बाद राजाश्री को अपने पूर्वनिर्णय को स्थिर (बोलना) करने में (चौ० ३-४ दो० ३६) गौरव का अनुभव न होता।

'अतिलघु बात' का तात्पर्य

'अति लघु बात' से श्रीराम का तात्पर्य यह कि जहाँ एक से बहुतों का लाभ होता हो वहाँ एक हानिका कोई महत्व नही है अर्थात् अपनी राज्यहानि को 'अति लघु बात' कहकर राज्य-त्याग करके वन में जाना अधिक महत्वपूर्ण कह रहे हैं क्योंकि उससे परिवार में भेदनीति का विनाश होगा, राज्य में संघटन बनाये रखने का साधक होगा तथा साधु सुर सन्तहित में घटक होकर लोकव्यापी यशस् को प्राप्त करायेगा।

'दुखु पावा' का भाव

चौ० ४ दो० ३२ में राजा की उक्ति से स्पष्ट है कि कैकेयी की वरयाचना से यही प्रथम दुःख राजा को है जो कि "श्रीराम से प्रगाढ़ स्नेह रखनेवाली माता निरपराध श्रीरामको वनवास कैसे दे रही है ?" अर्थात् चौ० ३ दो० ४० में 'प्रथम दीख दुख सुना न काऊ' का अनुवाद यहाँ 'दुख पावा' व 'देखि' से स्पष्ट हो रहा है।

'गोसाईं' संबोधन

पिताजी को 'गोसाईं' संबोधन करने में श्रीराम का भाव है कि माता कैकेयी के साथ हुए संवाद में पिताश्री के प्रत्येक पद में उनकी जितेन्द्रियतायुक्त धर्म तथा नीतिसमत्ता प्रकट है जिसको सुनकर उनकी सत्यसंघता की रक्षा में वनवास स्वीकार करना (श्रीराम) पुत्र को इष्ट है। अतः वनवास को सुनकर 'सुनि भए सीतल गाता' से (चौ० ३-४ दो० ३६) अपनी संतुष्टि को प्रभु व्यक्त कर रहे हैं।

संगति : दो० ४१ में प्रभु ने कैकेयी के सामने वनवास में' सबहि भाँति हित मोर' से अपनी प्रसन्नता व्यक्त की थी। अभी 'सुनि प्रसंगु' से वनवास की सफलता पर विश्वास प्रकट कर रहे हैं।

दो० : मंगलसमय सनेहबस सोच परिहरिअ तात !।
आयसु देइअ हरषि हियँ कहि पुलके प्रभुगात ॥ ४५ ॥

भावार्थ : श्रीराम बोले 'हे पिताजी ! मंगल के अवसर पर मेरे प्रति स्नेहासक्ति में आपको जो शोक हो रहा है, उसको छोड़ दीजिये। हृदय से प्रसन्न होकर मुझको (वनगमन की) आज्ञा दीजिये। ऐसा कहते प्रभु का शरीर पुलक से भर गया।

वनवास की मंगलमयता में प्रभु को प्रसन्नता

शा० व्या : राज्यारोहण के अनौचित्य को समझकर प्रभु के मनोभाव की प्रतिक्रिया चौ० ७-८ दो० १० में 'प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई' से व्यक्त की गयी थी, उसकी एकवाक्यता यहाँ 'सोच परिहरिअ तात' से, स्फुट है। 'हरहु भगत मनके कुटिलाई' की सार्थकता कैकेयी और राजा के मनस् की कुटिलता के हरते हुए वनवास को मंगलमयता में प्रभु की प्रसन्नता से प्रकट हो रही है।

चौ० ३-४ दो० ३६ में राजा ने वनवास की जो फलश्रुति गायी है उसको कार्यान्वित करने में धर्मार्थार्जन एवं कीर्त्यर्जन का समय उपस्थित है जिसको प्रभु 'मंगलसमय' कह रहे हैं। यात्रा के समय बड़ों का आशीर्वाद धर्मनीतिसिद्धान्त से मंगलसूचक हैं। पिताश्री की आज्ञापालन में वाचिक मानसिक प्रसन्नता दिखाने के बाद 'पुल के प्रभु गात' से कायिक प्रसन्नता का अनुभाव प्रभु में व्यक्त है।

दो० ११ में रामवनवास में देवों की प्रसन्नता का उल्लेख किया गया था। यहाँ 'मंगलसमय' से देवानुकूलता की मर्यादा स्थापित कर रहे हैं।

संगति : श्रीरामवनवासस्वीकृति में कवि पुत्र की धन्यता बताते हुए नीतिसिद्धान्त समझा रहे हैं।

चौ० : धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ॥ १ ॥
चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितुमातु प्रानसम जाके ॥ २ ॥

भावार्थ : उस पुत्र का जन्म संसार में धन्य है जिसका चरित्र सुनकर पिताश्री को हर्षातिरेक हो। जिस पुत्र को माता-पिता प्राण के समान प्रिय हों, उसको चारों पदार्थ (धर्म अर्थ काम मोक्ष) प्राप्त हैं।

पिता पुत्र की कीर्तिमत्ता व प्रसन्नता

शा० व्या० : पुत्र कीर्तिमान् बनने में पिताश्री के आदेश को सार्थक करता है, तो उससे पिताजी भी कीर्तिमान् होते हैं पिता के आदेशपालन में पिता और पुत्र दोनों को प्रसन्नता होती है। जैसे चौ० ७-८ दो० ४१ में कैकेयी से प्रभु ने दुर्लभ पुत्र का जो गुण कहा था उसी को पिताश्री की प्रसन्नता के लिए यहाँ अनूदित किया है।

'चरित सुनि जासू' से प्रभु के कहने का भाव यह भी है कि दो० ४१ में 'रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु' की कामना को कार्यान्वित होने में राजा जितना प्रसन्न होंगे, उससे अधिक प्रसन्नता पिताश्री के द्वारा प्रदत्त बनवास में शीलस्नेहयुक्त पुत्र की प्रवृत्ति सुनकर होगी।

पुत्र की मूर्खता व दुर्लभता

पिताश्री की पुत्र पर अनुरक्ति स्वाभाविक है। पिताजी के अत्यधिक दुलार का परिणाम होता है कि पुत्र पिताश्री के आदर में प्रमाद करता है। युवा होने पर पिताश्री की अप्रतिबन्ध दाय संपत्ति को स्वायत्त करने में पुत्र की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती जाती है। पिता के वृद्ध होने पर उनके प्रभुत्व से मुक्ति होने पर यौवनसंपन्न मदमें पुत्र को वृद्ध के सुख-दुःख की कल्पना नहीं होती। युवावस्था ऐसी विलक्षण है कि जो मदमान में लिप्त करके पुत्र को लोकसेवा, स्नेहशील, पुरुषार्थसाधन, कुलमर्यादा आदि से विमुख करा देती है। वह भूल जाता है कि पिताजी की अभिभावकता में उसने उन्नति की है और पिताश्री के आदेश या अंकुश में ही रहकर वह कीर्तिमान् हो सकता है। आप्त जनों के आदर का विवेक न रखने से पुत्र को लोक में अपमानित और दुःखी होना पड़ता है। ऐसे पुत्र को अपनानेवाले पिताजी भी राजनीतिसिद्धान्तानुसार लोक में अविश्वास्य होते हैं। जैसा प्रभु ने चौ० ४ दो० ९९ में कहा है।[1] अतः कवि का कहना है कि ऐसा पुत्र दुर्लभ है जो पिताश्री के आदेश में रहकर विनयभावयुक्त हो लोकयात्रा को बनाते हुए कीर्तिमान् होता है। चौ० ७-८ दो० ४१ की व्याख्या में कही अनुमानप्रणाली में हेतु की सार्थकता यहाँ स्पष्ट होती है।

पित्रादेश पालन से चतुर्विध पुरुषार्थ की उपपत्ति

'प्रान-सम' का भाव है कि जैसे धन-जन आदि सब प्राण के लिए प्रिय होते हैं। वैसे ही सांकुश पुत्र को सर्वस्व माता-पिता की प्रियता हैं। ऐसे पुत्र की धन्यता यही है कि वह लोक में विश्वास्य माना जाता है। उपधाशुद्ध शुचि पुत्र द्वारा प्रदत्त हविष् से देव भी प्रसन्न होते हैं। लोकविश्वास्यता से शुचि पुत्र को मित्रसंपत्ति प्राप्त होती है जो सर्वार्थं साधने में समर्थ है। उपर्युक्त विवेचन से 'चारि पदारथ करतल ताके' की उक्ति संगत है। अर्थात् चारों पदार्थ फल रूप में प्राप्त होते हैं जिसको प्रभु ने अपने चरित्र में स्फुट किया है जो निम्नलिखित हैं

१. धर्म—पित्राज्ञापालन रूप धर्म।

२. अर्थ—मित्रसंपत्ति की प्राप्ति जो हनुमान्, सुग्रीव, बिभीषण आदि की मित्रता से स्पष्ट है।

३. काम—लक्ष्मणजी का पुनरुज्जीवन, लंकाविजय, त्रैलोक्यव्यापिनी कीर्ति, आसमुद्रान्त राज्य का चक्रवर्तित्व।

४. मोक्ष—साकेतलोक गमन।

प्रदर्शित उदाहरण से व्याप्ति का स्मरण

इस प्रकार श्रीराम द्वारा व्याप्ति ("यत्र यत्र सत्यसन्ध पित्राज्ञापरिपालकत्वं स्नेहेन रुच्या तत्र तत्र पुरुषार्थचतुष्टयप्राप्तिः") को उपर्युक्त चौपाई में स्पष्ट किया है। इसका अर्थ यह नहीं कि चारों पदार्थों

[1] तात किएँ प्रिय प्रेम प्रमादू। जसु जग जाइ होइ अपबादू॥

की प्राप्ति के उद्देश्य से माता-पिता की सेवा निर्दिष्ट है, बल्कि माता-पिताश्री के आदेशपालन में तत्पर पुत्र को पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति होना उक्त व्याप्ति से सिद्ध है। उद्देश्य तो प्रभु का दर्शन व उनकी प्रसन्नता है।

संगति : दो० ४५ में 'आयसु देइअ' कहने पर भी 'अस मन गुनइ राउ नहिं बोला' की स्थिति में पिताश्री ने कोई उत्तर नहीं दिया तो प्रभु ने पिताश्री के मौन को आज्ञारूप में वनवास धर्म का प्रयोजक मान लिया क्योंकि राजा का शरीर पुत्र के लिए वनवास कहने को कथमपि तैयार नहीं हैं। जैसा 'आयसु पालि' से आगे व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० : आयसु पालि जनमफलु पाई। ऐहउँ बेगिहिं होउ रजाई ॥ ३ ॥

भावार्थ : आज्ञापालन के रूप में पुत्रजन्म का फल पाकर मैं शीघ्र ही आऊँगा। आपकी आज्ञा हो जाय। (वह तो हो रही है।)

शा० व्या० : चित्त के डावाडोल में भी राजा धर्मविपरीत कार्य करने में प्रवृत्त नहीं हो रहे हैं और न राजा बोल ही रहे हैं, अतः अनुष्ठानतः मौन को प्रभु 'होउ रजाई' से पिताश्री की आज्ञा मान रहे हैं। 'आयसु पालि' आदि कहना कैकेयी के चौदह वर्ष के सावधिक काल का संकेत है। 'ऐहउँ बेगि' से लौटने का आश्वासन दे रहे हैं।

आयसु पालि आदि की अनुमापकता

आदेश में निहित अधोलिखित तीनों तत्वों को प्रभु ने अनुमित किया है जैसे 'आयसु पालि' से वनवास की कृतिसाध्यता, 'जनम फलु पाई' से मुनिगन मिलन एवं लंका विजय आदि–इष्ट-साधनता और 'एहउँ बेगि' से बलवदनिष्टाननुबन्धिता अनुमेय है।

सत्यं एवं ऋत

ज्ञातव्य है कि भागवत ११।१३।२९ की व्याख्या में श्रीधरस्वामि ने "अनुष्ठीयमानो धर्मः सत्यं, प्रमीयमाणो धर्मः ऋतं" कहकर सत्य और ऋत का अर्थ समझाया है। उसके अनुसार राजा के प्रस्तुत चरित्र से कवि महोदय ने सत्य को समझाया है। अभी श्रीराम का ऋत समझाया है। आगे अयोध्या की सभा में उपस्थित होकर भरतजी उत्तरपक्ष से सामने धर्म का निरूपण कर ऋत समझायेंगे। दोनों भाइयों का सत्य तो प्रसिद्ध है ही।

संगति : पूर्व चौपाई में 'प्रिय पितु मातु' से माता-पिता दोनों की प्रियता कही है, इसलिए कौसल्या माता की प्रियता में उससे बिदा माँगना युक्तिसंगत है। वनवास की स्वीकृति से कैकेयी माता की प्रियता स्पष्ट ही है। अतः कौसल्या माता से बिदा माँग कर वन में जाने का आश्वासन दे रहे हैं।

चौ० : बिदा मातुसन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहि बहुरि पग लागी ॥ ४ ॥

भावार्थ : माता कौसल्या से बिदा माँगकर मैं आता हूँ। फिर आपके चरणों का स्पर्श करके वन को जाउँगा।

बोलने का अवसर न देने हेतु कैकेयी को आश्वासन

शा० व्या० : माता की आज्ञाग्रहण के औचित्य को ध्यान में लेते हुए माता कौसल्या से बिदा माँगने की बात सुनाकर प्रभु कैकेयी को आश्वस्त कर रहे हैं जिससे 'पुनि कछु कहिहि मातु अनुमानी' के अनुसार

कैकेयी को कुछ बोलने का अवकाश न रहे। शासनमर्यादा में विधि का पालन या उसे कार्यान्वित करने में उतना ही कालविलम्ब सह्य है जितना अपेक्षित हो, इसलिए 'बिदा मातुसन माँगी' 'आवउँ' से बिदा लेकर आने में अधिक बिलंब का वाघ दिखाया गया है। 'बहुरि पग लागी' में पिता के आशीर्वाद की आकांक्षा व्यक्त कराने के साथ प्रभु की सर्वज्ञता भी प्रकट है। अतएव पिताश्री से आगे भेंट नहीं होनी है यह जानकर प्रभु ने कौसल्या माता से कहा वचन ('आइ पाय पुनि देखिहउँ' दो० ५३) यहाँ नहीं सुनाया।

चौ० : अस कहि राम गमनु तब कीन्हा। भूप सोकबस उतरु न दीन्हा ॥ ५ ॥

भावार्थ : शिवजी ने कहा कि ऐसा कहकर श्रीराम चल दिये। शोक के वशीभूत हो राजा ने भी कोई उत्तर नहीं दिया। यद्यपि धैर्य से हटकर पुनः राजा शोकाविष्ट हो गये हैं तथापि 'उतरु न दीन्हा' 'अस मन गुनई' (चौ० ३ दो० ४५ तथा चौ० ४ दो० ४५) की व्याख्या में कहा राजा का विचार भी समन्वित मालूम होता है।

संगति : कैकेयी के महल से श्रीराम के निकलते ही राज्योत्सवभंग की सूचना नगर में फैल गयी।

चौ० : नगर व्यापिगइ बात सुतोछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी ॥ ६ ॥

भावार्थ : पूरे अयोध्या नगर में कैकेयीद्वारा राम-राज्योत्सव-भंग एवं रामवनवास की सनसनी खबर ऐसे फैल गयी जैसे बिच्छी के डंक मारते ही संपूर्ण शरीर में पीड़ा की लहर दौड़ जाती है।

समाचार के प्रसारण की तीव्रता

शा० व्या० : कैकेयी-राजा के संवाद की तरह श्रीरामसंवाद ऐकान्तिक या गुप्त नहीं था। इसलिए महल के भृत्यवर्ग के द्वारा बाहर खड़े सेवकों को विकट स्थिति का पता चल गया। दो० ३७ में कहा गया है कि सूर्योदय होने पर भी राजा के न उठने का विशेष कारण जानने के लिए व्यग्र समुदाय ने सुमन्त्र को राजा के पास भेजा था। श्रीराम को बुलाने के लिए जब सुमन्त्र महल से निकले थे, उस समय स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं थी, इसलिए सुमन्त्र ने सबको औपचारिक समाधान दिया था। श्रीराम के वनवास-स्वीकृति से राज्योत्सवभंग की स्थिति अभी स्पष्ट हो गयी है। अथवा सुमन्त्र-द्वारा सुनायी चर्चा से बाहर खड़े समुदाय को अवगत कराना भी संगत कहा जा सकता है। बाहर उपस्थित समूह में नगर के सब लोग थे, उनके द्वारा समाचार का फैलना समझाने में 'चढ़ी जनु सब तन बीछी' का दृष्टान्त देने का मुख्य तात्पर्य उक्त समाचार से होनेवाली सर्वव्यापी पीड़ा को दर्शाने में है।

संगति : रामराज्यारोहण में संपूर्ण राज्य की अनुरक्ति का वर्णन जिस प्रकार 'संभोग-शृंगार' रूप में किया गया, उसी प्रकार तदनुबंधी 'विप्रलंभ' का वर्णन आगे किया जा रहा है। अथवा जिस प्रकार राजपुत्र श्रीराम के गुणसंपत्ति की चर्चा में (चौ० १ से ६ दो० २४) बालसखाओं के स्नेह व प्रमोद का संयोग कहा था उसी प्रकार विप्रलंभ में नागरिकों की विकलता दिखायी जा रही है।

चौ० : सुनि भए बिकल सकल नर-नारी। बेलि बिटप जिमि देखि दबारी ॥ ७ ॥
जो जँह सुनइ धुनइ सिरु सोई। बड़ बिषादु नहिं धीरजु होई ॥ ८ ॥

दो० : मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोकु न हृदयँ समाइ।
मनहुँ करुन-रस कटकई उतरी अवध बजाइ ॥ ४६ ॥

भावार्थ : उक्त समाचार सुनते ही नगर के सम्पूर्ण नर-नारी व्याकुल हो गये। उनकी दशा ऐसी मलिन हो गयी जैसे दावाग्नि की लपट से वृक्ष लताएँ कुम्हला जाती हैं। जो भी जहाँ भी यह समाचार सुनता है सिर पीट-पीटकर रोने लगता है। सबको इतना भारी दुःख हो रहा है कि किसी प्रकार धैर्य रखने में वे असमर्थ हो रहे हैं। लोगों के मुँह सूख रहे हैं, नेत्रों में आँसू बह रहा है, इतना बड़ा शोक हो रहा है कि हृदय में समाता नहीं है मानो करुण-रस अवध में अपने दलबल के साथ प्रत्यक्ष उतर आया हो।

शोक की लहर व उसके अनुभाव

शा० व्या० : प्रजा की श्रीराम के प्रति प्रीति है। उस प्रीतिविषय के अभाव में मनस् का द्वेष-भाव ही शोक है। वह अभी उमड़ा है। जो उत्सव अधिक सुखदायक था उसी के अभावद्वेष में प्रजा का विषाद व्याकुलता, विवर्णता, संताप, सिर पटकना, मुँह सूखना, आँसू बहना आदि अनुभाव व्यक्त हो रहा है, जैसा शृंगारप्रकाश में विषाद के व्यभिचारी भावों का वर्णन है। उसी को यहाँ दर्शाया है।

संगति : राज्योत्सव के प्रतिघात में होनेवाले प्रजा के विषादजन्यविलाप का वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में किया जा रहा है जिसमें राज्यारोहणोत्सव की कल्पना में प्रजा के मनोभाव का परिचय भी मिलता है। जनता के उद्गारों में राजा की शापित उक्ति (तोर कलंक) कैकेयी के लिए चरितार्थ हो रही है।

चौ० : मिलेहि माझ बिधि बात बेगारी। जहँ तहँ देहिं कैकइहि गारी॥ १॥
एहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ? । छाइ भवनपर पावकु धरेऊ॥ २॥
निजकर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा विषु चाहत चीखा॥ ३॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुवंस-बेनुबन आगी॥ ४॥
पालव बैठि पेड़ु एहिं काटा। सुख महुँ सोक ठाटु धरि ठाटा॥ ५॥

भावार्थ : दैव ने जिस विषय का (रामराज्योत्सव का) सुख संयोग बनाया था उसको बीच में ही बिगाड़ दिया। यत्र-तत्र सर्वत्र लोग कैकेयी को गाली दे रहे हैं कि इस पापिनी को क्या सूझा कि स्वयं ही मकान को छाकर स्वयं ही आग लगा दिया। वह अपने ही हाथ से अपनी आँख निकाल कर देखना चाहती है, अमृत को फेंककर विष का स्वाद लेना चाहती है। कैकेयी कुटिला कठोरा कुमतिमती और अभागिनी है जो रघुवंशरूप बाँस के वन को जलाने के लिए आग का कार्य कर रही है। डाल पर बैठ-कर उसी डाल के साथ पेड़ को काटने का काम उसने किया है, सुख में रहते शोक का स्वरूप बनाने का आयोजन किया है।

विधिवैचित्र्य

शा० व्या० : श्रीराम के राज्यारोहण में संपूर्ण जनपद सुख भोगने की लालसा रखे हुआ था उसको पूर्ण करने में मानो सबका भाग्य एकत्रित हो रामराज्योत्सव में सहायक हो रहा था। परन्तु वह विधि बीच में ही ऐसा विपरीत हो गया कि सभी अवधवासी उस सुख से वंचित हो गये। उन सबका विपरीत भाग्य इकट्ठा होकर कैकेयी के रूप में प्रकट हो गया है जिससे सब दुःखी हैं, यही विधि कि विचित्रता है।

कैकेयी का पाप

कैकेयी ने अपना घर क्या जलाया, घर-घर में संताप पहुँच गया अर्थात् जनपद को सामुदायिक रूप से दु:ख पहुँचाने में कारण कैकेयी ही है। इसलिए उसको लोग पापिनी कह रहें हैं। पापप्रयुक्त कुटिलता को 'छाइ भवन' आदि से स्फुट किया गया है। कैकेयी द्वारा पोषित श्रीराम की जिस छत्र छाया में प्रजा को आश्रय इष्ट था, उसको वनवास द्वारा उजाड़ने का कार्य कैकेयी ने किया है अर्थात् संपूर्ण राज्य को अरक्षित कर दिया है।

'छाइ भवनपर पावकु धरेऊ' का भाव

'छाइ भवन' का भाव यह है कि चौ० २ से ८ दो० १५ के अन्तर्गत उक्तियों के अनुसार कैकेयी ने अपनी प्रीति से स्नेहरूप श्रीराम को भवन में छा दिया था। 'पावक धरेउ' का यह भाव है कि अभी राम-वनवास से उस स्नेहमूर्ति को स्वयं ही दूर कर दिया। यही आग लगाना है।

'निजकर नयन काढ़ि चह दीखा' आदि का भाव

अपने स्वार्थ के लिए कैकेयी श्रीराम को हटाकर सुखिनी होना चाहती है। राजा के कहे 'मोरे भरतु रामु दुइ आँखी' में एक आँख श्रीराम को वनवास द्वारा दूर कर रही है, दूसरी आँख भरतजी का अभी अभाव है, यही आंध्य है। अथवा अयोध्या में आने पर भी भरतजी उसकी स्वार्थदृष्टि में दर्शक नहीं होंगे, यही अपनी आँख स्वयं फोड़ना है। किंवा राजनीति-शास्त्र में नीति को चक्षुष् की संज्ञा दी गयी है। उसके अनुसार नीतिमान् श्रीराम शास्त्रचक्षुष्क हैं, उनके अभाव में कैकेयी स्वयं अन्धी होकर सबको अन्धत्व में रखना चाहती है।

'डारि सुधा विषु चाहत चीखा' का भाव

'यच्छीलो राजा तच्छीलास्तस्य प्रकृतयो भवन्ति' के अनुसार स्नेह-शीलसम्पन्न नीतिमान् राजकुमार श्रीराम के स्नेह में आबद्धा हो प्रजा प्रेमामृत के सुख का पान कर रही थी, उस सुख को कैकेयी ने अपनी कुटिलता से छीनकर शंकाविष को अपनाने में सुख समझ कर चीखा है अर्थात् राजा, कौसल्या व श्रीराम के प्रति शंकालु होकर कठोरतापूर्वक राज्यविघटन का कार्य किया है जो 'रघुवंश बेनुबन आगी' के समान है।

कुटिलता और अभागिता

मानसिक एवं वाचिक व्यापार में सामंजस्य न होना कुटिलता है। यहाँ कुटिलता से कायिक, कठोर से वाचिक एवं कुबुद्धि से मानसिक व्यापार में कैकेयी की कुटिलता कह सकते हैं। कामुकता में शास्त्र-मर्यादा का अतिक्रमण करना अभाग्य का सूचक है।

कैकेयी के चरित्र पर आश्चर्य

'भइ रघुवंस बेबनुन आगी' की उक्ति तत्कालीन राजशासन व धर्ममर्यादा में स्थित प्रजा का राजा के प्रति मनोभाव दिखाया गया है। अभी धर्मात्मा नीतिज्ञ राजा दशरथ के शासन में वर्णाश्रमी जनता को कैकेयी की कुटिलता, कठोरता और कुमति को सुनकर आश्चर्य हो रहा है जो कि शास्त्रमर्यादा के विरुद्ध व्यवहार करनेवालों के प्रति प्रजा की घृणा एवं आक्रोश का परिचायक है।

'पालव बैठि पेड़ एहि काटा' से नीति का उच्छेदन

ज्ञातव्य है कि नीतिपूर्णराजशासन में स्थित श्रीराम के नीति की अधीनता में प्राणिमात्र सुरक्षा का अनुभव करता था क्योंकि नीतिमान् के शासनकाल में ही शाखास्थानापन्न अन्यान्य विद्याएँ तथा वर्णाश्रम धर्म पनपकर सबको सुख प्राप्त कराते हैं। जिस प्रकार समूल वृक्ष के आश्रय से ही पत्ते एवं शाखाएँ अपना अस्तित्व रखते हैं उसी प्रकार सत्यसंधराजा के आश्रय में 'सत्यमूल सब सुकृत सुहाए' के अनुसार सब धर्म-कर्म एवं विद्याओं की स्थिति सत्य के सहारे सुशोभित थी। वैसे राजा के आश्रय में बैठकर भी कैकेयी ने धर्म का सहारा लेकर सत्यसंधता में स्थित राजा का विनाश एवं नीतिमान् श्रीराम के राज्यारोहणाच्छेद के लिए यत्न किया है। यही नीति का उच्छेद है।

'सोक ठाटु धरि ठाटा' का भाव

'सोक ठाटु' कोपभवन में कैकेयी का वैधव्यसूचक कुवेष है जिसको कवि ने 'अन अहिबातु सूच जनु भावी' से चौ० ७ दो० २५ में ध्वनित किया था। 'सुख महुँ' से व्यक्त है कि 'राजु करत' का सुख उठाते हुए भी कैकेयी ने अपने तथा परिवार और प्रजा के लिए शोक का प्रसंग ला दिया है।

संगति : वर्णाश्रमधर्मनिरत प्रजा कैकेयी की शास्त्रमर्यादा के विपरीत करनी पर मीमांसा कर रही है।

चौ० : सदा रामु एहि प्रानसमाना। कारन कवन कुटिलपनु ठाना ? ॥ ६ ॥

भावार्थ : इसको (कैकेयी को) तो श्रीराम सदा प्राण के समान प्रिय थे। तब किस कारण से वह ऐसी कुटिलता को ठानने में अड़ गयी ?

कैकेयी की कुटिलता के कारण को मीमांसा

शा० व्या० : कैकेयी की कुटिलता की शंका में प्रजा दृष्ट-अदृष्ट कारण का विचार कर रही है। 'कुबुद्धि' से सूचित दृष्ट कारण यह है कि कुसंग में पड़कर कैकेयी की कुमति में नारीस्वभावगत दोष उद्दीप्त हो गये हैं जैसा कि आगे कहेंगे। श्रीराम से अतिशय प्रीति रखनेवाली कैकेयी में स्नेहशीलसम्पन्न माता-पिता के सेवक नीत्यनुगामी श्रीराम के संसर्ग में रहते कुटिलता कैसे आयी ? इस प्रकार आश्चर्य करते हुए अन्त में कुटिलता का कारण अदृष्ट (विधि) को ठहरावेंगे जैसा अग्रिम दोहे की चौ० १ में व्यक्त है।

कुटिलता पर प्रश्न

जब दो प्रेमियों के बीच स्वार्थ-भावना आ जाती है तब उनमें गत्वर प्रेम की अवस्था मानी जायगी जो साहित्यसिद्धान्त के अनुसार प्रेम या रागावस्था नहीं कही जा सकती। नीतिशास्त्र के अनुसार राजा और कैकेयी के बीच में 'काँचनसन्धि' का अभाव या विश्वास की कमी में कैकेयी की प्रीति 'कपालसन्धि' में परिणत कैसे भया ? यह प्रश्न इसलिए हुआ कि रघुवंश और अयोध्यावासी प्रजा का सम्बन्ध कांचनसन्धि से युक्त चला आ रहा है, अतः उनका 'कारन कवन कुटिलपनु ठाना' से किया प्रश्न नीतिसंगत है।

संगति : वादियों में कोई वादी कैकेयी के कुटिलचरित्र में दृष्टमतानुसार स्त्रीस्वभाव की प्रसक्ति को कुटिलता का कारण ठहराते हैं।

चौ० : सत्य कहहिं कवि नारिसुभाऊ। सबबिधि अगहु अगाध दुराऊ ॥ ७ ॥
निजप्रतिबिम्बु बरुकु गहिजाई। जानि न जाइ नारिगति भाई ॥ ८ ॥

दो० : काह न पावकु जारि सक, का न समुद्र समाइ ?।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ ? ॥ ४७ ॥

भावार्थ : कवि लोग ठीक ही कहते हैं कि स्त्री-स्वभाव सब प्रकार अगम अगाध है, उसको दूर करना अशक्य है। अपनी परिछाहीं को स्वयं पकड़ना कठिन है, उससे भी कहीं अधिक कठिन स्त्री-स्वभाव को जानना है अर्थात् स्त्री के मनस् की गति को जानना अशक्य है। आग क्या नहीं जला सकती ? समुद्र में क्या नहीं समा सकता ? स्त्री प्रबला होकर क्या नहीं कर सकती ? संसार में ऐसा कौन है जिसको काल विनष्ट नहीं कर सकता ?

नारिजाति पर आक्षेप व उसका समाधान

प्रश्न : कैकेयी के कुटिलचरित्र को सुनकर वर्णाश्रमी जनताने जो स्त्रीस्वभाव प्रकट किया है उसको क्या नारीजाति पर आक्षेप नहीं कहा जायगा ?

उत्तर : शास्त्रकारों ने जिसका जो स्वभाव बताया है, उसका संबंध व्यक्तिपरक न होकर जातिगत अथवा उसकी मूलप्रकृति से है। इसी अर्थ में स्त्रीजाति की प्रकृति को उपर्युक्त उल्लेख से समझना है। प्रकृत्या स्त्री-जाति में तमोगुण की प्रधानता है, उसमें रजोगुण का विशेष संबंध है। फलतः तमोगुण से धर्म एवं विवेक का अभाव तथा रजोगुण से मनस् की चंचलता स्त्री में है। अतः शास्त्रकारों ने कहा है कि स्त्रियों में शास्त्र-परतन्त्रता में पुष्ट धर्म एवं विवेक स्वतंत्र रूप में स्थिर नहीं रहता। स्त्री की अनुकूलता तभी तक है जब-तक उसकी कामनासिद्धि होती रहती है। स्त्रीजाति में सृष्टि के आरंभ से ही स्वभावतः कामना का प्राबल्य है। उदाहरणार्थ कनकमृगतृष्णा में काननवासिनी सीता की कामना तथा लक्ष्मणजी पर किये आरोप में धर्म-विवेक का अभाव देखा जाता है। 'दुराऊ' से कहे स्त्री के स्वभाव का चित्रण में पति (शिवजी) के सामने स्वाभिमानिता में सत्यताको छिपाकर किये सती के मिथ्याभाषण से स्पष्ट है। वर्णाश्रम में स्थित समाज में विदुषी स्त्रियों की जब यह दशा है तब साधारण स्त्री के लिए क्या कहा जाय ? विद्याध्ययन एवं विद्वत्संगति से पुरुषजाति उक्त दोषों से बचकर धर्म में अडिग रह सकती है, यह उसका प्रकृतिगत स्वभाव है। उसके स्थान पर पुरुष में रजोगुण और तमोगुण उदित हो जाय तो वह भी कामनाप्रधान होगा। तब स्त्री-स्वभावगत दोषों से पुरुष भी नहीं बच सकता। इसी प्रकार यदि नारी भी सात्विकता में रहकर शील सदाचार को अपनाती है तो वह भी पुरुषकी तुलना में श्रेष्ठतरा है। अतः 'सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ' की उक्ति में कवि का तात्पर्य उपर्युक्त स्त्रीगत प्रकृति के विवेचन को दृष्टि में रखते हुए मननीय है।

उपरोक्त प्रश्न के समाधान में विशेषतया ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार पुरुष को दुष्टसंग से बचाकर विद्यासम्पन्न बनाया जाय तो वह स्वप्रकृति के अनुसार पूर्ण धर्मश्रद्ध होकर उत्तमप्रकृति होने से शीघ्र नीतिमान् बनया जा सकता है उस प्रकार सर्वसाधारण स्त्री को बनाना दुष्कर है क्योंकि प्रकृति पर विजय पाना दुर्जनसंसर्ग को जीतने पर भी अति कठिन है। जगत् की रचना में भी वर्णाश्रम धर्म में 'स्त्रीणां अमैथुनं जरा' पुरुषाणां तु मैथुनं' को ध्यान में रखकर समाज में स्त्री-पुरुष के मर्यादित जीवन का प्रकार भिन्न है। अतः कहना यह है कि स्त्रीस्वभाव का उपर्युक्त वर्णन उसके प्रति आक्षेप नहीं माना जा सकता, किन्तु प्रकृति की दृष्टि से स्त्रीस्वभाव कवि ने गाया है।

अबला की प्रबलता

यहाँ 'अबला' से अविवेकिनी एवं मोहवती स्त्री विवक्षिता है। अग्निदाह, समुद्र की निमज्जनकारिता और कालग्रस्तता इन तीन दृष्टान्तों से अबला का प्राबल्य कहा गया है। अविवेक के साम्राज्य में गृहस्थ पुरुषको इन तीनों का सामना करना पड़ता है। जैसा स्त्री के प्रति कामासक्ति से 'भोगे रोगभयं' के अनुसार अग्निदाह के समान तृष्णाग्नि में जलना है। अविवेक के फलस्वरूप अनन्त आपत्ति में पड़ना समुद्र में डूबने के समान है, अन्त में मृत्यु के मुख में समा जाना 'काल खाइ' है।

चौ० १ दो० २५ की व्याख्या में कामतन्त्र के अन्तर्गत स्त्री की स्वतन्त्रता का उल्लेख किया गया है। उसको ध्यान में रखते हुए पुरुष की अधीनता का अनुचित लाभ उठाकर वह कामातिरिक्त विषयों में अपना स्वातन्त्रय रखने में अभ्यस्ता होती है तो कामाधीन पुरुष के लिए वह अबला सबला बन जाती है, यतः स्त्री-परतन्त्रपुरुष रजस्तमःप्रधान स्वभाव से अभिभूत होकर विवेक खो बैठता है। यही स्त्री की प्रबलता है जो 'काह न करै अबला प्रबल' से कवि ने व्यक्त किया है।

संगति : कैकेयी जैसी पुनीता एवं विदुषी स्त्री में उपर्युक्त तमः प्रयुक्त स्त्रीस्वभाव-सुलभ दोषों की प्रसक्ति नही हो सकती समझकर विचारवती अन्य जनता स्त्री स्वभाव को कारण न मानकर कुटिलता के वास्तविक कारण का निर्णय कर रही है।

चौ० : का सुनाइ बिधि काह सुनावा ?। का देखाइ चह काह देखावा ? ॥ १ ॥

भावार्थ : विधाता ने क्या सुनाकर क्या सुना दिया ? क्या दिखा कर क्या दिखा दिया ? अर्थात् रामराज्याभिषेक सुनाकर रामवनगमन सुनने को मिला। चौ० २ दो० १० में कहे गुरु वसिष्ठद्वारा राजा के अभिलषित राज्योत्सव का आयोजन (दो० ५ से चौ० ७ तक वर्णित) की आशा दिखाकर कैकेयी द्वारा उत्सवभंग का दृश्य दिखाने में उद्यत हो रहा है।

विधिविशेष की अद्भुतता

शा० व्या० : राजा के पुरुषार्थ में न्यूनता या दोष न देखकर कतिपय जनता विधि को कारण ठहराना उचित समझती हैं। इतना होते हुए भी दैवोपनिपात के प्रतीकार के लिए दैवकारों ने पुरुषार्थ और शास्त्र-कर्म करने के लिए कहा है।[1] किन्तु प्रबल विधिविशेष को निर्बल बनाना संभव नहीं है। यही विधि की अद्भुत स्वतन्त्रता है।

संगति : राज्योत्सव के हर्षातिरेक में किसके द्वारा चूक हुई ? इसका विचार करते हुए जनता अपना-अपना मत व्यक्त कर रही है।

चौ० : एक कहहिं भल भूप न कीन्हा। बरु बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा ॥ २ ॥

भावार्थ : जनसमुदाय में एक ने कहा कि राजा ने अच्छा नहीं किया अर्थात् कैकेयी की कुमति को बिना समझे वर दे दिया।

कैकेयी की कुमति को न लखने में राजा का प्रमाद

शा० व्या० : चौ० ४ से दोहा २० में वर्णित कुमतिपूर्ण कैकेयी के विभावानुभाव को न समझने में राजा का प्रमाद है जिसको 'भल भूप न कीन्हा' से कतिपय विवेकी सदस्यों ने व्यक्त किया है। दूसरोंने

१. दैवं पुरुषकारेण शान्त्या वा प्रशमं नयेत्। नी० स० १४।

यह कहा कि चौ० ३ दोहा २५ में 'देखहु काम प्रताप बड़ाई' की व्याख्या में राजा की कामवशता की चर्चा की गयी है जिसका चित्रण कवि ने छन्द २५ में 'काम कौतुक लेखई' से किया है। उसको ध्यान में रखकर 'अवलाविवस ग्यान गा जनु' राजा हो गये हैं।

'वर दूसर असमंजस मागा' को समझाते हुए राजा ने अपने कहने का निष्कर्ष 'राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती' से स्पष्ट किया है, फिर भी कैकेयी ने अपना हठ नहीं छोड़ा। उसका यही हठ 'सकल दुःख भाजनु' से समझावेंगे।

संगति : राजा को दोषी ठहरानेवाले पक्ष ने एक और तर्क सुनाया।

चौ० : जो हठि भयउ सकल दुःखभाजनु । अबलाबिबस ग्यानु गुनु गा जानु ॥ ३ ॥

भावार्थ : राजा ने वर देने में जो हठ किया उसीने राजा को सब दुःखों का पात्र बना दिया अथवा उसी हठ से सब लोग दुःख के पात्र हो गये। मालूम होता है कि स्त्री के वश हो राजा का सब ज्ञान और गुण नष्ट हो गया।

कामपरतन्त्रता में राजा की विवशता

शा० व्या० : समाज का यह पक्ष कहता है कि राजा दशरथ यदि कामुकता के अधीन न होते तो कैकेयी में उतनी स्वतन्त्रता नहीं आती जैसा दो० ४७ में कहा है। स्त्रीपरतन्त्र होने का यह फल है कि राजा स्वयं दुःखी हो, दूसरों को भी दुःख के गर्त में गिरा रहे हैं। कामुकता का परिणाम ज्ञान की मलिनता (प्रतिबुद्ध ज्ञान न होना) और गुणसम्पत्ति का विनाश है। 'अबलाबिवस' का समुचित स्पष्टीकरण दो० ४० की व्याख्या में द्रष्टव्य है। जैसा कश्यप मुनि ने दिति की सेवापरायणता के वश होकर वर दे दिया, बाद में पछताये, उसी प्रकार राजा दशरथ ने कैकेयी की सुमति एवं सेवाभाव से प्रसन्न होकर उसको दो वर देने का वचन दिया था अन्त में 'तोर कलंक मोर पछिताऊ' की स्थिति में कैंकेयी के हठ से 'दुखभाजनु' होना पड़ा।

संगति : कामुकता के पक्ष का खण्डन करते हुए कतिपय लोग दूसरे पक्ष का विचार रखते हैं।

चौ० : एक धरमपरमिति पहिचाने । नृपहि दोसु नहि देहि सयाने ॥ ४ ॥

भावार्थ : दूसरा दल जिसमें धर्म की मर्यादा को समझनेवाले विद्वान् हैं, वे राजा को दोष नहीं दे रहे हैं।

राजा का धर्म से आबद्ध चरित्र

शा० व्या० : राजा दशरथ ने वरदान में जो दृढ़ता दिखायी वह कामुकता में नहीं, बल्कि अपने पूर्व प्रतिज्ञातार्थ की सत्यता को रखने के लिए है, जो सत्यसन्ध राजा का धर्म है। नीतिमत्ता की यही विशेषता है कि जीवभाव में काम क्रोध आने पर भी उनकी प्रवृत्ति या निवृत्ति वेदसम्मत नैतिक मर्यादा में रहती है। इसलिए नीतिमान् राजा में काम या प्रमाद आदि को प्रतिज्ञातार्थनिर्वहण में कारण मानना ठीक नहीं। दो० २० में कैकेयी की उक्ति से उसकी कुमति पर विचार न करके 'दुइ के चारि मागि मकु लेहू' से वरदान की वचनबद्धता को समझकर ये सज्जन 'बरु बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा' कह रहे हैं।

संगति : कैकेयी ने सत्यता की रक्षा में जिस प्रकार शिवि आदि का दृष्टान्त दिया (चौ० ८ दो० ३०) उसी प्रकार राजा के पक्ष में शिवि, दधीचि प्रभृति के चरित्र को उदाहरण के रूप में ये सज्जन भी सुना रहे हैं।

चौ० सिबि-दधीचि-हरिचन्दकहानी । एक एकसन कहहिं बखानी ।। ५ ।।

भावार्थ : राजा शिबि, दधीचि ऋषि और हरिश्चन्द्र की कहानी का ज्ञान कराते हुए एक दूसरे को उनका इतिहास सुना रहे हैं।

दृढ़ता में मतिभाव का परिचय

शिबिप्रभृति राजा तथा दधीचिप्रभृति विप्रों ने अपनी प्रतिज्ञा को सत्य बनाने में जो क्षति, मत्ति, तर्क, प्रबोध, उत्साह आदि का परिचय दिया है उसी प्रकार अपनी सत्यसंधता को स्थिर रखने के लिए राजा ने वरदान में दृढ़ता दिखायी है, इसमें राजा को दोषी ठहराना उचित नहीं किन्तु राजा के मतिभाव की वह परिचायिका है।

संगति : दोषी का विचार करते हुए तीसरा पक्ष भरतजी को दोषी बता रहा है।

चौ० : एक भरतकर सम्मत कहहीं । एक उदास भाय सुनि रहहीं ।। ६ ।।

भावार्थ : कतिपय लोग वरदान के विषय में भरतजी की सम्मति बताते हैं जिसको सुनकर दूसरे वर्ग के लोग उदासभाव प्रकट करते हैं।

भरतजी पर दोषारोपण

'भरतकर संमत कहहीं' में दोषारोपण की कल्पना का प्रकार इस प्रकार कहा जा सकता है—

अयोध्या को छोड़कर बहुत दिनों से ननिहाल में रहने से ननिहालवालों के कहने में आकर भरतजी ने श्रीराम के राज्याधिकार को छीनने का षडयन्त्र रचा होगा क्योंकि श्रीराम के प्रति प्रजानुरक्ति को देखते हुए प्रकाशरूप में अयोध्या में रहकर स्वयं (भरतजी) ने रामराज्य का विरोध करना संभव नहीं समझा। इसलिए भरतजी ने अप्रत्यक्षरूप से अपनी सम्मति देकर माता कैकेयी के द्वारा वरयाचना की योजना बनायी होगी। इसी पक्ष पर लक्ष्मणजी का मत दो० ९६ चौ० ४ में स्पष्ट होगा।

'उदासभाय सुनि रहहीं' से ऐसा मालूम होता है कि उक्त प्रतिज्ञा को ध्यान में रखकर यह वर्ग भरतजी की उपरोक्त सम्मति के औचित्यानौचित्य में तटस्थ रहना चाहता है। अथवा कल्पना को लेकर निर्णय करना ठीक नहीं है, ऐसा कहकर निष्पक्षपात-वर्ग सर्वरीति से उदासीन होकर कार्य की स्थिति का अध्ययन कर रहा है।

संगति : दूसरा सभ्यवर्ग भरतजी में दोष देखना सुनना पाप समझकर, उस पाप से निवृत्त होने का अनुभाव प्रकट कर रहा है।

चौ० : कान मूदि कर रद गहि जीहा । एक कहहिं यह बात अलीहा ।। ७ ।।
सुकृत जाहि अस कहत तुम्हारे । रामु भरत कहुँ प्रानपिआरे ।। ८ ।।

भावार्थ : दूसरा सभ्यवर्ग उक्त विचारों को गलत बताकर दोनों हाथों से कान बन्द करके जीभ को दाँतों तले दबा लेता है (आश्चर्यपूर्वक ग्लानि में) व कहता है कि ऐसा कहने से तुम्हारा पुण्य क्षीण हो जायगा। भरतजी तो श्रीराम को प्राण के समान प्रिय हैं।

भरतजी की निर्दोषता में हेतु-विचार

शा० व्या० : यह वर्ग जो भरतजी को अदोषी ठहरा रहा है, उसकी प्रतिज्ञा में हेतु वाक्य है 'रामु भरत

कहुँ प्रान पिआरे' जिसकी यथार्थता चौ० २ दो० २२८ में लक्ष्मणजी की उक्ति ('भरतु नीतिरत साधु सुजाना। प्रभुपद प्रेम सकल जग जाना') से समस्त प्रजा में प्रसिद्ध है, जिसका पोषण प्रजा के द्वारा रामराज्याभिषेक की सफलता में भरतजी के उपस्थिति की कामना से व्यक्त है। ('भरतु आगमनु सकल मनावहिं। आवहुँ बेगि नयन फलु पावहिं' चौ० २ दो०११)। दो० ५५ में माता कौसल्या की उक्ति 'तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु' से भी भरतजी की रामप्रियता प्रकट है। अतः 'भरतजी राज्यापहरण करने का विचार करेंगे', ऐसा कथमपि संभव नहीं। इस रीति से स्पष्टलिंग द्वारा भरतजी की मति समझने पर भी उनको दोषी ठहराने वाले पाप के भागी होंगे, जैसा कौसल्याजी ने कहा है "मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं"। निरर्गल प्रमाणहीन तत्वों को उठाकर लोगों को शंकाक्रान्त करना महान् अपराध है। अतः बा० का० चौ० ३-४ दो० ६४ में कहें "संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा। काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई" के अनुसार वे अपना कान बन्द कर रहे हैं और प्रायश्चित्तस्वरूप जिह्वाछेदन-दण्ड व्यक्त कर रहे हैं। किंबहुना वे भरतजी का यशोगान करने में ही भला समझ रहे हैं जैसा भरद्वाज ऋषि ने चौ० २ दो० २०७ में 'तात तुम्हार विमल जसु गाई। पाइहि लोकहु बेदु बड़ाई' कहा है।

संगति : 'रामु भरत कहुँ प्रानपिआरे' के समर्थन में कौसल्याजी की (चौ० १ से ३ दो० १६९ में) कही उक्ति की एक वाक्यता अग्रिम दोहे से कवि समझा रहे हैं।

दो० : चन्दु चवै बरु अनल-कन सुधा होइ बिषतूल।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिं किछु भरतु रामप्रतिकूल ॥ ४८ ॥

भावार्थ—चाहे चन्द्रमा अग्निकणों का स्राव कर दे, अमृत विषतुल्यप्रभाववाला हो जाय, पर भरतजी स्वप्न में भी श्रीराम के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करेंगे।

भरतजी के स्वभाव में प्रभुप्रतिकूलता का अभाव

शा० व्या० : 'राजाऽस्य जगतो हेतुर्वृद्धेर्वृद्धाभिसम्मतः।
नयनानन्दजननः शशांक इव तोयधेः ॥ (नीतिसार)

इस उक्ति को ध्यान में लाते हुए कवि श्रीराम के प्रति भरतजी की भक्ति पर वृद्धाभिसम्मति प्रकट कर रहे हैं जिसको प्रभु ने चित्रकूट में लक्ष्मणजी से 'भरत कहे महँ साधुसयाने' कहा है। विद्वत्संगति के महत्त्व को ('नाहिन साधु सभा जेहि सेई' की व्याख्या को ध्यान में रखकर) कवि यहाँ चन्द्रमा और अमृत के दृष्टान्त से स्पष्ट कर रहे हैं।

विद्वत्ता के विषय में कवियों ने कहा है—

'अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्तिः अन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम्।
लोकोत्तरा कृतिरिहाकृतिरार्तहृद्या विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ॥

अर्थात् उपर्युक्त उद्धरणों को सामने रखकर कवि कहना चाहते हैं कि चन्द्रमा की शीतलता व सुधा का अमृतत्व कभी प्रकृति से बाधित हो सकता है परन्तु रामप्रीति में भरतजी के मतिकी अनुकूलता में परिवर्तन संभव ही नहीं है जैसा दो० २९५ के अन्तर्गत सरस्वती ने कहा है—"विधि हरिहर माया बड़ि भारी। सोउ न भरतमति सकइ निहारी'। भरतजी की भक्ति व मतिप्रभृति उपर्युक्तगुण चौ० १-२ दो० १८४ में प्रकट किया गया है।

संगति : पूर्व कथित पक्षों के द्वारा पृथक्-पृथक् दोषी का निरूपण होने के बाद निर्णय करना है कि दोषी कौन है ? उसके उत्तर में आगे समझा रहे हैं।

चौ० : एक बिधातहि दूषनु देहीं । सुधा देखाइ दीन्ह बिषु जेही ।। १ ।।

भावार्थ : अन्त में एक सयाना पक्ष विधाता को दोषी ठहराता है। उसी ने ऐसा प्रतिकूल कार्य किया है कि अमृत को दिखाकर विष दिया है।

सिद्धान्ततः दोषी का विचार

शा० व्या० : कवि ने जनता के अन्तिम पक्ष को सिद्धान्तरूप में यहाँ उपस्थापित किया है। इन सज्जनों का कहना इस प्रकार है—विधाता की सृष्टि में एक ही पदार्थ में परस्परविपरीत गुण एकसाथ दिखाई पड़ते हैं। विधि ने प्रिय-मोद-प्रमोद की स्थिति को रामराज्याभिषेकरूप में सामने लाया, उसी समय रामवनवास-रूप विषाद की स्थिति को भी रख दिया। इस वैपरीत्य का कर्तृत्व उपर्युक्त पूर्वपक्ष में संगत नहीं है। अतः वे निर्णय कर रहे हैं कि उक्त कर्तृत्व विधि में है, विधिप्रेरित कारकान्तरत्व कैकेयी आदि में हैं। इस निर्णय की पुष्टि रामवनवास की तैयारी के अवसर पर नगरवासियों की उक्ति "कहहिं परसपर पुर-नरनारी। भलि बनाइ बिधि बात बिगारी' (चौ० ३ दो० ७६) से स्पष्ट होगी।

संगति : इस प्रकार दुःखकारण का विचार करते हुए प्रत्येक नगरवासी व्यथित हो रहे हैं।

चौ० : खरभरु नगर सोचु सबकाहू । दुसह दाहु उर मिटा उछाहू ।। २ ।।

भावार्थ : नगरभर में खलबली मच गयी। सब लोग शोक से आविष्ट हो गये। उनके हृदय का उत्साह चला गया। असहनीय संताप होने लगा।

श्रीराम के प्रति जनानुराग का अनुमान

शा० व्या० : "धार्मिकं पालनपरं सम्यक्, परपुरञ्जयम्। राजानमभिमन्यन्ते प्रजापतिमिव प्रजाः" के अनुसार रामानुरागिणी प्रजा में खलबली होना राजनीतिसिद्धान्त से विवेचनीय है। रामराज्यविघ्न में कारणों का विचार करते हुए जनता ने कैकेयी, राजा, भरत, और विधि या विधाता का उल्लेख किया है। नीतिशास्त्र में विधि कारण तब ठहराता है जब पुरुषार्थ में न्यूनता नहीं रहती। पूर्वव्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है कि राजा दशरथ धर्मात्मा नीत्यनुगामी हैं, भरतजी अतिशय रामप्रेमी व विद्या-वृद्ध-सेवी हैं। परिशेषात् जनता अदृष्ट (विधि) को उपालंभ का विषय मान रही है। किन्तु जनता का यह मन्तव्य माना जाय तो वह ठीक नहीं। क्योंकि अदृष्ट विधि जड़ है उसमें कर्तृत्व परक स्वतन्त्रता कटिला नहीं है। अतः विधाता में वह कर्तृत्व मानना उचित है। चेतन स्वतन्त्रता होने से वही उपालभ्य है। इस प्रकार जनता की खलबली और मनुस्सन्ताप से श्रीराम में प्रजानुराग गुण दर्शाया है !

संगति : रामराज्योत्सव के उपघात में नगरवासी-पुरुषवर्ग की प्रतिक्रिया का वर्णन करके स्त्री-समाज की ओर से होनेवाली वनवासनिवृत्तिपरक प्रक्रिया कही जा रही है।

चौ० : बिप्रबधू कुलमान्य जठेरी । जे प्रिय परम कैकई केरी ।। ३ ।।
लगी देन सिख सीलु सराही । बचन बानसम लागहिं ताही ।। ४ ।।

भावार्थ : विप्रों की स्त्रियाँ, कुलवृद्धा प्रतिष्ठित नारियाँ जो कैकेयी की प्रियपात्रा थीं, कैकेयी को शिक्षा देते हुए उसके शीलयुक्त पूर्वचरित्र की सराहना करने लगीं। पर उनके वचन कैकेयी को वाण के समान कटु लग रहे हैं।

वृद्धाओं के समझाने में हेतु

शा० व्या० : रागमानमदाधीन स्वामिनी या रानी को अकार्य में प्रवृत्त होते देखकर उसको तदाश्रित वृद्धाएँ इसलिए समझा रही हैं कि स्वामी को अकार्य से निवृत्त करने का प्रयत्न वे नहीं करती तो राजनीतिमतानुसार अवाच्यता की पात्रा होंगी। तब प्रश्न हो सकता है कि गुरु वसिष्ठजी ने राजा को कामुकता के अधीन होकर कार्य करने से निवृत्त क्यों नहीं किया ? इसका समाधान दो० ४ की व्याख्या से चिन्तनीय है। सर्वदर्शी मुनि को राजा की कामतन्त्राधीनता में कामप्रताप व राजा के आसन्नमृत्यु का योग ज्ञात था, अतः नहीं रोका जहाँ तक कर्तव्य अपेक्षित था वहाँ तक वसिष्ठजी समयोचित कर्तव्य से निरपेक्ष नहीं रहे जैसा दो० २५८ में 'भरतविनय सादर सुनिअ करिअ विचार बहोरि। करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि' में श्रीराम को दिये निर्देश से स्पष्ट है।

मान्य वृद्धाओं का अन्तःपुर में आदर

रानी को समझानेवालों में विप्रवधू और कुलमान्य वृद्धाओं का उल्लेख करने में नीतिसिद्धान्त ज्ञातव्य है। नीतिसंचालन का भार राज्य के मान्यताप्राप्त सत्वपूर्ण व्यक्तियों पर रखने का विधान है। वह मान्यता कलि-अतिरिक्त काल में सत्वप्रधान विप्रों और तदनुगामी क्षत्रियों पर होती थी। वही यहाँ प्रकट हो रहा है अन्तःपुर की विश्वासार्हा स्त्रियों को 'जो प्रिय परम कैकेयी केरी' से सम्भावना थी कि वृद्धाओं के प्रति आदर होने से उनका कहना रानी मानेगी, इसलिए वृद्धाओं ने कैकेयी को शिक्षा देना प्रारम्भ किया जिसका वर्णन आगे होगा।

शिक्षा की समस्या व परिहार

शिक्षा का तात्पर्य 'इदं कर्तव्यं मम' समझना है। राज्याभिलाषिणी कैकेयी को राजमहिषी होने के कारण राजकर्तव्यशिक्षा में प्रेरणा देना विप्रवधुओं के लिए समस्या थी। अतः उन्होंने शिक्षा देने के कैकेयी के पूर्वानुस्यूत शील का वर्णन करके पहले समस्या का परिहार किया।

कैकेयी के शील की सराहना

'सील सराही' से विप्रवधुओं को यह समझाना है कि 'सद्भिः सम्भावनीयताहेतुः गुणः शीलं', के अनुसार कैकेयी ने अभी तक जो आचरण किया है उसकी प्रशंसा ही निरन्तर होती रही।

गार्हस्थ्यजीवन में मित्र, शत्रु, लुब्ध, स्वामी द्विज, युवती, बन्धु, अत्युग्र क्रोधी, गुरु, मूर्ख बुध और रसिकों से गृहस्थों का सम्पर्क होता रहता है। इन सबको वश करने के उपाय को शील बताया गया है।[1]

---

१. मित्रं स्वच्छतया रिपुं नयबलैः लुब्धं धनेनेश्वरम्।
कार्येण द्विजमादरेण युवतिं प्रेम्णा शनैर्बान्धवान्॥
अत्युग्रं स्तुतिभिः गुरुं प्रणतिभिः मूर्खं कथाभिर्बुधम्।
विद्याभी रसिकं रसेन सकलं शीलेन कुर्याद्वशम्॥

कैकेयी का इतना शील प्रसिद्ध था जिसके कारण उपर्युक्त सभी वर्ग उससे पूर्ण प्रसन्न थे जैसा 'राजु करत' से ये वृद्धाएँ आगे स्पष्ट करेंगी। फिर भी रानी को उनके वचन बाण के समान लग रहे हैं। क्योंकि मन्थरा के मन्त्रोपदेश से राजा के प्रति हुआ कैकेयी का अति तीक्ष्ण क्रोध बोध का प्रतिबन्धक हो रहा है।

संगति : प्रस्तुत चरित्र में श्रीराम से सम्बन्धित पूर्व चरित्रवैपरीत्य देखकर उसके बारे में विप्र-वृद्धाएँ पूछ रही हैं।

चौ० : भरतु न मोहि प्रिय रामसमाना। सदा कहहु यहु सबु जगु जाना ॥ ५ ॥
करहु रामपर सहजसनेहू। केहि अपराध आजु बनु देहू ? ॥ ६ ॥

भावार्थ : सदा से तुम यही कहती थीं कि मुझे श्रीराम के समान प्रिय भरतजी भी नहीं है—यह बात संसार भर में प्रसिद्ध है। तुम्हारा श्रीराम में अकृत्रिम स्नेह रहा तो आज किस अपराध के कारण उनको वनवास दे रही हो ?।

लोकविरुद्ध (दण्ड) कार्य में लज्जा एवं विनाश

शा० व्या० : विप्रवधुओं ने रानी के उपर्युक्त अकार्य को लज्जाजनक समझाते हुए उसके परिणाम में होनेवाले उपहास को भी समझाया। जिस कीर्ति को रानी ने अपने शील से समस्त जनसमुदाय में प्रसृत किया है वह कीर्ति रामवनवासात्मकवरयाचना से विनष्ट हो जायगी। फलतः कैकेयी का श्रीराम के प्रति रहा सहज-स्नेह कृत्रिम सिद्ध होगा तथा कुटिलतादोष से शीलविनाश का अपयशस् होगा जो कलंक का कारण होगा। इसी को राजा ने चौ० ५ दो० ३६ में 'तोर कलंकु मुएहु न मिटिहि, न जाइहि काऊ' से स्पष्ट किया है। विना अपराध के दण्ड का प्रयोग लोक में उद्वेगजनक है। अतः कैकेयी का 'राजु करत' के प्रातिकूल्य में लोक-शास्त्र-विरुद्ध कार्य स्व एवं राज्य का विनाशकारक होगा।

संगति : प्रस्तुत दण्ड को कौसल्या के सवतपन से सम्बन्धित कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं है, आगे बता रही हैं।

चौ० : कबहुँ न कियहु सवति आरेसू। प्रीतिप्रतीति जान सबु देसू ॥ ७ ॥

भावार्थ : तुमने कभी सौतिया डाह नहीं किया, न तो सौत कौसल्या जी ने कभी ऐसा किया। किंबहुना दोनों के बीच जो प्रेम और विश्वास था वह देश भर में सर्वज्ञात था।

शा० व्या० : चौ० ५ से ८ दो० १५ से कौसल्यासुत श्रीराम के प्रति कैकेयी का स्नेहशीलव्यवहार सर्वविदित था। 'कबहुँ न कियहु सवति आरेसू' उसी हेतु से सिद्ध है।

संगति : 'सील सराही' के बारे में कहा जाय कि कैकेयी ने सौतपने का व्यवहार नहीं किया, कौसल्या ने ही ऐसा व्यवहार किया होगा ? यह शंका—मन्थरा द्वारा दो० १८ के अन्तर्गत उत्थापित की गयी है, उसका स्पष्टीकरण सुनना चाहती हैं।

चौ० : कौसल्याँ अब काह बिगारा ? । तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा ॥ ८ ॥

भावार्थ : कौसल्याजी ने अब तुम्हारा क्या बिगाड़ किया ? जिसकारण तुम सम्पूर्ण अयोध्यापुरी पर वज्राघात करने पर उतारू हो।

शंकाप्रयुक्त अविश्वास्यता व वज्राघात

शा० व्या० : हितैषी बनकर कोई चर स्वामी को मंत्रणा रूप में कुछ कहे तो उस बात पर स्वामी ने सहसा विश्वास नहीं रखना चाहिए।[1] शास्त्रकारों की सम्मति में विचार या कल्पनामात्र की सम्भावना पर निर्णय करना भूल है। सत्परामर्श एवं कार्यकारणभावशुद्ध विवेकसहकृत पौरुषेय आप्तवचन का आधार लेकर निर्णय करना चाहिए। अतः सम्भावनामात्र में कौसल्या के प्रति द्वेषभावना करके पूरे अयोध्यावासियों को व्याधित करने वाला यह रामवनवासात्मक कार्य वज्राघात होने से अनुचित है।

संगति : 'पुर पारा' के अनुसार रामवनवास के परिणाम में अग्रिम घटना को बताते हुए विप्रवधुएँ 'वज्राघात' समझा रही है तथा 'लगी देन सिख' का भाष्य कर रही हैं।

दो० : सीय कि पियसंगु परिहरिहि, लखनु कि रहिहहिं धाम ?।
राजु कि भूंजब भरत पुर, नृप कि जिइहि बिनु राम ?॥ ४९॥

भावार्थ : रामवनवास होने पर क्या सीताजी पति का साथ छोड़ सकती हैं, ? क्या लक्ष्मणजी भवन में रह सकते हैं, ? क्या भरतजी अयोध्यापुरी में राज्य का भोग कर सकते हैं ? क्या विना श्रीराम के राजा जीवित रह सकते हैं ?।

राजपरिवार की कुदशा व प्रजा का उद्वेग

शा० व्या० : इस दोहे से विप्रवधुओं और कुलवृद्धाओं की विद्वत्ता एवं नीतिमत्ता प्रकट है। वनगमन में श्रीराम के साथ सीता के चले जाने से चौ० १ दो० १ में कहीं मंगल मोद की स्थिति नहीं रहेगी, लक्ष्मण जी के चले जाने से पुर में असुरक्षा की स्थिति होगी जैसा प्रभु ने चौ० ३ दो० २१ में 'होइ सबहि बिधि अवध अनाथा' से स्फुट किया है। असुरक्षित और अमंगल की अवस्था में प्रजा दुःखावस्था को प्राप्त होगी।

भरतजी के सम्बन्ध में उनका कहना है कि भरतजी का प्रभुसेवकत्व सर्वविदित है। सेवाभावापन्न भक्त प्रभु-उच्छिष्ट भोजन का व्रत रखनेवाले होते हैं। इसलिए सेवक भरतजी प्रभु से अभुक्त राज्य का उपभोग कदापि नहीं करेंगे जैसा राजा ने 'चहत न भरत भूपतिहि भोरे' से पहले ही स्पष्ट कर दिया है। अन्तिम विपत्ति कैकेयी का वैधव्य है जिसको 'नृप कि जिइहि बिनु राम' से ध्वनित किया है। रानी के शील विरुद्ध कार्य में यह सर्वोपरि दोष बताया है।

पतिव्रताधर्म में रुचि रखनेवाली सीताजी श्रीराम से अलग होकर १४ वर्ष अयोध्या में नहीं रहेगी। वह श्रीराम का अनुगमन करेंगी ही। लक्ष्मणजी बाल्यकाल से प्रभुसेवा में तत्पर होने से श्रीराम जहाँ रहेंगे वहीं लक्ष्मणजी रहेंगे। 'जीवनु मोर राम बिनु नाहीं' से स्पष्ट कर चुके हैं कि श्रीराम के वियोग में राजा शरीर नहीं रख सकेंगे। इस प्रकार कैकेयी के वरयाचनात्मक कार्य में घटित होनेवाली आपत्तियों को उन्होंने 'लगी देन सिख' के भाष्य में समझाया है।

संगति : सरस्वती के भावीप्रबलतात्मक मतिफेर से रानी को उक्त आपत्तियों को इष्टापत्ति मानने में तत्परा समझकर पुनः कलंक दोष समझा रही हैं।

चौ० : अस बिचारि उर छाड़हु कोहू। सोक कलंक कोटि जनि होहू॥ १॥

---

१. विश्वासयेदं विश्वस्तं विश्वस्तं नातिविश्वसेत् नीतिसार स० ५।

भावार्थ : उपर्युक्त बातों का विचार करके हे रानी ! क्रोध को हृदय से निकाल दो। शोक और कलंक का घर मत बनो।

शा० व्या० : क्रोधावेश में औचित्यानौचित्य का विवेक नहीं रहता इसलिए विप्रवधुओं ने पहले क्रोध को हटाने का आग्रह किया जैसा राजा ने भी दो० ३ में 'रिस परिहरहि' से विचार करने को कहा था। 'सोक कलंक' से उपर्युक्त दो० ४९ के पूर्वार्ध में कलंक का स्वरूप और उत्तरार्ध में शोक का स्वरूप कहा है यहाँ वहस्मतंव्य है।

संगति : पुनः उन वधुओं ने दूसरा पक्ष उपस्थापित कर समझाने का उपाय किया।

चौ० : भरतहि अवसि देहु जुवराजू। कानन काह राम कर काजू ?॥ २ ॥

भावार्थ : भरतजी को युवराजपद अवश्य दे दो, पर श्रीराम को वनवास देने में तुम्हारा कौन सा कार्य सिद्ध होगा ?

भरतजी के राज्य में निष्कंटकता

शा० व्या० : चौ०८ दो०३१ में 'देउँ भरत कहुँ राजु बजाई' से राजा की स्वीकृति का समर्थन विप्रवधुओं ने किया है, वह निष्कंटक है जब कि राजा ने दो० ३१ में श्रीराम का राज्य के प्रति अलोभ व भरतजी के प्रति श्रीराम का प्रीतिभाव भी स्पष्ट कर दिया है। अतः श्रीराम को वनवास देने का प्रयोजन पूँछ रही है।

संगति : यदि कैकेयी 'राम साधु तुम्ह साधु सयाने' की उक्ति से श्रीराम की साधुता में शंका कर रही है व राजा के कहे प्रस्ताव ('राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती') से अयोध्या में श्रीराम के रहने पर रानी को जो शंका हो सकती है, उनका भी निरास विप्रवधुएँ कर रही हैं।

चौ० : नाहिन रामु राज के भूखे। धरमधुरीन विषयरस रूखे॥ ३ ॥

भावार्थ : श्रीराम को राज्य के प्रति तृष्णा नहीं है। किंबहुना वह धर्म को सर्वोपरि माननेवाले एवं विषयों से असंग रहनेवाले हैं।

लोकप्रियता और राजेच्छा का विरोध क्यों ?

शा० व्या० : राजनीतिमतानुसार विरोध होता है एकार्थाभिनिवेशित्व या अमर्ष में।[1] श्रीराम को राज्य के प्रति न एकार्थाभिनिवेश है न तो भरतजी के प्रति अमर्षही है। इसलिए उपर्युक्त संगति में कही रानी की शंका व्यर्थ है। दोनों भाइयों ने न्यायतः परिपालनात्मक धर्म से प्रजानुराग को बनाया है। जो राज्यप्राप्ति की कामना से प्रजानुराग चाहनेवाले शरीर को सुखाते हैं, बुद्धि को कुंठित करते हैं, शरीर का परिमाण एवं गुरुत्व कम करते हैं। वे परिणाम में दुरपनेय रोग से ग्रस्त होते हैं। इसको (चौ० २ दो० ४२ में) 'प्रथम गनिअ मोहि मूढ समाजा' से श्रीराम ने कैकेयी के सामने स्पष्ट कर दिया है। श्रीराम की धर्मधुरीणता एवं राज्यभोग में अलोलुपता (चौ० ७ दो० ४१ से चौ० ४ दो० ४२ तक कैकेयी-संवाद में) प्रकट है। अब आप लोकप्रियता और राजेच्छा का विरोध क्यों करती हैं।

संगति : अलोलुपता की स्थिति में श्रीराम को वन भेजने में हानि है अतः विप्रवधुएँ रानी को रामवनवासात्मक वर के बदले दूसरा वर माँगने का प्रस्ताव रख रही हैं।

---

१. अमर्षाच्छरीरद्रव्यपीडनादिदुःखाच्च लोके परस्परापकारलक्षणो विग्रहो भवति। नी० स० १० १।

चौ० : गुरगृह बसहुँ रामु तजि गेहू । नृपसन अस वरु दूसर लेहू ।। ४ ।।

भावार्थ : श्रीराम राजभवन को छोड़कर गुरुजी के घर में रहें—ऐसा दूसरा वर वह (रानी) राजा से माँग लें।

शा० व्या० : अयोध्या के उपवन प्रान्त में गुरु वसिष्ठजी के आश्रम में उदासीन रहना वनवास के समान ही है। वहाँ श्रीराम को निवास करने के लिए राजाज्ञा अपेक्षित होगी, इसलिए कैकेयी को राजा के वचन (दुइ कै चारि माँगि मकु लेहू) के अनुसार ये महिलाएँ दूसरा वर माँगने का प्रस्ताव रख रही हैं। (दूसरे वर की विशेष व्याख्या दो० ३२ की व्याख्या में द्रष्टव्य है)

संगति : अपनी बातों पर रानी ध्यान नहीं दे रही है, यह देखकर विप्रबन्धुओं ने अपना निर्णय सुनाया।

चौ० : जौ नहिं लगिहहु कहें हमारे । नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे ।। ५ ।।

भावार्थ : यदि तुम हमारी बात को मानकर तदनुकूल आचरण नहीं करती तो तुम्हारे हाथ कुछ भी न लगेगा अर्थात् तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा।

नीत्याभास

शा० व्या० : 'कहे हमारे' से विद्यावृद्ध महिलाओं ने बलवदनिष्टाननुबन्धिता एवं इष्टसाधनता को समझाते हुए बता दिया कि यदि कैकेयी उनके प्रस्ताव को विचारपूर्वक नहीं समझती है केवल सेवकत्व रूप दोष को ही दृष्टि में रखकर अपनी वरयाचना में हठ करती है तो उसको नीत्याभास का परिणाम भोगना पड़ेगा। जैसा बलवदनिष्ट न भी हो तो भी इष्टसिद्धि कथमपि नहीं हो सकती। क्योंकि राज्यश्री को भरतजी स्वीकार नहीं करेंगे तो कैकेयी की प्रवृत्ति निष्फल हो जायगी, तब 'अधेनुमिव रक्षतः श्रमस्तस्य श्रमफलः' का रानी को स्मरण होगा।

संगति : यद्यपि कैकेयी का निर्णय उस सीमा तक पहुँच गया है जिसमें वरयाचना को रानी का परिहास नहीं कहा जा सकता तथापि विप्रवधुएँ वरयाचना में परिहास समझकर उसे स्पष्ट करवाना चाहती हैं।

चौ० : जो परिहास कीन्हि कछु होई । तौ कहि प्रकट जनावहु सोई ।। ६ ।।

भावार्थ : यदि कुछ हँसी-खेल किया हो तो भी उसको प्रकट करके सबको बता दो। विदुषी रानी के नीतिविरुद्ध वरयाचना की वास्तविकतता में इन महिलाओं को विश्वास न होने से वे पूछ रही हैं कि इसमें रानी का केलिकौतुक प्रयुक्त-परिहास तो नहीं है ?

परिहास का अनौचित्य

शा० व्या० : शब्दकल्पद्रुम के अनुसार[1] परिहास तभी तक होगा जब तक वह मर्यादित रहे। सीमा के बाहर शोकस्थिति-पर्यन्त परिहास को अपनाते रहने में उसकी शोभा नहीं है। अतः शोकस्थिति आने के पहिले ही उसको प्रकट कर देना उचित है।

---

१. परिहासः केलिमुखः केलिर्दवननर्मणि इतित्रिकाण्डशेषः। शाकुन्तले परिहासजल्पितंवचः सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः।

संगति : विदुषी महिलाओं का यह प्रयास है कि रानी का मान रखते हुए उसके परिहासभूत को भ्रान्ति का पुट देकर समझाया जाय जिससे रानी अपयशस् से बच जाय अन्यथा उसके संबंध में लोग क्या कहेंगे ? परिहास से होनेवाले अनर्थ को समझकर वृद्धाएँ समझा रही हैं।

चौ० : रामसरिससुत कानन जोगू ? । काह कहहिं सुनि तुम्ह कह लोगू ? ।। ७ ।।

भावार्थ : श्रीराम के समान पुत्र क्या वनवास के योग्य है ? यह सुनकर लोग तुमको क्या कहेंगे ?

आप्त का गौरव

शा० व्या० : द्वितीय वर (राम वनवास) में यदि रानी का परिहास नहीं है तो उसकी प्रवर्तना के मूल में आप्तत्व न होने से रानी का वचन अप्रमाण ठहरेगा क्योंकि कोमलांग लघुवयस् श्रीराम के लिए वनवास देना कृत्यसाध्य माना जायगा। प्रवर्तक की आप्तता यही है कि प्रयोज्यवृद्ध की क्षमता को ध्यान में रखकर ही कर्तव्य के अनुष्ठान में उसको प्रवृत्त करावे, तभी आप्त का गौरव रहेगा। आप्त इस प्रकार विप्र-वधुओं ने आपत्तियाँ कैकेयी के सामने रखी हैं उनका संक्षिप्त रूप निम्नलिखित है।

आपत्तियों की परिगणना

१—श्रीराम के समान अपना पुत्र भरत भी प्रिय नहीं है, ऐसा सर्वविदित होने पर भी श्रीराम को विना अपराध के वनवास देना दण्डपारुष्य है।

२—सब देश जानता है कि कौसल्याजी ने सौतपने का व्यवहार कैकेयी के साथ नहीं किया है। फिर भी उन पर वज्राघात करना मिथ्याभिशापप्रयुक्त दण्डपारुष्य है।

३—सीताजी पति को छोड़ नहीं सकती, सेवक लक्ष्मणजी भी श्रीराम को छोड़कर घर में रह नहीं सकते, वे दोनों (सीताजी और लक्ष्मणजी) अनुगमन करेंगे। उनके लिए यह वनवास रानी की तरफ से उपांशुदण्ड होगा।

४—भरतजी कभी भी राज्य के स्वामी नहीं होंगे तो अपना प्रयत्न निष्फल होने से रानी को क्लेश होगा।

५—श्रीराम के विना राजा दशरथ जीवित नहीं रहेंगे तो रानी को वैधव्यक्लेश भोगना अपरिहार्य होगा।

संगति : उक्त शोक-कलंक रूप आपत्तियों का प्रतीकार शीघ्र करने के लिए कैकेयी को प्रेरणा देते हुए विप्रवधुएँ अपना विषय समाप्त कर रही हैं।

चौ० : उठहु बेगि सोइ करहु उपाई । जेहि विधि सोकु-कलंक नसाई ।। ८ ।।

भावार्थ : उठो और शीघ्र वह उपाय करो जिस प्रकार शोक-कलंक की प्रसक्ति न हो।

कर्तव्य की प्रेरणा का समय

शा० व्या० : 'उठहु' से विप्रवधुओं ने उपर्युक्त आपत्तियों के निरासोपाय में कर्तव्य की प्रेरणा दी है। 'बेगि' से स्पष्ट किया है कि प्रतीकार का अवसर इसी समय उपस्थित है, उसकोचूकने में अपरिहृयतया राजमरणप्रयुक्त शोककलंक की भागिनी होना ही पड़ेगा जैसा राजा ने चौ० ५ दो० ३६ में कह दिया है।

ज्ञातव्य है कि शास्त्रवचन का प्रामाण्य दुष्टसंसर्ग में भी विस्खलित नहीं होता, ऐसा पूर्व- व्याख्या में कहा गया है उसकी यथार्थता यहाँ व्यक्त की गयी है अर्थात् परिहास का अन्तिम फल अमंगल न होकर मंगल में परिणत करने वाला होगा।

संगति : विप्रवधुओं की बातों को प्रतिभात कर गोस्वामी तुलसीदासजी पूर्वोक्त विषयों को सिंहावलोकनन्याय से दर्शाते हुए बुद्धिरूपा भामिनी को सांसारिक हठवाद से निवृत्त होने के लिए समझा रहे हैं।

छन्द : जेहि भांति सोकुकलंकु जाइ उपाय करि कुल पालही।
हठि फेरु रामहि जात बन जनि बात दूसरि चालही॥
जिमि भानुबिनु दिनु प्रानबिनु तनु चंदबिनु जिमि जामिनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभुबिनु समुझि धौं जियँ भामिनी॥ ५०॥

भावार्थ—जिस प्रकार से शोककलंक मिटे उस प्रकार का उपाय करके कुल की रक्षा करो। श्रीराम को वन जाने से हठपूर्वक रोको, कोई दूसरी बात मत चलाओ। जैसे बिना सूर्य के दिन, बिना प्राण के शरीर, बिना चन्द्रमा के रात्रि शोभाहीन है वैसे ही तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु के बिना अवध है, इसको हे भामिनि! मनस् में अच्छी तरह समझो।

शा० व्या :विप्रवधुएँ कैकेयी को 'भामिनि' संबोधन से मान देती हुई समझा रही हैं कि कुलीन भामिनी की स्थिति में ही रानी उपर्युक्त आपत्तियों को तर्क से समझकर कुल को विनाश से बचा सकती है, क्योंकि विषयविषयिणी स्पृहा (स्वार्थ कामना) में कुलीनता की रक्षा करना कठिन है।

श्रीराम के स्वरूप का साहित्यिक वर्णन

छंद में कहे तीनों दृष्टान्तों का तात्पर्य कैकेयी और ग्रन्थकार श्री तुलसीदासजी के पक्ष से विवेचनीय है। कैकेयी के पक्ष में यह कहना है कि जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश दिन में सुशोभित होता है उसी प्रकार श्रीरामरूप सूर्य के अयोध्या में रहने से धर्म, नीति आदि का ज्ञान विस्तृत होता रहेगा। जैसे शरीर की शोभा प्राण से है वैसे ही श्रीराम के स्नेह शील से अयोध्यावासी आकृष्ट एवं जीवित हैं। बिना चन्द्रमा के रात्रि अंधकारमय है, उसी प्रकार श्रीरामविरहित अयोध्या में कैकेयी के कलंकरूप अंधकार में मोह दिखायी पड़ेगा।

ग्रन्थकार स्वपक्ष में बुद्धिरूप भामिनी से प्रार्थना कर रहे हैं कि विषयान्तर को हटाते हुए हृदय से रामविषयक संस्कारों को न हटने दे। उक्त तीन दृष्टान्तों से गोसाईजी श्रीराम का सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप दिखा रहे हैं। उसीको संक्षिप्त भाषा में पूर्णसत्त्वगुणस्वरूप माना जाय तो साहित्यशास्त्र के अनुसार निम्नलिखित तथ्य प्रकट होता है। जैसे कि ईशसमवेत ज्ञान एवं आनन्द की प्रभा का हृदय में उद्रेक होना, उसमें क्रियाप्रभा का मिलना, यही शक्ति का प्रादुर्भाव है। उक्त ज्ञान-आनन्द-क्रिया की प्रभा का हृदय में उच्छलन ही श्रीराम के सच्चिदानन्दरूप का प्राकट्य है। इन तीन प्रभाओं से युक्त रामतत्व जब बाहर प्रकट होता है तब श्रीरामरूप-प्रभु की ज्ञान-आनन्द-क्रिया-संज्ञा न होकर वह स्नेह शील नीतिमान् के रूप में वे सांज्ञित कहे जाते हैं।

संगति : विप्रवधुओं की शिक्षा का परिणाम रानी पर कुछ नहीं हुआ, ऐसा शिवजी समझा रहे हैं।

सो० : सखिन्ह सिखावनु दीन्ह सुनत मधुर-परिनाम-हित ।
तेइ कछु कान न कीन्ह कुटिल प्रबोधी कूबरी ।। ५० ।।

भावार्थ—'विप्रबधू कुलमान्य जठेरी' सखियों ने कैकेयी को जो शिक्षा दी, वह सुनने में मधुर और परिणाम में हित करने वाली है। पर रानी ने कुछ भी नहीं सुना या माना क्योंकि कुटिला कुबड़ी ने उसको राजा, कौसल्या आदि के बारे में कुटिलता का प्रबोध करा दिया था।

शा० व्या० : कैकेयी पर विप्रवधुओं की शिक्षा का प्रभाव न होने का कारण उसका कौसल्याजी व राजा के प्रति विपरीत ग्रह का अभिनिवेश है। यद्यपि तर्कद्वारा आपत्ति को समझना विपरीतग्रह को दूर करने में समर्थ माना गया है, तथापि कैकेयी का क्रोधावेश विप्रवधूक्त 'सुनत मधुर परिनाम हित, को शिक्षा के प्रति रुकावट कर रहा है। इसीलिए बाल्यकाल में ही तर्क शक्ति का उदय और धर्म- तत्व का परिचय कराने पर राजनीति बल देती है जिससे प्रौढ़ावस्था में विषयासक्ति के अभिनिवेश में नीति-समर्थ होती रहे व तर्क का अभ्यास कार्यकारी हो।

संगति : विप्रवधुओं के समझाने पर भी रानी क्रोध में उत्तर नहीं दे रही हैं।

चौ० : उतरु न देई दुसह रिस रूखी । मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी ।। १ ।।

भावार्थ—दुःसह क्रोध में विमनस्का कैकेयी उत्तर नहीं दे रही है, केवल घूरकर देख रही है, मानो भूखी सिंहनी अपने शिकार पर दृष्टि लगाये हो।

रानी के अनुत्तर का तात्पर्य

शा० व्या : क्रोध ने वशीभूत करके कैकेयी को अभिमानिनी[1] बना दिया है जिसका परिणाम है कि वह उत्तर नहीं दे रही है। उत्तरार्धाली में सिंहिनी के दृष्टान्त से विप्रवधुओं के प्रति आघात की भावना का तात्पर्य नहीं है, केवल रोषमुद्रा में रानी का अपने हठ में उसकी स्थिति को वताना उद्देश्य है। अतएव उत्तर न मिलना विप्रवधुओं की दृष्टि में अपमान का सूचक होता हुआ भी उन्होंने अपमान न समझ प्रभु की इच्छा कहकर दूर होने में अनुत्तर का तात्पर्य समझा।

संगति : बहुत देर तक माननीया महिलाओं ने उत्तर की प्रतीक्षा की होगी। उत्तर न पाकर वहाँ से विप्रवधुएँ हट रही हैं।

चौ० : ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी । चलीं कहत मतिमन्द अभागी ।। २ ।।

भावार्थ—उन महिलाओं ने कैकेयी की व्याधि को असाध्य समझ रानी को छोड़कर चल दिया। वह अपने मनस् में रानी को मूढ़ा और अभागिनी कहने लगीं।

शास्त्र-मर्यादा के उल्लंघन में असाध्य दोष

शा० व्या० : उनको स्पष्ट हो गया कि कैकेयी के हृदय में भड़का क्रोधरूप रोग असाध्य है। उसका फल मतिमान्द्य है जिसमें तर्क समाप्त है। चौ० ८ में 'जेहि विधि' का पालन न करने से उक्त आपत्तियों का घटित होना निश्चित है ऐसा समझकर वे रानी को अभागिनी कह रही हैं। पहले कहा जा चुका है कि लोक-वाच्यता से त्राण पाने के लिए विप्रवधुओं ने उपर्युक्त प्रयास किया है जो स्तुत्य माना जायगा। शास्त्रविधि-

१. गर्वो विद्याबलैश्वर्यवयोरूपधनादिभिः।'''तमनुत्तरदानेन शून्यालोकैरभाषणैः। (भावप्रकाशन)

सम्मत प्रयास की विफलता तथा रानी के 'मतिमन्द अभागी' में दैवबल को आधार समझते हुए 'व्याधि असाधि जानि से अपनी अशक्यता प्रकट करते हुए वे जा रही हैं। मतिमन्द की सार्थकता चौ० ८ दो० ५१ में देखें।

चौ० : राजु करत यह दैअँ बिगोई। कीन्हेसि अस जस करइ न कोई ॥ ३ ॥

भावार्थ—राज्य करने का सुख उठाते हुए कैकेयी को दैव ने दुष्टा कर दिया जिससे इसने ऐसा कार्य किया जोकि कोई भी बुद्धिमान् नहीं करता।

शा० व्या० : इतने पर भी वह अपने निर्णय दृढ़ा है इसका कारण प्रभुविधान का प्राबल्य है। अतः तत्काल में कैकेयीकृतिप्रयुक्त दार्ढ्यं राजा श्रीराम, भरतजी आदि के अमंगल की ओर प्रेरणा देता मालूम होता है। फिर भी भविष्यत् में उन सभी का मंगल होनेवाला होने से (कीन्हेसि असजम करइ न कोई चौ० ३ दो० ५१) वृद्धाओं के वचन तत्कालिक अश्रेयस्परक समझने होंगे उसी में दैव बिगोइ का समन्वय ज्ञातव्य है।

राजनीतिसिद्धान्त से राजा के पुरुषार्थं में न्यूनता न होते हुए भी रामराज्यारोहण में दैव द्वारा जो प्रतिबन्ध हुआ, उसको 'अनय' तथा आपत्तियों को सुनने पर भी अपने स्वार्थसिद्धि में उसकी इष्टापत्ति स्वीकार करना कैकेयी का 'अपनय' कहा जायगा। इस अपनय से रानी ने दैवानुकूलय का विघात किया है, जिसको 'मतिमन्द अभागी' से व्यक्त किया गया है। इस प्रकार वनवास में प्रतिबन्धक तत्व निरस्त किये गये हैं।

ज्ञातव्य है कि दैव को दोषी कहकर स्वयं ने दुःखी होने के प्रत्युत्तर में कौसल्यासंवाद का निरूपण आगे होगा।

संगति : प्रतिबन्धकनिरास निरूपण की अपेक्षा को देखकर मध्य में विलाप का जो प्रसंग चौ० ३ दो० ४९ से छूट गया था, उसको ग्रन्थकार आगे जोड़ रहे हैं। अथवा विप्रबधुओं का वचन भी विलाप के अन्तर्गत मानकर उसको पूर्ण कर रहे हैं।

चौ० : एहिविधि बिलपहिं पुर-नरनारी। देहिं कुचालिहि कोटिक गारी ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस प्रकार नगर के नर-नारी विलाप कर रहे हैं और कुटिल कार्य करनेंवाली कैकेयी को अनेक तरह की गाली दे रहे हैं।

लोकधिक्कार में विनाश

शा० व्या० : श्रीराम में अत्यन्त अनुरक्त जनता का श्रीराम के वनवास में दुःखपीड़ानुभव करना प्रजानुराग का चिह्न है। 'कुचालिहि' से कैकेयी की अकार्य में प्रवृत्ति दिखायी है, जिसका उल्लेख चौ० ७ दो ५० की व्याख्या में कही आपत्तियों से स्पष्ट है जो राजनीति में अपनय के अन्तर्गत माना जायगा। 'देहिं कोटिक गारी' से लोकधिक्कृत् होना स्पष्ट किया गया है। 'कोटिक' से कोटि या विधि समझना चाहिए। जिस प्रकार जनता के सामुदायिक अदृष्ट ने उनको रामराज्यारोहणोत्सव से वंचित किया उसी प्रकार 'मतिमंद अभागी' से कहना है कि राजनीति का कहना है कि नैतिक कार्य की सफलता प्रमाणत्रय से प्रमित एवं देशकाल शक्ति से समन्वित होना चाहिये उस तरफ से कैकेयी का मुड़ना व्याधि है तन्निमित्तक लोक-धिक्कृति कैकेयी के मनोरथरूप भाग्य को बाधित करेगी।

संगति : कैकेयी के अकार्य की असफलता का संकेत आगे स्पष्ट हो रहा है।

चौ० : जरहिं विषमज्वर लेहिं उसासा । कवनि रामबिनु जीवन आसा ? ।। ५ ।।
बिकलबियोग प्रजा अकुलानी । जनु जलचर गन सूखत पानी ।। ६ ।।

भावार्थ : प्रेमविषय श्रीराम के वियोग की कल्पना में विरहज्वर इतना बढ़ गया कि इसके ताप से श्वाँस की स्वाभाविक गति अवरुद्ध होकर प्रजाजन ऊर्ध्वश्वास लेने लगे। जैसे पानी सूखने पर मछलियाँ व्याकुल होने लगती हैं वैसेही प्रजा श्रीराम के वियोग को आसन्न जानकर व्याकुल हो सोच रही है कि श्रीराम के विना जीने की क्या आशा रखना है।

प्रजा में विरह-दुःख

शा० व्या० : श्रीराम के स्नेहरूप जल के अभाव की कल्पना में अवधवासियों को अपना जीवन रखना संभव नहीं दिखता। वृद्धाभिसेवी, धर्मविजयी, न्यायपालक, शत्रुविजयी श्रीराम के पूर्ण सत्व का प्रभाव है कि रामप्रीति में प्रजा सुख का अनुभव करती थी, यही भारतीय राजनीति का आदर्श है। आदर्श श्रीराम के विना प्रजा जीवित रहना नहीं चाहती इसलिए राम 'कवनिबिनु जीवन आसा' का समाधान खोज रही है। स्मरण रखना होगा कि इसका समाधान वही है जो कवि ने सुमन्त्र के जीवन-धारण के प्रसंग में चौ० ४ दो० १४५ में 'जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी' से व्यक्त किया है।

संगति : प्रजा के विलाप सुनते व विषादवशता को देखते श्रीराम माता के समीप पहुँच गये।

चौ० : अति-बिसादबस लोग लोगाई । गए मातु पहिं रामु गोसाई ।। ७ ।।

भावार्थ : इस प्रकार पुर के नर नारी अत्यन्त विषाद में डूब गये। गोसाई श्रीराम जी माता कौसल्या के पास पहुँच गये।

शा० व्या० : दैव की बाधा जब उत्पन्न होती है तब मानसिक क्रिया में विषाद का संचार होता है जिसको 'विषादबस, कहा है।

विषाद के भेद

विषादवशता में प्रजा के पूर्वोक्त 'उसासा' और 'अकुलानी' से तत्तत्प्रकृति में विघ्नज विषाद के लक्षण प्रकट किये गये हैं उत्तम मध्यम और कनिष्ठ-प्रकृति-व्यक्तियों के भेद से उत्तम मध्यम कनिष्ठ विषाद ज्ञातव्य हैं। उत्तमप्रकृति का विषाद विप्रवधुओं के उपायान्वेषणप्रयुक्त चिन्तन से व्यक्त पूर्व कर्मों में है।[1]

---

१. चौर्यादिग्रहणाद्विघ्नाद्विषादो नाम जायते । ज्येष्ठ मध्यकनिष्ठेषु स त्रिधा कथ्यते बुधैः ।।
सहायान्वेषणोपायचिन्तादि ज्येष्ठजो भवेत् । वैमनस्यमनुत्साहो विघ्नैःशय्या च मध्यमे ।।
ध्यानश्वसितमूर्च्छादिः कनिष्ठानां निरूप्यते । —भाव प्रकाशन

'रामु गोसाईं' का भाव

'गोसाईं' से प्रस्तुत अवसर पर श्रीराम की निर्विकारता एवं जितेन्द्रियता दिखायी है। प्रभु का यह स्वाभाविक गुण है, तो भी नीतिदृष्टि से उनमें शिक्षाप्रयुक्त विवेक का प्रभाव कहा जायगा। चौ० ३ दो० १२ में कहे 'बिसमय हरष रहित रघुराऊ' की व्याख्या में श्रीराम की निर्विकारता का स्वाभाविक स्वरूप प्रकट किया गया है।

प्रजानुराग की स्थिरता व अस्थिरता

आज राज्यारोहण में विघ्न होने से जनता दुःखिनी है। पर भरतजी की अनुपस्थिति में श्रीराम राज्यारूढ़ होते हैं तो कल वही जनता उनको (श्रीराम को) राज्यलिप्सु कहने में देर नहीं करेगी। अतः जनता के हर्ष-विषाद की अस्थिरता को समझकर श्रीराम नीतिगत जितेन्द्रियता को रखते हुए जनता के विषाद पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। प्रजानुराग में सरसता न रखते हुए श्रीराम अपने कर्तव्य पर दृढ़ हैं। अर्थलिप्सा के सम्बन्ध से स्वार्थी का प्रेम अस्थायी रहता है जैसा कैकेयी द्वारा प्रजानुराग की उपेक्षा से स्पष्ट है। उधर अर्थलिप्सा से अलिप्त श्रीराम एवं कौसल्या का प्रजानुराग स्थिर है।

प्रेम की स्थायिता का कारण

धर्ममर्यादा में आरूढ़ श्रीराम प्रजापालन में तत्पर रहकर प्रजा को कुपथ से बचाने में उनके प्रति प्रीति रखते हैं। विषय-सेवन और अर्थलिप्सा से रहित हो शास्त्रशिक्षा और विज्ञान से प्रयुक्त धृति संपद्-विपत् स्थिति में कार्य की साधिका मानी गयी है, जैसा अग्रिम रामचरित्र से स्पष्ट होगा।

संगति : धृति में स्थिर श्रीराम के विषादाभाव की सुष्ठुता उनकी मुखाकृति से कवि स्फुट कर रहे हैं।

चौ० : मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ। मिटा सोचु जनि राखै राऊ॥ ८॥

भावार्थ : श्रीराम के मुखमण्डल पर हर्ष प्रकट है, मनस् में चौगुना उत्साह है। वनगमन से रोक कर राजा कहीं रख न लें, ऐसी चिन्ता श्रीराम को थी वह चली गयी।

प्रभु की प्रसन्नता में निर्बाधता

वृद्ध महिलाओं की उक्ति "गुर गृह बसहुँ रामु तजि गेहू। कानन काह राम कर काजू" आदि से श्रीराम के वनवासोत्साह में मलिनता आने का प्रसंग उपस्थित हो रहा था, उसकी प्रसक्ति विप्रवधुओं के हटने से ('चली कहत मतिमन्द अभागी') से दूर हो गयी। कैकेयी में वरयाचना कार्य के प्रति उत्साह की कमी नहीं है, यह भी प्रभु के मुख की प्रसन्नता की निर्बाधता का द्योतक है।

प्रभु के चित्त में उत्साह की वृद्धि

'चौगुन चाऊ' से पिता की आज्ञा का पालन, भरतजी को राज्य और वनवास में साधुसंगति का लाभ एवं इन तीनों के साधन में विघ्न का विनाश प्रभु के उत्साह की समृद्धि में कारण है। चौ० ८ दो० १० में 'प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरहु भगत मन कै कुटिलाई' की चरितार्थता को कवि 'मिटा सोच' से प्रकट कर रहे हैं अर्थात् प्रभु का मनस् संकल्पित 'अनुचित एकू' का पछतावा चला गया। इसके साथ ही मतिमन्दता अभागी आदि दोषों से सरस्वती की माया से प्रेरिता कैकेयी की मुक्ति प्रभु की प्रसन्नता में लक्षित

है—यह भी 'भगत मन कै कुटिलताई' के हरण का एक प्रकार है। अथवा कवि ने दो० ४१ में कहे वनवास में होनेवाले चार प्रकार के लाभों को उपस्थितिकृतलाघव से 'चौगुन चाऊ' कहा है। अथवा आगे चौ० ६ दो० ५३ में प्रभु के कहे 'काननराजू' में राजनीतिसिद्धान्तानुसार विजिगीषुत्व होने की संपत्ति के बलपर संघटनादि कार्य, एवं व्यसन-प्रतीकार में प्रवृत्ति एवं परराष्ट्र (लंका) विजय कर्तव्य है उसमें प्रधानतया उत्साह को स्थिर रखना विजिगीषु के लिए प्रधान संबल कहा गया है। सीताहरण, सुग्रीवप्रमाद, लक्ष्मण-शक्ति आदि व्यसनों में श्रीराम का उत्साहसमृद्धसत्व प्रकट होगा।

संगति : राज्याभिषेक में कैकेयी के मनोरथ पूर्तिप्रागभाव (प्रतिबन्धक) के रहते अभी का राज्याभिषेक बन्धनमात्र है उससे छूटना प्रभु को इष्ट हो रहा है।

दो० ; नव गयंदु रघुबीरमनु राजुअलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान ॥ ५१ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार नया पकड़ा हुआ हाथी बन्धनमुक्त होना चाहता है उसी प्रकार श्रीराम का मनस् राज्यबन्धन से छूटने में उत्साहित है। जैसे बन्धन से छूटकर वन में भागा हाथी चैन का श्वांस लेता है उसी प्रकार राज्यबन्धन से छूटा जानकर वनगमन के प्रति रघुनाथजी के हृदय में अधिकाधिक आनन्द हो रहा है।

बन्धनमुक्ति

शा० व्या० : भरतजी की अनुपस्थिति में अपने राज्यारोहण से शंकारूप आपत्ति का फैलना प्रजा में द्रोह की सम्भावना का कारण हो सकता है, ऐसा समझकर श्रीराम ने राजपद को अभी अनुचित्त होने से बन्धन माना है, किंबहुना यह राज्यलिप्सा अपयशस् का मूल हो सकती है (उदाहरणार्थं अग्निशुद्धि के बाद सीता के सम्बन्ध में प्रजा का अविश्वास फैलना प्रसिद्ध है) उससे छूट गये। जैसे नया हाथी बन्धन-मुक्त हो वन में भागने में तत्पर होता है वैसे ही श्रीराम वनगमन में उद्यत हैं। राजनीति-सिद्धान्तसे इस प्रकार का कार्य करना स्थिर प्रजानुरक्ति का साधन है।

माता से बिदा मांगने का प्रयोजन

वनगमन कार्य की सफलता के लिए श्रीरामजी कौसल्या के समीप में जाकर खड़े हुए हैं श्रीराम का अंगत्व इसलिए कि वनवास के स्फुट नहीं रहा है। अर्थात् वनवासोद्देश्येन प्रवृत्त कृतिकारकत्वेन विहितत्व होने पर ही मीमांसको ने अंगत्व माना है वह अभी श्रीराम में नहीं है क्योंकि राजा वनवास के प्रति मौन है। सकहुत आप न कहकर कैकेयी प्रवर्तना का प्रतिभूत्व अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं है इसलिए वनवास के प्रति श्रीराम अपने में अंगत्व को स्फुट कराने के हेतु से विदा के लिए माता को नमस्कार कर रहे हैं।'

चौ० : रघुकुलतिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातुपद नायउ माथा ॥ १ ॥
दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे। भूषन-बसन निछावरि कीन्हे ॥ २ ॥
बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेहजलु पुलकित गाता ॥ ३ ॥

गोद राखि पुनि हृदय लगाए। श्रवत प्रेम रस पयद सुहाए॥ ४॥
प्रेम प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनदपदवी जनु पाई॥ ५॥

भावार्थ : हर्षोत्साह में भरकर रघुकुलश्रेष्ठ श्रीराम दोनों हाथ जोड़कर माता के चरणों में प्रणाम कर रहे हैं। रामराज्याभिषेक के मानोरथिक उल्लास में आशीर्वाद के साथ पुत्र का आलिंगन, बारंबार चुंबन, नेत्रों में अश्रुजल, शरीर में पुलक आदि से माता में स्हने का अनुभाव प्रकट हो रहा है। मंगल के निमित्त से दानादि कार्य तथा विघ्ननिरास या कुदृष्टि के परिहारार्थ वस्त्रालंकार का निछावर माता कर रही है। पुत्र श्रीराम को गोद में बैठाकर हर्षातिरेक में माता पुनः आलिंगन कर रही है। पुत्रस्नेह में माता के स्तनों से दूध बह रहा है। माता के पुत्रप्रेम का उत्कर्ष एवं रामराज्याभिषेकोत्सवप्रयुक्त हर्ष का अतिरेक कहा नहीं जा सकता, मानो जन्म के दरिद्री को कुबेरपद की प्राप्ति हुई हो।

शा० व्या० : प्रभु के 'मुख प्रसन्न चित्त चाऊ' को देखकर माता राज्याभिषेक विषयक मोद में पुत्र के प्रति हर्ष का अनुभाव व्यक्त कर रही है। 'न कछु कहि जाई' का भाव है कि प्रेमप्रमोद की अतिरेकता माता को स्वसंवेद्य है माता के मनस् में ही रहे राज्यभिषेकोत्सव के सुख को कल्पना तथा पुत्र के अभ्युदय की मंगलकामना कहीं नहीं जा सकती।

माता के प्रमोद में निहित तत्व

पुत्र श्रीराम के प्रति माता कौसल्या के प्रेमप्रमोद में निम्नलिखित तत्व स्मरणीय हैं १. पुत्र का विनय २. पुत्र की सर्वाधिक प्रसन्न मुद्रा ३. मातृत्व की सीमा ४. पुत्र का यशस् ५. पुत्रजन्म की सफलता ६. सम्पूर्ण जीवन का अन्तिम लक्ष्यविन्दु राज्योत्सव का आनन्द ७. माता की शिक्षा ८. पुत्र की आत्म गुण-सम्पत्ति ९. पुत्रहेतुक मातृस्वभाव की वास्तविकता १०. जीवन की सात्विकता और ११. पतिव्रत धर्म की धन्यता।

संगति : सूर्योदय होने पर अभिषेकोत्सवनिमित्तक कार्य के सम्पत्त्यर्थं माता कौसल्या जिज्ञासा प्रकट कर रही है।

चौ० : सादर-सुन्दर-बचन निहारी। बोली मधुरबदनु महतारी॥ ६॥
कहहु तात ! जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी ?॥ ७॥
सुकृत-सील-सुख-सींव सुहाई। जनमलाभ कइ अवधि अघाई॥ ८॥

भावार्थ : श्रीराम का सुन्दर मुखारविन्द बड़े आदर से देखते हुए माता मधुरवाणी में बोली "हे तात ! माता बलि जाती है, बताओ कि मुद मंगल को देने वाले राज्याभिषेक का लग्न कब है ? यह राज्योत्सव ही हमारे पुण्य और शील के सुख की शोभनीय सीमा है तथा जन्म के पूर्ण लाभ की यही पर्याप्ति है।

राज्योत्सव के मुहूर्त्त की जिज्ञासा

'बलिहारी' से अपना सुख भूलकर पुत्र के सुख की अभीप्सा में श्रीराम के सुन्दर मुख के दर्शन में अपने को समर्पित करने का भाव व्यक्त है जिसको 'सादर' से ध्वनित किया है। साहित्य में इसको व्यभि-

चारिभाव कहा जा सकता है, पर राजा भोज, मधुसूदनसरस्वती आदि विद्वानों ने इसको भक्ति व वात्सल्य रस कहा है।

'कबहिं लगन मुदमंगलकारी' से ध्वनित है कि श्रीराम को जब मुदमंगलकारी होगा तभी लग्न माना जायगा जिस प्रकार दो० ४ में गुरु वसिष्ठजी के 'सुदिन सुमंगल तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु' वचन की व्याख्या में कहा गया है।

कौसल्याजी को पूर्वजन्मद्वितयसुकृतफल का स्मरण

पूर्वजन्म में शतरूपातनु में (बा० का० दो० १५०) प्रभु से वरयाचना करते हुए जो मांगा था ("सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरनसनेहु। सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु") उसीका स्मरण करते हुए कौसल्याजी रामराज्योत्सव देखने में 'जनम लाभ कइ अवधि अघाई' कह रही हैं। ऐसा ही "जे निजभगत-नाथ! तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं" को अज्ञातरूप में स्मरण करके राज्योत्सव को 'सुकृत सील सुख सींव सुहाई' कहा है।

बा० का० चौ० ३-४ दो० १८७ में "कश्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा। ते दसरथ-कौसल्यारूपा" के अनुसार स्मरणीय है कि कौसल्याजी के उक्त सुकृत सुख में अदिति का संस्कार भी स्फुट है।

संगति : रामराज्याभिषेकोत्सव में संपूर्ण अयोध्यावासि-नर-नारियों की लालसा को कौसल्याजी प्रकट कर रही हैं।

दो० : जेहि चाहत नर-नारि सब अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक-चातकि तृषित बृष्टि सरदरितु स्वाति ॥ ५२ ॥

भावार्थ : रामराज्याभिषेक के लिए संपूर्ण प्रजाजन आर्त होकर उसी प्रकार कामना कर रहे हैं जैसे चातक-चातकी शरद—ऋतु में स्वाति के बूंद के लिए प्यासे रहते हैं।

पुत्र श्रीराम की नैतिक सफलता में माता का हर्ष

शा० व्या० : 'चाहत नरनारि सब' से कवि श्रीराम के प्रति प्रजा का नैतिक भाव प्रकट कर रहे हैं—

संपूर्ण प्रजा प्रियश्रवणजन्य आवेग में अपना भान भूल गयी है। श्रीराम की वत्सलता में अपने को सुखिनी मानकर माता कौसल्याजी पुत्र की राजनैतिक सफलता में अत्यन्त हृष्टा है। नेता के सामने तीन पक्ष उपस्थित होते हैं—शत्रु, मित्र और उदासीन।[1] मित्र अपने प्रिय के उत्कर्ष को देखकर सुखी होता है। शत्रु उसके अशुभ में सुख मानता है। उदासीन को शुभ या अशुभ से कुछ लेना देना नहीं होता। श्रीराम के राज्यारोहण में कोई शत्रु या उदासीन नहीं है, ऐसा मानते हुए माताजी श्रीराम की नीतिकुशलता से प्रसन्ना है जैसा राजा ने भी कहा है "जे हमार अरि मित्र उदासी। सबहिं राम प्रिय'। अतः बुद्धिमती माताजी श्रीराम की प्रजावत्सलता में सुख मानती है। प्रजा भी प्रभु श्रीराम के राज्याभिषेक में रस 'आनन्द' लेने को उत्सुक है। 'जनम लाभ कइ अवधि सुहाई' से रामराज्यारोहणोत्सव देखने के लिए माताजी का जो भाव प्रकट है, वही भाव कवि ने स्वाति-बूंद के लिए तृषित चातक-चातकी के दृष्टान्त से व्यक्त किया है।

---

१ मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः। उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षाः मित्रोदासीनशत्रवः ॥ (नी० ब० ८।प्र०१३)

संगति : राज्याभिषेकोत्सव कार्य की व्यस्तता में समय न पाने से भोजन में बिलम्ब हो सकता है, इसलिए माताजी पुत्र के स्वास्थ्य की कामना में कुछ खा लेने का आग्रह कर रही है—

चौ० : तात ! जाउँ बलि बेगि नहाहू । जो मनभाव मधुर कछु खाहू ॥ १ ॥
पितुसमीप तब जाएहु भैआ । भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ ॥ २ ॥

भावार्थ : राज्याभिषेककार्य में बहुत समय लगेगा, अभी बहुत देर ऐसे ही हो गयी है, इसलिए माताजी बलैया लेती है कि "हे तात ! प्रातःस्नान, दैवकृत्यादि करके जो मनस् में भावे-थोड़ा मधुर पदार्थ खाकर पिताजी के पास जाना ।

प्रातःकालीन उपचार

शा० व्या० : पुत्र के प्रति मातृस्नेह के प्राकट्य के साथ प्रातःस्नान के नित्यकर्म आदि निर्देश से धर्मविधि के प्रति माताजी का आदर एवं आयुर्वेदशास्त्रसम्मत स्वास्थ्यदृष्टि भी व्यक्त है । 'मधुर कछु खाहू' का भाव है कि वातपित्तशमन के लिए प्रातःकाल मधुर अल्पाहार स्वास्थ्यवर्धक है । "प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा" के अनुसार यद्यपि मातृपित्रादि की वन्दना करने का नित्यनियम था ही, विशेषतया राज्याभिषेककृत्य को स्मरण करके अभी 'पितु समीप तब जाएहु भैआ' कहा है क्योंकि अभिषेककृत्य पिताश्री की सन्निधि में ही सम्पन्न होगा ।

संगति : माता की 'जनम लाभ कै अवधि सुहाई' को भावना को समझ तदनुकूलतया प्रभु 'कानन-राजू' कहकर माताजी को आश्वस्त करेंगे—अर्थात् वनवासकार्य से स्वमण्डल के भेदभाव को समाप्त करके प्रजानुराग की स्थिरता होनेपर, देवकार्य को सम्पन्न इस प्रकार करेंगे जिससे दैवानुकूलता को बनाते हुए राज्योत्सव के आनन्द से माताजी को पूर्ण सन्तोष होगा । अभी प्रभु मातृस्नेह को पीछे रखकर कर्तव्यनिष्ठा को व्यक्त कर रहे हैं ।

चौ० : मातुबचन सुनि अति अनुकूला । जनु सनेह सुरतरु के फूला ॥ ३ ॥
सुख मकरंद भरे श्रियमूला । निरखि राममनु भँवरु न भूला ॥ ४ ॥

भावार्थ : माताजी के वचन को सुनकर श्रीराम ने अत्यन्त अनुकूल समझा । माताजी के वचन मानो स्नेहरूप कल्पवृक्ष के फूल हों जिसमें श्रीमिश्रित पुष्परस का सुख भरा है । पर श्रीराम का मनोरूपी भौंरा उसको देखकर लुभा नहीं रहा है ।

'मातुबचन सुनि अति अनुकूला' का तात्पर्य

शा० व्या० : राजपदाधिष्ठान का सम्बन्ध प्रजापालन-मुख्यधर्म से है, उसका निर्वहण शरीररक्षणाधीन है । इस दृष्टि से माताजी की कही जलपान विधि धर्माविरोधितया अनुकूल है । माताजी के वचन में कहा मंगलस्नान, मंगलकार्य के निमित्त से पिताश्री के पास जाना आदि अनुकूलता के अन्तर्गत ही हैं, उनमें से 'पितु समीप तब जाएहु' से संबंधित 'अतिअनुकूला' प्रभु को इष्ट है क्योंकि पिताश्री से कहे 'चलिहउँ बनहि बहुरि पग लागी' का मनोरथ लेकर माताजी से बिदा माँगने आये हैं, जिसकी पूर्णता माताजी के उक्त वचन से ध्वनित है । इस संकल्प की पूर्ति को स्पष्ट करने के लिए कवि ने माताजी के वचन का कल्पवृक्षत्व दिखाया है । चौ० १ दो० ४२ में प्रभु की उक्ति 'विधि सबविधि मोहि सनमुख आजू' के अनुरूप 'अति अनुकूला' का तात्पर्य मननीय है ।

भावना के आदर की सीमा

जैसे पुष्प और उसकी गन्ध भौंरे को आकर्षित करता है वैसे ही माताजी के स्नेह ने पुत्र को आकर्षित किया है। पुष्परस के स्वाद में भूलकर भौंरा प्रमादी होता है, पर श्रीराम का मनस् माताजी के राज्यश्री से युक्त मानोरथिक सुख में आकृष्ट न होकर अपने कर्तव्य में रत है। इस रीति से भावनाओं और कर्तव्य में सूक्ष्म विवेक दर्शाया गया है। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य काम, क्रोध, स्नेह आदि की भावनाओं में फँसकर कर्तव्य से विमुख होता हैं किन्तु भक्तिपक्ष में भावनाओं का आदर वहींतक है जहाँतक उनमें कर्तव्य का विवेक है। 'राम मन भँवर न भूला' से श्रीराम की कर्तव्यनिष्ठता का परिचय मिलता है।

संगति : आगे मृदुबानी से कवि समझा रहे हैं कि श्रीराम माताजी के स्नेह में धर्मकर्तव्य नहीं भूले हैं।

चौ० : धरमधुरीन धरमगति जानी। कहेउ मातुसन अति मृदु बानी॥ ५॥
पिता दीन्ह मोहि काननराजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥ ६॥

भावार्थ : धर्म की धुरी अर्थात् उसकी परिमिति को जाननेवाले श्रीराम ने धर्म को कर्तव्य समझा और माताजी से अत्यन्त मृदु वाणी में बोले 'पिताश्री नें मुझे वन का राज्य दिया है, वहीं मेरी सब प्रकार की सर्वार्थसाधना होगी।

धरमधुरीन आदि की व्याख्या

शा० व्या० : 'धरमधुरीन' से श्रीराम की रुचि दिखायी है जो 'वर्तमानवस्तुमात्रविषयिणी स्पृहा धृतिः' के अनुसार नीतिमान् के वर्तमान विषयवस्तु तत्वनिश्चयज धृति से होती है, तदनुसार राज्य-सुख-भोग में श्रीराम की रुचि न होकर प्रस्तुत वनवाससम्बन्धिकन्दमूलादि पदार्थो में है। 'धरमगति' से 'तेहि महँ पितु आयसु बहुरि सम्मत जननी तोर' (दो० ४१) से संगत वनवासव्रत की स्वीकृति प्रकट करने के बाद स्वाद्य पदार्थों के ग्रहण की उपेक्षा से वनवासव्रत व राजधर्म को अपने चरित्र से दर्शाया है। 'काननराजू' कहकर माता कौसल्याजी को आश्वस्त किया है जैसा चौ० ३ दो० २९ में 'तापसवेष बिसेषि' की व्याख्या में कहा गया है। कैकेयी माता से दो० ४१ में कहा 'मुनिगनमिलन बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर' को प्रभु ने माता कौसल्याजी के सामने 'सब भाँति मोर बड़ काजू' से ध्वनित किया है। 'बड़ काजू' से प्रभु का अवतारकार्य भी विवक्षित है। 'मृदु बानी' से प्रभु के द्वारा असाधारण ज्ञान या प्रबोध प्रकट किया गया है। माता कौसल्याजी के प्रति 'अति मृदु बानी' का उपयोग माताजी के जन्मान्तरीय संस्कार के उद्बोध में ज्ञातव्य है। 'अति मृदु बानी' से कवि प्रभु की मधुरता, मंजुलत्व, प्रीति, गम्भीर्य, औदार्य, स्पष्टत्व आदि गुणों को ध्वनित कर रहे हैं, जो प्रभु के वचनो में स्फुट होगा।

'कानन राजू' से रावण द्वारा अधिकृत (अयोध्या राज्य का भू-भाग) दण्डकारण्य की मुक्ति और लंका-विजय समझाया है।

श्रीराम की धर्मधुरीणता और धर्मगति

शा० व्या० : शिवजी कह रहे हैं कि धर्म में निष्णात व्यक्ति ही धर्म की गतिविधि को समझ सकता है, दूरदर्शी होकर मतिभाव को भी वह स्थिर रखता है। राजनीति सिद्धान्त से विश्व को परस्पर आबद्ध रखने के लिए धर्म की सृष्टि हुई है।[1] धर्मात्माओं के लिए उत्साह का सम्बल तथा शौर्य आदि गुण धर्म से समुदित होते रहते हैं। राजनीतिसिद्धान्त में भी धर्म गतिका अन्तिम बिन्दु विषय भोग और स्वर्गप्राप्ति

१. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा ना० उपधर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्। भारत

उनका ध्येय नहीं, अपितु राज्य की प्रतिष्ठापूर्वक ईश्वरभक्ति है, उसी में राग और प्रीति को बनाये रखना है। उसी से सम्बद्ध धर्म, अर्थ और काम का साधक हैं। धर्मधुरीण ही सत्यसन्धता की रक्षा में समर्थ हो सकता है जैसा चौ० २ दो० २४३ की व्याख्या में विवेचित है।

वेदान्त के अनुसार धर्म का ध्येय आत्मचिन्तन है।[1] भागवतसिद्धान्त में शरीर और विषय को भूलकर तन्मयता में भगवद्यशोगानात्मक धर्म ही अन्तिम लक्ष्य बिन्दु है।[2] राजनीति सिद्धान्त में सेवा-भावात्मक प्रजापालन धर्म को अपनाते हुए अपने में प्रजानुराग सदा बनाये रखना धर्म की दृष्टगति मानी गयी है।[3] क्षत्रियों के लिए तो प्रजापालन ही धर्म है, सम्पूर्ण वर्णाश्रमधर्म उसका अंगभूत माना गया है। श्री रामका अवतार धर्मपालन करने के लिए, त्राता रूप में हुआ है। प्रजा के विरोध में कोई कार्य करना राजनीति को अभीष्ट नहीं है। शरीर के पालन में जितना आवश्यक है उतना ही विषयसेवन सर्वसम्मत है। अभी भरतजी की अनुपस्थिति में राजपद का 'श्रियमूला सुख मकरन्द' रूप आस्वाद लेना प्रजा के अनुराग का संपादक नहीं होगा, किंबहुना राजधर्म की गति का विनाशक होगा। सत्कार आदि जिन कार्यों को देखकर प्रकृति (प्रजा) में क्षोभ की आशंका हो उन कार्यों से विरत रहना नेता के लिए आवश्यक है। राज्य का त्याग और वनवास स्वीकार करने से अन्तःपुर का भेद नष्ट होगा, प्रजा की आशंका दूर होगी, भ्रातृसंघटन बना रहेगा, भरतजी के राज्यशासन से प्रजा की सुरक्षा एवं प्रजापालन अक्षुण्ण रहेगा आदि तत्वों के विचार एवं 'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां' से कही धर्म की सूक्ष्मगति के ज्ञाता श्रीराम की दूरदर्शिता एवं माता-पिता की स्नेहभावनाओं से ऊपर उठकर कर्तव्यता का विवेक प्रकट किया गया है।

पिताश्री के वचन से काननराजू में धर्मत्व

ज्ञातव्य है कि स्वेच्छा से अपनाया श्रीराम का काननराजकार्य 'परोद्देश्यक प्रवृत्त कृति कारकत्वेन विहितं यत् तदंगम्' के अनुसार धर्म नहीं कहा जायगा। इसलिए 'धरम धुरीण' श्रीराम ने सत्यसंध पिताश्री के वचन 'सब गुन धाम राम प्रभुताई। करिहहिं भाइ सकल सेवकाई' (चौ० ३-४ दो० ३६) के अनुसार पिताश्री के सत्य-धर्म की रक्षा एवं पितृ वचनप्रामण्य की प्रतिष्ठा रखते हुए पिताश्री की आज्ञा को ही 'काननराजू' में परिणत कर दिया है। इस प्रकार राजा के वचन ('नाथ रामु करिअहिं जुबराजू') एवं वसिष्ठजी द्वारा दो० ४ में किये गये समर्थन को प्रभु ने 'कानन राजू' में स्थापित किया है।

कैकेयी की वरयाचना से विरोध व परिहार

प्र०—चौ० ३ दो० २९ में 'तापस वेष विसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनवासी' की व्याख्या के सन्दर्भ में उपरोक्त विवेचन को विचार में रखकर समझना है कि क्या कैकेयी के याचित वर 'उदासी.... वनवासी' का विरोध 'काननराजू' से नहीं है?

उ०—समाधान में कहना है कि कैकेयी के वरयाचनाक्रम में 'उदासी' को 'चौदह बरिस रामु बनबासी' का विशेषण माना जायगा तो बालकाण्ड में (चौ० ७ दो० १८७) प्रभु के द्वारा कही रावणवध की

१. तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।

२. मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।

३. क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात्प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः (शान्ति के अप्रवृत्त)।

भूमिका में अवतार का उपक्रम संगत नहीं हो सकेगा, क्योंकि सीता को लंका में भेजना (चौ० १-२ दो० २४ अरण्यकाण्ड) उदासी के विरुद्ध योजना कही जायगी। कहना यह होगा कि उदासीत्व की व्याप्ति को चतुर्दशवर्षीय वनवास में न मानकर प्रभु ने द्वादशवर्षीय वनवास में माना। उसी में कैकेयी के कहे तापसवेषविशेषि उदासी वचन का तात्पर्य समझने में मीमांसान्याय[1] सम्मति किस प्रकार है ? यह आगे चौ० ६ दो० ५६ की व्याख्या में द्रष्टव्य है जो श्रीराम की प्रभुता एवं सर्वज्ञता का परिचायक है।

यहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत स्वधर्मपालन की प्रतिष्ठा को क्षात्रधर्मोचित धनुर्बाण के धारण से दिखाते हुए 'कानन राजू' में पूर्वानुस्यूत धर्मनिष्ठा-प्रामाण्य में लाघव का विचार किया है जो वर्णाश्रम-धर्मावलम्बियों के लिए विशेष रूप से चिन्तनीय है। इस प्रकार राजादेश को धर्म मानकर प्रभु ने अर्थशास्त्र के वचन ('विद्यानां तु यथास्वमाचार्यं प्रामाण्याद्विनयो नियमश्च') के प्रति अपना आदर व्यक्त किया है।

उपर्युक्त सभी तत्वों और धर्म की सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर चौदह वर्ष के वनवास को 'कानन-राजू' में परिणत करना श्रीराम की दूरदर्शिता है।

चौ० : आयसु देहि मुदितमन माता ।। जेहिं मुद-मंगल कानन जाता ।। ७ ।।

भावार्थ : हे मातः ! प्रसन्न मनस् से आज्ञा दो, जिससे वनगमन में मुझको मंगल मोद का फल प्राप्त हो।

पुत्रत्व की सार्थकता में माताजी के आशीर्वाद का उपयोग

शा० व्या० : दैवशक्ति से संपन्न रावण को परास्त करना कठिन कार्य है। पितृ-मातृभक्ति को छोड़कर इस समय ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो रावण के प्रतीकार में सार्थक हो सके। वह भक्ति माता-पिता के अनुशासन का पालन करने में सिद्ध है। अतः लंकाविजयसाधकशक्ति को साधने के हेतु श्रीराम 'आयसु देहु मुदित मन माता' कहकर प्रार्थना कर रहे हैं जिससे मातृ-पित्राज्ञाप्रयुक्त वनवासात्मक धर्म की सफलता में मुदमंगल रूप फलसिद्धि प्रकट हो।

स्व-माता में विशेष शक्ति

स्वमाता के आशीर्वाद में अत्यधिक शक्ति है, इसलिए प्रभु ने 'आयसु देहि' में 'मुदित मन' की विशेषता कही है जैसा कि दो० ४५ में पिता से 'आयसु देइअ हरषि हिय' कहा था। स्वमाताजी के आशीर्वाद में कार्य सम्पन्न करने की विशेषता को समझकर प्रभु लक्ष्मणजी को माताजी की आज्ञा पाने के लिए प्रेरित करेंगे ('माँगहु बिदा मातु सन जाई'—चौ० १ दो० ७३)। सन्यास-आश्रम स्वीकृत करने पर भी पुत्र के लिए माता को नमस्कार करने के विधान का निर्देश करते हुए शास्त्रकारों ने माता का विशेष महत्व प्रतिष्ठापित किया है। माता कौसल्याजी का उक्त निर्देश से समन्वित वचन "तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता" (चौ० १ दो० ५६) में पित्राज्ञा से बढ़कर माताजी की आज्ञा का महत्व प्रदर्शित होगा।

संगति : पुत्र श्रीराम को विश्वामित्र मुनि के साथ वन में भेजने में जिस प्रकार प्रेम के वश राजा को भय हुआ था, उसी प्रकार इस समय वनगमन सुनकर माताजी को स्नेहवश भय हो रहा है तो मुदित मनस् से उसकी आज्ञा कैसे मिलेगी ? इसका समाधान प्रभु कर रहे हैं।

---

१. भाट्टदीपिका ३।४।१५, ३।३।१।

चौ० : जनि सनेहबस डरपसि भोरें। आनन्दु अम्ब ! अनुग्रह तोरें ॥ ८ ॥

भावार्थ : हे अंब ! तुम स्नेह के अधीन होकर कुछ भी डरो मत। तुम्हारी कृपा से मुझको आनन्द ही आनन्द होगा।

श्रीराम को माताजी के आशीर्वाद की आकांक्षा

प्रभु माताजी को उसके कहे वचन ("मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरी टारी" चौ० १ दो० ३५७ बा०का०,) का स्मरण 'जनि डरपसि भोरे' से करा रहे हैं, जिसमें संकेत है कि विश्वामित्र मुनि के विरोधी दुष्ट तत्वों का विनाश करने का सामर्थ्य प्रकट करने में माताजी का आशीर्वाद सहायक हुआ था, जैसा दोहा० २०८ बा० का० में कहा गया है कि श्रीराम माताजी का पदवन्दन करके विश्वामित्र मुनि के साथ वन में गये थे।

प्रेम का स्वभाव है कि प्रेमास्पद के कुशल-मंगल में प्रेमी को भय या शंका स्वाभाविक रहती है जिसको 'सनेहबस डरपसि भोरे' से व्यक्त किया है।

आशीर्वादमात्र से शत्रु को परास्त करने का सामर्थ्य प्राप्त होना दृष्टरीति से कैसे संभव माना जा सकता है; ? इसके समाधान में राजनीति का कहना है कि शौर्य आदि गुणों की सम्पन्नता व जाड्याभाव में आशीर्वाद कार्यकारी होता है।

संगति : भविष्यत् में भय का निरास कराते हुए प्रभु माताजी के आशीर्वाद के फलस्वरूप मुदमंगल को प्राप्त करके सकुशल लौटने का आश्वासन दे रहे हैं।

दो० : बरष चारि-दस बिपिन बसि करि पितुबचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ मनु जनि करसि मलान ॥ ५३ ॥

भावार्थ : पिताश्री के वचनप्रमाण के आधार पर चौदह वर्ष का वनवास पूर्ण करके, वहाँ से लौटकर फिर माताजी के चरणों का दर्शन करूँगा। तुम मनस् को मलिन मत करो।

'आइ पुनि देखिहउँ' का भाव

शा० व्या० : प्रभु ने पिताश्री से चौ० ३ दो० ४६ में "आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउँ बेगिहिं होइ रजाई' कहा था, जिसमें माताजी से कहे उपर्युक्त 'आइ पाय पुनि देखिहउँ' की प्रतिज्ञा नहीं की है, क्योंकि वन से लौटने पर पिताश्री का पुनः दर्शन नहीं होना है, वह स्थिति यहाँ नहीं है। किंबहुना माताजी की 'जनम लाभ कै अवधि अघाई' से व्यक्त इच्छा को विशेषतया पूर्ण करने का आश्वासन उक्त प्रतिज्ञा से दे रहे हैं।

'पितुवचन प्रमान' का तात्पर्य

ध्यातव्य है कि यहाँ शास्त्रानुमोदित पितृवचनप्रवर्तनाविषयता को स्पष्ट किया है, क्योंकि आप्त आर्यों के वचन का प्रामाण्य स्थापित करना रामचरित्र का प्रयोजन है जिसको प्रभु ने 'करि पितु वचन प्रमान' से व्यक्त किया है। प्रमान कहने का दूसरा प्रयोजन यह है कि दो० ३६ में कहे सत्यसंधपिताश्री के वचन की सत्यता को अनुष्ठानतः प्रमाणित करना है।

संगति : प्रमाणप्रमित प्रतिज्ञा सुनने पर भी स्नेहवशता में माताजी को श्रीराम के वचन पीड़ादायक मालूम हो रहे हैं जिसका अनुभाव आगे प्रकट किया जा रहा है।

चौ० : बचन बिनीत मधुर रघुबरके । सरसम लगे मातु उर करके ।। १ ।।
सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी । जिमि जवास परे पावसपानी ।। २ ।।
कहि न जाइ कछु हृदय-बिषादू । मनहुँ मृगी सुनि केहरिनादू ।। ३ ।।
नयन सजल तन थर-थर काँपी । माँजहि खाइ मीन जनु मापी ।। ४ ।।

भावार्थ : रघुनाथ रामजी के विनीत वचन मधुर हैं[1], पर माताजी को वे बाण के समान हृदय-विदारक लग रहे हैं। श्रीराम के शीतल वचन को सुन वह ऐसी सूख गयी कि मानो वर्षा के जल से जवासा सूखता हो। माताजी के हृदय का दुःख कुछ कहा नहीं जा सकता मानो हरिणी सिंहगर्जन को सुनकर सहम गयी हो। माताजी के नेत्रों में आँसू भर गया, शरीर थर्राकर काँपने लगा, मानो वर्षा के प्रथम जल पीने से मछली माँजा-रोग से पीड़िता हो गयी हो।

उपर्युक्त तीनों दृष्टान्तों का भाव

शा० व्या० : जैसे जल का स्वभावगत गुण शीतलता है वैसे ही प्रभु की वाणी स्वाभाविक शीतल है। यद्यपि वर्षा का जल मीन को जीवन प्रदान करता है, फिर भी वर्षा ऋतु के प्रथम जल से उसको एक बार पीड़ा सहन करनी ही पड़ती है। जैसे शेर की गर्जना में उसका स्वाभाविक शौर्य प्रकट होता है, फिर भी उसे सुनकर मृगी को दहसत हो जाती है, उसी प्रकार श्रीराम के शौर्य को जानते हुए भी माताजी वनवास सुनकर सहम रही हैं। उसको स्नेह की परवशता में श्रीराम की शीतल वाणी सन्ताप दे रही है। 'सहमि सूखि, हृदय विषादू, नयन सजल, तन काँपी' आदि से माताजी का स्नेहानुभाव प्रकट है। 'हृदय विषादू' से माता कौसल्याजी की उत्तमप्रकृति स्फुट है, जैसा चौ० ७ दो० ५१ की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

संगति : पूर्वपक्ष के उपस्थापन में विदुषी माताजी की धीरता को कवि आगे प्रकट कर रहे हैं।

चौ० : धरि धीरजु सुतबदनु निहारी । गदगदबचन कहति महतारी ।। ५ ।।

भावार्थ : धर्मधुरीण पुत्र के अविकृत सुन्दर मुख को देखकर माताजी धैर्य धारण करके गद्गद स्वर में बोली।

माताजी का धैर्य व पिताश्री का अधैर्य

शा० व्या० : उत्तमप्रकृति अपने विषाद को विवेक से शमन करता है जो धैर्य में ही संभव होता है। चौ० ६ दो० ५२ में 'बदनु निहारी' की व्याख्या में श्रीराम के मुख की निर्विकारता स्मरणीय है। यहाँ 'बदनु निहारी' की पुनरुक्ति से माताजी का स्नेह व श्रीराम की कर्तव्य में अविचल दृढ़ता का सूचकभाव प्रकट किया है। पुत्र की मुखाकृति पर विद्वत् संस्कारसंपन्ना माता गद्गद हो गयी।

श्रीराम के मधुरवचन के प्रभाव से कौसल्याजी धीरा हो रही है। राजा धर्मधुरंधर होते हुए भी अधीर हुए। इसका कारण पूर्वसुकृत-संस्कार की प्रबलता है जिससे कौसल्याजी में विवेक की जागृति हुई और राजा अन्धशाप के विधान से पुत्रवियोग में होनेवाली आसन्न मृत्यु के योगवश धैर्यधारण में असमर्थ हो गये।

---

१. "नोद्वेजयेज्जगद्वाचा रूक्षया प्रियवाग्भवेत्" से वाणी की मधुरता ज्ञातव्य है।

संगति : श्रीराम की गुणसंपन्नता एवं सर्वप्रियता को समझकर माताजी रामवनवास का कारण जानना चाहती है।

चौ० : तात ! पितहि तुम्ह प्रानपियारे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे ॥ ६ ॥
राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा ? ॥ ७ ॥
तात ! सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकरकुल भयउ कृसानू ? ॥ ८ ॥

भावार्थ : हे तात ! पिताश्री को तो तुम प्राण के समान प्रिय हो। तुम्हारे चरित्र को देख-देख कर वह प्रतिदिन प्रसन्न होते रहे। तुमको राज्य देने का शुभ दिन निश्चित करने के बाद उन्होंने किस अपराध से वन जाने को कहा ?। इसका सब कारण वृत्तान्त मुझको सुनाओ जिससे मालूम हो कि सूर्यवंश को नष्ट करने में कौन अग्नि के समान विनाशक हुआ है ?।

शा० व्या० : बालकाण्ड में कहे "दंपति परम प्रेमबस। देखि चरित हरषइ मन राजा" आदि से "प्रान पिआरे, देखि मुदित नित चरित" की एकवाक्यता स्मरणीय है।

'सुभ दिन साधा' में राजा दशरथ की अनूचानता

यहाँ 'सोधा' न कहकर 'साधा' कहने का भाव है कि ज्योतिष शास्त्र के अनुसार मुहूर्त का विचार करके शुभदिन घोषित नहीं किया गया है। अनूचान राजा द्वारा निश्चित दिन को शुभ दिन माना गया है जैसा गुरु वसिष्ठ के दो० ४ में कहे वचन से सिद्ध है। राजा दशरथ की अनूचानता दो० ३ में समर्थित गुरुजी के वचन से अनुमोदित है। तब 'शुभ दिन साधा' की असफलता कैसे हुई ? यह प्रश्न पूछा जाय तो कहना होगा अन्धशाप संबन्ध से दैव की प्रबलता ने बाधा पहुँचायी, फिर भी शुभ मुहूर्त पर हुए शुभावह वनवास व राज्यस्वीकृति से राजा की अनूचानता में कोई बाध नहीं है।

वनवासात्मक दण्ड में अपराधविशेष की जिज्ञासा

श्रीराम के चरित्र से मुदित होने का कारण श्रीराम के गुण हैं जिनका उल्लेख चौ० ५ दो० ५२ की व्याख्या में किया गया है। नीतिशास्त्र ने संपूर्ण सद्गुणों का संग्रह सत्य, त्याग एवं शौर्य में बताया है। इन गुणों के रहते राज्य से निष्कासन एवं वनवास होना अयोग्य मालूम होता है जो अर्थशास्त्रोक्त विधान ("विरागं प्रियं एकपुत्रं वा बध्नीयात् बहुपुत्रः प्रत्यन्तं अन्यविषये वा प्रेषयेत्") से भी असंगत ठहरता है। क्योंकि और भाइयों की अपेक्षा श्रीराम में सर्वाधिक गुणसंपन्नता होने से वे राजा और प्रजा के प्राणप्रिय हैं। अर्थशास्त्रोक्त वचन ("आत्मसंपन्नं सैनापत्ये यौवराज्ये वा स्थापयेत्") के अनुसार चौ० १ दो० ३ में 'भए राम सबबिधि सब लायक' से श्रीराम का राज्याभिषेक निश्चित हो जाने पर अब वनवासरूप दण्ड का कोई कारण नहीं हो सकता। किंबहुना धर्म-अर्थ-काम में सर्वथा उपधाशुद्ध पुत्र (श्रीराम) के द्वारा धर्मार्थकाम भय के नाम पर कोई दृष्ट अथवा प्रच्छन्न अपराध नहीं हो सकता। तो भी वन जाने को कहने में कौन अपराधी है ? इसकी जिज्ञासा करते हुए पुनीता कौसल्या सूर्यवंश के विनाशक को जानना चाहती है।

'दिनकरकुल भयउ कृसानू' कहने का भाव है कि सूर्य का तेजस् स्वयं इतना प्रखर है कि अग्नि उसको जला नहीं सकती। उसी प्रकार सूर्यवंश की सुदृढ़ मर्यादा को तोड़ने में कौन समर्थ हो सकता है ? अतः उसके अपराधी की जिज्ञासा समुचित ही है, इसमें कोई गूढ़ रहस्य छिपा है जो विना बताये समझ में नहीं

आ सकता। स्मरणीय है कि इसी रहस्य को जानने के लिए पार्वती ने भी शिवजी से प्रश्न किया था "राज तजा सो दूषन काही" (चौ० ६ दो० ११० बा० का०)।

संगति : विवेकिनी माता की जिज्ञासा के उत्तर में प्रभु अपने मनस् (संकल्प) ("विमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू' चौ० ७ दो० १०) को प्रकट करना नहीं चाहते, इसलिए मौन हो गये। तब सचिवसुत से उत्तर पाकर माता सहम रही है।

दो० : निरखि रामरुख सचिवसुत कारनु कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि दसा बरनि नहिं जाइ॥ ५४॥

भावार्थ : श्रीराम का संकेत पाकर मन्त्रिपुत्र ने सब कारण माताजी को समझाया। सब प्रसंग को सुनकर माताजी गूँगे के समान चुप हो गयी। उसके मनस् की अवस्था कही नहीं जा सकती।

शा० व्या० : राजपुत्र के साथ गुरुपुत्र, मन्त्रिपुत्र आदि को सहपांसुक्रीडित रूप में रखने का विधान राज-नीतिसम्मत है। सुमन्त्र की पहुँच अन्तःपुर तक है। सचिवसुत भी सुमन्त्रपुत्र हो सकता है जो रनिवास में उपस्थित रहा हो, तभी उसने सब प्रसंग को जानना संभव हो सकता है।

श्रीराम के मौन का कारण

श्रीराम के मौन का मुख्य कारण उपर्युक्त संगति में कहा गया है। फिर भी इष्ट रीति से कहा जा सकता है कि 'पिता दीन्ह मोहि काननराजू' कहने के बाद 'कहेउ जान बन केहि' ? के उत्तर में माता कैकेयी का नाम लेने में वचन का विरोध होने से विसंवादितादोष होगा। किंबहुना 'कहेउ जान बन केहि अपराधा' के आधार पर कौसल्या माताजी के मत में कैकेयी अपराधिनी हो सकती है जो प्रभु को इष्ट नहीं है। किं बहुना 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' के अनुसार प्रभु के मौन से यह भी ध्वनित माना जा सकता है कि इसमें अपराधी कोई नहीं हैं। अर्थात् यह मौन अपराधी के अभाव का सूचक है।

कौसल्याजी का मूकत्व

श्रीराम के वनवास का पूरा प्रसंग सुनने पर बा० का० दो० १५० में कहे जन्मान्तरीय विवेक की जागृति में कौसल्याजी के मनस् में जो विचार या चिन्तन चल रहा है उसका वर्णन व्यक्तरूप में नहीं किया जा सकता अतः वह मूकी है। कौसल्याजी के मूक होने का यह भी कारण है कि पूर्वोक्त चौ० ७-८ में कही जिज्ञासा के समाधान में वनवास का कारण (निदान) सुन लेने पर भी 'केहि अपराधा' का निर्णय नहीं हो रहा है।

संगति : अनिर्णीतदशा में मनस् की असमाधेयस्थिति का वर्णन कवि कर रहे हैं।

चौ० : राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥ १॥

भावार्थ : न तो श्रीरामको रख सकती है न जाने के लिए कह सकती है। इस प्रकार दोनों रीति से माताजी के हृदय में तीव्र संताप हो रहा है।

माताजी के हृदय का द्विविध विचार

शा० व्या० : विचारों की अनिर्णीत अवस्था में मनस् की गति दुबिधा में पड़कर उपशम को प्राप्त नहीं हो रही है। माता कौसल्याजी के हृदय में अव्यक्त रूप से विवेक का जोर है व्यक्त रूप में पुत्रस्नेह जोर मार रहा है। अतः धर्म और स्नेह दोनों का विचार करके धैर्य के बल पर कर्तव्य का निर्णय करना है। श्रीराम को घर में रखने से सत्यसंघ पिताश्री के वचनप्रमाण पर आघात होता है तो धर्म की हानि होगी। वन जाने के लिए कहती है तो स्नेहासक्त मनस् में बड़ा भारी संताप हो रहा है इस प्रकार दोनों स्थिति में दुःख का अनुभव होना ही है।

न्यायकी विचारप्रणाली से इस प्रकार कहा जायगा—"रामो वनवासयोग्यः सत्यसंध-हितकृत्-पितृ-प्रवर्तनाविषयत्वात्" प्रथम कोटि है। 'रामो न वनवासयोग्यः राज्याद्बहिर्निष्कासनकरणीभूतानामपराधानाम् अविनयानात्मगुणसंपत्तीनामभावात्" दूसरी कोटि है। उक्त दोनों कोटियों में एक कोटि तभी अयथार्थ होगी जब द्वितीयकोटिकपरामर्शविषय हेतु में व्याप्ति-पक्षधर्मता-उभय का अभाव होगा। निष्कर्ष यह कि एक हेतु (द्वितीय कोटिक) के बलहीन ठहरने पर दूसरे हेतु (प्रथम कोटिक) का परामर्श यहाँ सत् यथार्थ ठहरेगा जिसमें यह भी विचार करना होगा कि प्रथमकोटिक निर्णय करने पर भी 'राजा द्विर्नाभिभाषते' के अनुसार रामराज्यप्रयोजक पूर्वघोषित राजाज्ञा में उलट फेर नहीं है, केवल उसके कार्यान्वयन में विघ्न होने से विलंब है।

संगति : प्रथम कोटि में माता जी देव की प्रधानता व राजप्रवर्तनाविषयत्व की सबलता को स्वीकार कर रही है।

चौ० : लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधिगति बाम सदा सब काहू ॥ २ ॥

भावार्थ : चन्द्रमा लिखते-लिखते विधाता ने राहू लिख दिया। विधि की गति इस प्रकार सबके लिए उलटी हो जाती है।

बिधि की वामता

शा० व्या० : 'बिधि गति बाम सदा सब काहू' कहने का भाव इतना ही है कि विधि की अनुकूलता जीव को सदा सुलभ रहेगी, ऐसा संभव नहीं। और यह भी है कि विधि के संकल्प कि गति या विधान के रहस्य को समझना जीवों के लिए सामर्थ्य के बाहर है। अतः विधिगति अचिन्त्य है। ज्ञातव्य है कि कार्य करने पर फलप्राप्ति न होने या अकृतार्थता में अथवा अधिक फलप्राप्ति की रुचि में प्रयत्न विफल होने पर रागी जीव विधाता को वाम समझता है किन्तु वह वाम है ऐसा सर्वत्र नहीं कहा जा सकता। रामराज्य-उत्सव को देखने में कौसल्याजी की अभिलाषा प्रतिहत होने से उनको जो बिधि-वाम प्रतीत हो रहा है वह यथार्थ है तो इसलिए कि राज्याभिषेक का सर्वरीति से निर्णय हो जाने के बाद राजा के पुरुषार्थ में न्यूनता न होने पर भी एकमात्र श्रीराम के संकल्प ('अनुचित एकू' ,से विधिकर्तृत्व खड़ा हो गया। वस्तुतः वाम-विधि के विधान में सन्तों के कार्य संपत्ति में तात्कालिक अनुकूलता न होने पर भी उसके प्रति आदर रखने वाले के लिए विधि की वामता परिणाम में श्रेयस्कर ही रहती है।

अकृतार्थता

जीव पुण्य पाप के शेष से मृत्युलोक में जन्म लेता है।[1] केवल पुण्य का फल सुख भोगने के लिए

१. इह तु पुनर्भवे त उभयशेषाभ्यां निविशन्ति।—भा० ५।२६।३७

स्वर्गस्थ शरीर है। केवल पाप का फल दुःख भोगने के लिए नरकस्थ शरीर है। मानवलोक में दोनों है उनके अन्तर्गत पुण्य के प्रभाव से मानव को अभिलषित अर्थकी प्राप्ति होती है उसी में शम का भाव है तो ठीक है अन्यथा कृतार्थता का अनुभव न करके सुख प्राप्ति के नैरन्तर्य अथवा अधिकाधिक सुखप्राप्ति के प्रयत्न में वह रत रहता है तो ठीक नहीं। क्योंकि जन्मान्तरकृत पाप के प्रभाव से विकल होना भी असंभव नहीं है। अतएव वह अकृतार्थ बना रहता है।

चन्द्रमा-राहु के दृष्टान्त का भाव

जैसे चन्द्रमा और पृथ्वी के मध्य में राहु की छाया आ जाने से चन्द्रमा का प्रकाश आवृत हो जाता है, चन्द्रमा समाप्त नहीं होता, वैसे ही प्रथम राजादेश (रामराज्यारोहण की घोषणा) द्वितीय वनवासात्मक विधि से आवृत हो रहा है, उसकी अवधि समाप्त होते ही प्रथमनिर्णीत राजादेश पूर्णचन्द्र की तरह प्रकाशित होगा।

'लिखत सुधाकर' का भाव है कि राजराज्याभिषेक के अमृतत्व-सुख का आस्वाद समायोजित करते-करते विधि ने उसमें विघ्न खड़ा कर दिया जिससे राज्याभिषेकोत्सव का आनन्द तत्काल के लिए तिरोहित हो गया।

संगति : माता कौसल्याजी धर्म और स्नेह के बलाबल का विचार करते हुए तर्कपूर्वक कर्तव्य का निर्णय करेगी जिसमें स्नेह बीच-बीच में व्यवधान करेगा। अन्त में तो फलतः धर्म का विजय होगा, राजा की सत्य-सन्धता एवं वचनप्रमाण्य को बल मिलेगा। माता कौसल्या-श्रीराम सम्वाद में तर्कयुक्तसाधक-बाधक विचारों की गतिविधि मननीय होगी। उसके अनिर्णीत दशा में अभी माता कौसल्याजी की मनःस्थिति के आन्दोलन (भावशबल) का वर्णन कर रहे हैं।

चौ० : धरम-सनेह-उभयँ मति घेरी। भइ गति साँप-छुछुन्दर केरी॥ ३॥

भावार्थ : धर्म और स्नेह दोनों ने मिलकर माताजी की बुद्धि को आवृत कर दिया जिससे उसकी स्थिति साँप-छुछुन्दर की तरह हो गयी।

'उभय मति घेरी' का स्पष्टार्थ

शा० व्या० : श्रीराम को घर में रखना या वन जाने के लिए कहना—इन दोनों स्थिति में धर्म और स्नेह का विचार करते हुए माताजी की बुद्धि कुंठित हो रही है। साँप-छुछुन्दर के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है कि दोनों में से किसी एक को पकड़ने या छोड़ने में कौसल्याजी विवशा हैं जैसे साँप-छुछुन्दर को छोड़ता है तो अन्धा हो जायगा, ग्रहण करता है तो विनष्ट हो जायगा। ऐसी किंकर्तव्यमूढ़ की स्थिति में मार्गदर्शन करानेवाला कोई उपस्थित नहीं है तो भी कौसल्याजी पूर्वजन्मकृतसुकृतजविवेक की जागृति में स्वयं निर्णय पर पहुँचने में सक्षमा होगी। अभी तो साँप-छुछुन्दर जैसी दोनों स्थिति का विचार करते हुए सत्-प्रतिपक्ष की स्थिति में आने से एक निर्णय पर पहुँच के लिए वह असमर्था हो रही है।

संगति : 'साँप-छुछुंदरिगति'बोधक भाव को माता के विचारों में आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

चौ० : राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बन्धुविरोधू॥ ४॥
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट-सोचबिबस भइ रानी॥ ५॥

भावार्थ : पुत्र को रखने का आग्रह करती हूँ तो धर्म के नाश के साथ भ्रातृद्रोह का प्रसंग उपस्थित होगा। वन जाने को कहती हूँ तो भारी विपत्ति का सामना करना पड़ेगा। कौसल्या रानीजी उक्त संकट और सोच के विषय में विवशा हो गयी।

शा० व्या० : 'राखउँ सुतहि' राजा के संबंध से 'धरमु जाइ' का दोष होगा। 'करउँ अनुरोधू' में कैकेयी रानी के संबंध से 'बन्धुविरोधू' दोष की प्रसक्ति होगी। वन जाने में सहमति प्रकट करने से अपने प्राणसंकट के साथ दो० ५५ में कहे 'तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचण्ड कलेसु' रूप बड़ि हानि दिखायी पड़ती है। यही कौसल्याजी के 'संकट सोच' का विषय है।

'राखउँ सुतहि' में दोषगणना

पुत्र श्रीराम को अयोध्या में रखने में ये दोष हैं—

१. 'देन कहेहु दुइ बरदाना' में राजा की प्रतिज्ञाभंग से सत्यसंधता विनष्ट होगी।

२. वरयाचना के पूर्ण न होने से कैकेयी का विरोध उससे आभ्यन्तर फूट होकर राज्यविनाश हो सकता है जो 'बन्धुविरोधू' से ध्वनित है।

३. जिस प्रकार कैकेयी में राग-कामपरतन्त्रता सिद्ध है उसी प्रकार कौसल्याजी में स्नेहपरतन्त्रता सिद्ध होगी जो कलंकरूप होगी।

४. विधिगति बाम सदा सब काहू' को स्वीकर करते हुए भी उसका उल्लंघन करने के प्रयत्न में विधिविपरीत कार्य होने से कौसल्याजी विफलमनोरथा होगी तो उसे पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

'करउँ अनुरोधू में दोष

श्रीरम को अयोध्या में रहने का आग्रह करने में 'धरमु जाइ' एवं 'बन्धु विरोधू' के अन्तर्गत निम्नलिखित दोष चिन्तनीय हैं—

१. धर्म से मुख्यतया राजा का सत्यपालन, श्रीराम का मातृ-पित्राज्ञापालन, पिता के वचनप्रमाण की रक्षा, राजधर्म व कौसल्या का पतिव्रत्य धर्म विचारणीय है। जैसा चौ० ५ दो० ५३ की व्याख्या में कहा गया है। सम्पूर्ण धर्मों का उपयोग राजनीति स्थापना में अंगभूत है इस सिद्धान्तको दृष्टि में रखकर राजनीतिशास्त्र ने राज्याधिकारी गुणवान् पुत्र के अभाव में प्रकारान्तर से आत्मसंपत्तिसंपन्न पुत्रोत्पत्ति की निश्चित प्राप्ति की संभावना में राजधर्म के विधान से पातिव्रत्य की न्यूनता को परिहृत करते हुए प्रतिप्रसव किया है अर्थात् पातिव्रत्य मर्यादाको सुरक्षित रखा है।[1] उसकी प्रसक्ति न होने से पातिव्रत्य पर आघात होगा।

२. अपने मातृत्वधर्म को उत्तेजक के रूप में अपनाकर यदि कौसल्याजी श्रीराम को घर में रखने का प्रयत्न करती है तो राजा का प्रतिज्ञातार्थनिर्वहण न होने से राजवचन का प्रामाण्य तिरस्कृत होगा तो पातिव्रत्य धर्म का यह प्रयोग राजधर्म के विरुद्ध होगा।

---

१. अपुत्रस्तु व्याधितो राजा मातृबन्धुकुल्यगुणवत्सामन्तानां अन्यतमेन क्षेत्रे बीजं उत्पादयेत् न चैकपुत्रं अविनीत राज्ये स्थापयेत् (अर्थशास्त्र राजपुत्ररक्षण प्रकरण) कलि में उक्त संभावना को अति क्षीण समझकर शास्त्रकारों ने उस विधान को वर्ज्य माना है।

३- 'काननराजू' से श्रीराम ने कौसल्या माताजी को वनवास में कृतिसाध्यता का अनुमान करा दिया है। चौ० ३-४ दो० ३६ में राजा के वचनप्रमाण की प्रमेयसिद्धि को जानकर कौसल्याजी को वनवास में इष्टसाधनता का अनुमान भी हुआ है। चतुर्दश वर्षाविधि के बीतने पर श्रीराम को लौटकर आना और राजपदासीन होना निश्चित है तो धर्म एवं नीति को सुरक्षित रखने में नान्तरीयक वनवास-दुख को सहना इष्टतर होगा, ऐसा विचार करने में विवेकिनी माता को बल मिलेगा। वह नष्ट होगा।

४. 'बन्धु विरोधू' से भाई भरतजी का विरोध मन्तव्य नहीं है, राजनीति दृष्टि से भ्रातृ-द्रोह की सम्भावना मात्र का विचार है। दोषान्तर यह भी होगाकि श्रीराम को यदि कौसल्याजी बलपूर्वक रोक लेती है तो 'राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राम मातु भलि सब पहिचाने' की उक्ति में कैकेयी के दोषारोपण से होनेवाली शंका को बल मिलेगा।

ज्ञातव्य है कि चौ० १ में सत्प्रतिपक्ष की स्थिति दिखायी है, यहाँ आपत्तियों का विचार दिखाया है। इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए।

कौसल्याजी के चरित्र की अनुकरणीयता

कौसल्याजी के चरित्र से मानस ने पातिव्रत्य, धर्म एवं नीति का सुन्दरतम समन्वय प्रकाशित किया है जो भगवदुपासकों के लिए शिक्षाप्रद है। कहने का निष्कर्ष है कि कठिन परिस्थिति में भी धर्म और नीति का तर्कपूर्वक विचार करके स्वधर्मानुष्ठान में जो अडिग रहते हैं, उनको गीता में कहे भगवद् वचन ('बुद्धियोगं ददाम्यहं') के अनुसार प्रभु कर्तव्यनिर्णय में उत्तम सूझ-बूझ देकर कीर्तिमान् बनाते हैं जैसा बा० का० में शतरूपा को दिये प्रभु के वरदान 'मातु विवेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे (चौ० ३ दो० १५१) से स्पष्ट है।

संगति : स्त्रीधर्म एवं मातृधर्म को विवेकपूर्वक समझते हुए उक्तप्रथ मकोटि (दो० ५५ चौ० १) का निर्णय करने में माता कौसल्याजी का सरल स्वभाव शिवजी की उक्तियों में कहा जा रहा है।

चौ० : बहुरि समुझि तियधरमु सयानी। रामु-भरतु दोउ सुत सम जानी ॥ ६ ॥
सरलसुभाउ राममहतारी। बोली बचन धीर धरि भारी ॥ ७ ॥

भावार्थ : फिर सयानी (परम विवेकिनी) राममाता कौसल्याजी स्त्रीधर्म को भली प्रकार समझकर अपने स्वभाव की सरलता में श्रीराम और भरतजी को समान पुत्र मानते हुए कठिन धैर्य को धारण करके बोली।

'तियधरमु' में कर्तव्य

शा० व्या : 'तियधरमु' के अन्तर्गत ग्रन्थकार पातिव्रत्य एवं मातृत्वका समावेश करते हुए कौसल्याजी के चरित्र को गा रहे हैं। कौसल्याजी विचार कर रही हैं कि पुत्रस्नेह की परतन्त्रता में पातिव्रत्यविरोधी आचरण इष्ट नहीं है। पति के अनुसरण में स्वपुत्र और भरतजी को समान मानना मातृत्व के अनुकूल है। अतः पातिव्रत्य धर्म की हानि की अपेक्षया पुत्रवियोगज दुःख की अल्पकालिक आपत्ति नगण्य है। राजनीतिक दृष्टि से भी हानि नहीं है क्योंकि भरतजी को राज्यप्राप्ति होने से अयोध्या का प्रजापालन होता रहेगा। उधर 'काननराजू' से श्रीराम का पालनकर्म बना रहेगा। इस प्रकार राजधर्मतत्पर दोनों

पुत्रों में प्रजावत्सला कौसल्याजी समानता देख रही है। पातिव्रत्य से समन्वित मातृत्वधर्म में कौसल्याजी का यह सरल स्वभाव माताओं के लिए अनुकरणीय है।

सत्परामर्श के द्वारा श्रीराम का वनवास एवं भरतजी का राज्य-दोनों पक्षों को समान रूप से देखना कौसल्याजी का विवेक है जो 'बंधुविरोधू' के परिहार का सूचक है।

स्मरणीय है कि चौ० ३ दो० २१ में 'तियमाया' का स्वरूप मन्थरा के चरित्र में कहा गया है जिसके प्रभाव से कैकेयी की 'सुतहि राजु रामहि वनवासू' में प्रवृत्ति हुई। वह दोष कौसल्याजी में नहीं है।

माता कौसल्याजी के सरलस्वभाव की यथार्थता

स्वधर्म में कायिक-वाचिक मानसिक व्यापार की एकता ही सरल स्वभाव का परिचायक है। तियमाया को अपनाने वाली दुष्टा मन्थरा दो० १७ में कैकेयी को 'राउर सरल सुभाउ' कहती है पर परीक्षक कवि विवेकिनी कौसल्या को 'सरल सुभाउ' कह कर उसकी यथार्थताको आगे चौ० १ दो० १६५ में 'सरल सुभाय माय हिय लाए। अतिहित मनहुँ राम फिरि आए' से कौसल्या-भरतमिलन में स्पष्ट करेंगे।

'धीर धरि भारी' का तात्पर्य

ग्रन्थकारकी भाषा में सयाना वही जो धर्मनीति के तत्वको जानकर विविध धर्मों और शास्त्रवचनों को आन्वीक्षिकी के द्वारा उचित समन्वय करने में समर्थ हो तथा उसका पर्यवसान भक्ति के पोषण में करने में कृतार्थता समझता हो। इस अर्थ में कौसल्याजी को 'राममहतारी' सम्बोधित करते हुए कवि ने सयानी कहा है। कौसल्याजी के लिए प्रस्तुत स्थिति में 'धीर धरि भारी' का प्रयोजन प्रमाणभूत वेदवचन के विरुद्ध धर्मविपरीत निर्णय न करने में है। 'तियधरमु' व 'दोउ सुत सम जानी' की व्याख्या में कहे विचारों से कौसल्याजी की धृति स्पष्ट है।

भरतजी और कौसल्याजी के विवेक में पृष्ठबल

भरतजी और कौसल्याजीके विवेक की रीति में पृष्ठबल पृथक्-पृथक् है। अध्ययन से प्राप्त विद्यासंपत्ति भरतजी के पास है। कौसल्याजी का विवेक पूर्वजन्मसंस्कारोद्भूत प्रतिभा से है जो प्रभु के वरदान का फल है (चौ० ३ दो० १५१ बा० का०)।

संगति : साहित्य एवं राजनीतिशास्त्र के अनुसार सत्वात्मकधृति ऐसी वस्तु है जो संपत्ति या विपत्ति किसी भी अवस्था में उचित कर्तव्य की ओर प्रेरणा देती है जैसा कौसल्याजी के वनगमननिर्णायक चरित्र में प्रकट हो रहा है।

चौ० : तात। जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितुआयसु सब धरमक टीका॥ ८॥

भावार्थ : कौसल्या जी बोली "हे तात ! मैं बलिहारी जाती हूँ। तुमने अच्छा किया है। पिताजी की आज्ञा का पालन करना ही सब धर्मों का परम धर्म है।

पति की प्रवर्तना व अनुमोदन में बलि जाउ कीन्हेउ

शा० व्या : बा० का० चौ० २-३ दो० ७७ में "मातु पिता गुर प्रभु के बानी। बिनहिं विचार करिअ सुभ जानी। सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा" में कहे शिवजी के वचन की एकवाक्यता उक्त चौपाई में कौसल्याजी के वचन से स्फुट है।

बा० का० दो० १८३-१८४ के अन्तर्गत 'सकल धर्म देखइ विपरीता। कहि न सकइ रावन भय भीता' के अनुसार धर्म की अतिशय ग्लानि की स्थिति में 'जप जोग विरागा तप मख भागा' धर्म सुनिअ नहिं काना' से आचारभ्रष्ट संसार में शास्त्रानुगामित्वरूप मानवधर्म को जागृत करने के लिए श्रीराम ने पित्राज्ञा-पालनधर्म को 'सब धरमक टीका' के रूप में अपनाया है जिसको कौसल्याजी 'कीन्हेहु नीका' से परमहित-कारी पिताश्री की प्रवर्तना से प्रवृत्त पुत्र श्रीराम के वनवासात्मक अनुष्ठान का अनुमोदन कर रही हैं। उक्त प्रवर्तना को मीमांसापद्धति से इस प्रकार कहा जायगा कि "सत्यसंधस्य पितुरुच्चरितविध्यर्थशाब्दीभावना विशिष्टा आर्थीभावना" इस प्रकार के अन्वय में ''वैशिष्ट्यं च स्वज्ञानजन्येष्ट साधनत्वानुमितिविषयत्व, स्वज्ञानजन्यबलवदनिष्टाननुबन्धित्वानुमितिविषयत्व, स्वज्ञानजन्यकृति साध्यायताऽनुमितिविषयत्वेतत्त्रितय-संबंधेन"। अर्थात् श्रीराम के उक्त दूरदर्शित्वपूर्ण अन्वय के बोध पर विवेकवती माता 'जाउँ बलि' का उद्गार प्रकट कर रही है।

संगति : धर्मरूप में पिताश्री को आज्ञा का समर्थन करने के बाद नीतिदृष्टि से अपना विचार कौसल्याजी प्रकट कर रही हैं।

दो० : राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुखलेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचण्ड कलेसु॥ ५५॥

भावार्थ : राज्य देने के लिए कहकर तुमको वनवास दिया गया, इसका मुझको रंचमात्र दुःख नहीं है। लेकिन तुम्हारे विना भरतजी, राजाजी तथा प्रजा को अत्युग्र वेदनात्मक दुःख होगा उसका स्मरण माता करा रही है।

पूर्णसात्त्विकता में परदुःखानुभूति

शा० व्या० : पूर्ण सात्त्विक हृदयवाले को परदुःख का संवेदन जैसा होता है वैसा राजस-तामस-गुणवान् को परिमितप्रमातृता में नहीं हो सकता। पूर्ण सात्त्विक व्यक्ति 'पर दुख दुखी सुखी सुख देखे पर' की स्थिति में रहते दूसरे के सुख-दुःख का अनुभव करके उसके निरास के प्रयत्न में अपने दुःखको भुल जाता है। यहाँ कौसल्याजी रामवनवास में अपने दुःखको प्रधानता न देकर राजाश्री, भरतजी और प्रजा के दुःख के परिहार का चिन्तन कर रही हैं जिसको श्रीराम के समक्ष प्रकट किया है।

कौसल्या और कैकेयी के विचारों की तुलना

बा० का० दो० १८८ में कवि ने "कौसल्यादि नारि प्रिय सब अचरन पुनीत। पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरिपदकमल विनीत" से सब रानियों की पुनीतता पति-अनुकूलता एवं रामपदप्रीति को स्थापित किया है। इसको ध्यान में रखकर तीनों रानियों का चरित्र मननीय है। कौसल्याजी का आचरण सरल सुखानु-संधानवृत्ति में है, कैकेयी में वक्रसुखानुसंधान की योग्यता है। सुमित्रा गंभीर स्वभाव की है, वह दोनों रानियों के अनुसरण में प्रवृत्ता है। कौसल्याजी बा० का० दो० १५० में कहे 'सोइ सुख, सोइ गति, सोइ भगति, सोइ निज चरन सनेहु। सोइ विवेक, सोइ रहनि, के अनुसार पूर्वजन्मान्तरीय संस्कार से संपन्न सरल स्वभाव में स्थिता है।

कैकेयीका गूढ चरित्र

कैकेयीजी वीरवधू है, रामकार्य में घटक बनने की योग्यता रखती है। वह विदुषी और नीतिज्ञा है। उसकी रामप्रीति गूढ़ है। वक्रसुखानुसंधानवृत्ति में उसका चरित्र रहस्यमय है। वरयाचनामें मनोरथपूर्ति

के प्रस्ताव से वह राजा की सत्यसंघता का रक्षण करना चाहती है। 'देन कहेहु मोहि दुइ वरदाना, वचन अपूर्ण रह जाता तो उनकी सत्यसंधता में न्यूनता रह जाती। जैसा दो० ४ की व्याख्या में कहा गया है। राजा के चित्त का द्रवीभाव बनाने में गुरु वसिष्ठजी का कार्य है, उसी प्रकार राजा के वचनप्रमाण को स्थापना में उन के मरण को इष्टापत्ति मानकर श्रीराम को वनवास में प्रेरित करने में कैकेयी का रहस्यमय योगदान है जिसमें प्रभु-इच्छा समर्थ है। कैकेयीकी गूढ़ रामप्रीति एवं प्रभु-इच्छा के अनुकूल चरित्र का मर्म दर्शाने के लिए कवि ने स्वयं प्रभु के मुख से कैकेयी की महत्ता को वाल्मीकि मुनि के सामने प्रकट कराया है ("अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि-जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी' चौ० २ दो० १२५)। कैकेयीजी के चरित्र में पतिपरायणता व रामप्रीति का अभाव आभासमात्र है। श्रीसरस्वती की माया से वशीभूता होकर दुष्टरीति से उसने जो शास्त्रविपरीत या नीतिविरुद्ध कार्य किया है यह कैकेयी का मतिफेरचरित्र अनजाने हो रहा है। यहाँ कौसल्याजी और कैकेयीजी के विचारों की तुलनात्मक विधि में कहना है कि कौसल्याजी स्नेहसंबंध को गौण रखकर धर्म में बाधक तत्वों को आपत्ति समझती है कैकेयी रागवशा हो स्नेहसंबंध को प्रधानता देकर धर्मविषयकविवेक का अनादर करती है (स्मरण रखना चाहिए कि कैकेयी को विपरीतार्थदर्शन प्रभु की इच्छा से मायाधीनस्थिति में हो रहा है जिससे वह धर्म और नीति से च्युता हो रही है।)

संगति : अब प्रवर्तनाओं के बलावल में कौसल्याजी मातृ-पितृ प्रवर्तना के बलावल का विचार प्रस्तुत कर रही हैं।

चौं० : जौ केवल पितुआयसु ताता ! । जौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥ १ ॥
जौ पितु-मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सतअवधसमाना ॥ २ ॥

भावार्थ : यदि केवल पिताश्री की ही आज्ञा है तो माताजी को बड़ा मानकर तुम वन में मत जाओ। यदि माताजी और पिताश्री दोनों ने वन जाने की आज्ञा दी है तो तुमको वन सौ अवध के समान सुखदायक हो।

माता के बड़प्पन की मर्यादा

शा० व्या० : चौ० ४६ में प्रभु की उक्ति 'बिदा मातु सन आवउँ मागी' की व्याख्या में स्वमाता की श्रेष्ठता कही गयी है। दो० ५४ में 'सुनि प्रसंगु' से स्पष्ट है कि कौसल्याजी को माता कैकेयीजी के वरयाचना में पिताश्री की वचनबद्धता से उन की मौन आज्ञा पर श्रीराम के द्वारा स्वीकृति (दो० ४१) ज्ञात हो चुकी है। ऐसी स्थिति में माता-पिता की आज्ञा के पालन में उसका बलाबल बता रही है। माता-पिता के आज्ञापालन में पुत्र के सामने तीन मुख्य विकल्प खड़े हो सकते हैं—

१. पिताश्री की धर्ममूलक आज्ञा के अननुसरण या विरोध में माता की आज्ञा का अनादर।

२. पिता के काम-क्रोधमूलक आज्ञा के विरोध में माताजी के धर्ममूलक आज्ञा की आदर।

३. पिताश्री की रागमूलक आज्ञा के पालन में या माताजी की स्नेह या द्वेषमूलक आज्ञा में उपदेश्य की स्वतन्त्रता।

वर्णाश्रम समाज में माता का धर्म है कि वह पति के धर्म-कार्य में सदा सहमत रहे जैसा उक्त दोहे के पूर्वार्ध में कौसल्या जी ने स्वीकार किया है। अतः पिताश्री की धर्ममूलक आज्ञा में माता विरोध

करती हो तो उसकी आज्ञा की उपेक्षा करने में पुत्र स्वतन्त्र है। उपरोक्त अंक २ के सम्बन्ध में कहना है कि 'माता गरीयसी' के अनुसार माता जी की आज्ञा बलवत्तर मानी जायगी क्योंकि धर्म सबका अनुशासक है।

माताजी की महत्ता

'केवल पितु आयसु' से कौसल्या जी का कहना है कि शास्त्र और लोकसम्मति से निर्णीत रामराज्याभिषेक के आदेश के विपरीत कामप्रतापपरिचित वनादेश के पीछे कैकेयी की वरयाचनात्मक मनोरथपूर्तिस्मारित धर्म का बल न होता तो 'बड़िमाता' की मर्यादा में कौसल्याजी श्रीराम को वन जाने से धर्मतः रोक सकती थीं। इसी विषय का स्पष्टीकरण जानने के लिए कौसल्याजी ने चौ० १-८ दो० ५४ में पूछा था, वह उपपन्न है। निष्कर्ष यह हुआ कि वन जाने का आदेश धर्ममूलक न होकर लौकिक रागप्राप्त होता तो माताजी की (निषेध) निवर्तना बलवती होती अर्थात् धर्मनिरपेक्ष पित्राज्ञा हेतुक इष्टसाधनत्व प्रकारक-वनवासविशेष्यक अनुमिति की यथार्थता माता के विरोध में नहीं मानी जायगी।

पिताश्री के धर्मनिरपेक्ष अनुशासन के विरोध में पुत्र को धर्मसम्मत सच्चरित्र का उपदेश देकर प्रवृत्त कराना माता का बड़प्पन है।

'केवल पितु आयसु' के उपर्युक्त विवेचन में राजनीतिक दृष्टि से यह भी कहना है कि यदि पिताश्री के उक्त अनुशासन में धर्म का पार्ष्णिक बल न होता तो 'तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजाहिं प्रचंड कलेसु' की स्थिति में प्रजा के द्वेष से राज्यहानि की सम्भावना रहती। वह दोष प्रस्तुत पित्रादेश में नहीं है, जिसकी पुष्टि श्रीराम के वनगमनात्मक अनुशासन से, 'एक धरमपरमिति पहिचाने। नृपहि दोसु नहिं देहिं सयाने' के अनुसार पित्राज्ञापालनात्मक धर्म के परिग्रह से प्रसन्न धर्म-तपस् के द्वारा किया गया श्रीराम का वरण आगे तापस-मिलन प्रसंग द्वारा कहा जायगा। इसी प्रकार सुमन्त्र से राम सन्देश को सुनकर राजा का परितोष, चित्रकूट में चौ० ८ दो० ३१३ में 'अब गोसाइँ मोहि देउ रजाई। सेवौं अवधि अवधि भरि जाई' की उक्ति से भरतजी का परितोष और 'नगर नारि नर गुर सिख मानी। बसे सुखेन राम रजधानी' (चौ० ८ दो० ३२२) से प्रजा का परितोष भी उक्त पुष्टि में सहायक होगा।

'जौं पितु मातु कहेउ' में कौसल्याजी का विचार

दो० ५४ में सचिवसुत के द्वारा सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनने का उपयोग यह हुआ कि कैकेयी द्वारा राजा के पूर्वदत्त वरयाचना के आधार पर रामराज्यारोहण के प्रति कैकेयी की मनोरथपूर्ति के प्रागभाव में प्रतिबन्धकत्व कौसल्याजी ने समझा है। प्रागभाव ऐसा तत्व है जो मानव बुद्धि से अगम्य है। वह तो वस्तूत्पत्ति के अनन्तर ही चिन्तन में आता है। प्रभु की सर्वज्ञता में उक्त प्रागभाव की कल्पना 'अनुचित एकू' से व्यक्त है। पुनीता कैकेयीमाताजी में रामस्नेह के रहते जो मतिफेर हो रहा है वह उसकी इच्छा से नहीं, दैव के विधान से है, जो उक्त प्रागभाव के अनुमापक रूप में कौसल्याजी को प्रतिभात हो रहा है। अतः 'जो पितु मातु कहेउ बन जाना' से माता कैकेयीजी की मनोरथपूर्तिप्रागभाव ध्वंसपूर्वक सकुशल लौट आने की असंदिग्धता को 'पितु' के उल्लेख से कवि ने स्पष्ट किया है। 'जौं केवल पितु आयसु' से यह स्पष्ट होता है कि पिताश्री के आदेश से विहित राज्यारोहण अर्थ की प्रमाणप्रमितता व सफलता तब तक सिद्ध नही होगी जब तक माता कैकेयीजी की मनोरथपूर्ति का प्रागभाव (प्रतिबन्धक) दूर नहीं होगा जिसको 'जौ पितु मातु' से ध्वनित किया है।

वनवास की प्रवृत्ति में कैकेयी को प्रवर्तना का अनुमोदन

ज्ञातव्य है कि श्रीराम की उक्ति 'तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर' (दो० ४१) का समर्थन कौसल्याजी 'जौं पितु मातु कहेउ वन जाना' से करते हुए कैकेयीजी के मातृत्वका गौरव एवं सतीत्व के प्रति आदर प्रकट कर रही हैं। 'कहेउ बनु जाना' से शास्त्रसम्मत अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मक विधि दिखायी गयी है। उसका परिणाम यह हुआ कि कैकेयी माताजी ने वरयाचना द्वारा श्रीराम को वनवास में प्रवृत्त कराने में धर्म का सहारा लिया, इसलिए उनकी धर्मप्रवर्तना में मंगल होगा। जिसको 'कानन सतअवध समाना' कहकर अपने आशीर्वाद से कौसल्याजी पुष्ट कर रही हैं।

'कानन सतअवध समाना' का भाव

चौ० ५ दो० ३६१ बा० का० में कहे सीताराम के गृहनिवास से 'बसइ अनन्द अवध सब तब तें' आनन्द कहा गया है। उस आनन्द की कल्पना को आधार मानकर श्री सीताराम के वनवास में शतगुण आनन्द कहा है जैसा श्रुतियों ने मानुष आनन्द की कल्पना को लेकर एक के बाद एक-एक शतगुणित आनन्द कहा है। इसकी यथार्थता चौ० ४ दो० १४० में 'अवध सहस सम बनु प्रिय लागा' से स्पष्ट होगी। अवध समाना' से अयोध्यानिवास और वनवास का साधर्म्य प्रभु के 'कानन राजू' में दृश्य होगा जिसका वर्णन दो० २३५ से २३६ तक किया गया है। दो० १ चौ० ५ में 'कहि न जाइ कछु नगर विभूती' से अयोध्या के मंगल-मोद का जो वैभव था वही श्रीराम के वनवास (चित्रकूट वास) में कवि प्रदर्शित करेंगे जिसको माता सुमित्राजी 'अवध तहाँ जहँ राम निवासू' कहकर लक्ष्मणजी को समझावेंगी। अरण्यकाण्ड में मुनियों की स्तुति में 'बसतु मनसि मम कानन चारी' 'बसहु निरन्तर जन मन कानन' से ध्वनित है कि अकामहत भक्तों के मनोरूप कानन में सतत चिन्तनधाराविषय होकर प्रभु का निवास होता है तो निर्वैरता, अहिंसा, वैराग्य आदि गुणों की संपत्ति के उद्‌गम से भक्तों को शत अवध का आनन्द सुलभ होता है।

संगति : 'सत-अवध समाना' में आन्तरिक आनन्द के अतिरिक्त बाह्य मंगल की पूर्ति में देवों के सहायता की आकांक्षा को माताजी प्रकट कर रही हैं।

चौ० : पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरनसरोरुह-सेवी ॥ ३ ॥

भावार्थ : श्रीराम के वनवास में सहायकरूप से माता व पिताजी को आकांक्षा वन के देवता पिताश्रीरूप में और वनदेवियाँ माताजी के रूप में रक्षक होकर पूर्ण करे और श्रीराम के चरणकमलों की सेवा पशु-पक्षी करें।

शा० व्या : वन में अवध का साधर्म्य माता (कौसल्याजी) पिता (दशरथजी) व सेवकों की उपलब्धि से प्रकट किया हैं। 'सेवी' कहकर सत्यसंध पिताजी के वचन प्रमाण की व वनवास की नीति-संगत सफलता में माताजी का विश्वास प्रकट हो रहा है। 'नर अहार रजनीचर चरहीं' से प्रभु ने वन में मनुष्यनिवास का बाध दिखाया था, उसको स्मरण करके माताजी ने वनवासी पशु-पक्षियों का नाम लिया है।

संगति : 'जौं पितु मातु कहेउ बन जाना' का अनुमोदन करते हुए भी जैसा की वधुओं ने चौ० ७ दो० ५० में 'राम सरिस सुत कानन जोगू' से रामवनवास में आपत्ति उठायी थी। उसी प्रकार कौसल्याजी के सामने श्रीराम की स्वल्पवयस्कता व कोमलता वनवास की अनुज्ञा में रोडा लगा रही है।

चौ० : अंतहुँ उचित नृपहि बनबासू । बय बिलोकि हियँ होइ हराँसू ॥ ४ ॥

भावार्थ : अन्तिम वयस् में राजा के लिए वनवास उचित कहा जा सकता है, पर श्रीराम का लघुवयस् देखकर हृदय में पीड़ा हो रही है ।

रामवनवास में अनौचित्य व समाधान

शा० व्या० : वर्णाश्रमव्यवस्था में यह कहा गया है कि वृद्धावस्था आने पर राजा ने गुणवान् पुत्र को राज्यभार सौंपकर शरीरप्रतिपत्ति के निमित्त से वन जाना उचित है। गृहस्थाश्रम में पविष्ट यह सुकुमार राजपुत्र राज्यपालन करने के उम्र में ही वनवासी हो रहा है इसी अनौचित्य का माता-पिता को कष्ट है। इसका समाधान धैर्य और विवेक से माताजी ने प्राप्त करना है अर्थात् श्रीराम शरीरप्रतिपत्ति के लिए नहीं जा रहे हैं किन्तु प्रभु के कहे 'काननराजू' के अनुसार चौदह वर्षपर्यन्त पित्राज्ञापालन का निर्वाह करके काननराज्य को शोभनीय बनाने के बाद वह राज्य में लौटकर राजवचनानुसार राजपदासीन होंगे।

अथवा 'अंतहु उचित नृपहि बनवासू' से ऐसा ध्वनित माना जाय कि कौसल्याजी को खेद इस बात का है कि अन्त समय का संकेत (चौ० ७-८ दो० २) पाकर राजाश्री को वन में जाना चाहिए, ऐसा न होकर लघुवयस् पुत्र को धर्म की प्रबलता में वन जाना पड़ रहा है। यह अनुचित है इसका समाधान चौ० २-८ दो० ४ की व्याख्या में द्रष्टव्य है जो चौ० ५ दो० १५१ बा० का० में कहे राजा के पूर्वजन्म में याचित वर ('सुत विषयक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ') के अनुसार पुत्रस्नेह में चित्त के द्रवीभाव से होनेवाली राजा के शरीर की प्रतिपत्ति से संबंधित है।

संगति : नीति-धर्म को प्रमाण मानकर समाधान होने के कारण विवेकवती कौसल्याजी अब कोई आपत्ति प्रस्तुत नहीं कर सकती। केवल गुणवान् पुत्र के वनवास में अपनी विवशता प्रकट कर रही हैं।

चौ० : बड़भागी बनु अवध अभागी । जो रघुवंशतिलक तुम्ह त्यागी ॥ ५ ॥

भावार्थ : इस समय अवध अभागा हो रहा है, वन बड़भागी हो रहा है क्योंकि रघुवंश में श्रेष्ठ तुम्हारे जैसा पुत्र अवध को त्याग रहा है (वनवास को स्वीकार कर रहा है)।

अवध का अभागित्व व वनका भाग्योदय

शा० व्या० : सन्त जल्दी मिलते नहीं। सन्त वे जहाँ पहुँच जाते हैं, वह स्थान और वहाँ के निवासी धन्य हो जाते हैं। श्रीराम के दूर होने से अवध की श्रीहीनता का भरतजी को अनुभव होगा जैसा चौ०४ से दो० १५८ तक कहा गया है। दो० ११३ के अन्तर्गत श्रीराम की उपस्थिति से वन की धन्यता गायी गयी है। प्रभु का सान्निध्य पाकर 'विवेक भुआल' के साम्राज्य में चित्रकूट की शोभा (दो० २३५ से २३६ तक) गायी गयी है जिसका अनुभव भरतजी व अयोध्यावासियों को होगा। शोक और विषाद की स्थिति में अवध भाग्यहीन दिखायी पड़ेगा।

'बड़भागी बनु' का तात्पर्य राजनीतिक दृष्टि से कहना होगा कि दण्डक वन की अशुचिता दूर होकर अवधराज्य का भूभाग रावण के आतंक से मुक्त होगा।

संगति : पुत्रविरह के दुःख से बचने के लिए स्नेहाधीनता में माता जी श्रीराम के साथ चलने को कहें तो उसमें क्या आपत्ति होगी ? इसका विवेकपूर्वक समाधान कौसल्याजी प्रकट कर रही हैं।

चौ० : जौं सुत ! कहौं संग मोहि लेहू । तुम्हरे हृदयँ होइ संदेहू ॥ ६ ॥

भावार्थ : हे पुत्र ! यदि मैं कहती हूँ कि मुझको भी साथ ले चलो तो तुम्हारे मनस् में सन्देह होगा।

श्रीराम के साथ माताजी के जाने में आपत्ति

शा० व्या० : पूर्व चौ० २ में 'जौं पितु मातु कहेउ बन जाना' के अनुसार सत्यसंध पिताश्री के वचन-बोधित व मातृ-पितृ प्रवर्तना में सफलता के व्यभिचार की शंका को उदित कराना माता को इष्ट नहीं है क्योंकि श्रीराम के मनस् में संदेह होगा कि माताजी को वचन-प्रामाण्य में क्या विश्वास नही है ?। अथवा बा० का० दो० १५ में कहे ('सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निजचरनसनेहु । सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु प्रभु के विधान के रहते मोहि संग लेहू' से स्नेहविकलता में माता कौसल्याजी का श्रीराम के साथ वन जाना स्वयं ने कहे (दो० ५६ चौ० २) वचन की प्रामाणता के सन्देह का कारण होगा ! अथवा माताजी चौं० १ दो० ३२ में कहे राजा के वचन ('राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राम मातु कछु कहेउ न काऊ') की यथार्थता में मोहि संग लेहू' से उद्भूत संदेह का निरास न होना आपत्ति होगी ऐसा बुद्धिमती माताजी मानती है।

प्रभु के निर्णय में वाक्यभेद-दोष का परिहार

कौसल्याजी के उपर्युक्त विवेक से एक और माताजी को ज्ञात हुआ हैकि दो० ५३ चौ० ६-७ कानन-राज्य और दो० २८ चौ० ३ में कहे उदासीत्व का पारस्परिक विरोध परिहृत हुआ जो दो० ५३ चौ० ६।७ में व्याख्यात है। उसकी पुष्टि निम्नलिखित मोमांसान्याय से मननीय है।

'उच्चैऋंचाक्रियते' वाक्य के विचार-प्रसंग में ऋक् शब्द का अर्थ ऋग्वेद या ऋचा है। ऐसा सन्देह होने पर उसके निरास में यही कहा गया है कि उपक्रम में ऋग्वेद का स्पष्ट वर्णन होने से उसके अविरोध में ऋक् शब्द का अर्थ ऋग्वेद माना गया है उसी न्याय का अनुसरण प्रभु ने किया है। उक्त न्याय के अनुसार प्रभु ने कही वनराज्यपालनानुकूल योजना और तापसवेषपूर्वक वनवास दोनों सफल होकर पित्राज्ञापालन में परिणत हो गये। इस विवेचन से श्रीराम के द्वारा कहे हुए विधिद्वैविध्य से कैकेयी के वचन में वाक्यभेद दोष की प्रसक्ति होगी जिससे श्रीराम के पितृ वचनार्थ निर्णय में कैकेयी के मनोरथ की [illegible]कता पुनः संदिग्ध होती है, उसका परिहार गंगाजी के अपौरुषेय वचन से आगे स्फुट होगा। इससे [illegible] की सर्वज्ञ साक्षिता भी स्पष्ट है।

संगति : वनगमन की अनुमति में अपनी विवेकपूर्ण सहमति दिखाते हुए माता कौसल्याजी श्रीराम के प्र[illegible] का स्मरण कर रही हैं। फिर स्नेह के वश हो अपनी दीनता दिखा रही है।

[illegible]० : पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के । प्रान प्रान के जीवन जी के ॥ ७ ॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ । मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ ॥ ८ ॥

भावार्थ : हे पुत्र ! तुम सबके प्रिय हो, सबके प्राणों के प्राण हो, सबके जीवनाधार हो। ऐसे पुत्र होकर म वन जाने को कहते हो जिसको सुनकर मैं पछताती बैठी हूँ।

पूत का परमप्रियत्व

शा० व्या० : 'पूत' से पुत्र श्रीराम की वैदिक शुचिता तत्प्रयुक्त तेजस्विता दिखायी है। गौतम ऋषि ने अर्थशुचिताको सर्वोपरिशुचिता कहा है जो कि श्रीरामने किये राज्याधिकारत्याग से प्रकट है। नीतिमत्ता से संबद्ध उक्त शुचिता ने श्रीराम को पूर्ण विश्वासार्ह बनाया है जिसको 'परमप्रिय सबही के' कहा है। प्राणिमात्र के कल्याण में तत्पर रहते जो रक्षण करते हैं वैसे शुचि नीतिमान् के प्रति आकृष्ट होकर प्रजा मित्रभाव में अपनी सेवा प्रस्तुत करने में उद्यता रहती है जैसा श्रीराम के वनवासचरित्र में दृश्य होगा। उसकी पुष्टि में चौ० ६ दो० १६२ मैं भरतजीने भी कहा है। अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से श्रीराम का प्रभुत्व वेदान्त मत से यहाँ दिखाया है कि श्रीराम आत्मस्वरूप हैं। आत्मा सुखरूप है। सभी प्राणी सुख चाहते हैं, अतः सुखस्वरूप आत्मा के प्रति सबका आकर्षण है। आत्मा की परमप्रियता याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में विस्तारपूर्वक कही गयी है। उपनिषदों में कहा गया है कि ईश्वरने स्वयं प्रवेश करके प्राणियों में जीवन-संचार कराया, वही आत्मा, सबका जीवनधार है जिसको 'जीवन जीके' है, तथा (अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं' कहा है 'सबही के' अन्तर्गत देवपितृभूतप्रेतादि की प्रियता भी विवक्षित है जैसा आगे चा० १ में व्यक्त है।

माताजी का भक्तिभाव और जीवभाव

इस अवसर पर माता कौसल्याजी का जन्मान्तरीय संस्कारोद्भूत ज्ञान और गुणवान् पुत्र के प्रति लौकिक स्नेहबन्धन दोनों प्रकट है। ऐसी ही अनुभूति श्रीराम को वन जाने में उद्यत देखकर राजा दशरथजी को हुई थी जैसा कि चौ० ६ से दो० ७७ में वर्णित है। यह उनके सुकृत का फल है। जीवभाव होने से विवेक एवं स्नेह के बीच में पड़ी माता को पुत्र के बिछुड़ने में पछतावा हो रहा है। तथापि विजय धर्म की होकर रहेगी।

संगति : स्नेह की परवशता को विवेक से हटाकर वचनप्रामाण्य में बुद्धि को धैर्य से स्थिर करके माता कौसल्याजी चौ० ७ दो० ५५ में कही (मनोरथपूर्तिप्रागभाव ध्वंस की) उक्ति की यथार्थता को अपने निर्णय से स्पष्ट कर रही हैं।

दो० : यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातुकर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाई ॥ ५६ ॥

भावार्थ : माता कह रही है "ऐसा विचार करके मैं स्नेह को व्यर्थ बढ़ाकर हठ नहीं करना चाहती। मैं बलैया जाती हूँ, माताजी का नाता मानकर तुम हमारी याद को मत भुला देना।

माताजी के विचार का निष्कर्ष

दोष को ध्यान में लाकर स्नेह की अधीनता में अपने सुख के लिए 'संग मोहि लेहु' के विचार को माता जी असत् ठहराती हैं। अतः वह हठ करना योग्य नहीं समझती। मातृ-पितृ प्रवर्तना हेतुक निर्णय विषय कर्तव्य से पुत्र को रोकना उचित नहीं है। इसलिए कि वनवास की सफलता व निर्दोषता में धर्मसंबध तर्क का बल है।

उदासीनत्व का निषेध

'जनि जाहु जानि बड़ि' माताजी के अनुसार श्रीरामजी को वन जाने से रोकना या उसके साथ ने जाना पुत्र के अभ्युदय में बाधा पहुँचाना ही कहा जायगा ऐसा पूर्ण निर्णय होने पर भी पुत्रस्नेह

को भुलाने में वह असमर्था है अतः पुत्र से प्रार्थना कर रही है कि 'कानन सतअवध समाना' के आनन्द में वह माताजी को न भूल जाय अथवा उदासीभाव में उसका स्मरण ही छोड़ दें। ज्ञातव्य है कि वैराग्य का आश्रय लेने पर भी सन्यासी के लिए माताजी का दर्शन या चिन्तन शास्त्रसम्मत है, अतः माताजी का स्मरण करने को कहना विधान शास्त्रविरुद्ध नहीं है। लोक में ऐसा देखा जाता है कि प्रवास में पूर्वसंबंधित स्नेह की मात्रा घट जाती है उसको ध्यान में रखकर "जनि सुरति बिसरि जाइ" कहा है।

संगति : श्रीराम के वनवास में अपनी सहमति प्रकट करके माताजी देवादिको से वनवास की मंगलकामना कर रही है।

चौ० : देव पितर सब तुम्हहि गोसाइं !। राखहुँ पलक नयन की नाइं ॥ १ ॥

भावार्थ : पुत्र को 'गोसाई' संबोधन करते हुए माता मंगलकामना में प्रार्थना कर रही है कि देव एवं पितृगण सब उनकी रक्षा करें जैसे पलक नेत्र की रक्षा करती है।

प्रमाणों पर विश्वास

शा० व्या० : पलक और आँखों की पुतली के दृष्टान्त से समझना है कि जिस प्रकार वचनप्रमाण पर विश्वास रखकर विधि के अनुष्ठान में तत्पर धर्मोपासक की सुरक्षा स्वयं शास्त्र करता है, उसी प्रकार वचनप्रमाण के बल पर मातृ-पित्राज्ञापालन धर्म में प्रवृत्त निराकांक्ष पुत्र की वनवास में सुरक्षा देव-पितृगण स्वतः प्रेरित वृत्ति से करते रहें जैसे बिना किसी प्रयत्न के पलक पुतली की रक्षा में चेष्टायमान रहती है।

'देव-पितर' के साथ सब कहने से भूत प्रेतादि विवक्षित हो सकते हैं, क्योंकि लौकिक रीति से माताजी भूत-प्रेतबाधा के निवारणार्थ उपचार करती रही है।

'पितर' से सूर्यकुलोद्भूत पितृगण एवं दिव्य पितृगण दोनों विवक्षित हैं क्योंकि विमल वंशोत्तम रघुकुलमणि आत्मगुणसम्पन्न शुचि आस्तिक जितेन्द्रिय पुत्र को देखकर पितृगण की प्रसन्नता होना पुराणमत से सिद्ध है। वेदमर्यादा में स्थित शास्त्रानुयायी पूर्णधर्मश्रद्ध पर देवों की अनुकूलता है ही।

संगति : जिस प्रकार पिताश्रीने चौ० ३-४ दो० ३६ में वनवास की फलश्रुति गायी, उसी प्रकार माताजी अपना मनोभाव प्रकट कर रही हैं।

चौ० : अवधि-अंबु प्रिय परिजन मीना। तम्ह करुनाकर धरमधुरीना ॥ ३ ॥
अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जिअत जेहि भेंटहु आई ॥ ४ ॥

भावार्थ : तुम धर्म मर्यादा रखनेवाले हो सब पर करुणा करनेवाले हो। जितने प्रियजन परिजन हैं सब मछली के समान चतुर्दशवर्षावधिरूप जल के आश्रित हो जीवित रहते तुम्हारे लौटने की आशा में विकल हैं। ऐसा सोचकर वही उपाय करना कि यहाँ आकर जिनसे भेंट करनी है वे सभी जीवित रहें।

'करुनाकर धुरमधुरीना' प्रजारक्षण कहने में माताजी का तात्पर्य

शा० व्या० : पूर्वोक्त चौ० ७ में श्रीराम के प्रभुत्व से संबंधित 'करुनाकर धर्मधुरीना' का तात्पर्य है कि प्रभु की उक्ति 'सब पर मोरि बराबरि दाया' के अनुसार प्रभु अपनी करुणा को न भूलें। त्रयीसम्मत धर्म की

मर्यादा को धारण करके प्रभु वनवास में जा रहे हैं। श्रीमद्भागवत में 'धर्मः क्वचित् तत्र न भूतसौहृदं' (८।८।२१) से धार्मिकों के स्वभाव को स्पष्ट किया गया है, उसकी प्रसक्ति प्रभु में न होने का स्मरण माता कौसल्याजी करा रही हैं।

'धर्मधुरीना' से पिता का सत्यसंधत्व धर्म, कौसल्याजी के कहे 'तिय धरमु' चौ० १-२ दो० ४६ में कहा पुत्रत्व धर्म, 'कानन राजू' से कहा पालनधर्म आदि की मर्यादा विवक्षित है। 'धर्मधुरीन धरम गति जानी' (चौ० ५ दो० ५३) कीं व्याख्या में श्रीराम की धर्मधुरीणता द्रष्टव्य है। 'अवधि अंबु प्रियजन मीना' की एकवाक्यता आगे चौ० ८ दो० ८६ में 'अवधि आस सब राखहिं प्राना' से द्रष्टव्य होगी। इस प्रकार पालनधर्म के अन्तर्गत अयोध्यावासियों के जीवन की रक्षा का कर्तव्य समझाया है।

'करहु उपाई' का भाव

कौसल्याजी की 'पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के' इस उक्ति का विचार करके श्रीराम को सबका जीवन रखने का उपाय यही सोचना है कि अपनी करुणा के कारण दो० ५५ में 'तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु' की वेदना से संगत 'सरल सुभाउ रामु महतारी' की उक्ति का स्मरण रखते हुए अवधिसमाप्ति के क्षण में ऐसा करना है कि श्रीरामने अवध आकर राजपदासीन होना है।

'सबहिं जिअत जेहि भेंटहु आई' की यथार्थता का विचार

'सबहिं' के अन्तर्गत ध्यातव्य है कि कैकेयी आदि भी है। 'सबहिं भेंटहु' की सार्थकता एकमात्र राजा के अभाव से बाधित हुई है, इसका कारण अंधशाप का विधान है, किंबहुना राजा ने सुमन्त्र को आदेश देते हुए पहले ही स्पष्ट कर दिया कि 'जौ नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई' (चौ० ६-७ दो० ८२) की स्थिति में सीताजी के लौटने की आशा तक ही वह प्राण अवलम्ब रखने में समर्थ हो सकेंगे।

माताजी के उक्त आदेश का स्मरण करके प्रभु लंकाविजय के बाद चतुर्दशवर्षविधि की समाप्ति पर अयोध्या लौटने को व्यग्र हो उठेंगे। ठीक अवधिसमाप्ति के क्षण में पहुँच और उपाय के अन्तर्गत हनुमान्जी को सूचना देने के लिए भेज देंगे।

कहने का आशय है कि जिस प्रकार "जौं पितु मातु कहेउ बन जाना" के अनुसार पिताश्री के वचनप्रमाण के आधार पर श्रीराम वन जा रहे हैं, उसी प्रकार माताजी के वचनप्रमाण को अधार मानकर श्रीराम ने अवधि समाप्ति पर अयोध्या लौटने में प्रयत्नशील होना है।

संगति : इतना कहकर माता कौसल्याजी श्रीराम के मंगलमय प्रस्थान के लिए बिदाई दे रही है।

चौ० : जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ ॥ ४ ॥

भावार्थ : मैं बलि जाती हूँ, तुम सुखपूर्वक वन के लिए प्रस्थान करो। उससे अयोध्यावासिनी प्रजा, परिजन और अवध गाँव तो अनाथ होगा ही।

बलिदान

शा० व्या० : 'बलि जाऊँ' से कौसल्या माताजी अपने पुत्रस्नेह का बलिदान कर रही हैं। प्रकारान्तर से यह भी ध्वनित है कि 'करि अनाथ' से राजाश्री की संभावित मृत्यु से होनेवाले अमंगल को

प्रतिभात कर वह पुत्र के मंगल के लिए अपने को बलि दे रही है। शास्त्रप्रमाण के अनुयायी का यह एक महान् आदर्श है।

सुखेन का भाव

'सुखेन' का भाव है पितृवचन प्रमाण के पालन में किसी प्रकार शंका न करके चिन्तामुक्त होकर पुत्र वन के लिए प्रस्थान करे। प्रस्थानकाल में मनस् का हर्ष मंगलसूचक कहा है। 'जन परिजन गाऊँ' की अनाथावस्था को कहकर माताजी अपनी पूर्व प्रार्थना का पुनः स्मरण करा रही है।

संगति : वामविधि का स्वरूप कौसल्याजी को प्रतिभात हो रहा है।

चौ० : सबकर आजु सुकृतफल बीता। भयउ कराल कालु बिपरीता ॥ ५ ॥

भावार्थ : कौसल्याजी ने कलपते हुए कहा कि सबका पुण्य आज समाप्त हो गया। इसलिए काल भी कठोर होकर उलटा हो गया है।

सामुदायिकदैव को प्रतिबन्धकता

शा० व्या० : सबके पुण्योदय में रामराज्य का सुख सबको प्राप्त होनेवाला था। किसी एक की पुण्यहीनता से रामराज्यरस-भंग नहीं हो सकता अथवा एक के ही पुण्यबल से राज्योत्सव की संपन्नता नहीं हो सकती। दो० ४९ के अन्तर्गत प्रजा ने रामवनवास में कैकेयी को कारण कहा है। उसके उत्तर में कौसल्याजी का उक्त समाधान सुविचारणीय है। कैकेयी को दोष न देते हुए कौसल्याजी के कहने का आशय है कि राम राज्योत्सव-भंगमें एक व्यक्ति का दैव कारण नहीं है, सभी का है।

काल की कठोरता विपरीतार्थदर्शन में

करालु काल विपरीता' से विपरीत काल की यही कठोरता है कि मन्थरा सहित कैकेयीजी के मतिफेर का बल लेकर काल ने सत्यसंध राजा, पुनीता रानियाँ एवं रामानुरागी परिजन प्रजाजनो आदि सबके पुण्य को तत्काल के लिए तिरोहित कर दिया है, भविष्यत् में वह सफल होकर रहेगा। काल के विपरीत होने पर उसकी चपेट में पुण्यवान् भी आ जाते हैं जिसके फलस्वरूप एक का नहीं, सबका पुण्य तिरोहित हो जाता है।

संगति : पूर्वोक्त चौ० ४ में माता कौसल्याजीने वनगमन को धर्मतः अनिवार्य मानकर श्रीराम के निर्णय में अपनी विवेकपूर्ण सम्मति को देते हुए कुशलपूर्वक लौटने के हेतु मंगलाशासन तो किया, पर स्नेह के वश हो रामवियोग क्लेश की कल्पना में उनको विह्वलता के विलाप ने प्रभु के चरणों में लपटा दिया।

चौ० : बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी ॥ ६ ॥

भावार्थ : बहुत प्रकार का विलाप करते हुए अपने को सबसे बड़ी अभागिनी समझकर कौसल्याजी श्रीराम के चरणों में पड़ गयी।

स्वदोषदर्शन में भक्तोंकी विलापसंकुल दीनता

शा० व्या० : स्वगत दुःखको व्यक्त करना पिलाप है। अपने प्रति दोषदृष्टि रखते हुए सेवक पूर्णपरतन्त्र दीनता की वृत्ति में प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण का भाव रखते हैं जो 'चरण लपटानी' से दिखाया

है। अभागिनि' से रामराज्योत्सव से वंचित होना, पुत्रविरह का दुःख भोगना आदि व्यक्त है। 'परम 'अभागिनि' से संभावित वैधव्य भी ध्वनित हैं जो प्रतिव्रता के लिए सबसे बड़ा अभाग्य है। जिस प्रकार भरतजी स्वदोषदर्शन में माता कैकेयीजी के सन्बन्ध से अपने को सम्पूर्ण कुटिलत्व का मूल मानते हैं उसी प्रकार कौसल्याजी सर्वसद्गुणसंपन्न पुत्र श्रीराम के वनवासजनित विरह में अपने को परम अभांगिनी मानती हुई पूर्ण परतन्त्रा हो रही है। यही भक्तों की दीनता है।

चौ० : दारुन दुसह दाहु उर व्यापा। बरनि न जाहिं बिलापकलापा ॥ ७ ॥

भावार्थ : कौसल्याजी के हृदय में तीव्र संताप व्याप्त हो रहा है। उसमें वह जो विलाप की कल्पना व्यक्त कर रही है, उसका वर्णन नहीं हो सकता।

दुस्सह सन्ताप में भी धर्मशासन

शा० व्या० : धर्म की दृढ़ता और कर्तव्यपालन में प्रियवियोगादि से उपासक को जो मनःसंताप सहना पड़ता है, वह कहा नहीं जा सकता। 'दुसह दाहु' से होनेवाली यही दशा कौसल्याजी के हृदय की पीड़ा में है। फिर भी वह कर्तव्य को भूल नहीं रही है यही धर्म का अनुशासन है व उसकी धर्म पर प्रीति है।

संगति : अपने मनस सन्ताप में सेवक को प्रभु का ही भरोसा रहता है। प्रभु भी प्रसन्न हो सेवक को समझाते रहते हैं और कर्तव्य की ओर प्रेरणा देते रहते हैं।

चौ० : राम उठाइ मातु उर लाई। कहि मृदु वचन बहुरि समुझाई ॥ ८ ॥

भावार्थ : श्रीराम ने माताजी को उठाकर हृदय से लगाया, फिर मधुर वचन से उनको समझाया।

प्रभुद्वारा कर्तव्य का संकेत

शा० व्या : माताजी के 'दारुन दुसह उर व्यापा एवं विलापकलापा' के उपशमन में श्रीराम के मृदुवचन का सार वही है जो चौ० ६ से दो० ५२ तक कहे प्रभु के वचन में व्याख्यात हो चुका है। 'बहुरि समुझाई' का निष्कर्ष यही है कि माता जी की विनती पर 'सबहिं जिअत जेहि भेटहु आई' के समाधान में प्रभु ने पुनः माताजी को आश्वस्त किया कि वनवास की अवधि पूर्ण होने पर वह अयोध्या में लौटकर आवेंगे।

संगति : प्रभु के वचन "आयसु देहि मुदित मन माता!। जेहि मुद मंगल कानन जाता" के उत्तर में माता कौसल्या जी के वचन "तौ कानन सत अवधसमाना" को प्रतिफलित करने के उपक्रम में ग्रन्थकार 'मुद मंगल की मूल भूत (चौ० १ दो० १) सीताजी की उपस्थिति की दिखाते हुए अग्रिम ग्रन्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

सीताजी के चरित्रोपस्थापन में स्मरणीय तत्व

अथवा 'देखि दसा रघुपति जिय जाना। हठि राखे नहि राखहि प्राना' के अनुरूप पातिव्रत्यधर्म के प्रथम कल्प में दृढ़ा सीताजी के मनोभाव का प्रभु को स्मरण होते ही, उनके संकल्प के अनुसार सीताजी वहाँ उपस्थित हो रही हैं।

अथवा सीताजी के सम्बन्ध में राजा के वचन 'करेहु उपायकदंबा। फिरइ त होइ प्रानअवलंबा' के अनुरूप व कौसल्या जी के वचन 'सोइ करहु उपाई। सबहि जिअत जेहि भेटहु आई' की सार्थकता में सीताजी के चरित्र को उपास्थापित करने के लिए अग्रिम ग्रन्थ निरूपित हो रहा है। अथवा अरण्यकाण्ड दो० ५ में पतिव्रता-अग्रगण्य अनुसूयाजी के वचन के प्रामाण्य से पति के वनगमन में पतिव्रताशिरोमणि सीताजी का अनुगमन सुनिश्चित है—दिखाने के लिए ग्रन्थकार सीताजी के चरित्र को उपस्थापित कर रहें हैं।

दो० : समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासुपदकमलजुग बंदि बैठि सिरु नाइ ॥ ५७ ॥

भावार्थ : उसी समय वनगमन का समाचार सुनकर सीताजी घबड़ाकर उठीं। वहाँ जाकर सासूजी (कौसल्या जी) के चरणकमलों में प्रणाम करके शिरस् झुका कर बैठ गयीं।

सीताजी की आकुलता व समाचारश्रवण

शा० व्या० : चौ० ६ दो० ४५ में 'नगर व्यापि गइ बात सुतीछी' से जो रामवनगमनात्मक समाचार का प्रचार एवं तत्संबन्धित परिजनों पुरजनों की प्रतिक्रिया का वर्णन ग्रन्थकार करते आये हैं, उसका सम्बन्ध रखते हुए सीतासंवाद प्रस्तुत हुआ है। अन्तर्गृहचारिणी परिचारिकाओं से वनगमनार्थं माताजी की आज्ञा लेने के लिए कौसल्या-भवन में श्रीराम के पहुँचने का समाचार सीताजी को मिला होगा जिसको सुनकर 'उठी अकुलाइ' से सीताजी के पातिव्रत्योत्तेजक भाव को कवि ने दिखाया है।

ग्रन्थलाघव व सीताजी का विनय

श्रीराम की उपस्थिति में कौसल्या-सीता संवाद को प्रस्तुत करके ग्रन्थ का लाघव करन में ग्रन्थ-कार का कौशल प्रकट है अन्यथा सासुजी की आज्ञा लेने के हेतु सीताजी का कौसल्याभवन में जाने का पृथक् निरूपण अपेक्षित होता।

'बैठि सिरु नाइ' से सासुजी के प्रति आदर तथा मर्यादा में पति के सम्मुख सीताजी का विनयशील प्रकट किया गया है।

संगति : पूज्य ने अभिवादन के उत्तर में आशीर्वाद देना शिष्टाचार है।

चौ० : दीन्हि असीस सासु मृदुबानी। अति सुकुमारि देखि अकुलानी ॥ १ ॥

भावार्थ : मृदु वाणी में सासु कौसल्याजी ने आशीर्वाद दिया। सीताजी को अत्यन्त सुकुमारी देखकर सासुजी को व्याकुलता हुई।

'अति अकुलानी' में कौसल्याजी का भाव

शा० व्या० : 'बैठि सिरु नाइ' से सीताजी के पातिव्रत्यपूर्ण अनुभाव को कौसल्याजी ने समझा, यह कि पातिव्रत्य के अनुसरण में सीता जी पति के साथ वन में अनुगमन करने का मनोरथ रखती हैं जैसा आगे चौ० ३-४ में उनके मनोभाव से स्पष्ट है। 'दीन्हि असीस मृदुबानी' से ध्वनित है कि सासुजी ने मनोरथपूर्ति का आशीर्वाद दिया जो सीताजी को अभिलषित है। सीताजी का वयस् एवं तदनुरूप अत्यन्त सुकुमारिता को

देख कर सासुजी का हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो गया। एक तो पुत्र श्रीराम को वनगमन के लिए अनुमति देने से माताजी का हृदय उद्विग्न था ही, दूसरे अत्यन्त कोमलांगी प्रियपुत्रवधू के वनगमनमनोरथ को जानकर और भी उद्विग्न हो गया। पतिविरह में पतिव्रता सीताजी का गृह-निवास भी सम्भव न समझकर माताजी ने उद्विग्न होना 'अति अकुलानी' का दूसरा कारण है।

संगति : कवि समझा रहे हैं कि कठिन परिस्थिति में भी धर्मधीर अपने कर्तव्य से डिगते नहीं। कवि पातिव्रत्य में धीरा सीताजी का मनोभाव व्यक्त करा रहे हैं।

चौ० : बैठि नमितमुख सोचति सीता। रूपरासि पतिप्रेमपुनीता ॥ २ ॥
चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृतीसन होइहि साथू ॥ ३ ॥
की तनु प्रानकि केवल प्राना ?। बिधिकरतबु कछु जाइ न जाना ॥ ४ ॥

भावार्थ : रूप के आगार पति के प्रेम में पुनीतभाव रखनेवाली सीताजी मुख नीचा किए हुए सोच रही है "मेरे जीवनाधार वन जाना चाहते हैं। मेरा कौन सा पुण्य होगा ? कि उनका साथ हो जाय ? क्या शरीर और प्राण दोनों साथ जायँगे ? या केवल प्राण ही जायगा ? विधाता क्या करेगा ? कुछ जाना नहीं जा सकता।

पतिव्रता के प्रेम की पुनीतता

शा० व्या० : उत्तमा पतिव्रता का पतिप्रेम ऐसा विलक्षण होता है कि पति के सान्निध्य को छोड़कर अनुकल्प धर्म के अनुशासन में रहना उसको प्राणसंकट के तुल्य असह्य मालूम होता है। सीताजी का पातिव्रत्यपूर्णप्रेम कामनासम्पृक्त नहीं है. किन्तु शुद्ध धर्म व अभिरुचि से संपृक्त है। पतिसेवा में ऐहिक काम-सुख या विषयभोग ध्येय नहीं है, केवल दासभाव है, जो ईश्वरप्राप्ति का द्वार व भक्तियोग का मूल है। इसलिए कवि ने 'पतिप्रेमपुनीता' कहा है। वासनाप्रधान स्त्रियों में "पापं तवैव तत् सर्वं वयन्तु फलभागिनः' की उक्ति चरितार्थ होती है। निष्कामा पतिव्रता अपने भाग्य व सम्पूर्ण पुण्य की सफलता पति के साथ रहने में मानती है, पति से बिछुड़ने में प्राणों को रखने में वह समर्था नहीं होती। सीताजी की कामना का विषय व सौन्दर्यासक्ति का पात्र एकमात्र अधिष्ठान रूपराशि पति ही है, जिसको कवि ने 'प्रेमपुनीता' कहकर धर्म-सम्बद्ध प्रेम का तत्व स्फुट किया है, जैसा सीताजी की उक्ति 'नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरदबिमल बिधुबदन निहारे' से प्रकट है।

विधि के प्राबल्य से वनानुगमन की सम्भावना

'विधिकरतबु' से ध्वनित है कि विधि ही साथ दे तो पति के साथ वन जाने को मिल सकता है। 'जाइ न जाना' से स्फुट है कि विधि का विधान अचिन्त्य है। 'सोचति सीता' से यह विचार है कि सासु-ससुरजी की अनुमति मिल जाय तो शरीर और प्राण दोनों से पति का साथ हो सकता है अन्यथा केवल प्राण ही साथ देगा, कहने का निष्कर्ष है कि पतिका साथ छोड़कर वह जीविता नहीं रह सकेगी। पतिदेव का स्पष्ट आशय समझना कठिन है। नीतिमान् की वाणी भी गूढ़ार्थक होती है, अतः विधि का साथ कहा जा रहा है।

ध्यातव्य है सुकृती से प्रभु के उस विधान का संकेत स्मरणीय है जो बालकाण्ड में "परम सक्ति कि समेत अवतरिहउं (चौ० ६ दो० १४७) से स्फुट है क्योंकि भाग्य से महालक्ष्मीरूपा प्रभुशक्ति सीताजी के रूप में अवतरिता नहीं है, उसमें सुकृत या भाग्य की प्रसक्ति कैसी ?

संगति : सीता जी का अनुभाव देखकर पातिव्रत्यकुशला सासुजी समझ गयी कि वह कुछ कहना चाहती है, इसको कवि कह रहे हैं।

चौ० : चारुचरननखलेखति धरनी। नूपुरमुखरमधुर कबि बरनी ॥ ५ ॥
मनहुँ प्रेमुबस बिनती करहीं। हमहि सीय ! पद जनि परिहरहीं ॥ ६ ॥

भावार्थ : सीताजी अपने सुमनोहर पैरों के नखों से घरती कुदेरने लगी। उनके नूपुरों के मधुर शब्द को कवि वर्णन करते हुए कहते हैं कि मानो वे प्रेम में भरकर सीताजी से प्रार्थना कर रहे हैं कि सीताजी के चरण उनको (वनगमन के निमित्त) न छोड़ दें।

'नखलेखति' का भाव

शा० व्या० : वाल्मीकि मुनि के कहे 'चरनरामतीरथ चलि जाहीं' के अनुसार वे ही पैर सौन्दर्य योग्य हैं जो प्रभुपदअंकित तीर्थरूप स्थलों की ओर बढ़े। इस भाव से 'चारु-चरन' कहा गया है। 'नखलेखति' से सीताजी के उपरोक्त 'सोचति' में धर्मप्रयुक्त विवेक दिखाया है।

साहित्यशास्त्र में नख से भूमिलेखन को लज्जा का अनुभाव कहा गया है। यह लज्जा सासुजी (माता) के सामने पति से बातचीत न करने की मर्यादा में है।

संगति : पति के साथ वनगमन में न जाने से सीताजी का आन्तरिक दुःख प्रकट हो रहा है जिसको सासु कौसल्याजी समझ रही हैं। उसके वचन सुनाने की प्रतिज्ञा शिवजी सुना रहे हैं।

चौ० : मंजुबिलोचन मोचति बारी। बोली देखि राममहतारी ॥ ७ ॥

भावार्थ : अपने सुन्दर नेत्रों से अश्रुप्रवाह करती सीताजी को देखकर राममाता कौसल्याजी श्रीराम से बोली।

परीक्षा

शा० व्या० : ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार पति के साथ सहगमन करनेवाली सती को स्वजन-बन्धु सहगमन से निवृत्त कराने के लिए भाँति-भाँति के उपदेश देते हैं जिसका आशय सती की स्वाभाविक प्रवृत्ति की परीक्षा करना है उसी प्रकार वनगमनोत्सुक पति के साथ जाने में रुचि रखने वाली सीताजी को वनगमनप्रवृति से निवृत्त कराने के लिए माता कौसल्याजी व श्रीराम का हेतूपन्यासपूर्वक उपदेश समझना होगा। उसके उत्तर में अनुष्ठाता के द्वारा अपना स्वतन्त्र विचार रखने एवं उपदेष्टा केतर्कों का समुचित समाधान करने का मर्यादित संकेतआगे कहा जायगा।

संगति : सीताजी को समझाने के व्याज से माताजी श्रीराम से कह रही हैं।

चौ० : तात ! सुनहु सिय अतिसुकुमारी। सास-ससुर-परिजनहि पिआरी ॥ ८ ॥
दो० : पिता-जनक भूपालमनि ससुर भानुकुलभानु ॥
पति रबिकुल-कैरवबिपिनबिधु गुन-रूप-निधानु ॥ ५८ ॥

भावार्थ : "हे तात ! सुनो। सीताजी अत्यन्त कोमला हैं, सासु, ससुर एवं परिजनों की प्यारी हैं। राजाओं में शिरोमणि जनक जो उसके पिताजी हैं, सूर्यवंश के सूर्यरूप राजा

(दशरथ) उसके ससुर हैं, सूर्यकुलरूपी कुमुदिनी के वन को प्रफुल्लित करने के लिए चन्द्रमा के समान रूप व गुणों के आकर उसके पति (श्रीराम) हैं।

सीताजी के बिछुड़ने में पीड़ा

शा० व्या० : दो० १ के अन्तर्गत कहे वर्णन में 'व्याहि राम घर आए' के उपरान्त अयोध्या में जो मंगलमोद का प्राचुर्य हुआ उसमें 'सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। मुदित मातु सब सखी सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ बेली' को स्मरण करके कौसल्याजी 'सास ससुर परिजनहि पिआरी' से सीताजी की प्रियता को प्रदर्शित करा रही हैं। पति की प्रेमवशता में रहते हुए सीताजी ने अपने सेवाभाव से सबको प्रसन्न किया है। बा० का० चौ० ४-५ दो० ३५४ में पुत्रवधुओं के प्रति सबकी प्रीति स्पष्ट है। सुकुमारी सीताजी का वन जाना सबको पीड़ादायक होगा, विशेषकर के सास-ससुर एवं परिजनों को।

श्रीराम के निर्णय की आकांक्षा

पिता जनक, ससुर दशरथ और पति श्रीराम के सम्बन्ध से सीताजी के भाग्य और पुण्य की अतिशयितता दिखायी है। राजा जनक ब्रह्मज्ञानी, राजा दशरथ धर्मधीर और श्रीराम सर्वगुणसम्पन्न हैं। सीताजी के सफल वनगमन के संबंध में पिता जनकजी का उदासीनत्व, ससुरजी का स्नेहपरवशत्व (पूर्वनिश्चित ही है) निर्णायक नहीं हो सकता। सासु कौसल्याजी भी अपनी असमर्थता को समझती हैं अतः एकमात्र पति श्रीराम हीउक्त विषय में निर्णायक हो सकते हैं। इसलिए माता कौसल्याजी श्रीराम की सम्मति को जानने की अपेक्षा व्यक्त करते हुए सीता जी के वनगमनसम्बन्ध में अपना पूर्व पक्ष उपस्थापित कर रही हैं।

श्रीराम के निर्णायकत्व का ध्वनन

'रविकुलकैरवबिपिनबिधु' से स्पष्ट किया है कि श्रीराम ही ऐसे गुणनिधान हैं जो अपने निर्णायक युक्ति से समस्त सूर्यकुल को सुख-संतोष दे सकते हैं। रूपनिधान से सीताजी को भी परितुष्ट करने में समर्थ हो सकते हैं।

संगति : माता कौसल्याजी सीताजी के प्रति अपने में निर्णायकत्वाभावप्रयोजक स्नेहपरवशता उपाधि को प्रकट कर रही हैं।

चौ० : मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूपरासि गुन-सील सुहाई॥ १॥
नयनपुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥ २॥

भावार्थ : सौन्दर्य की खनि और सुन्दर गुणों एवं शील से सम्पन्न पतोहू को पाकर मैंने नेत्रों की पुतली के समान उसकी रक्षा करके अपनी प्रीति को बढ़ाया है। श्रीजानकी जी को हृदय से लगाते हुए जीवन को धारण कर रही हूँ।

श्वश्रूश्वशुरजी की प्रीति में समानता

शा० व्या० : अपनी प्रियता का कार्यकारणभाव बताते हुए माताजी का कहना है कि सीताजी का सौन्दर्य व गुणशील प्रियता का साधक है। गुणों से सीताजी की सुलक्षणता सेवा, शील, व पातिव्रत्य मुख्यतया विवक्षित है।

'नयनपुतरि' से सीताजी की कोमलता (सुकुमारिता) कही। पुतली की रक्षा में पलक को स्वाभाविक रक्षणक्रिया होती है, उसी प्रकार 'प्रीति बढ़ाई' से कौसल्याजी का चेष्टित, रक्षणवृत्ति एवं प्राणप्रियता दिखायी है। ससुर दशरथ जी सीताजी को 'प्रानअवलम्बा' मानते हैं, तथा सासुजी 'राखेउँ प्रान' कह रहीं हैं। उसी प्रकार गुणशील से युक्त सेवापरायणा पुत्रवधू की सासुजी के प्रति स्वार्थपरता से रहित अकृत्रिम प्रीति को दर्शाया है जो धर्म और करुणा से मिश्रित है।[1]

चौ० : कलपबेलि जिमि बहुविध लाली। सींचि सनेहसलिल प्रतिपाली ॥ ३ ॥
फूलत फलत भयउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा ? ॥ ४ ॥

भावार्थ : कल्पलता के समान बहुत प्रकार से दुलार-संभार करके स्नेहरूप जल से सींचकर सीताजी का रक्षण किया है। जब उसके फूलने फलने का समय आया तब भाग्य (विधि) विपरीत हो गया। अभी मालूम नहीं होता कि 'विधि वाम' का क्या फल होगा ?।

पुत्रवधू में 'प्रीति बढ़ाइ' की उपादेयता

शा० व्या० : 'लाली प्रतिपाली' से दिखाया है कि वधू लरकिनी पर घर आई। "राखेहु नयन पलक की नाईं" के अनुसार वधूरूप में परायी लड़की के घर में आने पर सासुजी ने पूर्ण वात्सल्य 'स्नेह' से उसका आदर पूर्वक लालन-पालन इस प्रकार सेकरना चाहिए जिसमें स्नुषा के हृदय में 'इयं मम हितसाधनं' का भाव उत्पन्न हो तभी पुत्रवधू की ओर से (वार्धक्य में) सासु-ससुरजी की सेवा तथा यथोचित सम्मान स्वाभाविकतया सम्भाव्य है जो पुत्रवधू में 'कल्पबेलि' से ध्वनित है। बा० का० चौ० ४ दो० ३४९ में 'पुनि-पुनि सीय राम छबि देखी। मुदित सकल जग जीवन लेखी' के अनुसार माताजी को सीताजी के घर में आने से जो मंगलमोदप्राप्ति की कल्पना हो रही थी, उसको 'फूलत फलत' से व्यक्त किया है। अपने मनोरथ फलने में रामवनवास व्यवधान हो रहा है उसमें भी सीताजी का अनुगमन तो विधि की वामता को और भी बढ़ा रहा है। इसलिए 'काह परिनामा' से उसके फल के विषय में चिन्ता व्यक्त कर रही है जैसा श्रीमद्भागवत में कहा है "मनोरथान् करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि युज्यते हर्षशोकाभ्यां"।

संगति : पुत्रवधू की प्रियता में सासुजी की इतिकर्तव्यता कौसल्याजी के उद्गार में प्रकट हो रही है।

चौ० : पलंग, पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनिकठोरा ॥ ५ ॥
जिअन मूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीपबाति नहिं टारन कहेऊँ ॥ ६ ॥

भावार्थ : पलंग, पाँवड़ा (जमीन पर बिछाने का मुलायम गद्दा, गलीचा आदि) गोद और झूला को छोड़कर सीताजी ने कठोरतायुक्त भूमि पर कभी पैर नहीं रखा है। संजीवनी बूटी के समान सीताजी को मैं सदा सँभालकर रखती आयी हूँ। मैंने उससे दिया की बत्ती भी खसकाने के लिए कभी नहीं कहा।

---

१. भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा। धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः (भा० द० स्क०)

पुत्रवधू की कोमलता के आदर में सासुजी की प्रीति

शा० व्या० : निष्काम प्रेम में प्रीतिमान् व्यक्ति की करुणार्द्रता प्रकट होती है। यद्यपि सीताजी सासुजी की सेवा में उद्यता हैं, पर वह स्नुषा की कोमलता पर इतनी मुग्धा है कि दीप की बत्ती बढ़ाने जैसे स्वल्प-श्रमकार्य में भी सीताजी को श्रम होने के कष्ट का स्वयं अनुभव करने के कारण उस श्रम से विरत कराती रहती है।

चौ० : सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ? रघुनाथा! ॥ ७ ॥

भावार्थ : ऐसी सुकुमारी सीताजी तुम्हारे साथ वन में जाना चाहती है। हे रघुनाथजी! उसके लिए क्या आज्ञा है?

सीताजी के वनगमन-निर्णय में कौसल्या की अक्षमता

शा० व्या० : 'सोइ' से सीताजी की पूर्वोक्त कोमलता एवं सुखसमृद्धिसंपन्नता कही है। 'रघुनाथ' सम्बोधन से श्रीराम की योग्यता व समर्थता दिखायी है। 'आयसु काह' से श्रीराम के निर्णय की आकांक्षा व्यक्त है क्योंकि सीताजी के पातिव्रत्यधर्म और पतिप्रेमको देखते हुए भी उसके वनगमन में बलवदनिष्टानुबन्धित्व व कृत्यसाध्यता का विचार कर माता कौसल्याजी अपना निर्णय देने में मूढ़ा हो रही है जैसा 'भयउ विधिबामा। जानि न जाइ काह परिनामा' से वह व्यक्त कर चुकी है।

ज्ञातव्य है कि उपरोक्त चौपाइयों में निवृत्ति के प्रकाशन में कौसल्याजी की अभिरुचि नहीं हैं बल्कि सीताजी की कोमलता व समृद्धिसंपन्नता को दिखाकर वनवास के कष्ट में विह्वला हो उसने स्नेह का प्राकट्य किया है।

संगति : सीताजी में वनवास की अशक्तता व अयोग्यता को माताजी स्पष्ट कर रही है।

चौ० : चंदकिरनरसरसिक चकोरी। रबिरुख नयन सकइ किमि जोरी? ॥

भावार्थ : जिस प्रकार चकोरी के लिए चन्द्रमा की किरणों का पान करना स्वाभाविक आल्हाद-दायक है उसी प्रकार सुख मे पली सुकुमारी सीताजी सुलभ राजसुखभोग की अभ्यस्ता है। चन्द्रकिरणरस का स्वाद लेने वाली चकोरी को सूर्य के प्रखर किरणों को सहना अशक्य है।

सासुजी के वचन में कठोरता

शा० व्या० : 'रवि रुख' कहने का भाव हैं कि वन के कठिन क्लेश को सहना सीताजी के कोमल-स्वभाव के विरुद्ध है। फिर भी ध्वनितार्थ यह है कि सीताजी के पक्ष से पति के मुखचन्द्र को देखते रहने में पतिव्रता सीताजी को सुख मिलता है। पति से अलग रहकर महल के राजसुख उसको 'सोक समाजू' के सदृश असह्य हैं। कहने का आशय यह भी है कि पति के अनुगमन में उसकी स्वाभाविक रुचि है उसके निरोध में सासु (कौसल्याजी) के वचन कठोर व सूर्यकिरण के समान तीक्ष्ण प्रतीत हो रहे हैं।

श्रीराम के वनवास की अनुमति से कौसल्याजी का विवेक-विचार (मातृ-पित्रादेश विषयताहेतु किये गये कृति साध्यता, इष्टसाधनता एवं बलवदनिष्टाननुबन्धिता निर्णय) स्पष्ट है। किन्तु पुनीता सीताजी

के पातिव्रत्यधर्मसहचरितवनगमन में इष्टसाधनत्व बलवदनिष्टाननुबन्धितादि के निर्णयविषय में अपनी इदं इत्थं के रूप में कहने में अपनी अक्षमता दिखाते हुए माताजी श्रीराम के 'आयसु' की आकांक्षा व्यक्त कर रही है।

संगति : सीताजी को वनगमन की अभ्यनुज्ञा न देने में माताजी के विचार में जो दोष कल्पित हो रहे हैं, उनसे अनुमित बलवदनिष्टानुबन्धिता को पूर्वपक्ष के माध्यम से माताजी प्रकट कर रही है।

दो० : करि केहरि निसिचर चरहिं दुष्टजंतु बन भूरि।
विषबाटिका कि सोह ? सुत सुभग सजीवनि मूरि ॥ ५९ ॥

भावार्थ : वन में हाथी, शेर और दुष्ट जीव-जन्तुओं का बोलबाला है, राक्षसों का विचरण है। हे पुत्र ! तुम्ही बताओ कि ऐसे भयानक वन में सीताजी के निवास की क्या शोभा होगी ? जैसे विषैले वनस्पतियों से युक्त बाग में सुन्दर सजीवन बूटी की कोइ शोभा है। ?

सीताजी के वनवास में बलवदनिष्टानुबन्धिता

शा० व्या० : 'दुष्ट' का भाव है कि विनाकारण पीड़ा पहुँचाने का स्वभाव होने से निसिचर चरहिं' कहकर राक्षसों के उपद्रव का भय बताया। 'सुत' के सम्बोधन से माताजी पुत्र का विशेष ध्यान सीताजी के वनवास में बलवनिष्टानुबन्धिता की ओर आकृष्ट करना चाहती है जिसकी अनुमानप्रणाली इस प्रकार होगी—वनं सुकुमार्याः कृते असेवनीयं भयजनककेसर्यादिजन्तुसेवितत्वात् निशाचरभ्रमणस्थानत्वाच् च" । स्त्री में भय नैसर्गिक है, भय में धृतिज संस्कार लुप्त हो जाता है। जिस प्रकार विषाक्त पौधों के संसर्ग से अमृत-वेलि में विष का प्रभाव आ जाता है उसी प्रकार भयानक पशु, जन्तु, राक्षसों के भय से भयभीता सीताजी के रक्षणोपाय के चिन्तन में दो० ४१ में कहे उदासीत्वपूर्वक वनवाससाधन में व्यवधान हो सकता है।

संगति : वन के कष्टों को झेलने में सीताजी की कृत्यसाध्यता को पूर्वपक्ष के माध्यम से माताजी स्पष्ट कर रही हैं।

चौ० : बन हित कोलकिरातकिसोरी। रची बिरंचि बिषयसुख भोरी ॥ १ ॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेसु न कानन काऊ ॥ २ ॥
कै तापसतिय काननजोगू। जिन्ह तपहेतु तजा सब भोगू ॥ ३ ॥
सिय बनबसिहि तात ! केहि भाँति ?। चित्रलिखित कपि देखि डेराती ॥ ४ ॥
सुरसर सुभग बनज बनचारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी ॥ ५ ॥

भावार्थ : वनवासी कोल किरातों की लड़कियाँ जिनको ब्रह्माजी ने केवल विषयसुख में रुचि रखने के अनुकूल बनाया है,[1] वे वन में अपना हित साधसकती हैं। उनका स्वभाव पत्थर में रहनेवाले कीड़े के समान होता है, उनको जंगल में रहने में कोई कष्ट नहीं होता। या तो तपस्वियों की स्त्रियाँ वनवास के योग्या हो सकती हैं क्योंकि तपस् के हेतु से उन्होंने सब प्रकार के भोग का त्याग किया है। यह शरीरवेजात्य सीताशरीर में

१. गुह के प्रसंग में कहा गया कि आटविकों, किरात, कोल, भील आदि जाति को राज्यसुरक्षा की दृष्टि से वन में बसाने का राजनीतिसम्मत विधान है।

नहीं है। चित्र में बने बन्दर को देखकर डरती है वह भयानक वन में किस तरह रहेगी? मानससरोवर में खिले कमलवन में विहार करनेवाली हसिनो कहीं गंदे जलवाले तालाब में रह सकती है? अर्थात् सीताजी के लिए वनवास कृत्यसाध्य है।

शरीरवैजात्य से निवासस्थल-भेद

शा० व्या० : ब्रह्माजी ने स्थलभेद के अनुसार तत्तस्थलवासी तत्तज्जातीय जीवों का सर्जन किया है। अतः प्रत्येक स्थल में रहनेवाले जीवों का विजातीय शरीर उस स्थान के उद्भूत दोषों से अपना रक्षण करने में समर्थ है। ब्रह्माजी की रचना के अनुसार प्राणी स्वशरीरानुरूप स्थल में रहकर सुख का अनुभव करता है। इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर कवि 'कोल किरात किसोरी' व पाहन कीट का दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहे हैं। पशुयोनि में 'करि केहरी' आदि दुष्ट जन्तुओं व निशाचरों का पूर्वोक्त दोहे मे उल्लेख किया है. यहाँ मनुष्यजाति में कोल किरात और कीटयोनि में पाहनकीट का नाम लेकर उक्त सिद्धान्त के अनुसार उनकी शारीरिक वनवासक्षमता दिखा रहे हैं। पाहन कीट की कठिनता सहिष्णुता एवं कोलकिरातयुवतियों की भोगेच्छानुकूल प्रकृति उनके वनजीवन के अनुकूल है। कहने का आशय है कि सीताजी का कोमल शरीर वनवास की कठोरता सहने में अयोग्य है पतिप्रेमपुनीता होने से भोगेच्छाहीनता, उसका स्वभाव है। यदि पूछा जाय कि ऋषिपत्नियाँ वन में कैसे रहती हैं? उनके विषय में स्पष्ट कर रहे है कि वे तपस्वियों के तपस्साधन में सहचरी होने के लिए भोगों का त्याग करके वन में रहती हैं अर्थात् आहारनिद्रामैथुनविवर्जित होने से उनमें कोलकिरातस्त्रियों की तरह तामसगुणप्रयुक्त कामभोगवासना नहीं है। वैसा तपश्शरीर सीताजी का नहीं है, यह तो वनस्थशरीर से विजातीय है। इसलिए सीताजी के लिए वनवास कृत्यसाध्य है। यह तो अत्यन्त भीरु है। 'कपि' के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है कि तथाकथित विकारों को देखने में सीताजी को स्वाभाविक भय है। अतः तपस् के योग्य न होने से पातिहित में वह अभी भोगत्यागशीला नहीं हो सकती।

रुचिभेद से विषय की रमणीयता

प्रत्येक व्यक्ति का शरीर और स्वभाव सात्विक राजस-तामसगुणभेद से भिन्नरुचिक होता है। तदनुसार विषयोंकी रमणीयता में भी तत्तत्प्रकृतिवाले व्यक्ति की रुचि भिन्न-भिन्न होती है। तामसप्रकृति को अशुचिसंसर्ग में सुख मिलता है, सात्विकप्रकृति को उसमें सहज घृणा है। 'सुरसर चारी' से सीताजी की सात्विक विषयों में रमणीयता दिखायी है। 'हंसकुमारी' से सीताजी की सात्विकता शुचिता, विवेकशीलता दिखायी है।

संगति : चौ० ३ दो० ५९ में 'आयसु काह होइ रघुनाथा' से माता कौसल्या जी ने जो विचारणीय विषय उपस्थापित किया था, उसका उपसंहार कर 'जस आयसु होई' से वह श्रीराम को पूछ रही हैं।

चौ० : अस विचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई ॥ ६ ॥

भावार्थ : उपर्युक्त बातों का विचार करके जैसी तुम्हारी आज्ञा हो वैसी शिक्षा में सीता जी को दूँ।

आदेश में विचारणीय तथ्य

शा० व्या : वनवास में (सीताजी की) कृतिसाध्यता एवं पातिव्रत्यधर्मसंपृक्त इष्टसाधनता को बलवद-निष्टाननुबन्धिता से समन्वित कर उसको समझते हुए सीता जी को आदेश देना है किन्तु इसका निर्णय

करने में माता जी अपने को असमर्था मानकर पुत्र से इष्टसाधनत्वादि का विचार कर सीताजी को आदेश देने की प्रार्थना कर रही हैं। ध्यानव्य इतना ही है कि माताजी का भी परितोष होना चाहिए।

कौसल्याजी का प्रौढ़ विवेक

पूर्व व्याख्या में कहा जा चुका है कि कौसल्या जो अपने पातिव्रत्य का बल लेकर पुत्र को वनगमन से रोकने या स्नेहवशात् पुत्र के साथ वन जाने में अपना स्वतन्त्र प्रेरकत्व रखना मनुसिद्धान्त (न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति) के विरुद्ध समझती हैं। दो० ५७ में सीताजी के सासु-पदवन्दन से स्पष्ट किया गया है कि को उसको पति के अनुगमन की अभ्यनुज्ञा सासुजी से आकांक्षित है। अब सासुजी के सामने दो विचार-कोटि हैं :—एक सीताजी को घर में रखना, दूसरा उस को वन जाने में अपनी सहमति देना। दोनों कोटियों में से किसी एक के अनुमान में प्रबल हेतु का निर्णय करने की योग्यता अपने में रखते हुए भी तत्काल में स्नेह-विवशा होने से आत्मनिर्णय को गौण रखकर 'पति रविकुलकैरवविपिनविधु गुन-रूपनिधानु' के निर्णय को निर्णायक मानने में कौसल्या जी का प्रौढ़ विवेक प्रकट हैं।

संगति : उक्त दो कोटियों में से किसी एक का निर्णय करने के पूर्व श्रीराम ने जो सोचना है उसको माता जी समझा रही है।

चौ० : जौ सिय भवन रहै कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलम्बा ॥ ७ ॥

भावार्थ : माता कौसल्याजी कह रही हैं कि यदि सीताजी घर में रहे तो मुझको एवं बहुतों को बड़ा सहारा होगा।

वनवास से निवृत्ति का कारण

शा० व्या : कौसल्या जी की उक्ति से ध्वनित है कि उनका झुकाव सीता जी को घर में रखने के पक्ष में है, क्योंकि वनवास में परमसुकुमारी सीताजी के हकमे कृत्यसाध्यता को वह समझ रही हैं। न कि पतिव्रतधर्म के विकल्प में पति की अनुपस्थिति में सास-ससुरजी की सेवा करते हुए घर में रहने के संकेत से पतिव्रत धर्म का तिरस्कार कर रही है ?

'बहुत अवलम्बा' का भाव

'बहुत अवलम्बा' से अपने अवलम्ब के साथ कौसल्याजी बहुजनों (परिजन प्रजा) के अवलम्ब का भी ध्यान रखती हैं। राजा की उक्ति 'फिरइ त होइ प्रान अवलंबा' में अपने प्राण का ही अवलंब कहा है। कौसल्याजी के विवेक में अपने अतिरिक्त प्रजा परिजनों का भी व्यापक हित है, क्योंकि वह 'सबहि जिअत' कह चुकी है। वह जीवन सीता जी के अयोध्या में रहने से मुदमंगल की प्राप्ति से होगा, अर्थात् सीताजी के अनुपस्थिति में प्राण के रहने का संदेह है इसको ध्यान में रखकर श्रीराम ने निर्णय देना है।

संगति : माता जी की उक्ति में प्रभु उसके स्नेह शील को समझ रहे हैं।

चौ० : सुनि रघुबीर मातुप्रिय बानी। सील-सनेह-सुधा जनु सानी ॥ ८ ॥

भावार्थ : रघुवीर श्रीरामजी ने माता जी की प्रिय वाणी को सुना, मानो उसमें शील स्नेह और अमृत भरा हो।

शील स्नेह का ध्वनितार्थ

शा० व्या० : माता कौसल्या जी की वाणी शील स्नेह सुधा से युक्त होने से प्रभु को प्रिय है। उसमें भक्तिसमन्वित धर्म और विवेक प्रकट है। 'सनेह' से कौसल्या जी की रामभक्ति एवं पुत्रवधू सीता जी के प्रति प्रेम समझाया गया है, 'शील' से पातिव्रत्य धर्म, 'सुधा' से 'बहुत अवलम्बा' से समन्वित सर्वहित व्यक्त है।

संगति : माता जी के कहे 'आयसु काह होइ रघुनाथा' के उत्तर में 'सोई मति' आदि को[1] ध्यान में रखकर प्रभु ने उस प्रकार प्रबोध कराया जिसमें माता जी का परितोष हो व जानकीजी को प्रबोध हो ऐसी प्रतिज्ञा शिवजी सुना रहे हैं।

दो० : कहि प्रियवचन विवेकमय कीन्हि मातु परितोष।
लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि विपिनगुनदोष ॥ ६० ॥

भावार्थ : जंगल के दोष-गुणों को बताकर सीताजी को प्रिय वचन में इस प्रकार सम्बोधन करके समझाया कि विवेकपूर्ण प्रियवचन से माताजी को परितोष हो जाय।

विवेक का स्वरूप

शा० व्या : सीताजी को वन के कष्टों से बचाने के लिए घर में रखने का पक्ष उपर्युक्त चौ० ७ में अभिव्यक्त है, उसके समर्थन में प्रभु सीताजी से वन के दोषों का वर्णन करेंगे और पातिव्रत्यधर्म के अनुकल्प में माता जी की इच्छानुकूल सासु ससुरजी की सेवा करते हुए अयोध्या में रहने को कहेंगे। पर वह पूर्वपक्ष होगा, इसलिए कि उसमें कौसल्या जी को दोष समझ में आवेगा। अत एव शिव जी ने विवेकमय वचन कहा जिसका सार्थक्य यही है कि कौसल्या जी को अपना निर्णय सुनाने में जो हिचकिचाहट हो रही थी, वह दूर होगी सीता जी के वनवास के आदेश से परितोष होगा।

सीताजी की तर्कदृष्टि का प्रकाशन

'लगे प्रबोधन' का फल है कि प्रभुके हेतूपन्यासपूर्वक उपदेशको सुनकर तर्क मीमांसा रीति से प्रभु का आशय समझकर सीता जी स्वयं निर्णय करेंगी। माताजी के परितोषार्थ प्रभु को यही इष्ट भी है। प्रभु का गूढ़ आशय सीताजी की विवेकपूर्ण प्रतिज्ञा से प्रकट कराना कवि का उद्देश्य है। इसलिए अपना निर्णय स्पष्ट रूप में प्रकट न करके प्रभु 'प्रगटि विपिन गुण दोष' से सदसत् का विचार कराकर सीता जी को स्वतन्त्र तर्कदृष्टि को प्रकाशित कराना चाहते हैं।

विपिन-गुण-दोष

ध्यातव्य है कि सात्विकों के हित में विपिन में जो गुण माने गये हैं वे राजस-तामस की दृष्टि में दोष हैं इसलिए माता जी के पक्ष को उपादेयता राजस-तामस के लिए समझकर सत्वप्रकृति सीताजी

---

1. बालकाण्ड दो० १० में द्रष्टव्य है।

के हक में योग्य नहीं है ऐसा कहते हुए माताजी के पक्ष को दुष्ट ठहराकर विपिन को गुणवान् समझकर सीताजी उत्तर देगी इस आशय से शिवजी ने गुण-दोष कहा है।

संगति : शिवजी कहते हैं कि श्रीराम के लिए यह प्रथम अवसर है जो माताजी के सामने स्वतन्त्र होकर सीता जी को आदेश देंगे। अतः उनको बोलन में संकोच हो रहा है।

चौ० : मातुसमीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं ॥ १ ॥

भावार्थ : माता जी के सामने सीताजी से कहने में प्रभुको संकोच हो रहा है फिर भी परिस्थिति को मनस् में समझकर प्रभु बोले।

पुत्र के सकोच का कारण

शा० व्या० : पूज्य की उपस्थिति में पत्नी से निस्संकोच बात करना या आदेश देना मर्यादा के विरुद्ध है उक्त सदाचार के उल्लंघन में विनयशील पुत्र को माताजी के समक्ष सीताजी से बोलने या आदेश देने मे संकोच हो रहा है। संकोच का कारण यह भी है कि विवेकशीला माताजी शिक्षा देने में स्वयं कुशलिनी होते हुए भी तदर्थ पुत्र की योग्यता से निर्णय कराना चाहती है अतः 'रूप गुन निधानु' आदि से अपनी प्रशंसा सुनने में पुत्र को संकोच हो रहा है।

'समउ' का भाव

'समउ' का भाव है कि अवसर के अनुकूल कार्य शोभनीय होता है। 'समउ समुझि मन माहीं' से ऐसा ध्वनित मालूम होता है कि प्रभु को अवतार कार्य का इस समय स्मरण हो रहा है जिसमें सीताजी ने समयानुकूल योगदान करना है, जैसा बालकाण्ड चौ० ५-६ दो० १८७ में कहा गया है।[1]

संगति : माताजी के पक्ष को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हुए प्रभु सीता जी से कह रहे हैं।

चौ० : राजकुमारि ! सिखावनु सुनहू। आन भाँति जियँ जनि कछु गुनहू ॥ २ ॥
आपन मोर नीक जौं चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू ॥ ३ ॥

भावार्थ : हे राजकुमारि ! शिक्षाको सुनो। अपने मनस् में अन्यथा विचार न करो। मेरा और अपना यदि भला चाहती हो तो हमारा कहना मानकर घर में रहो।

शा० व्या० : 'राजकुमारि' संबोधन का भाव है कि सीताजी में राजकुमारी सदृश सुकुमारता है, उसको ध्यान में रखकर प्रस्तुत शिक्षाको सुनना है, जिसका अर्थ है—उत्तर काल में कर्तव्य को समझना, जो पतिव्रत धर्म के मुख्य कल्प का पालन करने की असमर्थता में मानी जाती है।

'आन भाँति' का तात्पर्य

'आन भाँति' का सरलार्थ है कि माताजी का प्रिय करने के हेतु दिखावा मात्र के लिए मैं शिक्षा दे रहा हूं ऐसा मनस् में मत सोचना। अथवा अभी तक जैसे माता-पिता, सासु-ससुरजी आदि के आदेशमें रहती

---

१. परमसक्ति समेत अवतरिहउं। हरिहउं सकल भूमि गरुआई। आदि।

आयी हो, उसको छोड़कर कोई दूसरा प्रकार शिक्षा में मत समझना। पूर्वोक्त 'समउ समुझि मन माहीं' की व्याख्या से संगत 'आन भाँति जनि मन गुनहू' का गूढ़ार्थ यह भी होगा कि तथोक्त अवतार-कार्य से इतर कोइ विचार मनस् में न लाना। इस संकेत को मनस् में गुनकर सीताजी को वनगमन निमित्त से प्रभु का अनुगमन करने की पूर्ण तत्परता व्यक्त करनी होगी।

जौ चहहु का भाव

'जौ चहहू' से गृह-निवास करने में सीताजी को संशय होना ध्वनित है। 'आपन मोर नीक' का तात्पर्य सीताजी के लिए यही है कि वह यदि अपने व श्रीराम के हित में गृहनिवास अच्छा समझती हो तो (बचनु हमारि मानि) प्रभु के वचन से 'गृह रहहू' सीता का धर्म होगा। निष्कर्ष यह कि घर पर रहकर सासुजी को समझाना, उसको शोकरहित करते रहना तुमसे संभव हो तो मेरा व तुम्हारा हित होगा। इसका अर्थ होगा कि घर में रहकर सीताजी यदि अपना और पतिका कायेन-वाचा मनसा हित-साधन करने में असमर्था होती है तो उसका गृहनिवास व्यर्थ है।

संगति : माताजी के कहे 'जौ सिय भवन रहै' का समर्थन करते हुए श्रीराम पूर्वपक्ष को युक्ति के साथ अनूदित कर रहे हैं। 'आपन मोर नीक' को दृष्टादृष्ट रीति से स्पष्ट करते हुए प्रभु पूर्वपक्ष में सीताजी को घर में रहने का प्रबोध करा रहे हैं।

चौ० : आयसु मोर सासुसेवकाई। सब बिधि भामिनि! भवन भलाई ॥ ४ ॥
एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा। सादर सास-ससुरपदपूजा ॥ ५ ॥

भावार्थ : हे भामिनि! सासुकी सेवा कर सकती हो तो मेरी आज्ञा से घर में रहने से तुम्हारी सब प्रकार से भलाई हैं। संभव हो तो सासु-ससुरजी के चरणोंकी आदरपूर्वक पूजासेवा करने से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है। 'मोहि कहँ होइ बहुत अवलम्बा' से समन्वित माताजी के परितोष की प्रधानता को 'सासु सेवकाई' से प्रथम उल्लिखित करके व्यक्त किया, फिर भामिनी का धर्म 'सास ससुर पद पूजा' से स्थापित किया है।

सासुजी और श्वशुरजी को सेवा का दृष्टादृष्ट फल

'सब बिधि भलाई' से इहलोक व परलोक में होनेवाला कल्याण बताया जो सासु ससुरजी की सादर सेवा का फल धर्मशास्त्रसम्मत है। 'सासुसेवकाई' से दृष्ट फल एवं 'सादर सास-ससुरपदपूजा' से अदृष्टफलोपलब्धि कही है। 'सादर' से किसी प्रकार के दबाव में पड़कर अनिच्छापूर्वक सेवा का बाध दिखाया है।

श्वशुरपदपूजा की सेवा का साफल्य भक्तिभाव में

गुरु वसिष्ठजी की उक्ति "सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई" (चौ० ४ दो० १७३) के अनुसार कहना है कि पातिव्रत्य धर्म के प्रथम कल्प के मर्म को समझकर निश्छल पतिसेवात्मक प्रधान विध्यर्थ का निर्णय सीताजी ने करना है। प्रभु की उक्ति (सब बिधि) के संदर्भ में सीताजी के स्वतन्त्र विचार का विषय है अर्थात् प्रभु के कहने का आशय यह कि सास-ससुरजी को सेवा करते हुए सीताजी

घर में रह सकती हैं तो अपना और श्रीराम का हित साधन होगा, अन्यथा नहीं। आगे दो० ६७ में स्पष्ट होगा कि प्रभु के वियोग की विषमता को सहने में असमर्था सीताजी के लिए घर में सासु-ससुरजी की सेवा अशक्य होगी तो 'सब बिधि' का सार्थक्य नहीं होगा।

पतिव्रता के लिए अनुकल्प की ग्राह्यता

'एहि ते अधिक धर्म नहिं दूजा' का तात्पर्य है कि पति की अनुपस्थिति में पतिव्रता ने घर में छलहीना रहकर श्वश्रू श्वशुरजी की सेवा करना ही पातिव्रत्य का अनुकल्प धर्म है। उक्त स्थिति में सासु-ससुरजी के सेवात्मक अनुष्ठान के अतिरिक्त दूसरा धर्म सती के लिए नहीं है, किंबहुना इसी में ईश्वर की प्रसन्नता होने से धर्मान्तर की प्रसक्ति श्रममात्र होगी जैसा अनुसूयाजी ने अरण्यकाण्ड में 'बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिव्रतधर्म छाड़ि छल गहई' कहा है।

स्मरणीय है कि पातिव्रत्य के सहजसंस्कार में संपन्ना सीताजी को पातिव्रत्य के प्रथमकल्प[1] के रहने में ही अभिरुचि है। धर्मविधि के अनुसार ऐसा सामर्थ्य रहते कहा जायगा कि प्रथम कल्प को (पति की सेवा) नित्यकर्म के रूप में मानने में ही महत्ता है। दूसरा अनुकल्प सामर्थ्य न रहने पर (साससुर की सेवा) यथाशक्ति न्याय से परिगृहीत हो सकता है।

संगति : 'आयसु मोरि सासु सेवकाई' से प्रभु सीताजी की हेतूपन्यासपूर्वक इतिकर्तव्यता विधि समझा रहे हैं।

चौ० : जब जब मातु करिहि सुधि मोरी। होइहि प्रेमविकल मतिभोरी॥ ६॥
तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी। सुन्दरि! समुझाएहु मृदु बानी॥ ७॥
कहउँ सुभायँ सपथ सत मोही। सुमुखि! मातुहित राखउँ तोहीं॥ ८॥

भावार्थ : हे सुन्दरि! जब जब माताजी मेरी याद करके प्रेम में व्याकुला होकर बुद्धिहीन-अवस्था में होंगी तब तब तुम उनको पुराणकथाएँ सुन कर मधुर वाणी में समझाती रहना। मैं तुम्हारी सच्ची सौगन्ध खाकर सद्भाव से कहता हूँ कि हे सुन्दर मुखवालि! मैं तुमको माता की भलाई (विशोकावस्था को दूर करना) के लिए ही घर में रख रहा हूँ।

सासुजी की सेवा में सीता का विशेष इतिकर्तव्य

शा० व्या० : 'कथा पुरानी' से पुराणकथाएं विवक्षित हैं जिनको सुनकर धर्म में आस्था एवं धृतिबल प्राप्त होकर कर्तव्य में दृढ़ता आती है। 'जब जब व तब तब' से 'यदा यदा विह्वला भावष्यति तदा तदा सीतया सावधानतया पुराणकथा श्राव्या विवेकमुत्पाद्य बोधनीया च' के अनुसार कालिक-व्याप्ति का निर्देश समझना चाहिए। प्रभु-प्रेम में विह्वल-विकल भक्तों को सुधि में लाने का उपाय प्रभु की कथाएँ-लीलाएँ सुनाना भक्तिशास्त्रसम्मत है।

---

१. अरण्य काण्ड मे अनुसूयाजी द्वारा पतिव्रत्य का निरूपण उक्तसिद्धान्त से संगत है
मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी!॥
अमित दानि भर्ता बैदेही!। एकइ धर्म एक व्रतनेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा। पतिसेवत सुभगति लहई।

विकृति में प्रकृत्यंग-समुच्चय

माताजी की उक्ति 'जो सिय भवन रहै कह अम्बा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलम्बा' का तात्पर्य सीता जी को समझाते हुए प्रभु का कहना है कि जब प्रभु की याद में माताजी अत्यन्त व्याकुला हो जाय तब कथाओं के द्वारा विवेक को जगाकर शोक-संताप का उपशमन जिस मृदु वाणी से हो सकता है वह सीताजी के लिए इतिकर्तव्य है। विकृति में इसके अतिरिक्त अन्यान्य इतिकर्तव्य तो प्रकृतिभूत पातिव्रत्य-धर्मप्राप्त हैं ही, अतः उनका उल्लेख नहीं किया 'सुन्दरि' सम्बोधन से उक्त विशेष इतिकर्तव्य को संपन्न करने में सीताजी की अयोग्यता को ध्वनित किया है। अर्थात् आज का तुम्हारा सौन्दर्य भवन में वास करने पर नहीं रहेगा जैसा विकास विश्राम चेहरे पर झलक रहा है। 'कहि कहि कथा पुरानी' व 'समुझाएहु मृदु बानी' की इतिकर्तव्यता का स्वरूप समझने में सीताजी की योग्यता समझकर 'सुमुखि' कहा है।

चौ० ६ दो० २६ की व्याख्या में शपथ का उपयोग कहा गया है। 'सुभायँ' से पुत्रभाव में मातुहित की प्रतिज्ञा को श्रीराम ने 'सपथसत' से प्रतिष्ठापित किया है।

मातृहितोपाय के प्रतिज्ञातार्थनिर्वहण में सीताजी का गृहनिवास

कौसल्या माताजी के उद्गार 'अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जिअत जेहि भेटहु आई' के प्रत्युपकारार्थ माताजी के जीवन की रक्षा 'मातुहित' से मुख्यतया विवक्षित है। उसी को ध्यान में रखकर माताजी की स्नेहविकलता के उपचारार्थ प्रभु सीता जी को घर में रहने के लिए कह रहे हैं। दो० ५३ में प्रभु के वचन से चौदह वर्ष की अवधिपर्यन्त जीवन रखने का आश्वासन माताजी को प्राप्त हो चुका है उसमें अवलम्बरूप में सीताजी को माता जी के पास रखना प्रभु का एकमात्र उद्देश्य हैं।

हतूपन्यास

प्रभु के 'लगे प्रबोधन जानकिहि' से सीता जी को विचार करना है कि माताजी की स्नेहविकलता में वह प्रभुके आदेश (समुझाएहु मृदुबानी) को चरितार्थ करने में सफला हो सकती है या नहीं सीताजी के संवाद से आगे स्पष्ट हो जायगा कि पतिविरह में सीताजी स्वयं इतनी विकला हो जायेगी कि माताजी को ही उसीका सँभाल करनी होगी। तब 'मातु हित' उद्देश्य सीताजी द्वारा सफल होना संभव नहीं होगा, इसको जानकर प्रभु सीता को 'परिहरि सोचु चलहु बन साथा' (चौ० ३ दोहा ६८) कहेंगे।

प्रेयोहितकर प्रयोग

साहित्य सिद्धान्त के अनुसार 'प्रेयस्' से वर्तमान सुख व 'हित' से भविष्यत् सुख का संकेत किया जाता है। इससे ध्वनित होता है 'मातु हित' से माता जी के जीवनाधार पर प्रभु का जितना जोर है उतना पिताश्री के लिए नहीं उसका कारण है कि पिताश्री की आसन्न मृत्यु की सम्भावना उनको परिज्ञात है।

संगति : गुरु एवं वेदसम्मति श्रमसाध्य धर्मानुष्ठान का संकट सहनेमें नहीं है। जिसमें सम्मति है उसमें फलप्राप्ति का नैयत्य है संकट भी सहना नहीं है इसको पुराणसम्मत दृष्टान्त से पुष्ट करते हुए प्रभु समझा रहें हैं।

दो० : गुरु-श्रुति संमत-धरमफलु पाइअ बिनहि कलेस ।
हठबस सब संकट सहे गालब-नहुषनरेस ।। ६१ ।।

भावार्थ : घर में रहते सासु-ससुरजी की सेवा करने में पातिव्रत्यधर्मका फल बिना कष्ट के पा सकती हो वह विकल्प गुरु वेद सम्मत है । अन्यथा कष्ट सहना होगा । उदाहरणार्थ गालव मुनि व राजा नहुषने हठ के बश संकटोंको सहा अन्त में सफल नहीं हुए ।

गुरु-श्रुति सम्मत धर्म में क्लेशाभाव

शा० व्या० : प्रभु का सीताजी से कहना है कि धर्मानुष्ठान के ग्राह्याग्राह्य विचार में दो कोटि उपस्थित होने पर जिसमें गुरु व वेद की सम्मति हो वही ग्राह्य है. क्योंकि उसके धर्माचरण में आयास न होने से सहजगति से प्राप्तव्य फलसिद्धि भी अवश्यंभाविनी है । शास्त्रकारों ने अलौकिककर्तव्य का निर्णय करने में इदं प्रथमतया शब्देतर प्रमाणों की असंभावनाओं को ध्यान में रखकर वेद (शब्द प्रमाण) पर बल दिया है वैदिक संदेह उपस्थित होने पर गुरु-सम्मति पर बल दिया है ।[1] प्रस्तुत में विकल्प होने से कवि ने प्रथमतः गुरु का निर्देश किया है । इससे अन्यत्र धर्माचरण में क्लेश एवं फल प्राप्ति के अवसर मोह हो सकता है जैसे राजा नहुष, गालव आदि को हुआअन्त में वे गिरे । अतः प्रभु अपने वचन से वेदसम्मति और माता के उपदेश से गुरुसम्मति को समझाकर सीताजी को विकल्प में पातिव्रत्यधर्मानुष्ठान की शिक्षा दे रहे हैं ।[2] अन्यथा मुख्य कल्प पातिव्रत्य-धर्म में ही रहना इष्ट है अनसूयाजी ने भी चौ० १८ दो० ५ (अरण्यकाण्ड) में स्पष्ट किया है ।

ध्यातव्य है कि कुलीनों और संकरों के लिए धर्म का निर्देश समान नहीं है क्योंकि कुलीनता के स्वभावानुरूप स्वधर्मपालन में कुलीनों को कष्ट नहीं है, दूसरों के लिए उसका फल श्रममात्र है ।

संगति : पति की अनुपस्थिति में जिस पातिव्रत्यविकल्प को अपनाने के लिए प्रभु सीताजी को कह रहे हैं, उसमें पति के पुनर्मिलन रूप फलोपलब्धि से सीताजीको आश्वस्त कर रहे हैं ।

चौ० : मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी । बेगि फिरब सुनु सुमुखि ! सयानी ! ।। १ ।।
दिवस जात नहिं लागहि बारा । सुंदरि सिखवनु सुनहु हमारा ।। २ ।।

भावार्थ : हे सुमुखि ! सयानी सीते ! सुनो ! मैं पति श्री के वचनप्रमाण का पालन करके शीघ्र लौट आऊँगा । दिन जाते देर नहीं लगती । इसलिए हमारी शिक्षा पर ध्यान दो ।

हठ त्यागकर गुरुजी के आदेशपालन में कल्याण

शा० व्या : प्रभु के कहने का आशय है कि जिस प्रकार पिताश्री के वचन-प्रमाण को मानकर वह वनवास से सकुशल लौटने में मंगल समझते हैं उसी प्रकार सीताजी भी विकल्प का पालन करती हुई गृह-निवास में सासु-ससुरजी की सेवा करते पति के शीघ्र लौटने में मंगल समझे । इसमें दोनों को कोई श्रम या क्लेश का अनुभव नहीं होगा ।

---

१. यत् वेदितुमिच्छन्ति तस्याद्वेदस्य वेदता ।

२. अकृत्वा परसंतापं अगत्वा खलमन्दिरं । अक्लेशयित्वा चात्मानं यदल्पमपि तद्बहु ।

प्रभुवचन पर एक दृष्टि

ज्ञातव्य है कि न्यायमत के अनुसार प्रभु के वचनों से माताजी की अनुमानप्रणाली यह होगी कि "सीतया वने वासो न कर्त्तव्य : श्रमसाध्यकृतिविषयत्वात्"। इस अनुमानप्रणाली को यदि सीताजी हेत्वप्रसिद्धिदोष से दूषित ठहराती है तो उक्त हेतु हेत्वाभास होगा, जिसमें उसका हठ प्रकट नहीं होगा। जैसा कि माता द्वारा उक्त क्लेशात्मक विशेषण की अप्रसिद्धि को आगे पुष्ट करेंगे। स्वरूपतः वनवास कष्ट होते हुए भी पतिसान्निध्य में वह क्लेश नहीं बल्कि गृहनिवास में दुःख है। इस प्रकार सीताजी भक्तिशास्त्रसम्मत निर्णय से वनवास में क्लेशाभावसहकृत कृतिसाध्यता बताकर अपना पक्ष रखेगी। 'दिवसजात' से समझना यह है कि धर्मकार्य में समययापन करने में मनस् की उद्विग्नता पर अंकुश होता रहता है, धैर्य प्राप्त होता है तथा क्रियासातत्य में विलंबके भावको अवकाश नहीं मिलता।

'सुमुखि सुन्दरि सयानी' से पत्नी के प्रति पति का आदरभाव व्यक्त होने के अतिरिक्त समयानुकूल गूढ़ार्थ भी ध्वनित है, यह कि 'सुंदरि' से सीताजी की सर्वगुणसम्पन्नता, 'सयानी' से शिक्षा को सुनकर 'वने गन्तुमनर्हा' का विचार करते हुए उचित निर्णय की सक्षमता तथा 'सुमुखि' से अपने पक्षको मुखरित करने की योग्यता बतायी है।

संगति : वनवासमे कृतिसाध्यता का बिना विचार किये सीताजी वन में जाने का हठ करती है तो परिणाम में उसे कष्ट उठाना पड़ेगा।

चौ० : जौ हठ करहु प्रेमबस बामा !। तौ तुम्ह दुखु पाउब परिनामा ॥ ३ ॥

भावार्थ : हे वामे ! यदि पति प्रेम में केवल रागवश होकर तुम वन में चलने का हठ करोगी तो अन्त में हठ कहा जायेगा।

शा० व्या० : 'बामा' से पत्नी की वामांगता में उसकी अनुकूलता एवं प्रतिकूलकार्य में उसकी बामता बतायी है।

प्रेम-स्खलनमें 'दुखु पाउब परिनामा' की स्थिति

सीताजी के सामने वनवास का निर्णय करने में दो कोटि उपस्थित हैं—एक धर्म-संबलित प्रेम (भक्ति) और दूसरा धर्मसंबलित रागान्धता। प्रायः देखा जाता है कि धर्माचरण में हठ करने से रागान्ध की स्थिति संदिग्ध रहती है क्योंकि विपत्ति में रागान्धता व्यक्तिको स्थिर रखने में सहायक सिद्ध नहीं होती। फलतः कर्तव्योचित मार्ग से स्खलित होने में आश्चर्य नहीं है, किंबहुना धर्म-च्युति की संभावना में दुःख ही हाथ लगना निश्चित है। अतः प्रेमात्मक भक्ति के प्रतिभूत्व में ही धर्म का निर्वाह पर्यन्त तक सुसाध्य कहा जा सकता है।

संगति : आपाततः तौ तुम्ह 'दुखु पाउब परिनामा' को स्पष्ट करते हुए प्रभु वन स्थशंकटकादि हेतुओं से सीताजी को श्रमसाध्यताका अनुमान करा रहे हैं, जिसका उद्देश्य माताजी द्वारा उपन्यस्त हेतुओं का युक्तिपूर्वक प्रतिषेध कराना है जिससे सीताजी रागान्धता की निरस्तता समझते हुए अपने अभिलषित धर्मसंवलित प्रीति (भक्ति) मे माताजी की अनुमति प्राप्त करने में अनुकूलताका साधन कर सकें।

चौ० : काननु कठिन भयंकरु भारी । घोर घामु-हिम-बारि-बयारी ।। ४ ।।
कुस-कंटक-मग काँकर नाना । चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना ।। ५ ।।
चरनकमल मृदु मंजु तुम्हारे । मारग अगम भूमिधर भारे ।। ६ ।।
कंदर खोह नदी-नद-नारे । अगम अगाध न जाहिं निहारे ।। ७ ।।
भालु बाघ बृक केहरि नागा । करहिं नाद सुनि धीरजु भागा ।। ८ ।।

भूमिसयन बलकलबसन असनु कंद-फल-मूल ।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं ? सबुइ समय अनुकूल ।। ६२ ।।

भावार्थ : वन बड़ा कष्टदायक और बहुत भयंकर है । वहाँ की धूप, ठण्ड, हवा, पानी सबमें बड़ी उग्रता होती है । रास्ते में कुश की कठोरता, काँटे, कंकड़ आदि हैं उन पर बिना पदत्राण के पैदल चलना पड़ेगा । तुम्हारे कमल के समान कोमल सुन्दर पैर हैं । बड़े-बड़े पहाड़ों के बीच में पड़ने से रास्ता पार करना कठिन होता है । रास्ते में पहाड़ियों की कन्दराएँ व गुफाएँ, नदी नद नाले पड़ते हैं जो दिखायी नहीं पड़ते, बड़े गहरे होते हैं, उनको पार करना मुश्किल होता है । भालू, शेर, भेड़िया, चीता, सर्प आदि का भयंकर नाद होता है जिसको सुनकर धैर्य रखना कठिन हो जाता है । जमीन पर सोना पड़ता है । पहनने के लिए पेड़ की छाल का वस्त्र और खाने के लिए बनैले कन्द मूल फल का भोजन मिलता है । वह भी सब दिन हर समय अपने अनुकूल नहीं मिलता ।

अरण्यवासहेतुक क्लेश

शा० व्या० : उपर्युक्त क्लेशों को निरस्त करने की समर्थता में भी सन्ताप आदि से श्रम इतना अत्यधिक होगा कि उसके कारण अरण्य में जाने का सुख भी हाथ न लगेगा । प्रभु द्वारा उपन्यस्त वनकष्टों को न्यायभाषाप्रणाली से इस प्रकार कहा जायगा :—"सीता अरण्यगमने अनधिकारिणी शीतातपवर्षादिजनितक्लेशसहिष्णुत्वाभावात्, पदत्राणाभावे कुशकंटकादिपूर्णवनमार्गेण गन्तुमशक्तत्वात्, दुर्गमनदीनदपर्वतानां पारे गन्तुमशक्तत्वात्, अन्धकूपगुहादिषु चलितुमसमर्थत्वात्, भयावहकेसरिनागादिजन्तुदर्शनगर्जनप्रयुक्तभीत्याधिक्यात्, भूमिशयनेन कन्दमूलादिभक्षणेन च वनदुःखासहिष्णुत्वात्" ।

संगति : उपर्युक्त क्लेशों से भी अत्यधिक श्रमजनक क्लेश समझा रहे हैं ।

चौ० : नरअहार रजनीचर चरहीं । कपट वेष विधिकोटिक करहीं ।। १ ।।
लागइ अति पहारकर पानी । बिपिनविपति नहिं जाइ बखानी ।। २ ।।
व्याल कराल विहगबन घोरा । निसिचरनिकर नारिनर चोरा ।। ३ ।।
डरपहिं धीर गहन सुधि आए । मृगलोचनि ! तुम्ह भीरु सुभाए ।। ४ ।।

भावार्थ : वन में मनुष्यभक्षी निशाचर घूमते हैं, वे अनेकों कपट वेष बनाने वाले होते हैं । पहाड़ो पानी अत्यन्त तीव्रता से लगता है अर्थात् व्याधि उत्पन्न करने वाला होता है ।

वन के इतने दुःख हैं कि कहा नहीं जा सकता। वन में भयंकर साँप और घातक पक्षियों का निवास है। राक्षसों के झुन्ड घूमते हैं जो मनुष्यों को चुराकर ले जाते है। धीर पुरुष भी वन की याद करके डर जाते हैं। हरिणी के समान नेत्रवाली ! तुम तो स्वभाव से ही डरपोक हो।

शा० व्या० : उपर्युक्त तथ्यों को न्यायभाषा में कहना है—"वने मनुष्या निर्बाधं चरितुमसमर्थाः वनचरमायाविराक्षसभक्ष्यत्वात्। नागरिकजनानां वनेवासः रोगजनकः पर्वतनिस्सृतदूषितजलसंसर्गात्। नरनारीणां वनेवासः अनर्हः व्यालभयात् राक्षसकर्तृकापहरणकर्मत्वात्। धीरोऽपि अरण्यक्लेशस्मरणात् भीरुः जातः, सीता तु विशेषेण स्वभावतः अधीरा च"। इस प्रकार सीताजी के लिए उपर्युक्त हेतुओं में न्यायाभिमत पक्षधर्मता को सिद्ध किया है।

संगति : अब अनुमेय (साध्य) सीताजी की वनवासानर्हता को समझा रहे हैं।

चौ० : हंसगवनि ! तुम्ह नहि बनजोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥ ५॥
मानससलिलसुधाँ प्रतिपाली। जिअइ कि लवनपयोधि मराली ?॥ ६॥
नवरसालबन बिहरनसाला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥ ७॥

भावार्थ : हे हंसिनीचालवाली ! तुम वनवास के योग्य नहीं हो। तुम्हारा वन में जाना सुनकर लोग मुझको अपयशस् देंगे। मान ससरोवर के अमृतरूप जल में पली हंसिनी क्या खारे जल वाले समुद्र में जीवित रह सकती है ? नये पुष्पित फलित आम्रवन में रहने वाली कोयल क्या काँटेदार करील के वन में शोभा देगी ?

'मानस सलिल' का भाव

शा० व्या : 'मानससलिलसुधा प्रतिपाली' से विवेकनिधि पिताश्री, 'हंसगवनि' से सीता जी की विवेकपूर्ण मति-गति का संकेत है जिसमें जनकजी की ज्ञान-विचारधारा में शिक्षिता सीताजी का जीवन बताया है। वनश्रमण कष्टों की दृष्टि से सीताजी की वनवास-अयोग्यता को बताकर अभी सीता जी की शारीरिक कोमलता की दृष्टि से उनके वनवास की अशोभनीयता को स्पष्ट किया है। कहने का भाव है कि 'जब तें रामु ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए' से पूर्ण अयोध्या में पलनेवाली सुकुमारी सीता जी के लिए कष्ट और भय से पूर्ण वन में रहना सर्वथा अनुपयुक्त है। अतः वह वनवास की अनधिकारिणी है।

राजनीतिसिद्धान्त में मन्त्रशक्ति की प्रबलता को स्वीकार करते हुए उत्साहशक्ति को स्थान दिया गया है क्योंकि मन्त्रशक्ति के बिना उत्साहशक्ति की सफलता नहीं मानी जाती[1], जिसको 'अपजसु देइहि लोगू' से ध्वनित किया है। अर्थात् 'गुर श्रुति संमत धरम' प्रयुक्त मंत्रणा का विचार करके सीताजी वनगमनोत्साह में कर्त्तव्य का निर्णय करें।

संगति : सीता जी के वनवास में हितासाधनता, अनिष्टसाधनता, कृत्यसाध्यता अनिष्ट की बलवत्ता आदि को समझा कर प्रभु पूर्वपक्ष का उपसंहार कर रहे हैं।

---

१. उत्साहमन्त्रशक्तिभ्यां मन्त्रशक्तिर्गरीयसी।

चौ० : रहहु भवन अस हृदय-बिचारी । चंदबदनि ! दुखु कानन भारी ॥ ८ ॥

भावार्थ : हे चन्द्रमुखि ! अरण्यवास के अति कठोर दुःखों को समझकर गृहनिवास का विचार अपने हृदय में भलीभाँति कर लो ।

शा० व्या : सीता जी को गृहनिवास में प्रेरणा देने के लिए प्रभु ने हेतुपूर्वक पूर्वपक्ष का उपस्थापन किया है। 'हृदयबिचारि' से सीता जी को विचार की स्वतन्त्रता दे रहे हैं। अर्थात् वनवास में कृति-साध्यता, हितसाधनता वलवदनिष्टाननुवन्धिता का विचार करके सीताजी ने वनगमन का निर्णय करना चाहिये अन्यथा 'रहहु भवन' ही श्रेयस्कर है।

संगति : हेतूपन्यास के अभाव में सुहृद् वर्ग गुरु आदि के उपदेशों की उपादेयता एवं हितकारिता को प्रभु व्यक्त कर रहे हैं।

दो० : सहज-सुहृद-गुरु-स्वामिसिख जो न करइ सिर मानि ।
सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हितहानि ॥ ६३ ॥

भावार्थ : सहज सहृदयता रखने वाले गुरुजन एवं स्वामी की शिक्षा को जो विनयपूर्वक स्वीकार नहीं करते उनको अन्त में मनस्संतापपूर्वक पछताना पड़ता है, क्योंकि सुहृद् आदि की शिक्षा की उपेक्षा करने से अहित होना निश्चित है।

'गुरु स्वामि सिख' को न मानने में अहित

शा० व्या० : बा० का० चौ० २ दो० ७७ में "मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं विचार करिअ सुभ जानी" में उक्त शिवजी के सिद्धान्त को प्रभु ने सीता जी के सम्मुख उपास्थपित किया है। इसी का अनुवाद भरत जी से कहे गुरु वसिष्ठ जी के वचन (दो० १७४ में) द्रष्टब्य होगा। शिवजी के कहे 'सब भाँति परम हितकारी' का सारांश 'सहज सुहृद' से स्फुट किया है। ज्ञातव्य है कि जहाँ हेतूपन्यासपूर्वक पक्ष का उपस्थापन है वहाँ उपदेश्य को युक्तियों के सदसत् का विचार करके निर्णय करने का अधिकार है। इसका उपयोग दो० ६४ चौ० ६ की संगति में द्रटव्य है।

हेतूपन्यासपूर्वक उपदेश का तात्पर्य

विधि के प्रेरकत्व में शिक्षा या उपदेश के दो प्रकार हैं—एक बिना युक्तिनिरूपण के और दूसरा युक्ति का निरूपण करते हुए। कर्तव्य के निर्णय में अनुष्ठाता की योग्यता को प्रकट कराने के उद्देश्य से युक्तियों की यथार्थ उपलब्धि कराने में हेतूपन्यास का उपयोग है।[1] प्रस्तुत प्रसंग में वनवास या गृह-निवास में अपने साध्यत्या-साध्यत्व-योग्यता का विचार करके उपन्यस्त युक्तियों का यथार्थ बोध रखते हुए सीताजी ने (मुख्य या अनुकल्प) धर्मानुष्ठान में कर्तव्य का निर्णय करना है। ध्यातव्य है कि आगे लक्ष्मणजी को उपदेश देने में प्रभु इसी प्रकार को अपनावेंगे। हेतूपन्यास का ऐसा ही प्रकार गुरु वसिष्ठजी द्वारा भरत जी को राजपद लेने की प्रेरणा में दिखाया जायगा।

---

१ इसका विशेष विचार रामलक्ष्मणसंवाद में द्रष्टव्य है।

संगति : सीताजी के प्रत्युत्तर के उपक्रम में कवि सीताजी की सहज अनुराग-स्थिति को स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० : सुनि मृदुवचन मनोहर पिय के। लोचनललित भरे जल सिय के ॥ १ ॥
सीतलसिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरदचंद निसि जैसे ॥ २ ॥
उतरु न आव बिकल बैदेही। तजन चहत सुचिस्वामि सनेही ॥ ३ ॥
बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरजु उर अवनिकुमारी ॥ ४ ॥

भावार्थ : मनस् को हरने वाले पति के मधुर वचन को सुनकर सीताजी के सुन्दर नेत्रों में अश्रु आ गया। यद्यपि पति की शिक्षा शीतलता (आश्वासन) देने वाली है पर सीताजी को वह संतापक लग रही है, जैसे शरद्चन्द्र की शीतल किरणें रात्रि में चकवी को विरह-संताप देती हैं। शुचिस्नेही पति मुझको छोड़कर जाना चाहते हैं, इसको सोचकर सीता जी ऐसी व्याकुला हो गयीं कि मुँह से उत्तर निकलना कठिन हो गया। प्रयासपूर्वक अश्रुपात को रोककर सीताजी ने हृदय में धैर्य धारण किया।

मृदुवचन आदि का भाव

शा० व्या० : पति के युक्तिपूर्ण हेतूपन्यास का अभिप्राय सीता जी को समझाने में प्रभुवचन कार्यकारी हो रहा है, जिसको कवि ने 'मृदु' से प्रकट किया है। 'मनोहर' से स्फुट किया है कि अपने अभिलषित अर्थ की सिद्धि में प्रिय की मनोहरता अथवा मृदुवचनों की मनोहरता का अनुभव सीताजी को है। 'अवनिकुमारी' से पृथ्वी की क्षमाशीलता व सहनशीलता के संकेत से सीताजी की स्वाभाविक धीरता दिखायी है, जो स्नेहावस्था में भी कर्तव्यविवेक को जागृत रखने में सहायक है। 'सुचि स्वामिसनेही' से पति की स्नेहशील शुचिता को दिखाकर उनके वचनों की अयथार्थ-अर्थप्रयुक्त अप्रमाणता का बाध समझाया है। पातिव्रत्य में स्वाभाविक अनुरागावस्था में सीताजी का अनुभाव उनके प्रेमाश्रु, रुद्धकण्ठ, विरह-भावित विकलता आदि से व्यक्त है।

मृदुवचनकी गूढ़ार्थता

आपाततः प्रभु के वचनों से घर में रहने का संकेत पाकर पतिव्रता में पतिविरह की विकलता होना स्वाभाविक है जैसा उपरोक्त चौ० ३ में कहा गया है। साथ ही मृदुवचनों को सुख-स्पर्शता यह है कि प्रभु के उपस्थापित पूर्वपक्ष को बाधित करने में सीताजी को उत्तर देने का अवसर प्राप्त है।

उत्तर न देने में सीताजी की विकलता व वाद की शोभा

'उत्तर न आव' में सीताजी का भाव है कि पातिव्रत्यधर्म की मर्यादा में पति के वचनादेश का प्रत्युत्तर देना अनुचित है, न बोलना गृहनिवास की स्वीकृति का द्योतक होगा, फलतः पतिविरह का दुःख सहन करना पड़ेगा। इस विकलता में सीताजी का उत्तर देना 'धरि धीरजु' से विवेक का परिचायक है। वाद-प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त वचन को आभास रूप में अप्रमाण मानना न्यायमतानुसार अनुचित नहीं है। अतः न्यायानुमोदित प्रत्युत्तर की इतिकर्तव्यता में पति के पूर्वपक्ष को दुष्ट ठहराने में सीताजी का वाद अशोभनीय या अमर्यादित नहीं कहा जा सकता।

संगति : कौसल्या माताजी के पक्ष को प्रभु ने अपना पूर्वपक्ष बना लिया। प्रतिवादिनी रूप में सीताजी हैं। मध्यस्था कौसल्या जी हैं जिनका निर्णय सीताजी के लिए वनगमन की सम्मति प्राप्त करने में सहायक होगा। स्मरणीय है कि पूर्वजन्म में शतरुपारूप में प्रभुप्रदत्त वर 'मातु विवेक अलौकिक तोरे कबहुँ न मिटिहिं अनुग्रह मोरे' (चौ० ३ दो० १५१ बा० का०) से कौसल्या जी की निर्णायकयोग्यता सिद्ध है। पूर्वोक्त चौ० ३ दो० ६२ में प्रभु की उक्ति 'जौ हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुखु पाउब परिनामा' से सीता जी को बोध हो गया है कि सासुजी की अनुमति प्राप्त किये बिना जाना हठ होगा, उनकी प्रसन्नता के अभाव में 'दुख पाउब परिनामा' का निरास नहीं होगा। अतः सर्वप्रथम सासु जी को अपनी विनती सुना रही हैं।

चौ० : लागि सासुपग कह कर जोरी। छमबि देवि ! बड़ि अविनय मोरी ॥ ५ ॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परम हित होई ॥ ६ ॥
मैं पुनि समुझि दीखि मनमाहीं। पियवियोगसम दुखु जग नाहीं ॥ ७ ॥

भावार्थ : सासुजी का चरणस्पर्श करके हाथ जोड़कर सीताजी ने कहा "हे देवि ! प्रत्युत्तर देने में मेरी धृष्टता पर आप क्षमा करें। प्राणपति ने मुझको वही शिक्षा दी है जिस प्रकार मेरा परम हित हो। लेकिन मनस् में सोच-विचार करके मैं समझती हूँ कि पतिवियोग के समान संसार में दूसरा दुःख नहीं है।

अनुगामित्वोचित विनय

शा० व्या० : वही वाद शोभनीय है जिसमें अनुगामिवर्ग अपना मत यथार्थ होते हुए भी उसका उपस्थापन करने के पूर्व मध्यस्थ को नमस्कार करते हुए पूर्वपक्षवादियों के मत पर अपनी स्वीकृति न करने में क्षमायाचनापूर्वक विनय प्रदर्शित करे, जिससे मध्यस्थ को निर्णय देने में प्रसन्नता हो और साथ ही पूर्वपक्षवादियों को अपमान या हीनता का अनुभव न हो। इसके उदाहरण में दो० १७६-१७७ के अन्तर्गत कहा भरतजी का विनय द्रष्टव्य है।

पतिविरहज दुःख की तीक्ष्णता

'प्रानपति' से सीताजी ने व्यक्त किया है कि उनके प्राणों का आधार पति ही है, ऐसा समझते हुए भी पति ने 'तौ तुम्ह दुखु पाउब परिनामा' के निरास में सासु-ससुर जी की सेवा-विधि का पालन करने के लिए परमहित समझकर गृहनिवासार्थ शिक्षा दी है। पतिविरह के असाधारण दुःख में उक्त विधिपालन में अपनी असमर्थता का अनुमान कराने के लिए सीताजी 'पतिबियोगसम दुखु जग नाहीं' का स्मरण पतिव्रता सासु जी को करा रही हैं, जिससे कौसल्या जी पातिव्रत्यप्रयुक्त हृदयगत भाव एवं मानसिक दुःख का सहज अनुभव करें।

ज्ञातव्य है कि कौसल्या जी का पक्ष व उसका अनुमोदन सिद्धान्ततः निर्दुष्ट होते हुए भी वह अभी पूर्वपक्ष है जिसको सीता जी ने अपनी विनयपूर्ण युक्ति से निरस्त किया, उसके समर्थन में सीता जी धर्म-स्नेहप्रयुक्त विशेष व्याख्यान करती हुई कृत्यसाध्यता अहितसाधनता व बलवदनिष्टानुबन्धितासाधक हेतुओं की असिद्धि निरूपित करेंगी।

संगति : सासु जी के युक्तियों के निषेध में सारगर्भित संक्षिप्त उत्तर देकर अब पति को संबोधित करते हुए कह रही हैं। जिस प्रकार कौसल्याजी 'बड़ भागी बनु अवध अभागी। जो रघुवंशतिलक 'तुम त्यागी' से पित्राज्ञापालन-धर्म के सम्बन्ध से उदासीनत्व में श्रीराम के वनवास को 'कानन सतअवधसमाना' कहा, उसी प्रकार सीताजी पातिव्रत्यधर्म के सम्बन्ध से (दो० ६४ से ६७ तक) पतिसान्निध्य में सतगुण सुख का वर्णन करेंगी जो 'सतअवधि समाना' का भाष्य समझना चाहिये।

दो० : प्राननाथ ! करुनायतन ! सुन्दर ! सुखद ! सुजान ! ।
तुम्ह बिनु रघुकुलकुमुदबिधु ! सुरपुर नरकसमान ॥ ६४ ॥

भावार्थ : हे प्राणनाथ ! करुणानिधान ! सुन्दर-सुखद सुजान ! हे रघुकुलरूप कुमुदवन को खिलाने वाले चन्द्रमा ! आपके विना इन्द्रपुरी भी नरक के समान मुझको दुःखदायिनी है।

अनेक सम्बोधनों का स्पष्टीकरण

शा० व्या० : पतिप्रेम में चिन्तित मनोभाव (रूपरासि पतिप्रेमपुनीता जीवननाथू चौ० २ दो० ५८) को सीता जी के उक्त संबोधनों से व्यक्त कराने का आशय है कि सुजान पति पतिव्रता पत्नी के मनोभाव की यथार्थता को जानते हैं। उक्त संबोधनों का यथावत् प्रतिपादन सीता जी अपनी उक्तियों से करेंगी जैसे चौ० १ से ६ तक 'प्राणनाथ' का स्वरूप, चौ० ७ से चौ० ५ दो० ६६ तक 'सुन्दर' का, चौ० ५ से दो० ६६ तक 'करुनायतन' का, चौ० १ से ७ दो० ६७ तक 'सुखद' का, चौ० ८ से दो० ६७ तक 'सुजान' का स्पष्टीकरण है। जिस प्रकार कौसल्या माताजी ने करुनाकर धरम धुरीना कहकर' प्रभु के ऊपर 'अस विचारि सोई करहु उपाई' का भार छोड़ दिया, उसी प्रकार सीता जी 'करुनायतन सुन्दर सुखद सुजान' प्रभु के निर्णय पर आश्रिता है।

'रघुकुल कुमुद बिधु' का भाव है जिस प्रकार रघुकुल के यशस् को प्रभु ने उज्ज्वल बनाया है उसी प्रकार रघुकूल-वधू (सीता) के 'हठि राखे नहिं राखिहि प्राना' के संकट को दूर करके उसके स्नेहसंबद्ध धर्मात्मक यशस् को गौरवान्वित बनाने में रघुकुलचन्द्र की प्रतिष्ठा अव्यवहित रखेंगे।

'सुरपुर नरकसमान' का भाव है कि स्वर्ग में सुखमात्र है,[२] नरक में दुःख ही दुःख है। 'पियवियोग-सम दुखु जग नाहीं' से स्पष्ट है कि सुरपुर के समान अयोध्या में रहते पतिविरह में उनको दुःखमात्र मिलेगा जिसमें सासु-ससुरजी की सेवा भी न कर सकने के कारण वह नरकसदृश होगा। इस प्रकार भवननिवास में अहितसाधनता को व्यंजनया स्फुट करके समझाया है।

संगति : पतिविरह को सहते भवन में रहने पर सीता जी को जो व्यथा होगी, उसकी अपेक्षया वन के कष्टों-कण्टकाकीर्ण मार्ग, शीत-उष्ण वायु, हिंसक पशु-पक्षियों की भयानक गर्जना, राक्षसों का भय आदि की बाधा में आधिक्य समझाकर अनिष्ट के बलवत्व में प्रभु ने जो बलवदनिष्टसंख्याप्रयुक्त विनिगमना स्वपक्ष में वनवासनिवृत्ति के लिए सुनाई है, उसका उत्तर बलवत् संख्याप्रणाली से सीता जी दे रही हैं।

---

१. सुखं दुःखात्मकं भोग्यं सुखत्वेनाभिमन्यते । येन रागः स इत्युक्तो रञ्जनाद्विपयात्मनोः ॥

२. यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरं । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

चौ० : मातु पिता-भगिनी-प्रिय-भाई । प्रिय-परिवारु सुहृद-समुदाई ॥ १ ॥
सास-ससुर - गुर-सजन- सहाई । सुत-सुन्दर-सुसील सुखदाई ॥ २ ॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पियबिनु तियहि तरनिहु ते ताते ॥ ३ ॥
तनु-धनु-धामु धरनि-पुर-राजू । पतिविहीन सब सोकसमाजू ॥ ४ ॥
भोग रोगसम भूषन भारू । जमजातनासरिस संसारू ॥ ५ ॥
प्राननाथ ! तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥ ६ ॥

भावार्थ : माता-पिता, बहन, प्यारा भाई, प्रिय परिवार, मित्रमण्डली, सास, ससुर, गुरु, सहायक स्वजन, सुन्दर सुशील सुख देने वाला पुत्र आदि जहाँ तक संसार में स्नेहसम्बन्धी एवं नातेदार हैं वे सब पतिव्रता स्त्री को पति के बिना सूर्य से भी अधिक ताप देने वाले हैं। शरीर, धन, भवन, भूमि, नगर, राज्य आदि जितने सुख के साधन हैं, वे सब पति के बिना दुःखों के समूह ही हैं। पतिविरह में संसार ही यमयातना के समान है। हे प्राण-नाथ ! आपके विना मुझे संसार में कहीं भी कुछ भी सुखदायक नहीं लगता।

पतिविरहताप

शा० व्या० : जिसप्रकार एक सूर्य संपूर्ण संसार (सांसारिक जीव व पदार्थ) को तापित करने में समर्थ है उसीप्रकार एक पतिविरह सती स्त्री को सम्पूर्ण सुखभोगों के आलम्बन में संतापित करने के लिए यथेष्ट है। शोकसंतप्त प्राणी की उदर्य अग्नि भी दुःख-पीड़ा में आहार का आकर्षण नहीं कर पाती, यदि बलात् कराया जाय तो वह रोग में परिणत हो जाता है। सीता जी को पति का सान्निध्य छोड़कर विरह-जन्य क्लेश में बरबस भवन में रखना असह्य दुःख को देने वाला होगा तथा कोई भी सांसारिक सम्बन्ध या भोग सुखद नहीं होगा।

संगति : पति के विना स्त्री की शोचनीयता का स्वरूप समझा रही हैं।

चौ० : जिय बिनु देह नदी बिनुबारी । तैसिअ नाथ ! पुरुष बिनु नारी ॥ ७ ॥

भावार्थ : प्राण के बिना शरीर और पानी के बिना नदी जैसे शोभाहीन है वैसे पुरुष के बिना स्त्री है।

स्त्री सौभाग्यवती की शोभा

शा० व्या० : प्रथम कल्प में सशक्ता सौभाग्यवती स्त्री की शोभा पति के साथ ही है। पति के सान्निध्य में धर्म की उपलब्धि है, जिसमें धीरता व सात्विकता का उदय होने से त्याग, सहिष्णुता, शुचिता आचार आदि गुण कार्यकारी होते हैं। पति के सान्निध्य से सहजसाध्य धर्म के पालन में प्रभु की प्रसन्नता प्राप्त होती है। देह-प्राण के दृष्टान्त से सीताजी ने स्वयं के शरीर की मृतप्रायता तथा नदी-जल के दृष्टान्त से दूसरों के लिए शरीर की अनुपयोगिता स्पष्ट की है। कहने का आशय है कि पति को छोड़कर घर में रहने पर सीता जी का अस्तित्व स्वयं के लिए तथा सासुजी व ससुरजी आदिकों के लिए अशोभनीय होगा। इस प्रकार भवनवास में बलवदानिष्टानुबन्धित्व और वनवास में तादृशानिष्टानुबन्धित्वाभाव समझाया है।

संगति : चौ० ८ दो० ६४ में कहे 'पियवियोगसम दुखु जग नाहीं' को स्पष्ट करके अब सीताजी शक्ता के लिए प्रथमकल्प में पतिसान्निध्य की सुखदायकता को बता रही हैं।

चौ० : नाथ ! सकलसुख साथ तुम्हारे । सरदविमल बिधुबदनु निहारे ॥ ८ ॥

भावार्थ : हे नाथ ! आपके शरद्-पूर्णिमा के चन्द्र के समान उज्वल मुख को देखते आपके साथ रहने में मुझको सर्वप्रकार का सुख होगा।

पतिसान्निध्य में हितसाधनता

शा० व्या : 'सरद्विमलविधुबदनु' से पति की प्रसन्नता एवं 'सकलसुख' से सर्वातिशायी सुख बताया जो पतिव्रता को पति के सान्निध्य में प्राप्त होता है।

संगति : कौसल्या माताजी के आशिषवचन[1] की फलोपधायकता को ध्यान में लाकर तदनुवन्धि-वनवास दुःखप्रतीकारोपाय है उसे सीताजी निम्न वचन से स्फुट कर रही है।

दो० : खग-मृग-परिजन नगरु वनु-बलकल बिमलदुकूल ।
नाथ ! साथ सुरसदनसम परनसाल सुखमूल ॥ ६५ ॥

बनदेवी बनदेव उदारा । करिहहिं सासु-ससुरसम सारा ॥ १ ॥
कुस-किसलय साथरो सुहाई । प्रभुसंग मंजुमनोज तुराई ॥ २ ॥
कंद-मूल-फल अमिअ अहारू । अवधसौधसतसरिस पहारू ॥ ३ ॥

भावार्थ : स्वामी के साथ वन में पशु-पक्षी परिजन के समान लगेंगे, पेड़ की छाल के वस्त्र उज्वल कौशेय वस्त्र के समान प्रिय होंगे, पर्णशाला (फूसपात की झोपड़ी) इन्द्रभवन के समान सुखदायिनी होगी। वनदेवी वनदेवता उदार होकर सासुजी, ससुरजी के समान सार-सँभाल करेंगे। कुश-पत्तों की गुदड़ी बहुत सुहावनी लगेगी। प्रभु के संग में वह कामदेवी की सुन्दर शैया के समान सुन्दर लगेगी। वन में प्राप्त होनेवाला कंदमूल फल अमृततुल्य भोजन के समान सुस्वादु लगेगा। वन में मिलने वाले पहाड़ शतमंजिलेवाले अवध के महल के समान प्रतीत होंगे।

सन्तोषशमआदिगुण का ध्वनि

शा० व्या : पति के साहचर्य में पतिव्रता के धर्माचरण में अहिंसा, दयालुता आदि भावों का संक्रमण पशु-पक्षियों में होगा, उससे प्रभावित हो वे सीताजी के प्रति परिजनों की तरह सौहार्दपूर्ण व्यवहार करेंगे। वल्कलवस्त्र, पर्णशाला, कुशशैया, कंदमूलादि आहार आदि में सीता जी की रुचि में तृष्णा का अभाव एवं शमभाव दिखा कर सहजरीति से प्राप्तविषय में सन्तोष एवं 'गतं न शोचामि कृतं न मन्ये' का प्रकार

---

१. देव पितर सब तुम्हहि गोसाईं । राखहुँ पलक नयन की नाईं ॥ (चौ० १ दो० ५७)
पितु बनदेव मातु बनदेवी । खग मृग चरनसरोरुह सेवी ॥ (चौ० ३ दो० ५६)

दिखाया है। भक्तिरूप धर्ममार्ग में जिनकी प्रवृत्ति स्वेच्छया है उनको दुःख का अनुभव नहीं होता। (यह विषय सुन्दर काण्ड में व्याख्यात है।)

विद्वत्ता, मनस् की स्थिरता सात्विकता, धीरता, वैराग्य, विवेक आदि में होनेवाले शास्त्रोक्त सामान्यधर्माचरण से देव प्रसन्न होते हैं। सीताजी के पातिव्रत्यधर्माचरण में 'वनदेवी वनदेव'[1] की उदारता सिद्ध है। प्रसंगतः कहना है कि दुर्जनसंसर्ग से अशुचिता आती है तो तत्प्रयुक्त अविद्या से धार्मिकों के हृदय में धर्मविषयिणी शंका उत्पन्न होती है वह असमाहित रहे तो कर्तव्यता से विचलित कर देती है। इसलिए सदाचार एवं उच्च विचारों के अभ्युदयार्थ रामायण, महाभारत, पुराणकथाओं और आन्वीक्षिकी प्रभृति विविध विद्याओं का घर-घर में प्रचार श्रेयस्कर कहा गया है। अरण्यकाण्ड दो० ५ में अनसूया जी ने सीताजी के पातिव्रत्यधर्मप्रयुक्त चरित्र को जगद्धित में विशेषतया नारियों के लिए अनुकरणीय बताया है।

संगति : वनवास में अहितसाधनता का बाध दिखाकर प्रचुरइष्टविशेषसाधनता को सीता जी प्रकट कर रही हैं।

चौ० : छिनु छिनु प्रभुपदकमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ॥ ४ ॥
बनदुःख नाथ ! कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे ॥ ५ ॥
प्रभुवियोगलवलेससमाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना ॥ ६ ॥

भावार्थ : (रात्रि बीतने पर) जिस प्रकार दिन में चकवी प्रसन्ना होती है, उसी प्रकार मैं प्रभु के चरण-कमलों का प्रतिक्षण दर्शन करते हुए प्रसन्ना रहूँगी। हे नाथ ! दुःख, भय, विषाद, संताप देने वाले अनेकों दुःखों को स्वल्पतममात्र आपने बताया, हे कृपानिधान ! वे सब मिलकर भी स्वामि-वियोगज दुःख के बराबर नहीं हो सकते।

भय आदि की व्याख्या

शा० व्या : 'भय' से अनर्थसम्भावना, 'विषाद' से ओजोन्यूनता 'परिताप' से चिन्ता में प्रियवस्तु न पाना कहा गया है। दो० ६२-६३ के अन्तर्गत प्रभु ने वन के दुःखों के वर्णन में 'भय विषाद परिताप' स्पष्ट किया है।

चकवीदृष्टान्त का भाव

'दिवस जिमि कोकी' के दृष्टान्त का भाव है कि जैसे रात्रि का अन्धकार चकवी को चकवा से अलग कर देता है वैसे ही सासु जी एवं आप (पति) के द्वारा प्रस्तावित गृहनिवासरूप मोह-अन्धकार पति-सान्निध्य का अभाव कराने के लिए सीता जी के समक्ष उपस्थित है। वनवास से उसका बाध होनेपर सीता जी को 'प्रभुपदकमल' के सतत दर्शन का सुख मिलेगा जो अयोध्या में प्राप्त नहीं होगा।

संगति : वनवास में अहितसाधनताऽभाव व हितसाधनता समझाकर प्रभु से सीताजी प्रार्थना कर रही हैं।

चौ० : अस जियँ जानि सुजानसिरोमनि ! लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि ॥ ७ ॥

भावार्थ : हे सुजानशिरोमणे ! अपने हृदय में उक्त तथ्यों का अनुभव करके मुझको संग ले चलिये, छोड़िये मत ।

सीताजी का निगमन

शा० व्या० : उपन्यस्त विषय के प्रतिपादन में सीता जी का निगमनवाक्य "लेइअ संग मोहिं छाड़िअ जनि" है। 'सुजानसिरोमनि' से प्रभु की सर्वज्ञता एवं अन्तर्यामित्व का संकेत करने के साथ ही दृष्ट में उपन्यस्त हेतुओं के असिद्धि में सीता जी की युक्तियों की यथार्थता के विचार के बारे में पति की तत्वज्ञता, विद्वत्ता आदि को बताते हुए स्वमत के अनुमोदन में प्रभु के निर्णायकत्व को स्फुट किया है। 'लेइअ संग' से सीता जी अपने पक्ष में सत्परामृष्ट हेतु व 'छाड़िअ जनि' से पूर्वपक्ष को दूवित बताया है।

संगति : बहुत न कहकर निर्णयभार प्रभु पर देते हुए वस्तुतत्त्व को याद रखने को प्रार्थना कर रही हैं।

चौ० : बिनती बहुत करौं का स्वामी ? । करुनामय ! उरअंतरजामी ! ।। ८ ।।

दो० : राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान ।।
दीनबन्धु ! सुंदरसुखद ! सील-सनेह-निधान ! ।। ६६ ।।

हे स्वामी ! आप से और अधिक प्रार्थना क्या करूँ ? आप तो दयानिधान और हृदय की बात जानने वाले हैं। यदि अवध में मुझको चौदह वर्ष की अवधि तक रखियेगा तो जान लीजिये कि प्राण नहीं रहेगा। आप दीनबन्धु, सुन्दर, सुख देने वाले और शीलस्नेह के आलय हैं।

विनती

शा० व्या० : दो० ६४ में प्रभु के उपर्युक्त गुणों को निर्णायक रूप में प्रमाण मानकर उनके निर्दिष्ट वनवास पक्ष में कृत्यसाध्यता, अनिष्टानुबन्धिता एवं अहितसाधनतानुसाध्यसाधक हेतुओं के सद्धेतुत्व निरासार्थ जितना आवश्यक वक्तव्य था उसको सीताजी की 'विनती' से स्पष्ट किया है। 'करुनामय उर अंतरजामी' स्वामी के सम्मुख अधिक कहना असंगत होगा, ऐसा सोचकर सीता जी प्रभु को उन्हीं के गुणों का स्मरण करा रही हैं।

दीनबन्धुत्व

ज्ञातव्य है कि भागवतसिद्धान्त में मनोरथपूर्ति में हठ या अभिरुचि न रखते स्वतन्त्र कर्तृत्व का अभिमान त्याग कर कर्तव्यपालन में एकमात्र प्रभुकृपा का भरोसा रखना दीनता है। या स्वामी के द्वारा उपन्यस्त हेतुओं को युक्तियों से असिद्ध करने पर भी सेवक हठ (पति का साथ न छोड़ने का) त्यागकर उपन्यासरहित आदेश के पालन में सेवकोचित निष्ठा को प्राणपन से रखने की तत्परता दिखाते भागवतधर्म की प्रतिष्ठा के अनुकूल रहता है यही सेवक की दीनता है। ऐसे सेवकों के प्रति प्रभु का दीनबन्धुत्व प्रकट होता है।

सीताचरित्र में विरोधपरिहार

प्रश्न हो सकता है कि लंकानिवास व वाल्मीकिरामायण में कहे वाल्मीकि-आश्रम-निवास में सीताजी ने पति का संग छोड़ने में विरोध क्यों नहीं किया ? जैसा वनगमन के अवसर पर किया है।

इसके उत्तर में कहना है कि प्रस्तुत अवसर पर प्रभु ने सीता जी को गृहनिवास के उपदेश में हेतूपन्यासयुतविधि के अन्तर्गत प्रत्युत्तर का अवसर दिया है। पातिव्रत्यधर्म की प्रतिष्ठा को सीता जी ने युक्तिओं स प्रकट कराकर लोकों शिक्षा दी है। लंकानिवास के आदेश में हेतूपन्यास नहीं है, इसलिए सीता जी का सेवकोचित लंकानिवासमंनिष्ठा में विरोधी नहीं है!

भक्तिपंथ का स्मरण

इस प्रकार सीता जी के चरित्र में ग्रन्थकार ने बालकाण्ड दो० ७७ के अन्तर्गत कहे शिव जी के सिद्धान्त को "मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी" को पुष्ट करते हुए सीताजी की 'भक्ति विवेक धर्म जुत रचना' संपृक्त उक्तियों का ग्रथन करके भक्ति सिद्धान्त को सुस्पष्ट किया है।

संगति : वनवासिनी होकर तदुचित धर्मपालन की प्रतिज्ञा करते हुए अपने पतिव्रत्यधर्मपालनर्थ अनुमति देने की पति को प्रेरणा हो इस हेतु से वनवासव्रत का ग्रहण कर रही हैं।

चौ० : मोहि मग चलत होइहिं हारी। छिनु छिनु चरनसरोज निहारी ॥ १ ॥
सबहि भाँति पियसेवा करिहौं। मारगजनित सकल श्रम हरिहौं ॥ २ ॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं ॥ ३ ॥
श्रमकन सहित स्याम तनु देखे। कहँ दुखसमउ प्रानपति पेखे ॥ ४ ॥
सम महि तृन तरुपल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥ ५ ॥
बार बार मृदुमूरति जोही। लागिहि तात! बयारि न मोही ॥ ६ ॥
को प्रभुसंग मोहि चितवनिहारा। सिंघबधुहि जिमि ससक सिआरा ॥ ७ ॥

भावार्थ : प्रभु के चरणकमलों को पल-पल पर देखती हुई मुझको रास्ता चलने में हार या थकावट नहीं होगी। सब प्रकार से पति की सेवा करूंगी और पथभ्रमण की उनकी थकावट को दूर करूंगी। उनके पैरों को धोकर पेड़ की छाया में विश्राम करा के मनस् में प्रसन्ना होकर हवा करूंगी। श्याम शरीर पर पसीने की बूंदें देखकर प्राणपति का दर्शन करते हुए दुःख का अवकाश कहाँ रहेगा? दासी की तरह सेवा करती हुई समतल भूमि पर घास-पात की शैया बिछाकर रातभर पति का चरण दबाती रहूँगी। प्रभु के मंजुल मंगल रूप को बारम्बार निहारती हुई मुझको आतपवात दुःखद नहीं होगा। प्रभु के संग में रहते मुझ पर कौन कुदृष्टि कर सकता है? सिंह के साथ बैठी सिंहिनी पर निगाह उठाने में जैसे खरगोश को वैसे औरों की हिम्मत नहीं होती।

शा० व्या० : चौ० ४ दो० ६२ से चौ० ३ दो० ६३ तक प्रभु ने वन के जो-जो कष्ट व भय बताये थे, उसके प्रत्युत्तर में सीता जी का कहना है कि दुःखानुभव को अवकाश नहीं प्रभुसेवा में उनका योग होने

से सेवक के लिए दुःख के अनुभव का अवकाश नहीं है। जैसे पति और परिवार की सेवा में देवियाँ घर के अन्दर यथेष्ट श्रमण करते हुए भी, दूरत्व का भाव न होने से, श्रम का अनुभव नहीं करतीं। गृह-परिचर्या से अलग होकर घर के बाहर थोड़ी दूरी पर चलने में उनको श्रम मालूम पड़ता है। "जड़ चेतन गुणदोष मय विश्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन पय गहहिं परिहारि वारि विकार" के अनुसार सती सीता जी ने दो० ६० में प्रभु के कहे 'बिपिन गुन दोष' में अपना विवेक दिखाया है। इसी प्रकार दासभाव में सेवक को प्रभु की सेवा में गर्मी-सर्दी या थकावट का भाव नहीं होता। प्रभु के चरण-रजस् का स्पर्श समस्त श्रम-संताप को दूर करने वाला है।

संगति : सीता जी स्पष्ट कह रही हैं कि चौ० ७ में कही उक्ति से स्पष्ट है कि सीता जी को प्रभु के बल एवं तेजस् का परिचय विवाह के अवसर पर हो चुका है जब रावण बाणासुर जैसे बली भी हार मान चुके परशुराम जी मुनि तेजस्वी भी प्रभु के सामने नतमस्तक हो गये। जिस प्रकार मृगराज के स्वाभाविक तेजस्-प्रताप से सियार आदि तुच्छ पशु भयभीत रहते हैं उसी प्रकार प्रभु के तेजस् की छत्र-छाया में सीता जी की ओर दृष्टि पात करने का साहस तुच्छ राक्षसों को नहीं होगा। यही सीता जी का वनवास-व्रत ग्रहण है। केवल पति की आज्ञा अवशिष्ट है। उसी को प्रार्थना है। पातिव्रत्य धर्म का पालन स्व-सुस्वार्थ नहीं है बल्कि पतिप्रीत्यर्थ है, पतिसेवा में ही उसकी सफलता है।

चौ० : मैं सुकुमारि नाथ बनजोगू। तुम्हहि उचित तप कहुँ भोगू ? ॥ ८ ॥

भावार्थ : कैसी विडम्बना है कि मुझको सुकुमारी बनाया जा रहा है और पति को वनवासयोग्य ठहराया जा रहा है। आपने तापस होना मैंने सुखभोग करना—क्या यही उचित है ?

माता व पुत्र के निर्णय में विरोध

शा० व्या० : चौ० ८ दो० ५८ से ५९ तक सासु कौसल्या जी ने तथा चौ० ४ से ८ दो० ६३ में प्रभु ने सीता जी की सुकुमारता को वनवास के अयोग्य ठहराया है। उसके उत्तर में सीता जी धर्मपालन में सुकुमारता की विडम्बना पर विवशता प्रकट कर रही हैं। इसके प्रत्युदानरण में सीता जी 'नाथ बनजोगू' की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए मातृ-पित्रादेशपालनात्मक धर्म में पति की वनवासयोग्यता पर कौतुक प्रकट कर रही हैं। चौ० ७ दो० ५० में विप्रवधुओं की उक्ति "रामसरिससुत काननजोगू। काह कहिहि सुनि तुम्ह कहूँ लोगू" ? तथा सासु जी के वचन 'बय बिलोकि हियँ होइ हरासूँ' से पति के वनवास की अयोग्यता रहते (दो० ४१) 'बन सबहिं भाँति हित मोर' जौं न जाउँ बन एसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहिं मूढ़ समाजा' वनवास में प्रभु ने सर्वरीत्या हितसाधनता स्वीकार करना क्या कौतूकपूर्ण नहीं है ? इस भाव को सीता जी की उक्ति 'नाथ बनजोगू' में ध्वनित समझना चाहिये।

भारतीयसमाज का गौरव

सीताजी की उक्ति से पतिप्रेम में भारतीय नारी का गौरव स्मरण करते हुए पाठकगण वर्णाश्रमेतर विदेशस्थ समाज की स्त्रियों के मनोभाव की ओर जरा देखें तो पता चलेगा कि वे इस उक्ति के स्वसुख साधन को अनुकूलता में घृणितार्थक समझकर पतित्याग (तलाक) में ही कृतार्थता का भान करेंगी। जिस समाज के आचार में धर्म का बल नहीं है, वहाँ स्वार्थ की प्रधानता होगी, कर्तव्यता के निर्णय में कोई स्थायी आधार न होने से पारस्परिक व्यवहार में अविश्वास होता है।

पुराणों में वर्णित इतिहासों से प्रसिद्ध है कि राजसुख में सुकुमारी राजकुमारियों ने तपस्वी ऋषियों कावरण पति रूप में करके अपनी सुकुमारता व सुखभोग का त्याग करके पति के तपस् साधन में सहयोग किया है जैसा कौसल्याजी ने चौ० ३ दो० ६० में कहा है "कै तापस तिय कानन जोगू ? जिन्ह तपहेतु तजा सब भोगू। सासुजी के कहे आदर्श के अनुकूल माता कैकेयीजी के वरवचन 'तापस वेष विसेषि उदासी' के कार्यान्वियन में पति का वनवास सफल करने में सीताजी अपना सहयोग धर्मविहित बता रही हैं अर्थात् 'तप उदासीनत्व' में पति की एकाग्रता को सिद्ध कराने के लिए गृहनिवास से होने वाली भार्या के प्राणरक्षण को चिन्ता से पति को मुक्त रखने में सुकुमारताप्रयुक्त सुखभोग का त्याग करके पति की सेवा में रहने का औचित्य दिखा रही हैं।

रामचरित्र के विरोध का परिहार

इस वक्तव्य के विरोध में कहा जा सकता है कि चौ० ३ से ५ दो० १४१ में चित्रकूट में बैठे प्रभु अवध की सुधि करते माता, पिता, परिजन, भरतजी की याद कर दुःखी होते हैं तो उदासीनता कैसे रही ?

इसका समाधान वहाँ की व्याख्या में द्रष्टव्य है जिसका सारांश है कि प्रभु का यह स्मरण आसक्ति प्रयुक्त नहीं है बल्कि पालन धर्म का द्योतक है जिसमें माता कौसल्या जी ने कही 'करुनाकर धरम धुरीना' गुण प्रकट है व उनकी आज्ञा का पालन है। वसिष्ठ जी दो० २५८ में "करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि" को वनवासप्रवृत्ति में अपेक्षित कहेंगे।

संगति : विरोधी पूर्वपक्ष का युक्तिपूर्भक बाध करने पर भी सीताजी अपनी युक्तियों का अन्तिम निष्कर्ष स्थिर कर रही हैं।

दो० : ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौ न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभुविषमवियोगदुख सहिहहिं पाँवर प्रान ॥ ६७ ॥

भावार्थ : पतिव्रता का हृदय स्वामी के उक्त वचनों को सुनकर (पति विघरोह सूचक) कठोरता का अनुभव करके फट जाना चाहिये, यदि नहीं फटा तो नीच प्राण पतिवियोग की विषमता के दुःख को सहते रहेंगे।

कठोर वचन श्रवण का परिणाम

शा०व्या० : सती के लिए पतिसान्निध्यबाधक वचन ऐसा कठोर होता है कि उसको सुनते ही सती की हृदयगति क्षीण होने लगती है, एक क्षण भी जीने में जीवन की अधमता का अनुभव करती है जैसा 'सहिहहि पावँर प्रान' से व्यक्त किया है। सन्त जयदेव और उनकी पत्नी पद्मावती के इतिहास से उक्त घटना प्रसिद्ध है। भाव यह कि पति के अनुगमन में सीताजी अपने वनवास को अर्थ धर्म्य मानती हैं, उसके विरोध में गृहनिवास का उपदेश सीताजी को हृदयविदारक कठोरता का अनुभव करा रहा है। इस पर भी प्रभु का आदेश घर में रहने का होगा तो प्रभुवियोग से सेविका दासी ने असाध्य दुःख को सहन करने में प्राण रखना होगा चाहे प्राणों की नीचता ही क्यों न प्रकट हो। इसी सेवकत्व भाव में भरत जी ने 'अज्ञा सम न सुसाहिब सेवा' का आदर्श उपस्थापित किया है। भक्तों के लिए सेवाधर्म में सब धर्म का समावेश है। यह सीताजी लिए तब संभव होगा जब वह जीविता रहेगी वह तो संभव ही नहीं।

'विषम वियोग दुःख' से स्पष्ट किया है कि सीताजी की वियोगावस्था का उपचार गृहनिवास में संभव न होने से सास-ससुरजी की सेवा का आदेशपालन नहीं हो सकेगा बल्कि सीताजी के दुःख से वे और दुःखी होंगे।

संगति : संवाद के अन्त में कवि सीताजी की विरहदशा को प्रकट कर रहे हैं।

चौ० : अस कहि सीय विकल भइ भारी। बचनवियोग न सकी सँभारी ॥ १ ॥
देखि दसा रघुपति जियँ जाना। हठि राखे नहिं राखिहि प्राना ॥ २ ॥

भावार्थ : ऐसा कहकर सीताजी अत्यन्त व्याकुला हो गयीं। वचनद्वारा कल्पित वियोग को भी वह सँभाल न सकी विरह की कल्पना में सीताजी के प्रकट अनुभाव को देखकर रघुनाथ जी ने मनस् में समझ लिया यदि हठपूर्वक सीताजी को घर में रखा जाय तो वह अपने प्राण को नहीं रख सकेंगी।

सीताजी के कायिक अनुभाव से हठत्याग

शा० व्या० : पूर्वपक्ष में कहे हेतुओं को अपनी सद्युक्तियों से असत् ठहराकर सीताजी ने सिद्ध कर दिया कि गृहनिवास में वह सुरक्षिता नहीं रह सकती। 'हठि राखे' से तर्कसम्मत सिद्धान्त स्फुट किया है। पूर्वपक्ष के निरास में प्रतिवादी के तरफ से हेत्वाभासरहित सद्युक्तियों का यथावत् निरूपण होने पर पूर्वपक्ष में अभिनिवेश रखते हुए हठपूर्वक असत्तर्क को प्रोत्साहन देना तर्क के विरूद्ध अनैतिक एवं अनर्थकर हैं। नीतिमर्यादा का पालन करने वाले प्रभु ने ऐसा हठ करना उचित नहीं समझा।

चौ० १ से ४ दो० ६४ में कही सीताजी की विकलता में पतिप्रेम का अनुभाव प्रकट था, अब पति-वियोग की कल्पता में पतिव्रता का विप्रलभज अनुभाव 'विकल भइ भारी' से प्रकट है। दो० ६४ में इष्ट सान्निध्य में प्रभु के स्वरूप को दिखाया है, दो० ६६ में विरह में भावित गुणों को प्रकट किया है। पतिव्रता के दोनों प्रकार के अनुभावों को 'सुजान' प्रभु ने परख कर समझ लिया कि सीताजी को साथ में ले जाना ही योग्य है, घर में छोड़ देने पर वह प्राणत्याग कर देंगी। इसी प्रकार राजा के द्वारा सीताजी को लौटाने का प्रस्ताव सुनाने पर सीताजी का जो अनुभाव प्रकट हुआ था, उसको सुमन्त्र ने दो० १५२ में राजा को सुनाया है।

संगति : दो० ६७ में प्रभु के आदेशपालन में अपने को समर्पित कर देने पर शरणागत सेवक की रक्षा में प्रभु का करुणाकरत्व, दीनबन्धुत्व प्रकट हो रहा है।

चौ० : कहेउ कृपाल भानुकुलनाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा ॥ ३ ॥

भावार्थ : कृपानिधान सूर्यवंश के स्वामी श्रीराम ने (अन्त में) कहा "सोच-चिन्ता को छोड़कर वन में साथ चलो।

शा० व्या० : पतिव्रत्यधर्मतत्पर को पतिसान्निध्य में हितसाधनता का बोध पहले से ही होने से 'चलहु' से सीताजी के वनगमन में 'विधि' नहीं, किन्तु अभ्यनुज्ञा है। सीताजी के वनवास को धर्म्य बनाने में इस अभ्यनुज्ञा का सार्थक्य है। जैसा कि ऊपर कहा गया है।

संगति : विधिपालन में विषाद को स्थान न देकर उत्साह रखना अपेक्षित है, इसको प्रभु समझा रहे हैं।

चौ० : नहिं विषादकर अवसरु आजू। बेगि करहु बनगवनसमाजू ॥ ४ ॥

भावार्थ : अब विषाद करने का अकाश नहीं है। वन चलने की तैयारी बहुत शीघ्र करो।

वेग का भाव

शा० व्या० : उपरोक्त अभ्यनुज्ञा से समन्वित विधि की प्रवर्तना में अविलम्ब की अपेक्षा को 'आजु बेगि' से स्फुट किया है। विधि की इतिकर्त्तव्यता में आवश्यक कालसापेक्षता का प्रयोजन चौ० ८ दो० १३२ में वाल्मीकि मुनि की प्रवर्तना में स्पष्ट किया गया है।

नहि विषादकर की चरितार्थता

प्रस्थान के अवसर पर विषादभाव देवनुकूलता का अवरोधक माना जाता है। वनगमन में प्रभु के वचन ('नहिं विषादक़र अवसरु') की चरितार्थता आगे चौ० २ दो० ९९ में सीताजी की उक्ति ('नहिं मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरे') में स्पष्ट होगी।

संगति : चौ० ७ दो० ५३ में 'आयसु देहि मुदित मन माता' में आकांक्षित माता का आशीर्वाद प्राप्त होने का अब अवसर समझा रहे हैं।

चौ० : कहि प्रियबचन प्रिया समुझाई। लगे मातु पद आसिष पाई ॥ ५ ॥

भावार्थ : इस प्रकार प्रिय बचनों को कहकर प्रिया सीताजी को समझाया। फिर माताजी के चरणों का स्पर्श किया।

शा० व्या० : प्रभु का 'मृदुवचन' तत्वार्थबोधक है एवं मृदुस्पर्श सुख दे रहा है। 'प्रियवचन' समाधानकारक है। 'प्रिया' से प्रभु की प्रियपात्रता में सीताजी के धर्म, विवेक, धीरता, सात्विकता, शुचिता, त्याग, सहिष्णुता आदि गुणों को दर्शाया है जिनका परिचय सीताजी के युक्तिनिरुपण में प्रकाशित हुआ है। सुकुमारी पुत्रवधू सीताजी के वनवास में माता कौसल्याजी का समाधान हो जाने से 'आसिष पाई' वनवास में प्रयोज्य पुत्र व पुत्रवधू दोनों के लिए अभिव्यक्त है।

संगति : अपने आशीर्वाद की सफलता में अनुशास्य के द्वारा इष्टसिद्धि को माता प्रकट कर रही हैं।

चौ० : बेगि प्रजा-दुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई ॥ ६ ॥
फिरहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी ?। देखिहउँ नयन मनोहर जोरी ? ॥ ७ ॥
सुदिन सुघरी तात! कब होइहि ?। जननी जिअत बदनबिधु जोईहिं ॥ ८ ॥

भावार्थ : जल्दी लौट आकर प्रजा के दुःख को मिटाओ। इस निष्ठुर माता को भूल मत जाना। हे विधातः! मेरी यह दशा क्या पुनः फिरेगी ? क्या मैं इस मनोहर जोड़ी को आँखों से देखूंगी ? हे तात! वह शुभ दिन और शुभघड़ी कब होगी ? जब माता जी जीते पुत्र के मुखचन्द्र को निहारेगी ?

आशीर्वचन से पुनरुक्ति

शा० व्या० : रामवनगमन में माता कौसल्याजी ने चौ० ४ दो० ५७ में 'करि अनर्थं जन परिजन गाउँ' से प्रजा के दुःख को मुख्यतया कहा था, उसी का स्मरण यहाँ 'प्रजा दुःख मेटब' से करा रही हैं। यद्यपि दो० ५६ में 'मानि मातु कर तात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ' कह चुकी हैं, यहाँ उसकी पुनरुक्ति करने का तात्पर्य यह कि चौदह वर्ष की अवधि-काल में उदासीनत्व के अभ्यास से कहीं पुत्र माताजी की याद भुल न जाय। 'वगि आई' से वनवास की अवधि समाप्त होते ही आने का संकेत है 'जननि निठुर' का भाव है कि 'करुनाकर धर्मधुरीना' प्राणसमान पुत्र को वनगमन में 'जाहु सुखेन बनहि बलि जाउँ' से अपनी अनुमति देना ही नहीं अपितु सुकुमारी पुत्रवधू के अनुगमन में सहमत होना भी माता की निष्ठुरता कही जायगी। अथवा कौसल्या जी की उक्ति 'जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होऊ संदेहू' के अनुरूप 'जननी निठुर' का यह भी भाव है कि चौ० ७-८ दो० ३२ में राजा की उक्ति के अनुसार श्रीराम की प्रतिकूलता में कैकेयी माताजी की प्रकट मिष्ठुरता से प्रभु प्रजारक्षण की याद को न भुला दें। इस सम्बन्ध में कैकेयी माताजो के गौरव को ध्यान में रखते हुए कहना है कि जिस प्रकार कौसल्या जी की उपरोक्त निष्ठुरता कहने मात्र के लिए है उसी प्रकार कैकेयी जी की निष्ठुरता का रहस्य है जिसको प्रभु ने चित्रकूट में कैकेयी जी से मिलते हुए 'काल करम विधि सिर धरि खोरी' से स्पष्ट किया है।

विधिविधान में (हित) फलोपधायकता

जन्मान्तरीय किसी अदृष्ट कारण से वर्तमान पुरुषार्थ द्वारा न्याय प्राप्त भोग में बाधा होने पर शास्त्रीय विधि का अनुसरण करते रहने में जन्मान्तरीय विधि का बल घट जाता है अथवा उसका कार्य-काल समाप्त होते ही शास्त्रानुष्ठाता की कीर्ति को उज्ज्वल करने में सहयोगी होता है। विधि से प्रार्थना करते हुए कौसल्याजी (प्रभु की इच्छा से संवलित) विधि की उक्त फलोपधायकता में विश्वस्ता होकर श्रीसीताराम की मनोहर जोड़ी के दर्शन की आकांक्षा व्यक्त कर रही हैं। विधि के उक्त विधान की विश्वास्यता राजा दशरथ के साथ सती होने के अवसर पर चौ० २ दो० १७० में 'रहीं रानि दरसन अभिलाषी' में व्यक्त है।

माता कौसल्या जी की प्रार्थना में 'विधि' का यह भी ध्वनितार्थ है कि माता-पिता के वचन प्रमाण के बल पर वनवासविधि की पूर्णता में श्रीसीताराम दोनों का योग अपेक्षित है जिसका संकेत 'मनोहर जोरी' से किया है।

'सुदिन सुघरी' से कौसल्याजी राजा के वचन (चौ० ३-४ दो० ३६) की फलसिद्धि में रामराज्योत्सव का अवसर ध्वनित कर रही हैं जैसा गुरु वसिष्ठजी उत्तर काण्ड में चौ० ४ दो० १० में 'आजु सुघरी सुदिन समुदाई' से राज्याभिषेक का मूहूर्त्त बतावेंगे। श्रीराम को राजपदभिषिक्त देखकर 'सुत बिलोकि हरषित महतारी' (चौ० ६ दो० १२ उ० का०) से माताजी की 'जननी जिअत बदन बिधु जोइहि' को अभिलाषा पूर्ण होगी।

संगति : इतना कहकर माता कौसल्याजी पुनः स्नेहपरवश हो रही हैं।

दो० : बहुरि बच्छ। कहि लालु ! कहि रघुपति ! रघुबर ! तात !।
कबहिं बोलाइ लगाइ हियँ हरषि निरखिहउँ गात॥ ६८॥

भावार्थ : इतना कहने के बाद माताजी प्रेमविकलता में "हा वत्स,! हा लाल,! हा तात! हा रघुपते! हा रघुबर"! का उद्‌गार करते कहती हैं" कब ऐसा होगा? कि तुमको उक्त सम्बोधनों से बुलाकर हृदय से लगाऊँगी। और तुमको देख-देखकर प्रसन्न होऊँगी।

सम्बोधन का भाव

शा० व्या० : माताजी के कहने का भाव है कि अभी तक उक्त संबोधनों से पुत्र का दुलार करती आयी हूं पुनः उसी तरह बुलाने का अवसर कब आयेगा? इस प्रकार चौ० ३ दो० ५७ में अपनी उक्ति 'सबहि जिअत जेहि भेटहुँ आई' का स्मरण करा रही हैं।

संगति : ऐसा कहते माताजी का मातृत्व स्नेहानुभाव से प्रकट हो गया।

चौ० : लखि सनेहकातरि महतारी। बचनु न आव बिकल भइ भारी॥ १॥
राम प्रबोधु कीन्ह बिधिनाना। समउ सनेहु न जाइ बखाना॥ २॥

भावार्थ : (इतना कहकर) माताजी अत्यन्त विकला हो गयी, उसके मुँह से कुछ कहते नहीं बना। माताजी को इस प्रकार प्रेमविह्वला देखकर प्रभु ने अनेक प्रकार से प्रबोध कराया। उस समय का प्रेमवर्णन नहीं किया जा सकता।

'प्रबोध कीन्ह विधि नाना' का प्रयोजन

शा० व्या० : चौ० ८ दो० ५७ में 'कहि मृदु बचन बहुरि समुझाई' की स्थिति से प्रस्तुत स्थिति में अन्तर है क्योंकि सीताजी भी साथ में जा रही हैं। इसलिए माताजी को प्रबोध कराने में 'विधि नाना' का प्रयोजन चिन्तनीय है। 'नाना विधि' में मुख्यतया सत्यसंघ पिताश्री के वचनप्रमाण की महत्ता को समझाते हुए चौ० ३-४ दो० ३६ में कही प्रमेयसिद्धि में माता को विश्वस्त कराना प्रबोध का विशेष उद्देश्य है। उसका फल होगा कि माताजी चिन्ता को छोड़कर वनवास अवधि के अनन्तर 'मनोहर जोरी' के सकुशल लौटने में आश्वस्ता होगी।

स्मरण रखना चाहिये कि सर्वज्ञ प्रभु के प्रत्येक कार्य में प्रयोजन प्रच्छन्न है। प्रभु के उक्त प्रबोध का प्रयोजन माता कौसल्याजी के वचन में चौ० ५ दो० १६५ से चौ० २ दो० १६७ में 'भाँति अनेक भरतु समुझाए' से कवि प्रकाशित करेंगे।

मातृस्नेह का अनुभाव 'कातरि बचनु न आव' की विकलता से दिखाया है। इसमें अश्रुपात नहीं दिखाया गया है क्योंकि वह यात्रा के प्रस्थान में अमंगलसूचक है।

संगति : 'बेगि करहु वनगवनसमाजू' कहकर 'लगे मातुपद आसिष पाई' से प्रभु ने अपने अभिनय से जो शिक्षा दी उसका अनुसरण करते हुए सीताजी सासु जी की अनुमति प्राप्त कर रही हैं।

चौ० : तब जानकी सासुपग लागीं। सुनिय माय मैं परम अभागी॥ ३॥

भावार्थ : तब सीताजी ने सासु कौसल्या जी के चरणों का स्पर्श किया। सीताजी बोली "हे माता-जी! सुनिये। मैं बड़ी अभागिनी हूँ।

सीताजी के लिए आशिष प्राप्तिका अवसर

शा० व्या० : दो० ५३ में सासु जी को नमस्कार करने में सीताजी की वनगमन के लिए अनुमति की आकांक्षा की पूर्ति का अभी अवसर है—इसको 'तब' से ध्वनित किया है। वनवास में सीताजी की सुकुमारता-प्रयुक्त कृत्यसाध्यता का निरास, पातिव्रत्य धर्मप्रवृत्ति, अवधिसमाप्ति पर सकुशल लौटने का आश्वासन आदि का प्रबोध माताजी को हो जाना 'तब' से सूचित है। अतः सासुजी की अनुमति मिलने में अब बाधा नहीं है। उनका आशीर्वाद प्राप्त करने में हर्ष में 'जानकी सासुपग लागी' कहा गया है।

सासु-ससुरजी की सेवाशिक्षा

बालकाण्ड मंगलाचरण के श्लोक ५ में सीताजी की वन्दना आदिशक्तिरूप में की गयी है। अतः कवि की दृष्टि में उनको भाग्य-अभाग्य का सम्बन्ध नहीं है। जीवभाव में स्नुषा के कर्तव्य का ध्यान रखते हुए सासु-ससुरजी की सेवा से वंचित होने में सीता जी अपने को 'परम अभागी' कह रही हैं। अर्थात् सीताजी ने लोकशिक्षार्थ यह प्रकट किया है कि पुत्रवधू को सासु-ससुरजी की सेवा में अपना सौभाग्य समझना चाहिये, उनकी सेवा से विमुख होना अभाग्य का परिचायक है।

संगति : दैवद्वारा भवनवास के त्याग से सासु-ससुरजी की सेवा से वंचित होने में अपनी अभाग्यता को स्पष्ट कर रही हैं।

चौ० : सेवासमय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफलु न कीन्हा॥ ४॥
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू। करमु कठिन कछु दोसु न मोहू॥ ५॥

भावार्थ : सेवा के समय में दैव ने मुझको वनवास देकर मेरे सेवाप्रयुक्तमनोरथ को सफल नहीं किया। आप मनस् में क्षोभ न करें, मेरे ऊपर स्नेह को कम न करें। कर्मकी कठोरता ही ऐसी है, इसमें मेरा कोई दोष नहीं है।

शा० व्या० : विवाह के बाद पति के सान्निध्य में रहते सासु-ससुरजी की सेवा का समय आया था।[1] दैव के कारण पति का वनवास होने से मेरा वनवास हो रहा है। इसलिए पति की सेवा में पातिव्रत्यधर्म का पालन करते हुए सासु-ससुरजी की सेवा करने का मनोरथ सफल नहीं हुआ। 'दैअँ बनु दीन्हा' से देवों द्वारा प्राथित सरस्वती का विघ्नकार्य स्मरणीय है। 'दैअँ' से भाग्य नहीं, उसका कारण ३चौ०मेंविवेचित है।

'तजबु क्षोभ' का भाव

'छोभु' से सासु कौसल्याजी का सीताजी के वनवास में सुकुमारत्ता प्रयुक्त कृत्यसाध्यवाका क्षोभ, अथवा श्रीसीताराम के वनवास को सुनकर सीताजी के क्षोभ को याद करके कौसल्याजी का क्षोभ सीताजी के आकांक्षित लालन-पालन के अभाव में है। स्मरणीय है कि सीताजी के वनवासप्रतिषेधक वचन की अवहेलना से होनेवाला सासुजी का क्षोभ है। या जन्मान्तरीय विवेक में 'सोई गति, सोइ भगति, सोइ रहनि' से कौसल्याजी को सासु-ससुरजी की सेवा से जान बचाने के लिए सीताजी घर से दूर हो रही हैं, इसका

१. बालकाण्ड में बरात की विदाई के अवसर पर दी गई शिक्षा एवं आशिष के अनुरूप पिता जनकजी की 'नारि धरमु कुल रीति सिखाई' का स्मरण रखते सीताजी का मनोरथ है।
होएहु सतत पियहि पिआरी। चिरु अहिबात असीस हमारी। चौ० ४-५ दो० ३३४
सास ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।

क्षोभ है—ऐसा कहना मात्र नितान्त अशोभनीय है। कहने का निष्कर्ष है कि सासुजी से किसी प्रकार का संताप मनस् में न लाने की प्रार्थना 'तजबु क्षोभ' से व्यक्त है।

सासु-ससुरजी की सेवा से दूर रहने वाली पुत्रवधू के प्रति स्नेह की न्यूनता की सम्भावना को समझ कर 'जानि छाड़िअ छोहू' की प्रार्थना कर रही हैं।

कर्मविधान की कठोरता

वेदान्तमत से ज्ञान की उपलब्धि होने पर कर्मविपाक से घटित अदृष्ट फल का भोग मुक्तिपर्यन्त शरीर को सहना पड़ता है। इस सिद्धान्त को ग्रन्थकार ने 'करमप्रधान विस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा" से स्पष्ट किया है। गुह-लक्ष्मण संवाद में लक्ष्मण जी ने भी दो० ९२ के अन्तर्गत कर्म-भोग की बलवत्ता को स्पष्ट किया है। कर्मविधान से प्राप्त सुख-दुःख के भोग में मानव के धृति की परीक्षा है। यह धृति शास्त्रविधि के पालन में स्थिर रहती है। ज्ञातव्य है कि मानव ही शास्त्रविधि के पालन में अधिकृत माना गया है। वेदमर्यादा को रखने के लिए ईश्वर कर्मविधान की प्रतिष्ठा को प्रतिहत नहीं होने देता, यही 'करमु कठिन' का भाव है।

धर्म से धृति

पातिव्रत्यधर्मपालन में शास्त्रादेश का अनुसरण करने में सीताजी ने जैसी धृति दिखायी है वैसी ही सेवकधर्म के पालन में लक्ष्मणजी ने दिखायी है। कर्मविधान को स्वीकार करते हुए किसी पर दोषा-रोपण न करना शास्त्रमर्यादा के अनुकूल है। 'कछु दोष न काहू' से सीताजी ने शास्त्रादेशपालन में अपनी रागद्वेषविहीन प्रवृत्ति को प्रकट किया है।

संगति : जीवभाव में स्नेह से विकलता होने पर भी कौसल्याजी संस्कारसम्पन्न विवेक के बल पर प्रभु के प्रबोध के फलस्वरूप धैर्य को धारण करने में समर्था हैं।

चौ० : सुनि सियबचन सासु अकुलानी। दसा कवनि विधि कहौं बखानी ? ॥ ६ ॥
बारहिं बार लाइ उर लीन्हीं। धरि धीरजु सिख आसिष दीन्ही ॥ ७ ॥
अचल होउ अहितबातु तुम्हारा। जब लगि गंग-जमुन-जलधारा ॥ ८ ॥

भावार्थ : सीताजीके वचन सुनकर सासु कौसल्याजी व्याकुला हो गयीं। कवि कह रहे हैं कि उनकी उस दशा को किस प्रकार कहें ? बारम्बार सीताजी को हृदय से लगा रही हैं। फिर धैर्य धरके सीताजी को शिक्षा दी। आशीर्वाद देते हुए बोली "तुम्हारा पातिव्रत्य-प्रयुक्त सौभाग्य जब तक गंगा-यमुना की धारा बहती रहे तब तक अचल रहे"।

प्रबोध में कौसल्याजी का धैर्य

शा० व्या० : प्रतिव्रता कौसल्या जी सीताजी के पातिव्रत्य धर्म के परमोत्कर्ष को देखकर इतनी प्रेमविह्वला हो गयी कि कवि (शिव जी) की वाणी उनकी स्नेहावस्था का वर्णन करने में कुंठित हो गयी। स्नेहाभाव की अन्तिम अवस्था में उनकी शारीरिक क्रिया केवल बारम्बार सीताजी के आलिंगन में सीमित हो गयी। प्रभु के पूर्वोक्त प्रबोध के प्रभाव से वह धैर्य धारण करने में समर्था हुईं।

'सिख दीन्हीं' से कौसल्याजी ने पातिव्रत्यधर्माचरण सम्बन्धी शिक्षा दी है। यद्यपि सीताजी स्वयं पातिव्रत्य में स्थिता हैं, फिर भी पातिव्रत्य धर्म के व्याज से शिक्षा का प्रकाशन किया है जिस प्रकार 'नारि-धर्म कछु व्याज बखानी' से अनसूयाजी ने सीताजी के समाने नारीधर्म का प्रकाशन किया है।

'आसिष दीन्हीं' में गंगा-यमुनाजी का उल्लेख

मंगलाशासन में विवेकवती कौसल्याजी ने स्पष्ट किया है कि पातिव्रत्यप्रेम और पतिसेवाकार्य से सीताजी का अचल सौभाग्य गंगा-यमुनाजी की धारावत् गतिशील रहेगा। अर्थात् निरवधिक सौभाग्य रहेगा। 'रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा' के अनुरूप सीताजी का पतिप्रेम है। 'विधि विषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनंदनि बरनी' के अनुसार यमुनारूप में सीता जी का पतिसेवाकर्म है। सीताजी के ऐसे पातिव्रत्यकी स्थिर सुभगता को गंग-जमुन जल धारा' की मंगलमयता से ध्वनित किया है।

'आशिष वचन'

सती कौसल्या जी के उक्त 'आशिष वचन की सत्यता दो० १०३ में गंगाजी के आशीर्वाद में प्रकट होगी तथा दो० ११७ में ग्रामवधुओं के आशीर्वाद से अनूदित होगी। चौ० ६ दो० ८७ में 'सचिवहि अनुजहिं प्रियहिं सुनाई। बिबुध नदी महिमा अधिकाई' तथा चौ० २ दो० ११२ में 'रवितनुजा कइ करत बड़ाई' से प्रभु द्वारा गंगा-यमुनाजी के यशोगान में कौसल्याजी के 'आसिष वचन' का तात्पर्य ध्वनित है।

संगति : सासु कौसल्याजी के 'सिख आसिष दीन्हीं' की प्रतिक्रियायें सीता जी के हर्ष भाव को कवि कर रहे हैं।

दो० : सीतहि सासु असीस सिख दीन्हि अनेक प्रकार।
चली नाइ पदपदुम सिरु अतिहित बारहिं बार॥ ६९॥

भावार्थ : सासु कौसल्या जी ने बहुत तरह से सीताजी को शिक्षा और आशीर्वाद दिया। उसमें अपने अतिहित का विचार करके प्रसन्न हो सीताजी बारम्बार सासुजी के चरण कमलों में नमस्कार कर रहो हैं।

अतिहित से वक्तव्य

शा० व्या० : उपरोक्त 'गंग-जमुन-जलधारा' के तात्पर्य को समझते हुए सासुजी के आशीर्वचन में अतिहित से पातिव्रत्य का परम कर्तव्य समझाने के लिए कवि ने 'सीतहि असीस सिख' की पुनरुक्ति की है जिसका प्रकाशन उपरोक्त 'आसिष दीन्ही' की व्याख्या में कहे अनुसार कवि को आगे करना है। अनेक प्रकार के 'सिख असीस' का परिचय अरण्यकाण्ड में अनसूया-संवाद में द्रष्टव्य होगा।

'चली' से सासु कौसल्याजी के पातिव्रत्य-प्रवर्तक अभ्यनुज्ञा की इतिकर्तव्यता में सीताजी की प्रति-क्रिया दिखायी है।

संगति : पूर्व व अग्रिमग्रंथ से की संगति का त्रैपिध्य में मननीय है।

१. सती कौसल्याजी के वचन से प्रवर्तित पतिव्रताधर्माचरण राक्षसों के भय से सीताजी को रक्षण में सहायकान्तर की अपेक्षा व्यक्त करता है।

२. पतिव्रताधर्म में सीताजी ने पतिप्रेम एवं पतिसेवा को वनगमनोत्साह से प्रकट किया है, उसमें सीताजी में सेव्यत्वसमानकालीन तत्समानाधिकरण सेव्यसेवक भाव को दर्शाना है।

३. दो० १० में रामराज्योत्सव के हर्ष में आगे लक्ष्मणजी से प्रभु के 'सनमाने प्रियवचन कहि' का तात्पर्य प्रकट करने के लिए लक्ष्मणजी के सेवाधर्म का स्वरूप दर्शाना है। जिसमें लक्ष्मणजी के सेव्यत्वासमानकालीन तदसमाधिकरणसेवकत्व के संकल्पको स्फुट करेंगे।

चौ० : समाचार जब लछिमन पाए। व्याकुल बिलखबदन उठि धाए॥ १॥
कंप-पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥ २॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीनु दीन जनु जलते काढ़े॥ ३॥

भावार्थ : लक्ष्मण जी को जब श्रीराम के वनगमन का पता लगा तो वे व्याकुल हो गये और दुःखी मुख से उठकर दौड़े आये। शरीर में कम्प और रोमांच हो रहा है, आँखों में अश्रु भरे हैं। इस प्रकार प्रेम में अत्यन्त अधीर होकर वह प्रभु के चरणों पर पड़ गये। उनका बोल न निकल सका प्रभु को एकटक देखते रह गये। मानो जल से बाहर होने पर मछली दीन हो गयी हो।

लक्ष्मणजी की स्थिति

शा० व्या० : चौ० ६ दो० ४६ से चौ० ४ दो० ५१ तक में वर्णित 'अति विषादबस लोग लोगाई' द्वारा रामवनगमन का समाचार लक्ष्मणजी ने सुना है। 'बारेहिते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरनरति मानी' के रामचरणानुरागी लक्ष्मणजी को चरणसेवा से वंचित होने की शंका में अकुलता है। रामवियोगशंका की अधीरता में 'बिलख बदन, कंप पुलकतन नयानसमीरा' की स्थिति है अथवा 'प्रेम अधीरा' में प्रीति का अनुभाव प्रकट हो रहा है। कण्ठावरोध हो जाने से कुछ बोल नहीं पा रहे हैं। स्तब्धता की अवस्था में दृष्टि स्थिर है। रामसेवा से अलग होने में लक्ष्मणजी की स्वाभाविक व्याकुलता को 'मीनु दीन जनु जल ते काढ़े' की उपमा से व्यक्त की है।

संगति : सेव्यत्वाविशिष्टसेवक-भाव में लक्ष्मणजी के सोच का विषय कवि ध्वनित कर रहे हैं।

चौ० : सोचु हृदयँ विधि! का होनिहारा?। सबु सुखु सुकृतु सिरान हमारा?॥ ४॥

भावार्थ : लक्ष्मण जी के हृदय में सोच हो रहा है—"हे विधे! क्या होनेवाला है? क्या हमारा सब सुख व पुण्य समाप्त होनेवाला है?

होनिहारा का भाव

शा० व्या० : विधि को संबोधित करने 'का होनिहारा' का भाव है कि विधि अदृश्य है, भविष्यत् में वह क्या करेगा? किधर ले जायगा? कुछ कहा नहीं जा सकता। अथवा अचिन्त्य विधि (प्रभ-इच्छा) पर अपने को समर्पित करते हुए लक्ष्मणजी का अन्तर्भाव यह है कि क्या सेवात्मक विधि में प्रेयँ लक्ष्मणजी को साथ में ले चलने के लिए विधि प्रभु के लिए प्रेरक होगा? सेव्यसेवकभावकी शुचिता में लक्ष्मणजी जी की उक्ति 'सबु सुखु सुकृतु सिरान हमारा' का स्पष्टोकरण माता सुमित्राजी की उक्ति में 'सकल सुकृत बड़ फलु

एहु। रामसीय पद सहज सनेहू' से व्यक्त है। चौ० २ दो० ५८ में सीताजी के सोच में पतिप्रेम एवं सेवाभाव में प्रेरित सीताजी के विचार के अनुरूप लक्ष्मणजी का बन्धुत्व एवं सेवकत्वप्रयुक्त विचार दर्शाया जा रहा है।

संगति : लक्ष्मणजी के सोच का विषय कवि उपस्थापित कर रहे हैं।

चौ० : मो कहुँ काह कहब रघुनाथा ? । रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा ? ।। ५ ।।

भावार्थ : रघुनाथजी अपने आदेश में मुझको क्या कहेंगे ? क्या वह घर में रहने के लिए कहेंगे अथवा साथ ले चलेंगे ?

सोच का विषय

शा० व्या० : लक्ष्मणजी के सोच के विषय में कवि पूर्वपक्षकी भूमिकाको 'रखिहहिं भवन' से और उत्तरपक्ष की भूमिका को 'लेहहि साथा' से ध्वनित कर रहे हैं। प्रभु के पालनधर्म से समन्वित 'रखिहहिं भवन' प्रभुका पूर्वपक्ष होगा। चौ० १ की संगति में कहे 'सेव्यत्वासमानकालीन तदसमानाधिकरण सेवकत्व' के संकल्प से संगत सेवाविधि में लक्ष्मणजी को अधिकारी समझकर प्रभु के आदेश से 'लेहहिं साथा' निर्णय उत्तर पक्षानुकूल होगा।

संगति : भागवतधर्मान्तिर्गत जिस निवृत्तिधर्म में लक्ष्मणजी अधिकृत हो चुके हैं उसमें शरीर एवं तत्संबन्धी विषय में 'अहं मम' का भाव समाप्त है।[1]

चौ० : राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह गेह सब सन तृनु तोरे ।। ६ ।।

भावार्थ : प्रभु ने भाई लक्ष्मणजी को हाथ जोड़े खड़े देखकर समझ लिया कि वह शरीर और घर के ममता-बन्धन से मुक्त हैं।

लक्ष्मणजी के भाव में भागवत धर्म का आदर्श

शा० व्या० : लक्ष्मणजी के भाव 'रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा' की अभिव्यक्ति लक्ष्मणजी की मुद्रा 'कर जोरे' से ही रही है अर्थात् 'रखिहहिं भवन' में लक्ष्मण जी ने अपना निर्णय गेहत्याग से और 'लेहहिं साथा' में देहसंबन्ध के त्याग से व 'कर जोरे' के अनुभाव से स्फुट किया है। विलोकि' का भाव है कि प्रभु ने लक्ष्मणजी के उक्त आशय को लखा है। 'सब सन तृन तोरे' से लक्ष्मणजी के सेवकत्व-धर्म की यथार्थता दिखायी है अर्थात् वह सब प्रकार की ममता का त्याग करनेवाला व कामनारहित होकर स्वामि-सेवकभाव में प्रभु के साथ अपना योग बनाता है। यही भागवत धर्म का आदर्श है।

बन्धुआदि का भाव

'बन्धु' से लक्ष्मणजी का नीतिसंगत बन्धुत्वप्रेम, 'कर जोरे' से विनयप्रयुक्तसमर्पणभाव तथा 'तृन तोरे' से भागवतधर्मानुगत सेवकको निवृत्तिमार्गस्थ मनःस्थिति को प्रभुने जान लिया। जिस प्रकार चौ० १ से ७ दो० ५८ के अन्तर्गत सीताजी के अनुभावको देखकर प्रभु ने सीताजी के पतिप्रेमपुनीतत्व व सेवाभाव की दृढ़ता को जानकर पूर्वपक्ष के उपस्थाप से उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तिकी यथार्थता को प्रकट कराकर कौसल्या जी की अभ्यनुज्ञा की मर्यादाको रखा उसी प्रकार लक्ष्मणजी के सामने भवननिवासहेतुक पूर्व-

१. अहमृमेत्यसद्ग्राहः भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु (श्री० भा० द० स्क०)।

पक्षको उपस्थापित करके उनकी सेवकत्वप्रयुक्त शुचिता को प्रकट कराने के अनन्तर माता सुमित्राजीकी अभ्यनुज्ञा से 'चलहु बन भाई' से प्रवृत करावेंगे।

संगति : जिस प्रकार सीताजी के पातिव्रत्यधर्म एवं सेवाभाव को यथार्थता को माता कौसल्याजी के साक्ष्य में प्रकट कराने के लिए प्रभु ने पूर्वपक्ष का उपस्थापन किया, उसी प्रकार लक्ष्मण जी के सेवावृत्ति को प्रकट कराने के लिए कौसल्याजी व सीताजी के साक्ष्य में प्रभु पूर्वपक्ष का उपस्थापन करेंगे। प्रतिवादी लक्ष्मण जी के सम्वाद से बुद्धि और शास्त्रधर्म के आधार पर निर्णय कराना प्रभु की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का परिचायक है। अन्यथा लक्ष्मण जी के उत्तमोत्तम भागवतयोग्यता को प्रकट कराये बिना अपने आदर्श के बल पर लक्ष्मण जी को साथ चलने की प्रेरणा देना लोक में हास्यास्पद माना जाता।

चौ० : बोले बचनु राम नयनागर। सील-सनेह सरल सुखसागर॥ ७॥

भावार्थ : नीतिवेत्ता श्रीराम शील, स्नेह, सरलता एवं सुख के समुद्र हैं। वह लक्ष्मणजी से पूर्वपक्ष के उपक्रम में कह रहे हैं—

नयनागरादि से नीति का परिचय

शा० व्या० : 'नयनागार' से कवि ने उपरोक्त संगति में व्यक्त प्रभु की नीतिमत्ता को समझाया है। 'सील सनेह सरल' से नीतिमान् का स्वभाव बताया है। नीतिसिद्धान्त में इन्हीं गुणों को लोकवश्यता में कारण माना गया है। 'सुखसागर' से शीलवान् के नीतिमय कार्य की प्रमाणत्रयप्रमित हितसाधनता को स्पष्ट किया है, साथ ही प्रभु का 'सेवक सुखद' स्वभाव प्रकट किया है।

वचन का तत्वार्थ

वचन में विहित सहेतुक प्रेरणा साध्य-साधन-भाव का विचार करके प्रेयं को परिणाम में हितानुबन्धितत्व को समझकर कार्य का निर्णय करने का अवसर प्रदान करती है। प्रभु के वचन में उपस्थापित पूर्वपक्ष को सुनकर प्रयोज्यवृद्ध लक्ष्मण जी ने वनगमन में 'रखिहहिं भवन' एवं 'लेहहिं साथा' दोनों पक्ष में हितसाधनता का विचार करके निर्णय करना है।

ध्यातव्य है कि यहाँ 'वचन' से श्रीराम का वक्ष्यमाण निर्देश विधि के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है क्योंकि सेवात्मक धर्म में प्रवृत्ति करानेवाला शास्त्रवचन रहते श्रीराम के तत्सम्बन्धो आदेशाक का वैयर्थ्य होगा जैसा कि सीताजी के सम्बन्ध से पातिव्रत्यधर्म में शास्त्र का वचन प्रमाण प्रेरक है। अतः सीताजी और लक्ष्मणजी दोनों की स्वधर्म में निष्ठा प्रकट कराने के हेतु से प्रभु ने पूर्वपक्ष के उपस्थापन में धर्म का विकल्प सामने रखकर स्वयं प्रेरणा या आदेश न देकर शास्त्र के विधिवचनप्रमाण की प्रतिष्ठा रखी है।

संगति : श्रीराम पूर्वपक्ष का उपस्थापन करने के पूर्व लक्ष्मणजी को समझा रहे हैं।

चौ० : तात ! प्रेमबस जनि कदराहू। समुझि हृदय परिनाम उछाहू॥ ८॥

भावार्थ : हे तात ! स्नेह के वश हो कायरता मत दिखाओ। हृदय में परिणाम का विचार करके उत्साहपूर्वक कार्य करो।

स्नेह की अधीनता में मोह संभावना

शा० व्या० : वन में विपत्ति हर क्षण उपस्थित है। इसलिए नीतिमान् व्यक्ति स्नेह के अधीन हो कार्य नहीं करते क्योंकि फलसंपत्ति कारणसामग्र्यधीन है। प्रेमवश कर्तव्य का विचार न करना कार्पण्य

(कायरता) है। अतः परिणाम पर दृष्टि रखकर कार्य करने में उत्साह रखना चाहिये। स्नेह की अधीनता में विपरीत निर्णय करने का परिणाम हितावह नहीं होता। जैसे प्रभु आगे चौ० ५ दो० ७१ में 'बड़ दोषू' के परिणाम का संकेत करेंगे। 'समुझि' से औचित्यानौचित्य का विचार करने को कहा है।

संगति : पूर्वपक्ष की भूमिका में प्रभु गुरुजनों की शिक्षा को मानने पर बल दे रहे हैं।

दो० : मातु-पिता-गुरु-स्वामिसिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनमकर नतरु जनमु जग जायँ॥ ७०॥

भावार्थ : जो माताजी, पिताजी, गुरुजी, स्वामी की शिक्षा को सद्भावपूर्वक शिरोधार्य करते हैं, वे जन्म का फल प्राप्त करते हैं, नहीं तो उनका जन्म संसार में व्यर्थ हो जाता है।

प्रयोज्ययोजकवृद्धभेद से विधिवैचित्र्य

शा० व्या० : बालकाण्ड में शिवजी के कहे 'मातु पिता गुर प्रभु के बानी। बिनहिं विचार करिअ सुभ जानि' सिद्धान्त (चौ० ३ दो० ७७) के पालन में 'करिअ सुभ जानी' के विवेचन में परायत्तसिद्धिक प्रयोज्यवृद्ध और स्वायत्त सिद्धिक प्रयोज्यवृद्ध का अन्तर समझना होगा। परायत्तसिद्धो को प्रवृत्ति कराने हेतु प्रयोजकवृद्ध ने धर्मविवेकभक्ति आदिसमन्वित विधि का उपयोग करना चाहिये। अतः परायत्तसिद्धिक प्रयोज्यवृद्धों के लिए आप्त प्रयोजकवृद्ध के वचन विना विचार के पालनीय है। स्वायत्तसिद्धिक प्रयोज्यवृद्ध की प्रवृत्ति-हेतु प्रयोजकवृद्ध ने समय देखकर उस विधि का प्रयोग करना होता है जो हेतूपन्यास पूर्वक या हेतूपन्यासरहित होता है। सीताजी के सामने प्रभु ने उक्त सिद्धान्तों को (दो० ६१ में 'गुर श्रुति संमत धरम फलु पाइअ बिनहिं कलेस') तथा लक्ष्मणजी के सामने उपरोक्त कथन से स्पष्ट किया है। भरत जी ने गुरु वसिष्ठजी के समक्ष उक्त सिद्धान्त को (गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ जानी' चौ० ३ दो० १७७) से स्वीकार किया है। ये सब उपासक स्वायत्तसिद्धिक हैं, प्रयोजक वृद्ध वचन के पालन में धर्म-विवेक-भक्ति से विचार का अधिकार रखते हैं। अतः कर्तव्य के निर्णय में उनको अधिकारी मानकर स्ववचन से युक्तिपूर्वक विचार का अवसर प्रभु ने न्यायतः दिया है। इसी प्रकार शास्त्रवचन के सम्बन्ध में कहना है कि सामान्यबुद्धि वाले उपासकों को गुरुजनों के उपदेश से विधि का पालन अनुष्ठेय है जो परायत्तसिद्धिक हैं। जो स्वायत्त बुद्धि संपन्न हैं उनको धर्म विवेक भक्ति से युक्तिपूर्वक विचार करते हुए शास्त्रवचनों का समन्वय करके कर्तव्यनिर्णय का अधिकार है। वह अधिक सफल है। मध्यावधि में उसके अनुष्ठानक्रम में अधिकारिभेद से अन्तर भी होता रहता है पर वह भी अनियत नहीं हैं। दोनों पक्ष में शास्त्र-विधि हितावह है अतः विधिवचन की त्रिकालाबाधितहितकारिता अक्षुण्ण है।

मात पिता आदि के उपदेश का स्पष्टीकरण

प्रभु के कहे 'मातु पिता गुरु स्वामि सिख' में माताजी की शिक्षा का प्रकार सुमित्रासंवाद में स्पष्ट होगा। पिताश्री की शिक्षा का प्रकार दो० ७६ में मौन रूप में दिखाया गया है जिसका अनुमोदन सुमंत्र को दिये संदेश से (चौ० १ दो० ८२) स्फुट है। गुरु की शिक्षा का प्रकार दो० ७९ में गुरुजी की चरणवंदना से स्पष्ट है। स्वामी की शिक्षा स्वयं प्रभु के वचन से स्पष्ट होगी।

'लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर' को लक्ष्मण जी ने अपने 'मृदु बचन विनीत' में दो० ७२ के अन्तर्गत

स्पष्ट किया है जिसका समर्थन माता सुमित्राजी की वाणी ('अस जियं जानि संग वन जाहू । लेहु ताल जग जीवन लाहू' चौ० ८ दो० ७४) से होगा ।

संगति : माताजी व पिताश्री आदि की सेवा का गौरव कथनमात्र के लिए नहीं है, इसको समझाने के लिए उसको चरितार्थ करने पर बल दे रहे हैं ।

चौ० : अस जियँ जानु सुनहु सिख भाई । करहु मातु-पितुपद सेवकाई ॥ १ ॥

भावार्थ : हृदय में ऐसा सोच-समझ कर हे भाई ! हमारी शिक्षा सुनो । तुम माताजी व पिताश्री के चरणों की सेवा करो ।

माता व पिताश्री के सेवा का सार्थक्य

शा० व्या० : प्रभु लक्ष्मणजी को माताजी व पिताश्री की सेवा करने की प्रेरणा दे रहे हैं । 'मातु सेवकाई' से सब माताओं की सेवा विवक्षित समझनी चाहिए जैसा भरतजी को दिये प्रभु के संदेश में 'सेएहु मातु सकल सम जानी' से मातृसेवा का आशय स्पष्ट है ।

संगति : मातृ-पितृ सेवात्मक धर्मपालन का प्रयोजन प्रभु युक्ति (हेतूपन्यास) पूर्वक समझा रहे हैं ।

चौ० : भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं । राउ वृद्ध मम दुखु मन माहीं ॥ २ ॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा । होई सबहि बिधि अवध अनाथा ॥ ३ ॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारु । सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू ॥ ४ ॥
रहहु करहु सबकर परितोषू । नतरु तात ! होइहि बड़ दोषू ॥ ५ ॥

भावार्थ : घर में भरतजी और शत्रुघ्नजी भी नहीं हैं, एक तो राजाश्री वृद्ध हैं उस पर मेरे वियोग का दुःख उनके मनस् में है । मैं तुमको साथ लेकर वन में जाता हूँ तो इस समय अवध राज्य सब प्रकार से असुरक्षित हो जायगा । गुरु, माता, पिता, परिवार, प्रजा, सबके ऊपर असह्य दुःख का भार आ पड़ेगा । तुमने घर में रहकर सबका परितोष करते रहना, नहीं तो हे तात ! बड़ा दोष हो जायगा ।

प्रजामुख में राजा का अस्तित्व

शा० व्या० : प्रभु के कथन को न्यायप्रणाली से इस प्रकार कहा जायगा । "राजा वृद्धोऽनुपेक्षणीयः मद्वियोगदुखित्वे सति । सेवकान्तर (पुनः) सहायाभावे सति सेवकसापेक्षत्वात् । अवधपुरी चिन्तावती स्यात् रक्षकाभावात्" ।

प्रभु लक्ष्मणजी को समझा रहे हैं कि "गुरु, माता, पिता, परिवार, प्रजा ऐसे ही दुःखी हैं, हमारे तुम्हारे चले जाने पर तो उनके ऊपर जो दुःख का भार पड़ेगा उसकी पीड़ा दुःसह होगी । अतः उनको परितोष एवं सान्त्वना देने के लिए तुम घर में रहो । राज्य और प्रजा को असुरक्षित दशा में छोड़ना नीति दृष्टि से बड़ा भारी दोष है "।

क्षत्रिय के लिए प्रजापालन मुख्य धर्म है, उसके विरोध में धर्मान्तिर को इष्टापत्तिरूप में स्वीकार करने का समय नहीं है । राजनीति का विधान है कि राजा की अशक्तता दशा में राजपुत्र एवं मन्त्रिप्रभृति

ने प्रजा का परितोष बनाये रखना चाहिये क्योंकि राज्य की स्थिरता का उपाय प्रजा का परितोष कहा गया है।

राजा के कारण असुरक्षित प्रजा पीड़िता होती है तो राजकुल का नाश हो जाता है।[1] राजा की शोकावस्था में भरतजी, शत्रुघ्नजी एवं श्रीराम की अनुपस्थिति में लक्ष्मणजी के अतिरिक्त दूसरा नहीं है जो घर में रहकर सबका परितोष कर सकें और राज्य व प्रजा को सुरक्षित रखें।

संगति : 'अवध अनाथा' की स्थिति में प्रभु नीत्युक्त 'बड़ दोषू' का स्पष्टीकरण कर रहें हैं।

चौ० : जासु राजप्रिय प्रजा दुखारी । सो नृपु अवसि नरकअधिकारी ।। ६ ।।

भावार्थ : जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखवती रहती है, वह राजा अवश्यमेव नरकगामी होता है।

नीति का मूल प्रजानुराग

शा० व्या० : राजनीति अर्थ को प्रधान मानती है। धर्म एवं काम अर्थमूलक माने गये हैं। अर्थशास्त्र राजा के लिए भूमि-अर्थोपार्जन के उपाय में प्रजानुराग को प्रधानता देता है। प्रजानुराग की अभिव्यक्ति हर्ष एवं प्रियश्रवणजन्यआवेगनिमित्तक दान से होती है उस दशा में प्रजा राजा को सिंहासनासीन देखकर हृष्टा-पुष्टा होती है प्रीति में उसका मस्तक झुकता है। राजशास्त्र ने राजा का यही आदर्श बताया है। 'जासु राजप्रिय प्रजा दुखारी' से इस आदर्श को बनाये रखने के लिए श्रीराम लक्ष्मणजी को 'रहहु भवन' की प्रेरणा दे रहें हैं।

ध्यातव्य है कि लक्ष्मणजी में सेव्यत्वासामानकालीन सेवात्मक धर्म कृतसंकल्प हैं। जैसा दो० ७१ से स्पष्ट है। प्रभु की प्रस्तुत नीति माताजी के वरयाचन से संगत न होने से स्वीकार्य नहीं है। अतः स्पष्ट आदेश न देकर युक्ति का प्रभु ने उपन्यास किया है। उसका उद्देश्य है—लक्ष्मणजी को अपना कर्तव्य निर्णय करने का अवसर देना है। भरतजी के लिए प्रभु का आदेश इससे भिन्न है सेवात्मक धर्म का पालन कराते हुए भरतजी को "तरनिकुल पालक होहू' 'करहु प्रजा परिवारु सुखारी' का निर्वाह करने का कहेंगे।

संगति : स्वप्रतिज्ञात का उपसंहार कर रहे हैं।

चौ० : रहहु तात ! असि नीति बिचारी । सुनत लखनु भए व्याकुल भारी ।। ७ ।।

भावार्थ : "हे तात ! इस प्रकार नीति का विचार करके घर में रहो।" लक्ष्मणजी यह सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गये।

लक्ष्मण जी की व्याकुलता

शा० व्या० : 'मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी' का भाव रखनेवाले लक्ष्मणजी को तथाविध भगवत्सेवा छोड़कर मातृवचन के विरोध एवं प्रभु के अप्रत्यक्ष में नीतिपालन के प्रति अपनी अक्षमता समझकर 'रहहु' सुनने से तीव्र व्याकुलता हुई लक्ष्मणजी की व्याकुलता ऐसी है जैसे भक्त को अपने ध्येय उपास्य इष्ट का संग छूटने से होती है। 'बिचारी' से प्रभु ने लक्ष्मणजी को नीति का विचार करके आन्वीक्षिकीप्रयुक्त विवेक से (निर्णय करने का अवसर दिया है दो० ७२ के अन्तर्गत कहा जायगा) ('आरिप्सुना मंत्रबलान्वितेनप्रागेव कार्यो निपुणं विचारः')।

---

१. प्रजापीडन संतापात् समुद्भूतो दवानलः । राज्ञः कुलं तथा प्राणान् अदग्ध्वा न निवर्तते । (मनुस्मृति)

संगति : 'व्याकुल भारी' में लक्ष्मणजी की पीड़ा का अनुभाव कवि व्यक्त कर रहें हैं।

चौ० : सिअरे बचन सूखि गए कैंसे। परसत तुहिन तामरसु जैसे ॥ ८ ॥

भावार्थ : प्रभु की शीतल वाणी से लक्ष्मणजी ऐसे सूख गये जैसे हिम के स्पर्श से कमल कुम्हला है।

कृत्यसाध्यता निर्णय

शा० व्या० : 'रहहु करहु सबकर परितोषू' के अनुकूल प्रभु के बचन शीतलतागुण से युक्त हैं। पर स्वामी से दूर होने में अन्तरंग सेवक को दुःखदायी प्रतीत हो रहें हैं। 'हिम-कमल' के दृष्टान्त से बताया गया है कि प्रभु के सानिध्य में जलरूप माता, पिता, परिवार, प्रजा का संग लक्ष्मणजी को सुखदायी है पर उसके अभाव में सम्बन्ध जड़वत् प्रतीत हो हिमस्पृष्ट कमल के समान दुःखदायी हैं। अर्थात् प्रभु के असानिध्य में 'रहहु करहु सब कर परितोषू' को आचरित करने में लक्ष्मणजी की अशक्तता उनको राजमौन के अनुसार रामवचन को प्रमाण मानने से विरत करा रही है।

संगति : व्याकुलता के में लक्ष्मणजी अपने उक्त सेवकत्व ब्रत विशेष को प्रकट करते हुए प्रभु के आदेश में अपनी अधीनता को व्यक्त कर रहें हैं।

दो० : उतरु न आवत प्रेमबस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ ! दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ ? ॥ ७१ ॥

भावार्थ : लक्ष्मणजी को उत्तर देते नहीं बना स्नेह के वश होकर उन्होंने घबड़ाकर प्रभु का चरण पकड़ लिया और कहा "हे नाथ ! मैं आपका दास हूँ, यदि मेरा त्याग करते हैं तो उसमें मेरा कोई वश नहीं है"।

सेवक के उत्तम गुण

शा० व्या : जैसा सीताजी ने सेवकभाव में दो० ६६ में प्रभु की आज्ञा को सर्वोपरि रखा, वैसा ही लक्ष्मणजी दासभाव में प्रभु के चरणों पर पड़कर प्रभु की आज्ञा में 'काह बसाइ' से अपनी परतन्त्रता स्वीकार कर रहें हैं यही सेवकोत्तम गुण है जिसके सम्बन्ध में गुरु बृहस्पति ने इन्द्र से कहा है—"रामहि सेवकु परम पिआरा। मानत सुखु सेवक सेवकाई" (चौ० १ दो० २१९)। सेव्य-सेवकत्व के अगांगिभाव में लक्ष्मणजी अपना पूर्ण समर्पण व्यक्त कर रहें हैं।

'उतरु' से स्पष्ट है कि पूर्वपक्ष को सुन-समझकर प्रतिवादी का उत्तर अपेक्षित है न कि आदेश पालन् की सापेक्षता में। 'तजहु त काह बसाइ' से सेवक की स्वामी के प्रति परतन्त्रता व प्रभु को भी सेवक के मनेस्थिति की सापेक्ष बना देती है।

संगति : पूर्वोक्त चौ० ८ दो० ७० में 'समुझि हृदयं' के अनुसार औचित्यानौचित्य का विचार करके लक्ष्मणजी 'नीति विचारी' का उत्तर दे रहें हैं।

चौ० ; दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाइं ! । लागि अगम अपनी कदराई ॥ १ ॥
नरवरधीरधरमधुरधारी। निगम-नीति कहुँ ते अधिकारी ॥ २ ॥

भावार्थ : हे गोसाईंजी ! आपने मुझको नीतिधर्म की जो शिक्षा दी है, वह ठीक है। परन्तु अपनी असमर्थता (कृत्यसाध्यता) को देखते वह मुझको अननुष्ठेय प्रतीत होती है। जो धीर नरश्रेष्ठ धर्म की मर्यादा को धारण करने में समर्थ हैं कैकेयी की वरयाचना से वे ही वेदोक्त धर्म एवं नीतिपालन के अधिकारी हैं।

सीख नीक का तात्पर्य

शा० व्या० : प्र०-'सिख नीक' का तात्पर्य है कि शास्त्र के आदेश प्रभु की शिक्षा है। शास्त्र के आदेशों का पालन करना कर्तव्य है यहाँ लक्ष्मणजी 'लागि अगम' से अपनी असमर्थता क्यों व्यक्त कर रहे हैं? उ०-समाधान में 'अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियते' सिद्धान्त के अनुसार कहना है नीतिधर्मशास्त्र के आदेश के अनकूल प्रभु ने जो शिक्षा अभी लक्ष्मणजी को दी है उसको अधिकृतरीत्या आचरित करने में अनुष्ठाता लक्ष्मणजी असमर्थ हैं तो आदेश को न मानने में लक्ष्मणजी को विचार करने की स्वतन्त्रता शास्त्रसम्मत है। लक्ष्मण जी का प्रतिज्ञावाक्य इस प्रकार कहा जायगा "अहं प्रभोरुपदेशं अनुष्ठातुमनधिकारी"—इसमें 'अपनी कदराई' से व्यक्त हेतुवाक्य 'असमर्थत्वात् है। उक्त प्रतिज्ञावाक्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहना है कि स्वामिसेवक भाव में जहाँ स्वामी का कर्तृत्व अधिकारानुरूप नहीं है न तो यह अवध मेरे निवास योग्य है (छं० ७५ व्याख्या के विवरण में देखे) तो सेवक नीति के आचरण में अपने को अधिकारी न माने तो उसमें अनौचित्य नहीं है।

भक्ति एवं धर्म-नीति का बलाबल 'नीति कहूँ' का उदाहरण

लक्ष्मणजी की उक्ति में धर्म का अनादर या नीति की उपेक्षा अभिप्रेत नहीं है। धर्म एवं नीति विद्या की प्रबलता में भक्तिविद्या की दुर्बलता भक्तिशास्त्र को इष्ट नहीं है। लक्ष्मणजी को प्रभु के आदेश के अनुसार 'करहु मातु पितु पद सेवकाई' से धर्म विद्या एवं 'रहहु करहु सबकर परितोषू' से परिजन, प्रजा के पालन में नीतिविद्या की प्रबलता में प्रभुसेवा विशेष से वंचित रहकर भक्तिविद्या का ह्रास असह्य है। स्मरण रखना है कि 'मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला' के अनुसार लक्ष्मण जी आरम्भ से ही भागवतधर्मान्तिर्गत प्रेमभक्ति में आरूढ़ हैं। प्रभु का सान्निध्य प्राप्त रहते वह धर्म नीति का आचरण सुचारु रूप से करते आये हैं और करते रहेंगे। प्रभु के असान्निध्य में भक्तिविद्या का पोषण न समझ कर वह धर्म नीति के आचरण में अपनी असमर्थता दिखा रहे हैं। मीमांसासम्मत अंगिता-सिद्धान्त के अनुसार भक्तिविद्या की प्रधानता को रखने में अडचन है तो उनको धर्मनीति की प्रबलता स्वीकार्य नहीं है। जो भक्ति विद्या में अपेक्षाकृत आरूढ़ नहीं हैं, उनके लिए कारणतया धर्म नीति पालन अपेक्षित है अथवा जो भक्ति विद्या में आरूढ़ होते हुए धर्म नीति के आचरण में बाध्य हैं (उदाहरणार्थ भरत जी) उनके लिए लक्ष्मणजो की उक्ति ('निगम नीति कहुँ ते अधिकारी') चरितार्थ होगी।[1] कैकेयी जी के वरदान से संबद्ध सत्यसंघ पिताश्री की वचनबद्धता को ध्यान में रखकर कहना होगा कि भरतजी पिताश्री के वचन प्रमाण प्रमित धर्म पालन एवं राज्यसंचालन प्रयोजक नीति के आचरण में प्रभु के द्वारा बाध्य हैं, अतः उनको भक्तिविद्या का निर्वाह अयोध्या में रहकर करना है। यही लक्ष्मणजी और भरतजी की भक्ति में अन्तर है। अयोध्याकाण्ड की भूमिका में चर्चित प्रमाण की स्थापना में विद्याओं के बलाबल के विचार में यह विद्वानों के लिए चिन्तनीय है।

---

१. चौ० १ दो० २२८ "भरतु नीतिरत साधु सुजाना। प्रभुपदप्रेम सकल जग जाना" से लक्ष्मणजी की उक्ति की एकवाक्यता स्मरणीय है। छं० ७५ की व्याख्या में विचार मननीय है।

संगति : भक्ति विद्या की छत्रछाया में रहते उसमें अपनी पूर्ण आरूढ़ता को लक्ष्मणजी स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० : मैं सिसु प्रभु सनेहँप्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ? ॥ ३ ॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ ! पतिआहू ॥ ४ ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥ ५ ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी ॥ ६ ॥

भावार्थ : लक्ष्मणजी कहते हैं "मैं अबोध बालक हूं। आपने प्रभुरूप से मेरा पालन किया है। वह इस मन्दराचल या मेरु पर्वत का भार कैसे उठा सकता है ? अपना स्वभाव कहता हूँ, हे नाथ, ! आप विश्वास करिये कि मैं गुरुजी, माताजी, पिताजी आदि किसी को भी पृथक्तया नहीं जानता। जहां तक संसार के स्नेह सम्बन्ध हैं जिनमें स्वाभाविक प्रीति और विश्वास वेदों ने बताया है, वे सब मेरे एकमात्र स्वामी आप के सम्बन्ध से है आप दीनबन्धु हैं, हृदय की बात जाननेवाले हैं।

लक्ष्मण जी की शिशु-भक्ति

शा० व्या० : 'नाथ' से श्रीराम में लक्ष्मणजी का स्वामित्व, 'दीनबन्धु' से स्वामी के प्रति परतंत्रता में सेवक की दीनता तथा 'अन्तरजामा' से प्रभु का अंतस्साक्षित्व स्पष्ट किया है। बालकाण्ड चौ० ३ दो० १९८ में कवि की उक्ति 'चरिहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरनरति मानी" की एकवाक्यता लक्ष्मणजी की उक्ति से संगत है। उसके अनुसार लक्ष्मणजी ने अपना स्वभाव बताया है, उसकी यथार्थता पर विश्वास दिलाने के लिए 'पतिआहु' कहा है। अर्थात् वनगमनकाल में भी लक्ष्मणजी के स्वभाव की वही स्थिति और प्रीति की एकरूपता है। राजनीति के विधान के अनुसार अनुरक्त सद्वृत्त गुणवान् पक्ष को राजा ने दीर्घकालीन यात्रा या प्रवास में साथ रखना सहायतार्थं निर्दिष्ट है।[1] ऐसे सेवक सहज मित्र या मौल सैनिक माने जाते हैं। 'निगम गाईं' से स्पष्ट किया है कि लक्ष्मणजी ने शिशुपन से अपनी समस्त विद्याओं का उपयोग रामसेवा में किया है। प्रभु से अलग रहकर इतरपरतन्त्रा में नीति धर्म आदि विद्याओं का आचरण उनको इष्ट नहीं है। न तो अवधवास ही।

लक्ष्मणजी की अशक्तता

'मन्दर मेरु लेहिं' का भाव है कि रामसान्निध्यरूप मानससरोवर को छोड़कर उस सरोवर का सेवी राजहंस मन्दर-मेरुरूप अयोध्या में नहीं रह सकता। अथवा मन्दराचल के समान प्रजा-परिवार के परितोष में धर्मनीति पालन के गुरुतर भार को भी नहीं उठा सकता। क्योंकि सुमित्राजी के निर्देक्ष्यमाण-वचन के अनुसार यह अवध लक्ष्मणजी की दृष्टि में वासानहं है। राजकार्य मेरु के समान भारी है। नीर क्षीर विवेक की क्षमता रखने वाले मरालसदृश लक्ष्मणजी के लिए प्रभु-प्रेमरूप क्षीर का आस्वादन सहज है।

---

१. स्फीतसारानुरक्तश्च यदा मौलबलः परः। तत्तुल्येनैव यातव्यः क्षयव्ययसहिष्णुना।

स्नेह की विषयता

प्रभु को प्रीति के रसास्वाद में लक्ष्मणजी ने गुरु, पिताश्री के स्नेह सम्बन्ध की प्रधानता नहीं दी है। भक्ति विद्या में अधिष्ठित लक्ष्मणजी ने अपने एकमात्र स्वामी प्रभु के माध्यम से उनके प्रति 'सनेह सगाई' का निर्वाह करते नीति का पालन किया है।[1] लक्ष्मणजी की उक्ति की पुष्टि चौ० १-२ दो० २०० में भरतजी के कथन से सुपुष्ट होती है।

सेव्य सेवकभाव केवल स्वामी से अनुबद्ध होने से स्वामी के उदासी हो दूर होने पर इतर जनों की ममता को त्यागना सेवक के लिए इष्ट माना गया है। अरण्यकाण्ड में चौ० १० दो० १६ में प्रभु ने स्वयं अपने मुख से कहा है "गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा"। भगवत्कैंकर्य में बाधक होने की स्थिति में शास्त्रोक्त धर्म को भी शरण न मानना भागवतधर्म के सिद्धान्त से सम्मत माना जाता है जैसा माता सुमित्राजी ने छन्द ७५ में कहा है। (विवरण देखे) सांसारिक सगे सम्बन्धियों एवं पदार्थों में सेवककी प्रीति भगवत्संबंध की सहकारिता या अनुकूलता में सीमित रहती है[2] इतना अवश्य कहा जायगा कि ऐसी मनो-वृत्ति को बनाने में शास्त्रोपदिष्ट कर्म, कथाश्रवणादि सहायक है। सेवक की प्रीति एकमात्र प्रभु में उद्बुद्ध रहते सांसारिक संयोग-वियोगज सम्बन्ध उसके लिए सुख-दुःखप्रद नहीं रह जाते। प्रभुसेवा में अंगतया नियुक्त उसकी इन्द्रियाँ और मनस् जगत् की 'सनेह सगाई' में तभी तक सुख मानते हैं जब तक उनकी सेवा द्वारा सेवक को भगवत्सेवा की प्रतीति होती रहती है। अतः प्रभु के असान्निध्य में माताजी-पिताश्री आदि की सेवा अथवा परिजनप्रजा आदि के परितोषकार्य में धर्मनीति व अवध के प्रति लक्ष्मणजी का उदासीन होना सहज है।

प्र० : लक्ष्मणजी की इस स्थिति से अवगत होते प्रभु का नीतिधर्म उपदेश क्या व्यर्थ कहा जायगा ? इसके उत्तर में कहना है कि लक्ष्मणजी के सेवकत्व को प्रकाशित कराने के हेतु से प्रभु का उक्त उपदेश पूर्वपक्ष का उपस्थापनमात्र है। आदेश के रूप में नहीं है।

संगति : धर्मनीति के उपदेश का सार्थक्य किसके लिए है, इसको लक्ष्मणजी स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० : धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥ ७॥
मन क्रम बचन चरनरत होई। कृपासिंधु ! परिहरिअ कि सोई ?॥ ८॥

भावार्थ : जिसको कीर्ति, वैभव एवं सद्गति की आकांक्षा है उसको धर्मनीति का उपदेश अपेक्षित है। जो मनस् वाणि और कर्म से प्रभुपद में प्रीति रखनेवाला है, हे कृपासिन्धो ! क्या उसको छोड़ देना उचित है ?

धर्मनीति के उपदेश की सार्थकता व कीर्ति आदि का अनुगामित्व

शा० व्या० : जिनके लिए सांसारिक सबन्ध में प्रभुप्रीत्यर्थं कीर्ति ऐश्वर्य व सुगति की कामना रखना कर्तव्य हो जाता है उनके लिए धर्मनीति के उपदेश की सार्थकता है। प्रभुसेवा में विषयनिराकांक्ष लक्ष्मणजी के सम्बन्ध में कहना है कि उनकी 'कीरति भूति सुगति सुगति' की स्थिति "रघुपति कीरती जासु पताका। दंड समान भयऊ जस जाका।' से यशस् 'मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी 'भयउ

---

१. विनयपत्रिका में ग्रन्थकार ने उक्त सिद्धान्त को दृष्टान्त द्वारा समझाया है।
पिता तज्यो प्रहलाद, बन्धु विभीषन भरत महतारी। बलि गुरु तज्यो, कन्त ब्रजबनितन्ह भये मुद मंगलकारी॥
२. भ्रातॄणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित्। स पुण्यबन्धुः पुरुषो सद्भिः सहमोदते॥ (श्री० भागवत)

लाभ बड़ गइ बड़ हानि' से भूति तथा दो० ३४ में सुमित्रा माताजी की उक्ति से सुगति सिद्ध है। पर उसमें प्रीति नहीं है उसी प्रकार भरतजी के सम्बन्ध में 'कीरति विधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहं बस रामप्रेम मृगरूपा' से कीर्ति, 'संपति सब रघुपति कै आही' से भूति तथा कौसल्याजी की उक्ति 'गत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं' से सुगति की स्थिति स्पष्ट है। फिर भी वे श्रीराम से सेवात्मक नीति को अपनाते हैं।

'सोई' से 'मन वचन क्रम चरनरत' की स्थिति का अस्तित्व दिखाया है। 'कृपासिंधु' से सेवक के प्रति प्रभु की कृपालुता में विश्वास व्यक्त किया है।

प्रजापालन में वचनबद्धता

नीतिसिद्धान्त के अनुसार धर्म की प्रतिष्ठा भक्तिविद्या के पोषणार्थ है। नीतिमान् श्रीराम के नेतृत्व में लक्ष्मणजी प्रभुसेवा में कृतसंकल्प हो उसी का आचरण कर रहे हैं। लक्ष्मणजी को दिया धर्म नीति का उपदेश भक्ति के पोषण में है जिसका फल जनपद में समुचित अर्थवितरण और न्यायमर्यादा की सुरक्षा करना है। जिसको प्रभु ने 'रहहु करहु सब कर परितोषू' की शिक्षा से समझाया है। वस्तुतः राजवचन के प्रमाण के आधार पर भरत जी हो उक्त कार्यविशेष में अधिकृत हैं। जिसको लक्ष्मण जी ने अपनी उक्ति से ध्वनित किया है। अतः लक्ष्मणजी द्वारा नीतिधर्म की उपेक्षा न समझकर यह समझना है कि लक्ष्मण जी राजवचन से आबद्ध न होने से 'मन क्रम वचन चरन रति' रूप मुख्य उद्देश्य को निर्वाध मानते है।

संगति : लक्ष्मणजी के 'मृदु वचन' का तात्पर्य समझकर कवि प्रभु के उत्तर में उसका औचित्य दिखा रहें हैं।

दो० : करुनासिंधु सुबंधु के सुनि मृदु बचन बिनीत।
समुझाए उर लाइ प्रभु जानि सनेहँ सभीत ॥ ७२ ॥

भावार्थ : सुबंधु लक्ष्मणजी के बिनम्रतापूर्ण मृबु वचनों को सुनकर कृपासागर प्रभु ने प्रेम१रवशता में डरे लक्ष्मणजी को समझाते हुए हृदय से लगा लिया।

सुबन्धुत्व

शा० व्या० : 'सुबंधु' से राजनीति में कहे भाई-भाई होने वाली एकार्थाभिनिवेशित्व प्रयुक्त शत्रुता का अभाव दिखाया है। बंधु की सुष्ठुता यही है कि वह विपत्ति में सहायक है जैसा प्रभु ने चौ० ६ दो० ३०६ में भरतजी से कहा है "बाँटो विपति सबहिं मोहि भाई।' पिता श्री के वचन प्रमाण के रक्षणार्थ प्रभु को वन में जाना है तो लक्ष्मणजी सशरीर प्रभु की सेवा में बंधु का अनुगमन करना चाहते हैं, भरतजी शत्रुघ्नजी के साथ अयोध्या में रहकर पिताश्री के वचन प्रमाण के अन्तर्गत प्रभु के आदेश को मानकर सेवात्मक धर्म का पालन करेंगे (चौ० ३ से ५ दो० ३१५) भरतजी के इस सुबन्धुत्व को प्रभु ने 'सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना' कहकर समादर किया है।

वश्यता

'विनीत' से कविने स्पष्ट किया है कि लक्ष्मणजी आज्ञाकारी हैं, न कि 'गुर पितु मातु न जानउं काहू' आदि उक्ति से तत्सेवात्मक धर्म के या नीतिपालन के विरोधी हैं। लक्ष्मणजीके गुणों की यथार्थता चौ० १

४ दो० २०० में भरतजी की उक्ति से प्रकट है। उपमान प्रमाण प्रमित अर्थ का विचार करते हुए कहना है कि सुमित्राजीके वचन (चौ० २-३ दो० ७४) के अनुसार लक्ष्मणजी ने प्रभु सेवा में मातृ-पितृ सेवात्मक धर्म को अंगभूत मानकर उसका फल पाया है।

सभीत आदि का भाव

लक्ष्मणजी के 'सनेह सभीत' की स्थिति को कवि ने दो० ७० के अन्तर्गत सुस्पष्ट किया हैं। 'समुझाए' से 'गुर पितु मातु' की मर्यादा में उनके आदेशपालन का गौरव समझाया। 'उर लाइ' से समीत शरणागत के रक्षण का संतोष दिया।

संगति : वनवास में अपने 'वड़ काजू' की सफलता के लिए जिस प्रकार प्रभु ने माता कौसल्याजी से बिदा माँगा—('आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता' चौ० ३ दो० ५३) उसी प्रकार लक्ष्मण जी को माताजी का आदेश प्राप्त करने के लिए प्रभु कह रहे हैं।

चौ० : मागहु बिदा मातुसन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥ १॥

भावार्थ : हे भाई! माताजी से जाकर बिदा माँग कर शीघ्रता से आओ और वन के लिए चलो।

माता जी से आदेशयाचना का आदेश

शा० व्या : माता जी की आज्ञा का महत्व चौ० १ दो० ५६ में 'जानि बड़ि माता' की व्याख्या में द्रष्टव्य है। 'बेगि' का तात्पर्य दो० ५ की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है अर्थात् विधिप्रवर्तना में अपेक्षित काल से अधिक विलम्ब अतिक्रमण सह्य नहीं है।

यद्यपि सेव्यसेवक धर्म में अधिरूढ़ लक्ष्मणजी 'गुर पितु मातु न जानउं काहू' से प्रभुसेवात्मक अनुष्ठान में उनके आदेश की अपेक्षा नहीं रखते, तथापि 'करुनाकरधरमधुरीना' प्रभु भाई के वनगमन की प्रवर्तना में माताजी के आदेश विधि से धर्म की की प्रतिष्ठा दिखाते हुए 'मागहु बिदा मातु सन' में प्रेरित कर रहे हैं।

संगति : प्रभु के वचनों को सुनकर लक्ष्मण जी को संतोष हो रहा है।

चौ० : मुदित भए सुनि रघुबरबानी। भयउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी॥ २॥

भावार्थ : रघुवर श्रीराम के वचन सुनकर लक्ष्मणजी के मनस् में मोद हुआ। उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि बड़ा भारी लाभ हुआ है बड़ी भारी हानि दूर हो गयी है।

सेवक की हानि व लब्धि

शा० व्या० : वन में साथ चलने के लिए प्रभु के कहने पर सेव्यत्वासमानकालीन सेवा का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ समझकर लक्ष्मणजी को आनन्द हो गया। स्वामी की सेवा से वंचित होना सेवक की दृष्टि में 'बड़ि हानि' है और सेवा प्राप्त होना 'बड़लाभ' है।

संगति : प्रभु के आदेश से लक्ष्मणजी माताजी के महल में जा रहे हैं।

चौ० : हरषितहृदय मातुपहिं आए। मनहुँ अँध फिरि लोचन पाए॥ ३॥

भावार्थ : हृदय में हर्ष भरकर लक्ष्मणजी माताजी के पास आये मानो अन्धे को फिर नेत्रदृष्टि मिल गयी हो।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति व उदासीनता

शा० व्या : प्रभु के धर्मनीतिमय उपदेशपालन में लक्ष्मणजी किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे जिसको 'मनहुँ अंध' से व्यक्त किया गया है। भगवत्संबंध से रहित विषयों में प्रभु के सेवकों की इन्द्रियाँ मूकवत् क्रियाहीन होती हैं। भगवत्सेवा में वे इन्द्रियाँ क्रियाशील रहती हैं। 'आवहु बेगि चलहु बन साथा' से सेवकत्व को कार्यान्वित करने की क्रिया में हर्षित हो लक्ष्मणजी सजग हो उठे जिसको 'फिरि लोचन पाए' से स्पष्ट किया गया है। चौ० ८ दो० ७० में प्रभु के कहे 'तात प्रेमबस जनि कदराहु' की स्थिति दूर हो गयी और 'समुझि हृदय परिनाम उदाहु' को यथार्थता स्पष्ट हो गयी।

संगति : दो० ७० से ७२ तक प्रस्तावित राम-लक्ष्मण संवाद का भाष्य ग्रन्थकार अग्रिम ग्रन्थ में उपस्थापित कर रहे हैं।

चौ० : जाइ जननिपग नायउ माथा। मनु रघुनन्दन-जानकिसाथा ॥ ४ ॥

भावार्थ : माताजी के पास जाकर लक्ष्मणजी ने उनके चरणों में मस्तक झुकाया। उनका मनस् तो श्री राम सीता के साथ ही लगा था।

शा० व्या : चौ० ४ से ६ दो० ७२ में लक्ष्मणजी की उक्ति के अनुरूप 'मन क्रम वचन चरन रत होई' की चरितार्थता प्रकट हो रही है।

संगति : माताजी पुत्र से मलिन मुख का कारण पूछ रही हैं व उत्तर सुन रही है।

चौ० : पूँछे मातु मलिनमन देखी। लखन कही सब कथाविसेषी ॥ ५ ॥

भावार्थ : माता सुमित्राजी ने लक्ष्मणजी को उदास भाव में देखकर पूछा तो उन्होंने सब वृत्तान्ता विशेष बताया।

लक्ष्मण जी के मलिनता की उपपत्ति

शा० व्या० प्रश्न : ऊपर चौ० ३ में 'हरषित' हृदय' को ध्यान में रखते हुए यहाँ 'मलिन मन' कहना कैसे संगत होगा ?

उत्तर : इसके उत्तर में समझना होगा कि चौ० १ से ३ दो० ८ में कहे अनुसार रामराज्योत्सवकी सजावट में व्यस्ता माताजी को देखकर वनगमनकी आज्ञा माँगने की बात याद आते ही लक्ष्मणजी सहम गये। उस स्थितिको कवि ने 'पूँछे मातु मलिन मन देखी' कहा है। अथवा चौ० ४-५ दो० ७० में लक्ष्मणजी के सोचका समाधान 'हरषित हृदय' से स्पष्ट हुआ फिर भी रामराज्योत्सव में 'लखन मगन प्रेम आनंद' (दो० १०) के ह्रास की मलिनता उनके मनस् में रह गयी। उसके प्रभाव से 'मलिन मन देखी' से मुखकी मलिनता कही गयी है। अथवा स्वामी के उत्कर्ष में प्रफुल्लित होना और उसमें बाधा होने से मलिन होना सेवक का स्वभाव है इसको कवि ने स्पष्ट किया है।

कथाविशेष

रामराज्योत्सव की क्रिया में माता सुमित्राजी के लिए श्रीसीताराम के वनगमन का वृत्तान्त 'कथा-विसेषी' है। सब कथा' से वनगमन से सम्बधित वृत्तान्त अद्भुत होने से कथाविशेष है। अथवा ऐसा कथा-विशेष सुनाया जिसके बल से सुमित्राजी स्वार्थानुमान कर सके।

संगति : 'कथाविसेषी' में श्रीसीतारामवनगमन को सुनकर स्तब्धा सुमित्राजी की दशा का वर्णन कवि कर रहे हैं।

चौ० : गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहु ओरा ॥ ६ ॥

भावार्थ : लक्ष्मणजी के कथन में वनगमन की कठोरता सुनकर माताजी सहम गयी मानों चारों ओर से दावाग्नि लगी देखकर हरिणी भयभीता हो।

मृगीदृष्टान्त का भाव

शा० व्या० : मृगी के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार मृगी दावाग्नि से विकलस्थिति में निरुपाया हो अपने रक्षण में एकमात्र अदृष्ट का भरोसा करती है उसी प्रकार सुमित्राजी श्री सीताराम के वनगमन से अयोध्या के संकट में प्रभु का स्मरण कर रही हैं जैसा अग्रिम दोहे में स्पष्ट है। 'दव चहुँ ओरा' से चिन्ता, शोक, स्नेह, मोहादि से घिरी स्थिति दिखायी है।

कौसल्या जो व सुमित्रा जी के विचार एवं धृतिका क्रम

चौ० १ से ४ दो० ५४ में कौसल्याजी के 'सहमि सूखि' में 'हृदय विषादू' की अवस्थाको 'मृगी सुनि 'केहरि नादू' से व्यक्त किया है। प्रभु की 'सीतलि' बानी 'के प्रभाव से' धरि धीरजु सुतबदन निहारी। गदगद बचन कहत महतारी' से माता कौसल्याजी का धैर्य दिखाया है। यहाँ 'सुनि बचन कठोरा' व मलिन मन देखी' सुमित्राजीकी धृतिकी व 'मृगी देखि दव' से असहायावस्था को दिखाया है। दोनों को धृति के उत्पत्तिक्रम में अन्तर यह है कि कौसल्याजी की धृति में जन्मान्तरीय उपासना प्रयुक्त वरप्राप्ति का बल है (चौ० २-३ दो० १५१ बा० का०) सुमित्राजी को शास्त्रसहकृत सत्तर्क बल से धृति की प्राप्ति है। श्रीराम के साथ हुए संवाद से होनेवाले कौसल्याजी के सत्परामर्श से हुआ न्यायमतानुसार 'परार्थानुमान' कहा जायगा तथा सुमित्राजी के स्वीय सत्परामर्श में भया 'स्वार्थानुमान' कहा जायगा। कौसल्याजी को श्री राम के सत्परामर्श का सहारा है सुमित्राजी को केवल अपने सत्तर्कपूर्वक विचार से हेत्वाभासरहित निर्णय करना है जिसमें पुत्र लक्ष्मणजी की सुरक्षा, अपनी स्थिति, वनगमन की अभ्यनुज्ञा में औचित्यानौचित्य का विवेक, चतुर्दश वर्षावधि में आत्मगुणसंपन्न श्रीराम में विश्वास्यता आदि विषय विचारणीय होंगे।

संगति : वनगमनकी बात सुनाकर माताजी की स्तब्धता देखते ही लक्ष्मणजी को बेचैनी हो रही है।

चौ० : लखन लखेउ भा अनरथ आजू। एहि सनेहबस करब अकाजू ? ॥ ७ ॥
मागत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं ? ॥ ८ ॥

भावार्थ : लक्ष्मणजी ने माताजी की दशा देखकर समझा कि आज अनर्थ हुआ। क्या स्नेह के वश

हो यह कार्यहानि करेगी ? ऐसा सोचकर भय होने से बिदा माँगने में सकुचा रहे हैं।
विधातः ! मुझको वन जाने के लिए यह कहेगी कि नहीं ?

लक्ष्मण जी को विधि का भरोसा

शा० व्या० : श्रीराम ने माता कौसल्याजी को 'जनि सनेह बस डरपसि भोरे' से पहले ही वनवास में अपने भविष्यन् मंगलकी शंकाको निर्मूल कर दिया। यहाँ तो लक्ष्मणजी भी उसी प्रकारकी शंका में माता सुमित्राजी की स्नेहवशता को 'गई सहमि' को अनुभाव में देखकर सोच रहे हैं कि कहीं उसने वन जाने की अनुमति नहीं दी तो एक अनर्थ खड़ा हो जायगा सब काम बिगड़ जायगा। वनगमन सुनकर ही जिसकी ऐसी दशा हो उससे जाने की अनुमति कैसे माँगे ? इस संकोच में लक्षमणजी पड़ गये इसलिए माताजी का 'हाँ या नहीं' कहना विधि की इच्छा पर वह छोड़ रहे हैं।

अनरथ आजू में क्रम साम्य

रामराज्य में कैकेयी माताजी की कृति से जो अनर्थ का स्वरूप राजा ने चौ० ७ से २९ तक में कहा, जिसका भाष्य नगरवासियों की उक्तियों में चौ० ६ दो० ३६ से चौ० २ दो० ४९ तक एवं विप्रवधुओं की उक्ति में चौ० ३ दो० ५१ तक निरूपित है उसी क्रम में 'भा अनरथु आजू' से प्रभु के अनुगमन में माताजी के स्नेह के बाधकत्व की संभावना में लक्षमणजी की शंका व्यक्त है। जिसमें प्रभु सेवा से वंचित होना ही 'अकाजू' है। (स्मरणीय है कि उपधाशुद्धि के प्रसंग में भरतजी ने अपने को 'मैं सठु सब अनरथकर हेतू' (चौ० ५ दो० १७९ माना है)।

विधि का हितावहत्व

'जाइ संग विधि कहिहि' से यह भी गूढ़ार्थ ध्वनित है कि विधि के संग होकर माता जी जाने को कहेगी अन्यथा स्नेह के संग होगी तो 'नही' कहेगी। माता सुमित्राजी के निर्णय में लक्ष्मणजी की शंका सम्भावना से विधि का हितावहत्व बड़े तात्विक ढंग से दर्शाया गया है।

संगति : 'लखन कही सब कथाविसेषी' से माता सुमित्रा जी को सत्परामर्श की प्राप्ति में पूर्वपक्ष का उपस्थापन कर रही है।

दो० : समुझि सुमित्रा रामसिय-रूपु-सुसीलु-सुभाउ।
नृप-सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ ॥ ७३ ॥

भावार्थ : श्री सीतारामजी के रूप, शील, स्वभाव को भली-भाँति जानकर माता सुमित्राजी को सन्तोष हुआ। जिससे श्रीराम में राजा के स्नेह को समझकर सुमित्रा जी ने खेद में शिरस् पीट लिया कि पापिनी कैकेयी ने बुरा दाँव मार दिया।

रूप आदि का उपयोग

शा० व्या० : 'रूप' से श्री सीताराम जी की द्रव्यप्रकृतिहीनावस्था में सेव्यगुणसंपन्नता, 'सुसीलु' से शील की शोभनीयता तथा 'सुभाउ' से भ्रातृप्रेम एवं सेवक पर प्रीति दिखायी है। जैसा गुरु वृहस्पति ने चौ० १-२ दो० २१९ में कहा है" मानत सुखु सेवक सेवकाई' रामहि सेवकु परम पिआरा' आदि।

कैकेयी में पापिनीत्व (पूर्वपक्ष में)

'दीन्ह कुदाअ' से कैकेयी का राग समझकर रामराज्य के विघात में कैकेयीजी को कारण मानकर उसे पापिनी कहा है।

'नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु' से ध्वनित है कि रामविरह में पुत्रप्रेम के कारण राजा का जीवन संदिग्ध समझती हैं सुमित्राजी। ध्यातव्य है कि सुमित्राजी की यह आपत्ति पूर्वपक्ष का विचार है। क्योंकि आगे चलकर 'तुम्हरेहि भाग रामु बन जाहीं। दूसरे हेतु तात कछु नाहीं' से आपत्ति को वह निरस्त करेगी।

'रामसिय रूपु सुसीलु सुभाउ' का परिचय

श्री सीतारामजी की रूपशीलसम्पन्नता स्वभावतः प्रकट है ही, 'सब कथाविसेषी' के द्वारा कैकेयी-राम सम्वाद से श्रीराम का रूप शील स्वभाव स्पष्ट हुआ है। कौसल्याजी व श्रीराम तथा सीताजी के साथ हुए संवाद में सीताजी का पातिव्रत्य विशेष साथ ही रूपशील भी प्रकट हुआ है। उसका स्मरण अनुभव सुमित्रा जी यहाँ कर रही हैं।

संगति : उपरोक्त दोहे में कहे पूर्वपक्ष का बाध करके सिद्धान्तपक्ष के समर्थन में सुमित्राजी के धैर्य का वर्णन शिवजी कर रहे हैं।

चौ० : धीरजु धरेउ कुअवसर जानी। सहज-सुहृद बोली मृदु बानी ॥ १ ॥

भावार्थ : कुअवसर को समझकर सुमित्राजी ने धैर्य धारण किया। स्वभाव से ही सुहृद्भाव रखने वाली सुमित्राजी मधुर वाणी में बोली।

कुअवसर का भाव

शा० व्या० : दो० ७३ में किये पूर्वपक्ष के विचार में कैकेयी को दोणवती माना जाय तो भेदनीति को पनपने का अवसर मिलेगा— इस कुअवसर को सुमित्राजी ने 'धीरजु धरि' में समझा। धैर्य की स्थिति में सुमित्राजी को शास्त्रसम्मत विज्ञान स्फुरित हुआ अर्थात् स्नेह की परवशता में भी सत्यसंध राजा एवं विवेकवती कौसल्याजी के धर्मानुशासित कार्य का औचित्य समझा तथा सीताजी के पातिव्रत्य की उत्तमता का स्वरूप जाना। कौसल्याजी की उक्ति 'जो पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सतअवध समाना' के कार्यान्वियन में 'रूप सील सुभाउ' से सम्पन्न श्रीसीतारामजी की सेवा में पुत्र लक्ष्मणजी का अनुगमन होने में पुत्रवतीत्व का सार्थक्य है। स्नेह के बन्धन में पड़कर पुत्र को वन जाने से रोकना कुअवसर है। धैर्यपूर्वक विचार करने पर सत्यपरामर्श द्वारा सुमित्राजी ने ऐसा निर्णय करके लक्ष्मणजी से कहा जिसको कवि 'मृदु बानी' में ध्वनित करते हुए आगे स्पष्ट करेंगे।

संगति : 'सहज सुहृद्' से 'सुमित्रा' नाम का सार्थक्य दिखाते हुए कवि सुमित्राजी का सौहार्दभाव प्रकट कर रहे हैं जिसमें सौत के प्रति असूयाका लेश नहीं है, अपने और सौत-पुत्रों की प्रीति में समान भाव है। सौहार्द का पर्यवसान रामभक्ति में है।

चौ० : तात ! तुम्हारि मातु वैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही ॥ २ ॥

भावार्थ : हे तात ! तुम्हारी माता सीताजी है, पिताश्री श्रीराम हैं, जो सब प्रकार से तुम्ह पर प्रेम रखते हैं।

'सब भाँति' का भाव

शा० व्या० : शास्त्रों ने मातृ-पितृ सेवा को रामसेवा का द्वार बताया है। मातु बैदेही, पिता रामु' से सुमित्राजी ने उसी गृहीततत्व का समर्थन किया है। 'सब विधि' के अन्तर्गत लक्ष्मणजी की कही 'मैं सिसु प्रभु सनेहं प्रतिपाला' उक्ति से स्पष्ट है कि लक्ष्मणजी को श्री सीताराम जी ने शिशु रूप में परिगृहीत किया है। नारदजी से कहे प्रभु के वचन से स्पष्ट है कि ऐसे शिशुभावापन्न सेवक प्रभु के परिपाल्य हैं।[1] 'सनेही' से सुमित्राजी लक्ष्मणजी के प्रति माता सीताजी और पिताश्री श्रीरामका स्नेह व्यक्त कर रही है। अरण्य काण्ड में चौ० ११ दो० १७ 'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता' में लक्ष्मणजी को कुमार कहने का प्रभु का उक्त भाव संगत है इसका विचार विद्वान् करें।

संगति : श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी को अयोध्या रहने के लिए कहा था उसका प्रतिरोध कर उत्तर दे रही है।

चौ० : अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवसु जहँ भानुप्रकासू ॥ ३ ॥
जौ पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ॥ ४ ॥

भावार्थ : अवध वहीं है जहाँ श्रीराम का निवास है। जहाँ सूर्य का प्रकाश है वहाँ ही दिन है। यदि श्री सीतारामजी वन में जाते हैं तो तुम्हारा इस अवध में कोई काम नहीं हैं।

अवध को राम निवास में व्याप्ति

शा० व्या० : भक्त के लिए जहाँ श्रीराम रहे, वही अवध है। भक्तिपक्ष से सुमित्राजी की कही व्याप्ति त्रिकालाबाधित है, इसको समझकर लक्ष्मणजी को वन में श्रीसीतारामजी की सेवा में जाना है स्मरणीय है कि इसी प्रकार की व्याप्ति का निर्देश संपाति द्वारा हनुमान्जी के लिए हुआ हैं तहँ असोक उपवन जहँ रहइ' अर्थात् सीताजी जहाँ रह रही हैं वहीं अशोक बाटिका है।

सूर्य के उदाहरण से स्पष्ट किया है कि सूर्य सर्वत्र व्याप्त है, पर जहाँ उदय होता है वहीं दिन माना जाता है। इसी प्रकार वाल्मीकिजी ने दो० १२७ 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि' से श्रीराम की सर्वव्यापकता बतायी है। अवध में अप्रत्यक्षतः श्रीराम का वास होने पर भी स्वरूपतः श्रीराम का वास जहाँ होगा, सेवक के लिए वहीं अवध होगा।

वनवाससिद्धि में अनन्यथासिद्धता लक्ष्मणजी को

जिस प्रकार यज्ञानुष्ठान में अंगों के अनुष्ठान की प्रेरणा का फल अंगी के फल में समाता है। न कि पृथक् फलसे है, उसी प्रकार सेवकत्व में लक्ष्मणजीअपना अंगत्व रखते हुए प्रभु से पृथक् होकर माता-पिता आदि के संबंध से अवधनिवास में अपना पृथक् फल नहीं मानते। इसी भाव को माता सुमित्राजी ने पुष्ट किया है। 'काजु कछु नाहीं' से ध्वानित है कि 'रघुपतिकीरतिबिमलपताका। दण्डसमान भयउ जस जाका' के अनुसार प्रभु के कार्यसंपादन में लक्ष्मणजी अनन्यथासिद्ध हैं तो उनका अवध में अभी रहना अनुपयोगी है जो मेघनाद के शक्तिपात से मूर्छित होकर श्री रघुनाथ की मानुणत्व कीर्ति की स्थापना से प्रसिद्ध है। जैसा कि 'जनत्यौं बनबन्धु बिछोउ' की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

---

[1] सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोषा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करउँ सदा तिन्ह के रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी ॥ (अरण्यकाण्ड चौ०४- दो० ४३)

संगति : श्री रामका तात्विक स्वरूप बताते हुए माता सुमित्राजी पुत्र को श्रीराम के साथ वन में अनुगमन करने में अनुमोदन कर रही हैं।

चौ० : गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥ ५॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जीके। स्वारथरहित सखा सबही के॥ ६॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं राम के नाते॥ ७॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात! जगजीवन लाहू॥ ८॥

भावार्थ : गुरुजी, पिताजी, माताजी, भाई, देवता, स्वामी इन सबकी सेवा प्राण के समान करनी चाहिए। उस प्राण के भी प्रिय श्रीराम, जीवनदाता हैं, और सबके स्वार्थरहित मित्र हैं। संसार में जहाँ तक पूजनीय व परम प्रिय का सम्बन्ध है वे सब श्रीराम के सम्बन्ध से ही मानने चाहिए। ऐसा मनस् में समझकर हे तात! तुम वन में संग जाओ और संसार में जीवनका फल प्राप्त करो।

प्राणप्रिय जीवन जी के

शा० व्या० : उपनिषद में आत्मा के संबन्ध से ही शारीरिक सम्बन्ध की प्रियता कही गयी है। प्राणसम्बन्ध के अन्तर्गत ही 'गुरु पितु मातु बधु सुर साईं' की प्रियता है उस प्राण को भी प्रिय श्रीराम हैं ऐसा यहाँ कहा जा रहा है यह भी समझना है कि जीवन आधार श्रीराम के विना प्राण की सत्ता भी व्यर्थ है, इसको 'राम प्रानप्रिय जीवन जीके' से स्पष्ट करते हुए गुरुजी, पिताजी, माताजी प्रभृति की सेवा में मूल जीवनाधार प्राणप्रिय श्रीराम की सेवा से प्राण की प्रतिष्ठा की सार्थकता को 'जगजीवन लाहू' से व्यक्त किया है। भक्त के हृदय में प्राण का स्पंदन रामसेवा के आधार पर है, इसी में उसको 'जीवन जीके' की यथार्थता अनुभूत होती रहती है। लक्ष्मणजी को बाल्यकाल से ही रामचरणानुराग में जगजीवन को गतिमान् रखने का अभ्यास है। माता सुमित्रा जी अपने पुत्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति को जानते हुए 'संग बन जाहू' में पुत्र के लिए जगत् में जीवन का लाभ समझती है। जो आगे स्फुट हो रहा है।

'जीवन जी के' एवं 'स्वारथरहित सखा' के सम्बध से रामतत्व का परिचय

उपनिषद में कहे वृक्ष पर बैठे दो पक्षियों के दृष्टान्त से आत्मा व जीव का सम्बन्ध दर्शाया गया है संसार-विटप की डाल पर बैठा जीव वृक्ष के फल का आस्वाद लेने में साथ में बैठे सखा को उपेक्षित करता है पर वह सखा निस्स्वार्थभाव में बैठ कर जीव के हित पर दृष्टि लगाये रखता है। इसी प्रकार श्रीराम गुरुजी, पिताजी, माताजी आदि सबका जीवनाधार होते हुए उनके योगक्षेम को बनाने में निस्स्वार्थ भाव रखते हैं। सबके जीवन लाभ का यथार्थ संकल्प प्रभु के बनाये वेदशास्त्र के विधान से निगडित है। भगवत्प्रीति के उद्देश्य से उन विधानों के पालन में जीवन की सार्थकता है। उन विधानों में श्रद्धा, सत्य एवं सुकृत से पूर्ण विज्ञान भरा है। आन्वीक्षिकी के द्वारा विवेक चक्षुष् होकर शास्त्र वचनों के समन्वय से समस्त विद्याओं का आदर करते हुए प्रभु की सेवा में सात्विकता शुचिता, विनय को बनाना जीवन का लाभ है। पूज्य-पूजक का पारस्परिक सम्बन्ध बाँधकर श्रीराम ने सबको को एक सूत्र में बाँधा है। अतः सूत्रात्मा रामतत्व उपेक्षणीय नहीं हो सकता।

अंगों की सफलता

'सब मानिअहिं राम के नाते' में मीमांसकमतानुसार अंगांगिभाव में फलोपलब्धि की प्रक्रिया स्मरणीय है अर्थात् अंगों में स्वतन्त्र फल का (अंगो के फल के अतिरिक्ति) सम्बन्ध नहीं रहता। इसी प्रकार सेव्य की सेवा में अंगत्वाभिमान (रामसेवकत्व में प्रीति) रखने वाले सेवक लक्ष्मणजी का सम्बन्ध किसी फल से नहीं है। क्योंकि 'पूजनीय प्रिय परम' स्वरूपतः सुखरूप नहीं हैं किन्तु उनमें सुखोपधायकता श्रीराम के सम्बन्ध से ही है 'जहाँ ते' कहने का भाव है कि उनकी सेवा का माध्यम वहीं तक है जहाँ तक रामप्रेम साध्य है। 'अस जियँ जानि' से माताजी लक्ष्मणजी को अपने हृदय में उक्त भाव दृढ़ करने की प्रेरणा दे रही है। मीमांसोक्ति के अनुसार 'दध्ना जुहोति' वाक्य के अनुसार जिस प्रकार विधेयता दधि में है और उद्देश्यता होम में, उसी प्रकार सुमित्रा जी लक्ष्मण कर्तृक रामसेवा को धर्म बनाते हुए उसमें उपदेश की उद्देश्यता समझाती है दो० ७५ चौ० ८ में निर्दिष्ट क्लेशाभाव में विधेयता समझावेगी।

संगति : पुत्र के रामसेवा संकल्प से माताजी पुत्र को धन्य मानकर प्रसन्नता व्यक्त कर रही है।

दो० : भूरि भागभाजनु भयहु मोहिसमेत बलि जाउँ।
जौ तुम्हरे मन छाड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ ॥ ७४ ॥

भावार्थ : अपने को पुत्र पर बलिहार करती हुई माताजी कहती है "जिस प्रकार तुम्हारे छल-विहीन मनस् में रामपदप्रीति ने स्थान लिया है उससे तुम बड़भागी के पात्र बन गये हो, साथ ही मुझको भी भाग्यशाली बनाया है"।

रामकृपा का कर्तृत्व

शा० व्या० : 'कीन्ह रामपद ठाउँ 'में रामकृपाकी विशेषता को 'भाग भाजन भयहु' से उसी की कर्तृतासे बताया है जैसा उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि-गरुड़ संवाद में 'एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति वियोगी। रामकृपा नासहिं सब रोगा' से स्पष्ट किया है। कार्यकारणभाव सबंध को स्फुट करते हुए 'रामपद ठाउँ' में 'मन छाड़ि छलु' से रामप्रीति में मनस् की निष्कपटता बतायी है। चौ० ४ से ६ दो० ७२ में लक्ष्मणजी के मनस् का 'छाड़ि छलु' प्रकट है जिसका अनुमोदन करते हुए माताजी ने 'भूरि भागभाजनु' कहा है। भरद्वाजऋषि ने भी प्रभु के समक्ष इसी सिद्धान्त को दो० १०७ में 'करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार' में स्पष्ट किया है।

संगति : सुमित्राजी कह रही हैं कि मातृत्व का सार्थक्य रामभक्तिरत सुत की प्राप्ति में है।

चौ० : पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपतिभगत जासु सुतु होई ॥ १ ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। रामबिमुख सुत तें हित जानी ॥ २ ॥

भावार्थ : संसार में युवाप्रसवावस्था प्राप्त करके पुत्रप्रसव करने वाली स्त्री का पुत्रवतीत्व तभी सार्थक है जब उसका पुत्र रामभक्त हो। अन्यथा पशु के समान बच्चा ब्याने से बाँझ रहना ही अच्छा है क्योंकि रामविमुख रहनेवाले पुत्र से हित समझना व्यर्थ है।

माता का मातृत्व

शा० व्या० : कर्कटसधर्मा पुत्र माताजी के यौवन का नाश करने के साथ कुलकी मर्यादा व धन सम्पत्ति का नाश करता है। ऐसे पुत्र से हितसाधन की आशा करना मूर्खता है। भक्ति का प्रतिष्ठापक माताजी का उक्त वचन पुत्र लक्ष्मणजी को रामसेवा में उद्युक्त करने में प्रेरक है।

संगति : रामभक्ति में पुत्र को दृढ़ करती हुई माता सुमित्राजी दो० ७३ में कहे कैकेयी के प्रति किये आक्षेप को निरस्त कर रही है।

चौ० : तुम्हरेहि भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात ! कछु नाहीं ॥ ३ ॥
सकल सुकृतकर बड़ फलु एहू। रामसीयपद सहजसनेहू ॥ ४ ॥

भावार्थ : हे तात ! तुम्हारे ही भाग्य से श्रीराम वन जा रहे हैं, इसमें कोई दूसरा कारण नहीं समझ में आता। सम्पूर्ण पुण्य का महत्तम फल यही है कि श्री सीतारामजी के चरणों में तुम्हे (सेव्यात्वासमानकालीन सेवा में) सहज प्रीति हो रही है।

वनगमन का कारण

शा० व्या० : प्रभु के संकल्पित कार्यं में 'रघुपतिकीरति विमल पताका। दण्डसमान भयउ जस जाका' में श्रीराम के वनगमन में लक्ष्मण जी का साथ उनके भाग्योदय का द्योतक है। इसमें श्रीराम के पुरुषार्थं की न्यूनता या असमर्थता नहीं, अपितु लक्ष्मणजी के भाग्य की प्रबलता है। 'दूसर हेतु नाहीं' से पूर्वमें कहें 'पापिनि दीन्ह कुदाउ' का बाध करते हुए कैकेयीजी को दोषवती नहीं ठहराती। 'लखन कही सब कथाविसेषी' में प्रभु के आदेश 'आवहु वेगि चलहु बन साथा' से प्रभु की प्रसन्नता जानकर लक्ष्मणजो का भाग्य समझती है।

सुकृत आदि का अर्थ

'सुकृत' की व्युत्पति में सु + कृत' का अर्थ उत्तम कार्य-संपत्ति है अर्थात् प्रभुप्रीत्यर्थं शास्त्रविधि की मर्यादा में नीति का अनुष्ठान करना। 'सहज सनेहू' से व्यक्त किया है कि शास्त्रविधि से फलप्राप्ति की कामना न रखकर प्रभुप्रीति में स्वाभाविक रुचि होना। 'एहू' से ग्रन्थकार सुमित्राजी की उक्ति को सिद्धान्तरूप में स्थापित कर रहे हैं।

संगति : प्रभुकृपा से उपलब्ध भाग्योदय को भविष्यत् में सुरक्षित रखने का उपाय सुमित्राजी बता रही हैं। अभी तक प्रवृत्तप्रेरणा होने से उद्‌देश्य-विधेयभाव के अन्तर्गत उद्देश्य की महत्ता गायी। अब विधेयांश व साथ ही सेव्यत्वासमानकालीन सेवकत्व भी समझा रही हैं।

चौ० : रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्हके बस होहू ॥ ५ ॥
सकलप्रकार-बिकार बिहाई। मन-क्रम-बचनकरेहु सेवकाई ॥ ६ ॥

भावार्थ : स्वप्न में भी राग, रोष, ईर्ष्या, मद व मोह के वशीभूत मत होना। सब प्रकार के विकारों से दूर रहकर मनसा वाचा कर्मणा सेवा करते रहना।

प्रमाद से रक्षण

शा० व्या० : दो० ७४ में कहें 'मन छाड़ि छलु' से जिस निश्चल मनस् से पुत्र ने रामसेवकाई स्वीकार की है, उसको स्थायी रखने के लिए सुमित्रा माताजी उपदेश देती हुई विकारों से बचने को कह रही हैं। राग, रोष, ईर्ष्या, मद, मोहादि से मनस् में विकार उत्पन्न होकर चंचलता आती है जिसमें प्रमाद होने का भय रहता है।

विधि निषेध की महत्ता

'भाग भाजन भयउ' के सम्बन्ध में कहना है कि जन्मातरीय सुकृतजन्य संस्कारों के बल पर होने वाली सुप्रवृत्ति के रहते भी कामविकार की प्रबलता में प्रवृत्ति रागादिमूलक हो रामविमुखता का कारण बन जाती हैं। इसलिए शास्त्रविधि-निषेध का पालन करते हुए मनस् को सांकुश रखना हितावह है। वर्णाश्रमसमाज के लिए शास्त्रोक्त धर्म की व्यवस्था इसी उद्देश्य से बनायी गयी है। सुमित्राजी के वचन में 'मन क्रम बचन करेहु सेवकाई' विधि है, 'सकल प्रकार विकार बिहाई' निषेध है। माताजी के उपदेश ('जनि सपनहुँ इनके बस होहू') को स्मरण रखकर लक्ष्मणजी ने वनवास की अवधि में निद्रा का त्याग किया है। दो० ९३ के गुहसम्वाद में लक्ष्मणजी ने राग, रोष, ईर्ष्यादि विकारों का त्याग दिखाया है।

विकारप्रसक्ति का निषेध

चित्रकूट में भरतागमन के अवसर पर लक्ष्मणजी के भरतविरुद्ध रोष में सेवकोचित 'समय सम नीति विचारू' और 'जेहि न राम वन लहहि कलेसू में क्लेशाभाव-प्रतियोगी क्लेश व असहिष्णुता का प्राकट्य दिखाकर सुमित्राजी के वचन में प्रमाणत्व सिद्ध किया जिसमें उक्त विकारवशता की प्रसक्ति नहीं मानी जा सकती, जैसा कवि के निर्णय "एतना कहत नीतिरस भूला' में सकुचाने से स्पष्ट है।[1]

संगति : अपने उपदेश का उपसंहार करती हुई माता सुमित्राजी पुत्रको वनगमन में आश्वस्त कर रही है।

चौ० : तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। संग पितु मातु-रामु-सिय जासू॥ ७॥
जेहि न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत ! सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥ ८॥

भावार्थ : श्री सीताराम जो माता-पिताश्रीरूप में जिसके संग है उसको वन में सब प्रकार की सुविधा प्राप्त ही है। हे पुत्र ! मेरा यही उपदेश है कि तुमने वही कार्य करते रहना है जिससे श्रीराम को वन में रहते तुम्हारे निमित्त से (क्लेश) की प्रसक्ति न हो[2] (अर्थशास्त्रीय तन्त्रयुक्ति के अन्तर्गत उपदेश की गणना ज्ञातव्य है।)

सुपासू का भाव

शा० व्या० : दोहा ७३ में कहे 'राम सिय रूपु सुसीलु सुभाउ' का स्मरण कराते हुए शिशुभावापन्न लक्ष्मणजी का माता-पितारूप श्री सीतारामजी के संग में रहना वनवास में 'सब भाँति सुपासू' का साधक होगा। दो० ७२ के अन्तर्गत कही लक्ष्मणजी की असमर्थता की प्रसक्ति को स्वीकृत करना 'सब भाँति सुपासू' का स्पष्टीकरण है। चित्रकूटवास में प्रभु द्वारा 'सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहीं सोइ कहहीं। सुनहिं लखनु सिय अति सुख मानी' से 'सब भाँति सुपासू' की चरितार्थता स्मरणीय है।

कलेसू का उदाहरण

ज्ञातव्य है कि ससैन्य भरतजी के आगमन को सुनकर 'लखन लखेउ प्रभु हृदय खभारू' से भरतजी के विरुद्ध लक्ष्मणजी की रोषपूर्ण प्रतिक्रिया 'जेहि न रामु बन लहहिं कलेसू' से संगत कही जायगी, यद्यपि प्रभु का 'हृदयँ खभारू' इत पितु बचन उत बन्धु सकोचू' को लेकर है।

---

1. जैसा चौ० ४ दो० ३५ बा० का० में जुगुति से विवक्षित है।
2. रामलक्ष्मण संवाद में कहें लक्ष्मण जा के विचारों की संगति दोहा ७३ चौ० ५ से द्रष्टव्य है।

सेव्यत्वासमानकालीनता

उपदेश की पूर्णता तभी होगी जब श्री लक्ष्मणजी सेवा के प्रति एकाग्र हों अपनी सेव्यता को त्यागेंगे। अतः माताजी के उपदेश से लक्ष्मणजी ने सेव्यत्वासामनकालीन सेवकत्वका व्रत लेना ध्वनित है। अतएव वन के अनुगमन में उर्मिलाजी का गृहनिवास या उनका सामने उपस्थित न होना संगत कहा जायगा, क्योंकि उर्मिलाजी की उपस्थिति कुछ समय के लिए ही सही सेव्यत्वप्रसक्तिकारक होकर लक्ष्मणजी के व्रत में बाधक ठहरती। विशेष विचार दो० ७६ चौ० १ में देखे।

राजाश्री की वचनप्रतिष्ठा में सुमित्रा जी का योगदान

दो० ५५ की व्याख्या में कौसल्याजी, कैकेयीजी एवं सुमित्राजी तीनों रानियों के बिचारों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए रामकार्य में उनके योगदान का प्रकार समझाया गया है। सत्यसंध राजा श्री दशरथ के वचनप्रमाण की प्रतिष्ठा में वक्र-उक्ति दृष्टि से कैकेयी की उक्ति ('तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहु' चौ० ४ दो० ४३) तथा धर्म, विवेक, कर्तव्य की दृष्टि में कौसल्याजी की उक्ति ("जौ पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सतअवध समाना चौ० २ दो० ५६) से रामवनगमन में दोनों माताओं की अनुमति दिखायी गयी है। यहाँ श्री सीतारामजी के अनुगमन में लक्ष्मणजी के वनगमन का अनुमोदन स्पष्ट करके सुमित्रा माताजी की अनुमति ध्वनित की गयी है। अतः 'जेहि न राम बन लहहिं कलेसू' में सुमित्राजीका 'पिताश्री के वचनप्रमाण की प्रतिष्ठामें तदनुरूप संकेत यही है कि लक्ष्मणजी अपने सेवाकार्य से रामवनवास में वैसा सहयोग करें जिससे श्रीरामको पितृवचनप्रमाण के पालन में क्लेश न पहुँचे। सुमित्रा माताजी के उक्त उपदेश का साफल्य लक्ष्मणजी को ऐसे अवसर पर विपरीत कार्य से वर्जन करने को कहने से प्रकट है[1] जबकि लक्ष्मणजीने कटु वचन का प्रयोग किया है। वचनप्रमाण की प्रमेयसिद्धि में सर्वोपरि क्लेश का अवसर आने पर[2] लक्ष्मणजी के जीवनदान मे माता सुमित्राजी का उक्त उपदेश आशीर्वचन के रूप में भी सहायक कहा जा सकता है।

संगति : अपने उपदेश एवं आशीर्वाद का समन्वित सारांश माता सुमित्राजी समझा रही है।

छंद : उपदेसु यहु जेहिं तात! तुम्हरे रामसिय सुख पावहीं।
पितु-मातु-प्रिय-परिवारपुर-सुख-सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अविरल अमल सियरघुबीरपद नित-नित नई॥ ७५॥

भावार्थ : हे तात! मेरा यही उपदेश है कि जिस प्रकार तुम्हारे द्वारा श्री सीताराम जी को सुख मिले एवं वे पिताजी, माताजी, प्रियजन, परिवार, पुरवासियों के सुख की स्मृति को भूलकर वन में उदासीन रहें, उस प्रकार का कार्य करते रहो। तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रभु के सम्बन्ध में ऐसी शिक्षा देकर माताजी ने वनगमन की अनुमति दी और आशीर्वाद देते हुए कहा श्री सीतारामजी के चरणों में तुम्हारी अलौकिक निष्कपट प्रीति अनुदिन नवीन होती रहे।

---

१. पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी॥ चौ० ४ दो० ९६
सुनि सुरबचन लखन सकुचाने। रामसीयँ सादर सनमाने॥ चौ० ५ दो० २३१
२. जो जनतेउँ बन बन्धुबिछोहू। पितावचन मनतेउँ नहिं ओहू॥ चौ० ६ दो० ६१ (लं०का०)

प्रभु के उदासीनत्वानुकूल शिक्षा

शा० व्या० : कैकेयीजी के वरयाचनात्मक वचन की मर्यादा को "तापसवेषविसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनवासी" से उपपन्न उदासीनत्व को 'पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं' से स्पष्ट करते हुए माता सुमित्राजी लक्ष्मणजी से प्रभु के उदासीनत्व को बनाये रखने की शिक्षा दे रही हैं। लक्ष्मणजी ने पिता श्री के वचन प्रमाण के पालन में अपनी सेवा से प्रभु के साथ ऐसा बर्ताव रखना है कि वह परिवार आदि के सुख की चिन्ता से मुक्त रहें। उपरोक्त चौ० ५-६ में कहीं निर्विकार सेवकाई से 'अविरल अमल रति' को समझाकर 'नित नित नई' का आशीर्वाद दे रही हैं।

'अवध तहाँ जहँ रामनिवासू' पर वक्तव्य

लक्ष्मणजी की उपासना दृष्टि से सुमित्रा जी का कहना है कि जहाँ श्रीराम विराजमान हैं वहीं लक्ष्मणजी के लिए अवध है। अर्थात् रामोपासना में लक्ष्मणजी का सेवाकार्य वहीं है जहाँ श्रीराम प्रत्यक्ष उपस्थित हैं। अध्यात्मदृष्टि से भक्तों का हृदय अवध है जहाँ कलिकलुष अघओघ शोकादि' की समाप्ति है (चौ० १ से ३ दो० १६ बा० का०)।

प्र० उपासना की दृष्टि से प्रभु के द्वारा कही 'मम धामदा पुरी सुखरासी' पावन अवधपुरी में प्रभु का सदा निवास है तो सुमित्राजी को उक्ति क्या विरोधी कही जायगी ? इस संबंध में निम्न विचार प्रस्तुत है।

मायाप्रेरित कैकेयी की कुचाल से सम्भावित कलि व शोक की घटना से घटित रामवनवास द्वारा भक्तों की दृष्टि में ध्येय सगुण श्रीराम का अयोध्या में अभाव समझ कर लक्ष्मणजी जैसे भक्तों की दृष्टि में सगुणरूप श्रीराम के स्नेह से सम्बद्ध अवध का अस्तित्व नहीं है तो अवधवासी माता-पिता आदि को 'सनेह सगाई' का अस्तित्व भी लक्ष्मणजी के सामने नहीं है (चौं० ३ से दो० ७२ तक)। इस रहस्य को सुमित्राजी ने अपनी उक्ति में प्रकट किया है।

'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं' से ध्वनित भरतजी की मानस उपासना में 'निज गुन सील राम बस करतहिं' के अनुसार भरतजी के मानस अवध में श्रीराम सदा विराजते हैं। कलिकलुषता एवं शोक के कारण चित्तविक्षेप में रामोपासकों को अवध में श्रीराम का जो अभाव दिखायी पड़ रहा है, उसको (कैकेयी की भर्त्संना व मन्थरा के दण्डित होने से) भरतजी अपने उपधाशुद्ध चरित्र से शुचि वातावरण को उपस्थापित करके गूढ़ स्नेह सम्बन्ध के कारण चित्रकूट में प्रभुदर्शन से प्राप्त चरणपादुका का अयोध्या में स्थापन कराकर रामोपासकों को अवध में रामनिवास की अनुभूति करायेंगे। भरद्वाज जी के वचन 'राम भगति रस सिद्ध हित भा यह समउ गनेस' को सिद्ध करनेवाला भरतजी का उक्त चरित्र स्मरणीय है।

उपरोक्त विवेचन में न्यायमतानुसार कहना है कि संख्या वहीं तक दृश्य होती है जब तक अपेक्षा-बुद्धि रहती है। उदाहरणार्थ पचीस व्यक्तियों के समुदायों में एक-एक को गिनकर जिसको बुद्धि होगी उसको न्यायपरिभाषित पचीस का अस्तित्व दृश्य होगा, अन्य व्यक्तियों को समुदायमात्र दृश्य होगा। इसी प्रकार अप्रकट रूप से श्रीराम का अस्तित्व अयोध्या में रहते भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष-उपासकों को अवध में श्रीराम की शरीरतः उपस्थिति अदृश्य प्रतीत होगी। 'अवध तहाँ जहँ राम निवासू' का यह एक कौतुकपूर्ण भाव है जो उक्त न्यायपरिभाषित संख्याबोधानुसार विवक्षित है।

संगति : माताजी की अभ्यनुज्ञा प्राप्त होते ही प्रभु के पास पहुँचने में 'आवहु वेगि चलहु बन भाई' से संगत लक्ष्मणजी के मनस् के आवेग को कवि स्फुट कर रहे हैं।

सो० : मातुचरन सिरु नाइ चले तुरत संकितहृदयँ।
बागुरबिषम तोराइ मनहुँ भाग मृगु भागबस ।। ७५ ।।

भावार्थ : माताजी के चरणों में प्रणाम करके लक्ष्मणजी सशंकित मनस् से तुरन्त चल दिये। मानो कोई वनपशु कठिन बन्धन को तोड़कर भाग्यवश निकल भाग रहा हो।

शंकित हृदय का कारण

शा० व्या० : लक्ष्मणजी के 'संकित हृदय' होने का कारण है कि 'प्रभु के आदेश' आवहु बेगि चलहु बन भाई' के अतिक्रमण का उनको भय है—विशेषकर यह सोचकर कि सीताजी की तरह उर्मिला जी भी कहीं उपस्थिता हो जाय तो बिदा लेने में अत्यन्त विलम्ब हो जायगा। 'वागुर विषम' का भाव है कि विषयबन्धन वागुर विषम उसमें भी स्नेहबन्धन को त्यागना कठिन है[1]। कोई एक भाग्यवान् ही विषयबन्धन को तोड़कर प्रभुसेवा में तत्पर होने में समर्थ होता है जैसा सुमित्राजी ने 'अविरल अमल पद-रति' कहकर समझाया है कि सेव्यत्व का भाव कहीं जागृत न हो ?

उर्मिलाजी का पातिव्रत्य धर्मानुष्ठान

पति के सेव्यत्वासमानकालीन सेवकत्व-व्रत में पत्नी का साथ बाधक है क्योंकि पत्नी के साथ रहने से सेव्यत्व की प्रसक्ति होगी जो उक्त सेवकत्वव्रत के विरुद्ध है, जैसा अरण्यकाण्ड में (चौ० १३ दो० १७) लक्ष्मणजी ने शूर्पणखा से कहा है "सुन्दरि ! सुनु मैं उन्हकर दासा। पराधीन नहि तोर सुपासा।" पति के सेव्यत्यासमानकालीन सेवकत्व-व्रत में भार्या का अनुगमन कहाँ तक वांछित है ? इस तत्व को समझ कर उर्मिलाजी ने निर्णय किया कि घर में रहकर पति श्री लक्ष्मण जी के धर्म में सहयोग न देकर पति के अनुगमन में जाने का हठ करना सेव्यात्वासमानकालीनसेवकत्व व्रत का विरोध करना है। अतः पातिव्रत्य के प्रथम कल्प को बाधित कर उसके अनुकल्प में ही वह रह गयी, उर्मिलाजी का यह भी अनुष्ठान पातिव्रत्य धर्म ही है जैसा कि प्रभु ने सीताजी को समझाया है, अतः पृथक् से पुनः ज्ञेय नहीं है। स्मरण रखना चाहिये कि उर्मिलाजी के पातिव्रत्य के प्रभाव से लक्ष्मणजी मेघनादवध में सफल होंगे। अतः माताजी से बिदा लेने के प्रसंग में उर्मिला जी का उल्लेख न करने या उनके पातिव्रत्य के अप्रकाशन में ग्रन्थ की न्यूनता नहीं समझनी चाहिये। अपितु कहना यही होगा कि अयोध्या में रहते भरतजी के व्रत नियम को देखकर "दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू" (चौ० ३ दो० ३२६) के अनुरूप पातिव्रत्य की सराहना में सीताजी को देखते उनके समान ही उर्मिला जी सब प्रकार से प्रशंसा की योग्या हैं।

ईश्वर व जीव के बन्धनत्याग में अन्तर

वनगमन के लिए माता जी की अनुमति प्राप्त हो जाने पर लक्ष्मणजी के सम्बन्ध में 'चले तुरत संकित हृदय। बागुर विषम तोराई मनहुँ भाग मृगु भागबस' कहा गया है। बिदाई लेने के अवसर पर श्रीराम के सम्बन्ध में 'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ। मिटा सोचु जनि राखै राऊ।। नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलानुसमान। छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदुअधिकान" कहा गया है। ईश्वर-जीव-भेद की दृष्टि से दोनों उक्तियों का अन्तर मननीय है। 'राम सहज आनन्द निधानू' के लिए वनगमन से

---

१. स्नेहानुबंधो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः।—श्रीमद्भागवत (द० स्क० अ० ४७)

राज्यबन्धन छूटना सहज है। जीवभाव में लक्ष्मणजी के लिए विषयबन्धन को छोड़ने का कर्तृत्व भाग्य-वश कहा गया है। ईश्वर की स्वतन्त्रता 'नव गयंदु' से, जीव की परतन्त्रता 'मृगु भागबस' से दर्शायी है।

संगति : पूर्वोक्त सोरठा ७५में 'संकित हृदय' की व्याख्या में कहा लक्ष्मणजी का भाव स्पष्ट हो रहा है।

चौ० : गए लखनु जहँ जानकिनाथू। भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू॥ १॥
बंदि राम-सियचरन सुहाए। चले संग नृपमंदिर आए॥ २॥

भावार्थ : माताजी से बिदाई लेकर लक्ष्मणजी जहाँ सीतापति प्रभु थे, वहाँ पहुँचे, उनका साथ पाकर मनस् में अत्यन्त प्रसन्न हुए। लक्ष्मणजी ने श्री सीतारामजी के चरणों में प्रणाम किया। तीनों संग-संग चलते हुए राजा के महल पहुँचे।

लक्ष्मण जी की सेव्यमूर्ति

शा० व्या० : छन्द ७५ में सुमित्रा माताजी के आशिष वचन में कहे 'सिय रघुवीर पद' से स्पष्ट है कि लक्ष्मणजी जिस ध्येयमूर्ति का स्मरण करते हुए जा रहे हैं उसमें सीता जी के साथ प्रभु हैं अतः "जानकि-नाथू' कहा है। चौ० ६ दो० ७० में श्रीराम के सम्मुख उपस्थित होने के अवसर पर लक्ष्मणजी का मनो-भाव' 'देह गेह सब सन तृन तोरे' से स्फुट किया गया था, उसकी यथार्थता को यहाँ 'भे मन मुदित पाइ साथू' से स्पष्ट किया है। 'प्रिय साथू' से सीताजी के साथ सेव्य प्रभु की युगल मूर्ति है। सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ जाकर राजा से बिदा माँगने में लाघव ज्ञातव्य हैं अन्यथा उन दोनों के लिए राजाश्री का आदेश पृथक्तया अपेक्षित होता।

संगति : वनवास में उद्यत तीनों को राजाश्री के पास विदा लेने के लिए जाते देखकर जनता का मनोभाव कवि व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० : कहहिं परसपर पुरनर-नारी। भलि बनाइ बिधि बात बिगारी॥ ३॥

भावार्थ : अयोध्यापुरवासी स्त्री-पुरुष आपस में कह रहे हैं कि बिधि ने (रामराज्योत्सव का) अच्छा योग बनाकर सब बात बिगाड़ दी।

वनगमन में विधि का स्वातन्त्र्य

शा० व्या : रामवनगमन की खबर फैलने पर 'मिलेहि माझ बिधि बात बिगारी। का सुनाइ, विधि काह सुनावा ?। का देखाइ चह काह देखावा' ? के प्रसंग में पुरवासियों का भिन्न-भिन्न पक्ष कहा गया था, उनके विचारों का समन्वित निर्णय प्रकट करने के लिए रामराज्योत्सवभंग में एकमात्र विधि का कारणत्व स्फुट करना है, जो उत्तर अर्धाली में स्पष्ट है।

विधि की स्वतन्त्रता

ज्ञातव्य है कि विधि की अदृश्यता व दृश्यता अचिन्त्य है जिसको उन्होंने अनुकूल समझा था, वही प्रतिकूल सिद्ध हुआ जैसा कौसल्याजी की उक्ति ("विधिगति बाम सदा सब काहू। भयउ कराल कालु बिपरीता') से एवं राजा की उक्ति ('भयउ कुठाहर जेहि बिधि बामू') से स्फुट है। इस प्रकार विधि का स्वतंत्र प्रामाण्य कहा गया है।

संगति : पुरुषार्थ से समन्वित राजा दशरथजी का मनोरथ गुरुजी द्वारा समर्थित एवं 'जगमंगल भल काजु विचारा' से मन्त्रियों द्वारा अनुमोदित होने पर भी दैवोपहत हो गया। अतः विधि की प्रबलता को स्वीकार करने में जनता अपनी विवशता व्यक्त कर रही है।

चौ० : तन कृस, मन दुखु, बदन मलीने। बिकल मनहुँ माखी मधु छीने ॥ ४ ॥
कर मीजहिं सिरु धुनि पछिताहीं। जनु बिनुपंख बिहग अकुलाहीं ॥ ५ ॥
भई बड़ि भीर भूपदरबारा। बरनि न जाइ बिषादु अपारा ॥ ६ ॥

भावार्थ : पुरवासियों का शरीर दुर्बल हो गया है, मनम् में दुःख है मुख मलिन है। वे ऐसे व्याकुल हैं मानो मधुमक्खियाँ मधु निकाल लेने पर घबड़ा जाती हैं। हाथ मलकर शिरस् पीटकर वे पछता रहे हैं मानो पंख काट देने पर पक्षी अकुला रहें हों। राजाश्री के दरबार के आगे बड़ी भीड़ लग गयी। उस समय का अपार दुःखवर्णन नहीं किया जा सकता।

विरहवेदना

शा० व्या : विषयासक्त जोवों को देहगेह विषय को त्यागने में जितना दुःख होता है उससे कहीं अधिक दुःख सन्त के बिछुड़ने में सज्जनों को होता है। पुरवासियों को श्रीराम की प्रीति का परिचय 'ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी' से दिया गया था उसीको 'मधु माखी छीने' से स्पष्ट किया है।

सन्तवियोग की दुःखातिशायिता में राजाश्रय

विषाद का अनुभाव 'चौ० ४-५ में प्रकट है जैसा दो० ५१ के अन्तर्गत चौ० ५ से ७ तक में भी वर्णित है। जनता की ओजोहीनता और विवशता की दशा में राजाश्री उनका एकमात्र आश्रय है। इसलिए वे राजदरबार के सामने एकत्रित हो गये हैं।

जनता में विद्याप्रचार का प्रभाव

'भए राम सब बिधि सब लायक' निर्णीत होने पर भी अपने अभीप्सित अर्थप्राप्ति (रामराज्योत्सव-सम्पन्नता) में विघ्न होने पर प्रजा में विद्रोह या विप्लवकी प्रवृत्ति न होना राजा दशरथ के धर्मनीतिपूर्ण शासन की मर्यादा है जैसा चौ० ४ दो० ४८ में 'एक धरम परमिति पहिचाने। नृपहि दोसु नहिं देहिं सयाने' से स्पष्ट है। यह विद्याप्रचार का प्रभाव है कि कठिन परिस्थिति में धर्मनीति का विचार करते हुए प्रजा वर्तमान समस्याओं को सुलझाने में विवश हो आत्मसंयता होकर 'किंकर्तव्य' के लिए राजा श्री की शरण लेना उचित समझती है। यही भारतीय राजनीति का गौरव है।

प्रजा के इच्छाऽतिक्रमण में भी अनुरागोत्पत्ति

उपर्युक्त लोकानुराग प्राप्त करने में कारणसामग्री आत्मवान् श्रीराम के स्नेह शील से पूर्ण है जैसा सुमित्राजी ने 'राम रूप सुसीलु सुभाउ' कहा है। धर्म निर्णायकविधिसंबद्ध वह नीति है जिसके अनुशासन में 'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू 'के संकल्प से श्रीराम ने राज्यत्याग किया है, सत्यसंध राजाश्री भी कैकेयीजी के वरयाचन में वचनबद्ध हैं। ऐसी स्थिति में लोकमत की तात्कालिक उपेक्षा भविष्यत् प्रजानुराग को स्थायी बनाने में सहायक सिद्ध होगी यतः प्रजा का विश्वासपात्र बनने में ही लोकानुराग का स्थायित्व है।

संगति : सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ श्रीराम का राजा के महल में उपस्थित होना और महल के बाहर भीड़ का इकट्ठा होना (घेराव होना) देखकर मन्त्री ने राजाश्री को सचेत करके मूर्छा से जगाया।

चौं० : सचिवँ उठाइ राउ बैठारे। कहि प्रियवचन रामुपगु धारे ॥ ७ ॥
सियसमेत दोउ तनय निहारी। व्याकुल भयउ भूमिपति भारी ॥ ८ ॥

भावार्थ : 'श्रीराम आ गये हैं' ऐसा प्रिय बचन कहते हुए मन्त्री ने राजा को उठाकर बैंठाया। सीतासमेत दोनों पुत्रों को आँख भर के देखा तो राजा अत्यन्त व्याकुल हो गये।

राजदशा

शा० व्या० : 'अवनि अकनि रामुपगु धारे। धरि धीरजु तब नयन उघारे' (चौं० १ दो० ४४ से स्पष्ट है कि मन्त्री पूर्व अवसर पर देख चुका है कि श्रीराम का आना सुनना राजाश्री को इतना प्रिय है कि वह मूर्छा से जाग जाते हैं। अतः प्रस्तुत अवसर पर मन्त्री ने 'रामुपगु धारे' कहकर राजा में चैतन्य कराने का उपचार किया है। मूर्छा से राजाश्री इतने अशक्त हो गये हैं कि बिना मन्त्री के सहारा दिये उठना संभव नहीं है। राजा के व्याकुल भयउ' का कारण है कि तीनों को राजोचित वेष में न देखकर राजाश्री समझ गये कि वे वनगमनहेतु बिदा माँगने के लिए उपस्थित हुए हैं। व्याकुल भारी' का कारण है कि श्रीराम के साथ लक्ष्मणजी और सीताजी भी वन जाना चाहते हैं। चौं० ७ दो० ३८ में 'सोच बिकल विवरन महि परेऊ' से स्पष्ट है कि राजाश्री जमीन पर पड़े हैं, इसलिए कवि ने' 'भूमिपति' कहकर राजा की दशा का संकेत किया है।

संगति : तीनों मूर्त्तियों को देखने पर राजा का स्नेहजन्य आवेग प्रकट हो रहा है।

दो० : सीयसहित सुत सुभग दोउ देखि-देखि अकुलाइ।
बारहि बार सनेहबस राउ लेइ उर लाइ ॥ ७६ ॥

भावार्थ : स्नेह में जिस प्रकार मनस् की आसक्ति होती है उसी प्रकार स्नेही के विरह में हृदय की विदीर्णता भी होती है जिसको 'बारहिं बार उर लाइ' के अनुभाव में व्यक्त किया है।

'सुभग' का भाव

कैकेयी के वरयाचन की फलश्रुति में राजाश्री के कहे वचन (चौ३-४ दो० ३६) से तीनों का सौभाग्य सूचित है। 'सुभग' का पद-विच्छेद शुभ + ग करने से अर्थ हुआ कि शुभ की ओर जाने वाले अर्थात् पिताश्री के उक्त वचन प्रमाण की वश्माता में विश्वस्त होकर त्रैलोक्यव्यापिनी कीर्ति के अर्जन में कर्तव्यपथ पर आरूढ़ दोनों पुत्र सुभग हैं। 'अंतहुँ उचित नृपहि वनवासू। बय बिलोकि हियं होइ हराँसू' के अनुसार यद्यपि राजकुमारावस्था में वनवास करना असदृश कर्म है जिसमें 'होउ हरासू' से कथित प्राणबाधा, प्रकृतिकोप एवं पातक—इन तीन दोषों की प्रसक्ति बतायी गयी है। तथापि सीता जी के साथ 'सुत सुभग दोउ' के वनवास में सत्यसंध पिता श्री के वचनप्रमाण के बल पर पतिव्रता माता कौसल्या के आशीर्वाद से प्राणबाधा का निरास, धर्मसंबद्धनीति के अनुगमन से प्रकृतिकोप का निरास तथा वनवास को धर्मरूप में स्वीकार करने से पातक का निरास निहित होने से वनवासकर्तव्य में सुभग की सार्थकता को स्फुट किया है।

संगति : तीनों की उपस्थिति पर राजा श्री बोलने में असमर्थ हो रहें है।

चौ० : सकइ न बोलि विकल नरनाहू। सोकजनित उर दारुन दाहू ॥ १ ॥

भावार्थ : राजाश्री के हृदय में शोक से उत्पन्न उग्र संताप ऐसा हो रहा है कि वह कुछ कह नहीं पा रहे हैं।

शोक का कारण व राजविचार का ध्वनि

शा० व्या० : राजा के 'उर दारुन दाहू' का कारण चौ० ५ दो० ४ में 'पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ' के अनुसार रामराज्योत्सवभंग एवं 'कहु तजि रोषु राम अपराधू। सबु कोउ कहइ राम सुठि साधू' के अनुसार निरपराध पुत्र को वनवास दण्ड का शोक है।

चौ० ३ दो० ४५ में 'अस मन गुनइ राउ नहि बोला' की भाँति यहाँ भी 'सकइ न बोलि' से राजा के मौन में गूढ़ विचार चल रहा है जिसकी अभिव्यक्ति आगे चलकर राजा की उक्ति में होगी।

संगति : वन जाने के लिए बिदा माँगने में श्रीराम पिताश्री के आशीर्वाद की प्रार्थना कर रहें हैं।

चौ० : नाइ सीसु पद अति अनुरागा। उठि रघुबीर बिदा तब मागा ॥ २ ॥
पितु ! असीस आयसु मोहि दीजै। हरषसमय बिसमउ कत कीजै ?॥ ३ ॥

भावार्थ : तीनों ने पिताश्री के चरणों पर अत्यन्त प्रेम से मस्तक नवाया। खड़े होकर श्रीराम ने विदा माँगते हुए कहा "हे पिताजी ! वनगमन के लिए आज्ञा देकर मुझको आशीर्वाद दीजिये। हर्ष के समय आप विषाद क्यों कर रहे हैं ?

हर्ष का समय

शा० व्या० : चौ० ३-४ दो० ३६ में वनवास की फलश्रुतिपरक कहे वचन का संकेत करते हुए श्रीराम का कहना है कि तत्संबंधी हर्ष के अवसर पर विषाद का प्रसंग कैसा ? 'अति अनुरागा' से पिताश्री के वचन प्रमाण पर पूर्ण श्रद्धा व्यक्त है। साथ ही 'काननराजू' में विजिगीषु के लिए कही राजशास्त्रोक्त उत्साहशक्ति को प्रकाशित किया है जिसको श्रीराम लंकाविजय तक स्थिर रखेंगे।

संगति : कैकेयी माताजी के वचन के अनुगमन[1] सहित धर्मानुष्ठान में स्नेह के कारण प्रमाद करने का परिणाम प्रभु समझा रहे हैं।

चौ० : तात ! किए प्रियप्रेम-प्रमादू। जासु जग जाइ होइ अपबादू ॥ ४ ॥

भावार्थ : हे पिताजी ! प्रिय के प्रेम में पड़कर कर्तव्य की भूल होना प्रमाद है जिससे संसार में यशस् की हानि एवं अपयशस् की प्राप्ति होगी।

---

१. राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू। छाड़ि न सकहि तुम्हार संकोचू।
सुत सनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु। सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु। (दो० ४०)

प्रीतिमर्यादा में प्रमाद की दोषता

शा० व्या० : प्रिय से प्रेम करना शास्त्रसम्मत है, पर प्रेम के परवश हो धर्मानुष्ठान में प्रमाद करना, राग में पड़कर मर्यादा का उलंघन करना अनुचित है जैसा श्रीमद्भागवत में कहा है— "नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् कुर्वन् विन्देत संतापम्"। आपाद्य आपादकभावको स्फुट करते हुए प्रभु के कहने का तात्पर्य है कि पिताश्री प्रेम के वश हो श्रीराम-वनवासात्मकधर्मकर्तव्य से विमुख होते हैं अथवा पिताश्री पुत्रस्नेह के कारण वरदानात्मक धर्म से हटते हैं तो दोनों प्रमाद कहा जायगा जिसका फल 'जसु जग जाइ होइ अपवादू' होगा,। प्रभु की उक्ति से शिक्षा मिलती है कि कुलीनों को राग, स्नेहादि की भावनाओं से ऊपर उठ कर कर्तव्य पर ध्यान देना चाहिये अन्यथा प्रमाद होने से कुलमर्यादा नष्ट होने का भय है।

कैकेयी माताजी के वचनकी प्रतिष्ठा रखते उसका परिष्कार करते हुए प्रभुने पिताजी को 'प्रेम-प्रमाद' का परिणाम समझाया।

संगति : प्रभु के वचन राजाश्री के लिए औषधोपचार का काम कर रहे हैं।

चौ० : सुनि सनेहबस उठि नरनाहाँ। बैठारे रघुपति गहि बाहाँ॥ ५॥

भावार्थ : श्रीराम के वचन सुनकर राजा श्री स्नेहवशता में ही उठे और रघुनाथजी को हाथ से पकड़ कर बैठा लिया।

प्रमाद पर इष्टापत्ति

शा० व्या० : प्रभु के स्नेहापादक वचन सुनने पर भी राजा दशरथ ने 'सनेह बस' होकर प्रभु के चौ० ४ में कहे उपर्युक्त वचन को इष्टापत्ति मानकर स्वीकार न करना उनके जन्मान्तरीय संस्कार (सुत विषयक तब पदरति होऊ। मोहि बड़ मूड़ कहै किन कोऊ) से संगत कहा जायगा।

संगति : राजा दशरथ के पूर्वजन्म (मनु तनु) में प्रभु के वचन से (चौ० १ से ५ दो० १५२ बा० का०) उद्बुद्ध संस्कार में राजा श्री को श्रीराम का प्रभुत्व प्रतिभात हो रहा है। चौ० ७-८ दो० ४ में[1] कहे गुरु वसिष्ठजी के वचन को स्मरण करके राजा अपनी प्रत्यभिज्ञा श्रीराम को सुना रहे हैं।

चौ० : सुनहु तात ! तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं। रामु चराचरनायक अहहीं॥ ६॥
सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फलु हृदयँ बिचारी॥ ७॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सबु कोई॥ ८॥

दो० : औरु करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति विचित्र भगवंतगति को जग जानै जोगु ?॥ ७७॥

भावार्थ : राजा दशरथ श्रीराम से कह रहे हैं "हे तात ! सुनो। मुनि तुमको कहते हैं कि श्रीराम चराचर के स्वामी हैं। जीव के शुभ-अशुभ धर्म के अनुसार ईश्वर अपने हृदय में विचार

---

१. पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहिं अजसु न होई॥
तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहि दीन्हें। उचित न तासु निरादरु कीन्हें॥ (चौ० ५-६ दो० ४३)

करके उसका फल देता है। सब लोग ऐसा कहते हैं कि नीति के सिद्धान्तानुसार जो जैसा कर्म करता है, उसको वैसा ही फल मिलता है। ऐसा नहीं देखा जाता कि अपराध कोई दूसरा करे, उसका फल दूसरे को भोगना पड़े। परन्तु भगवान् की गतिविधि अत्यन्त विचित्र है, उसको संसार में कौन जान सकता है ?

फलभोक्तृत्व और कर्मकर्तृत्व का वैवधिकरण्य

शा० व्या० : अपराध कर्म और तत् कर्मफल के कार्यकारणभाव में सर्वविदित वेद और नीतिसम्मत सिद्धान्त यही है कि शास्त्रों ने जो (अपराध) कर्म बतलाये हैं, उनका फलभोग (दण्ड) तत्तत् कर्म करने वालों को ही प्राप्त होता है जैसा लक्ष्मणजी ने गुह से कहा है—"काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निजकृत करम भोग सबु भ्राता" (चौ० दो० ९२)।

न्यायमत के अनुसार कार्यकारण के सामानाधिकरण्य के अनुरूप अपराध कर्तृत्व और भोक्तृत्व का संबंध है मीमांसकों का निर्णय है कि जन्मातरीय धर्माधर्म से घटित कर्मफल का यथावत् भोगकर्तृत्व जीव में काल के अधीन नहीं हैं। जीव को कौन-सा कर्मफल तत्काल अथवा उत्तर जन्म या अनेकानेक जन्मों के आनन्तर्य से भोगना है, इसको सर्वसाक्षी ईश्वर ही जानता है। तत्तज्जन्म में स्मृति कर्मानुरूप स्मृतिरुचि प्रवृत्ति तत्तज्जीव में होती है। ज्ञातव्य है कि कर्मफलभोग नियति के अनुसार ही सर्व साक्षी श्री राम का उक्त ईश्वरत्व 'चराचर नायक' से स्फुट किया है जैसा रामचरित मानस में यत्र तत्र कहा गया है—"जगदातमा प्रानपति रामा। जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई। मायावस्य जीव सचराचर। ईसवस्य माया गुनखानी।' अतः कहना यह है कि कर्म (अपराध) कर्तृत्व व दण्डभोक्तृत्वसामानाधिकरण्य के नियामक एकमात्र भगवान् ही हैं। उसमें जो उलट-फेर अभी दिखायी पड़ रहा है। यह कैसे हुआ ? इसके उत्तर में राजा का कहना है कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् में समर्थ भगवान् का विधान ऐसा रहस्यमय अद्भुत है कि उसको जानने की योग्यता किसी में नहीं है। ईश्वर का बनाया बिधान वेद शास्त्रों में कहा गया है। उसका अतिक्रमण या उल्लंघन करने की शक्ति भगवान् के अतिरिक्त और किसी में नहीं है।

श्रीराम के ईश्वरत्व की प्रत्यभिज्ञा

त्रेतायुग का काल है, वेदानुशासन राज्य में पूर्ण है। दो० २६ के अन्तर्गत कहे अपराधाभाव की स्थिति में कहना है कि राजशासन में पुरुषार्थ की न्यूनता नहीं है। राजाके वचन "कहु तजि रोषु राम अपराधू। सबु कोउ कहइ रामु सुठि साधू' के उत्तर में कैकेयीजी की उक्ति "तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता ! जननी जनक बंधु सुखदाता" से श्रीराम की निरपराधता सिद्ध है तो उनको वनवास रूप दंड कैसे मिल रहा है ? रामराज्योपघात-कर्तृत्व कैकेयीजी में है, वही दृष्टरूप में अपराधिनी है उस अपराध का फल कैकेयीजी को न मिलकर उसका फलभोग वनवासात्मक दंड के रूप में श्रीराम कैसे स्वीकार कर रहे हैं ? कैकेयीजी को अपराधमुक्ता बनाकर उसका पुनीतत्व स्थापित किया जा रहा है—यह विचित्र चरित्र है। इसमें भगवान् की इच्छा कारण होने से उक्त कर्मकर्तृत्व और दण्डभोक्तृत्व को वेदानुशासन एवं धर्मविधान का उल्लघन

---

१. चौ० ५ दो० ७० की व्याख्या में नोट—३ में उद्धृत मुनि वसिष्ठ के वचन की ओर राजा का संकेत है।

२. श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा। जहं लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन।
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्मफल दाता।। (उत्तर काण्ड)

'धर्मधुरीन धरमगति जानी' की योग्यता रखनेवाले श्रीराम को स्वीकार है, अतः 'रामः ईश्वरः' की प्रत्यभिज्ञा राजा को हो रही है। यह प्रभु की कृपा का फल है कि 'सुत विषयक तव पदरति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ' से पुत्रस्नेहानुबन्धिनी मूढ़ता में 'पदरति होऊ' के संस्कार में राजाश्री को श्रीराम के प्रभुत्व को पहचानने के संस्कार स्फुरित हो रहे हैं।

भगवंतगतिवैचित्र्य

"अति विचित्र भगवन्त गति को जग जानै जोंग" में ध्वनित गूढ़ार्थ को स्पष्ट करते हुए यह भी कहना है कि 'विमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु विहाइ बड़ेहि अभिषेकू' से संकल्पित प्रभु की इच्छा के अनुकूल राजाश्री की वचनबद्धता से अनुगत कैकेयी की कुटिलता "रामहि मातु वचन सब भाए। जिमि सुरसरिगत सलिल सुहाए" (चौ० ८ दो० ४३) के अनुसार प्रभु को प्रिय है। अतः तदनुकूल वन-वासात्मक रामचरित 'भगवन्त गति' के अन्तर्गत कहा जायगा। इनका नीत्यात्मक औचित्य कैकेयी के वचन ('जननी जनक बंधु सुखदाता') से स्फुट है। कैकेयीजी दोहे के पूर्वार्ध में कहे कर्तृत्वसामानाधिकरण्यो-पेत फलभोक्तृत्व से (सुखदुःख विषयक कर्मफल भोग) से रहिता हैं, यही विचित्रता है।

कैकेयी की पावनता में स्मरणीय है कि प्रस्तुत अवसर को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी कैकेयी का शास्त्रविरोधी कार्य इतिहास में प्रसिद्ध नहीं हैं। इसका उदाहरण सती का चरित्र है।

संगति : ज्ञातव्य है कि राजा की उपायोक्ति व उपासना भागवत धर्म से विहित है। अतः श्रीराम को रहने के लिए किये उपायों का सामान्यतया स्मरण कवि कर रहे हैं।

चौ० : रायँ राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किए छलु त्यागी ॥ १ ॥

भावार्थ : राजाश्री ने श्रीराम को अयोध्या में रखने के लिए छलविहीन होकर बहुत से उपाय किये थे।

शा० व्या० : चौ० ८ दो० ३४ में राजा की उक्ति 'राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती। नाहिं त जरिहि जनम भरि छाती' में 'जेहि तेहि भाँती' से स्नेहोपासना के अन्तर्गत 'बहुत उपाय किए'[1] जिनकी की यथार्थता स्पष्ट है। उस पर कवि निर्णय कर रहे हैं कि उन उपायों में राजा का कोई छल-कपट नहीं था।

राजा की स्नेहोपासना

पूर्वोक्त चौपाई की व्याख्या की नोट में उद्धृत श्रीमद्भागवतोक्ति के अनुसार 'राम राखन हित बहुत उपाय किए' से भागवतधर्मसम्मत राजा की स्नेहोपासना दिखायी गयी है जिसमें 'छलु त्यागी' शुद्ध तन्मय भाव की साधना है जैसा गुरु वसिष्ठजी ने भरतजी से कहा है 'सोचनीय सबही विधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई' (चौ० ४ दो० १३३)।

यदि कहा जाय कि चौ० ६ दो० ४४ से चौ० २ दो० ४५ तक 'जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं' के उद्योग में विधि को मनाते हुए राजाश्री ने धर्मशासन की मर्यादा के विरुद्ध भाव को अपनाया तो भी मानना पड़ेगा कि 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' के अनुसार मिथ्या योग ही क्यों न हो, यदि

---

१. 'बहुत उपाय किए' के अन्तर्गत 'चहत न भरत भूपतिहि भोरे, अजसु होउ जग सुजसु नसाऊ। नरक परौं बरु सुरपुर जाउ, विप्रवधू कुलमान्य जठेरी द्वारा कैकेयी को शिक्षण आदि विवक्षित समझना चाहिए, उसमें राजा का कोई छल प्रयोग नहीं है। उन उपायों में राजा का एक मात्र उद्दिष्ट 'राखु राम कहुँ जेहि तेहीं भाँती' है।

वह आत्मदर्शन में उपधायक है तो दोषांकुश है। अतः अपने प्रतिज्ञातार्थनिर्वहण में कैकेयीजी को दूसरा वर (रामवनवास) देने में हिचकिचाहट दिखाना, शिवजी को मनाते हुए 'सो मति रामहि देहु। वचन मोर तजि रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु' आदि धर्मविरुद्ध भाव राजा की निश्छल स्नेहोपासना में निर्णयेन चित्तशुद्धि कराकर तन्मयीभाव को प्राप्त कराने वाला है। जैसा कामं 'क्रोधं भयं स्नेहं'[1] आदि से चित्त की तन्मयता में धर्मशासन का भक्तिशास्त्र की मर्यादा ने विश्राम लेना कहा है। 'रघुपति पितहि प्रेमबस जानी' से स्पष्ट है कि राजाश्री के उक्त निष्कपट निरतिशय प्रेम को जानकर प्रभु प्रसन्न हैं।

संगति : दो० ३ में कहे 'फल अनुगामी महिपमनि मन अभिलाषु तुम्हार' की योग्यता होते हुए भी को अपने 'बहुत उपाय किए छलु त्यागी' की निष्फलता देखकर 'अति विचित्र भगवंत गति' के अनुमान का पर्यवसान 'लखी रामरुख' में होने से राजा अग्रिम कर्तव्य का अनुसरण कर रहे हैं।

चौ० : लखी रामरुख रहत न जाने। धरमधुरंधर धीर सयाने ॥ २ ॥

भावार्थ : धर्मधुरंधर, धैर्यवान् एवं बुद्धिसत्तम श्रीराम का रुख देखकर राजाश्री ने समझ लिया कि वह रहेंगे नहीं।

धर्मधुरंधरता

शा० व्या० : सत्यसंध पिताश्री के प्रतिज्ञार्थनिर्वहण में माता कैकेयीजो के मनोरथपूर्तिप्रागभावध्वंस के कार्यान्वियन में 'तेहि महं पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर' से माताजो व पिताश्री के वचन पालनात्मक धर्म को स्वीकार करके वन में जाना श्रीराम की धर्मधुरंधरता है। माता कौसल्याजी व पिताश्री दशरथ के प्रेमाधिक्य व प्रजा के अनुराग में भी धर्मसम्बद्ध कर्तव्य से विचलित न होना, वनवास में कहे दुःख, क्लेश, भय आदि को एवं पुत्रविरह में पिताश्री की सम्भावित मृत्यु का योग जानकर भी सीताजी व लक्ष्मणजी के साथ वनगमन में प्रवृत्त होना धीरता है। चौ० १ से ४ दो० ४२ में 'प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा' (समाज को मूढ़ इसलिए कहा है कि वह राज्याभिषेक प्रतिबन्धक कैकेयी के मनोरथपूर्ति प्रागभाव को नहीं समझ रहा है) आदि उक्तियों से श्रीराम का सयानापन प्रकट है। 'लखी राम रुख, का भाव है कि प्रभु श्रीराम की इच्छा पुत्र रूप में 'धरम धुरंधर धीर सयाने' की गतिविधि से अयोध्या में रहने की नहीं है, इस तत्व को राजा ने श्रीराम की भावभंगिमा से जान लिया।

संगति : श्रीराम को रोकने का उद्यम त्यागकर उनकी इच्छा में अपने कर्तव्य का विलयन कर सीताजी को वन जाने से रोकने का उपाय कर रहे हैं। ज्ञातव्य है कि यह भी पूर्वपक्ष है।

चौ० : तब नृप सीय लाइ उर लीन्ही। अतिहित बहुत भाँति सिख दीन्ही ॥ ३ ॥
कहि बन के दुख दुसह सुनाए। सासु ससुर पितु सुख समुझाए ॥ ४ ॥

भावार्थ : (जब राजा ने जान लिया कि श्रीराम रहेंगे नहीं) तब सीताजी को हृदय से लगाते हुए राजा ने बहुत प्रकार से सीताजी को शिक्षा देते हुए, उसको अतिहित समझाया। वन के कठोर दुःखों को बताया और सासुजी-ससुरजी, पिताजी के पास रहने का सुख बताया।

राजशिक्षा (पूर्वपक्ष में)

शा० व्या : स्नेह के अनुभाव में सीताजी को हृदय से लगाते हुए राजा वन के असहनीय दुःखों

---

१. कामं क्रोधं भयं स्नेहं ऐक्यं सौहृदमेव च। नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥ (श्रीमद्भागवत)

एवं भय को समझकर सीताजी की अपनी सुकुमारता को देखते वनवास को कृतिसाध्य एवं बलवद्-निष्टाननुबन्धो न हो समझ रहे हैं। इस दृष्टि से सीताजी का सासुजी-ससुरजो के पास अथवा पितृगृह में रहना अतिहित है। 'अतिहित' का यह भी भाव है कि पातिव्रत्य के प्रथम कल्प में पति के सान्निध्य में रहना यथार्थ हित है, उसके अनुकल्प में सासु-ससुरजी अथवा पिताजी के पास रहने की शिक्षा मिल चुकी है। सीताजी को सुकुमारता को देखते उनका वन में न जाना अति हित है। ऐसा समझकर माता कौसल्याजी ने श्रीराम से यथोचित आदेश देने को कहा। पति की शिक्षा को सीताजी ने 'जेहि बिधि मोर परम हित होइ' कहकर पूर्वपक्ष में स्वीकार किया। उस (हित, परम हित) के अतिक्रमण में राजा को शिक्षा को 'अतिहित' कहा है। अथवा राजाने अपना अतिहित मानकर सीताजी को शिक्षा दी। राजा का अतिहित आगे 'प्रान अवलम्बा' से व्यक्त है। 'बहु भाँति सिख दीन्ही' का वही प्रकार समझना चाहिए जो कौसल्याजी व श्रीराम ने सीता जी को समझाया है। उपरोक्त चौ० ४ में कहे विषय का स्पष्टीकरण करते राजा ने सुमन्त्र को जो समझाया वह चौ० ३ से ६ दो० ८२ में द्रष्टव्य है। शिक्षाकी पुनरुक्ति प्राणसंकट के कारण शोभनीय है जिसका निर्वचन सुमन्त्र के संदेश में स्फुट होगा।

संगति : पूर्वपक्ष को सुनकर सीताजी अनुष्ठानतः उत्तर दे रही हैं।

चौ० : सिय मनु रामचरन अनुरागा। घरु न सुगमु बनु बिषमु न लागा ॥ ५ ॥

भावार्थ : श्रीराम के चरणों के प्रेम में लगो सीताजी के मनस् को घर में रहना सुसाध्य नहीं प्रतीत होता और वन में रहना कठिन नहीं लगता।

सीताजी का उत्तर

शा० व्या० : दो० ६४ से ६६ तक सीताजी ने अपने पति-अनुराग का स्वरूप प्रकट किया है जिसमें 'घर न सुगम' की उपपत्ति दिखायी है। दो० ६६ से ६७ तक 'बन विषमु न लागा' का कारण स्मर्तव्य है। 'राम चरन अनुरागा' से पातिव्रत्य के प्रथम कल्प (पतिसान्निध्य में रहना) में सीताजी के पतिप्रेम की निष्ठा एवं 'लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि बिपिन गुन दोष' से प्रभु के प्रबोध के फलस्वरूप सीताजी के प्रतिज्ञात अर्थ में सत्य, श्रद्धा एवं ऋत की स्थिरता दिखायी है।

संगति : नीति के अन्तर्गत प्रधान कल्प सर्वथा अनुष्ठेय न होने की स्थिति में धर्ममर्यादा के अंकुश में गुरुसम्मत अनुकल्प अनुष्ठेय होता है। इस नीति को समझकर राजा ने सीताजी को उपरोक्त शिक्षा दी है। उक्त नीति के अनुमोदन में कवि गुरुपत्नि की शिक्षा का उल्लेख कर रहे हैं।

अथवा शास्त्रदृष्टि से कौसल्याजी द्वारा सीताजी का वनवास अनुमत होने पर भी राजकीय विधान या राजा के आयुक्तों के द्वारा पतिव्रता के वनवास को अनुमत करना राजशास्त्रसम्मत नहीं है जैसा कि सती का सहगमन। अतः राजा और सचिवनारियाँ सीताजी को वनवास से विरत करने की शिक्षा दे रही हैं।

चौ० : ओरउ सबहि सीय समुझाई। कहि कहि बिपिन बिपति अधिकाई ॥ ६ ॥
सचिवनारि गुरनारि सयानी। सहित सनेह कहहिं मृदु बानी ॥ ७ ॥
तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह बनवासू। करहु जो कहहिं ससुर गुर सासू ॥ ८ ॥

भावार्थ : अन्यान्यसब गुरुपत्नी आदि जनों ने सीताजी को समझाते हुए बारंबार वन के दुःखों की बहुलता को बताया। मन्त्रिपत्नी, गुरुपत्नी तथा अन्य बुद्धिमती स्त्रियों ने भी बड़े स्नेह से

मधुर वाणी में कहा कि तुमको तो वनवास नहीं दिया गया है। अतः सासु-ससुरजी गुरुजन आदि जो कहते हैं वह करो।

पुनरुक्तिपरिहार

शा० व्या० : उक्त अनुकल्प का विषय कौसल्याजी व श्रीराम के साथ हुए सम्वाद में वर्णित हो चुका है, वह एकान्तिक था। राजकीय व्यवहार में उसकी प्रसिद्धि कराने के उद्देश्य से यहाँ निरुपण होना पुनरुक्ति दोष नहीं है। चौ० ३ दो० ४९ में 'विप्रवधू कुलमान्य जठेरी' द्वारा कैकेयी जी को शिक्षा देने का उल्लेख है। यहाँ उक्त महिलाओं से इतर 'सचिव नारि गुरनारि सयानी' द्वारा सीताजी को शिक्षा देने का क्रम दिखाया जा रहा है।

गुरुपत्नी आदि के परामर्श

'तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह बनवासू' कहने का तात्पर्य है कि श्रीराम का वनगमन पिता श्रीके आदेशपालनात्मक धर्म से आबद्ध है, 'करहु जो कहहिं ससुर गुरु सासू' से तदनुकूल विधिवचन की विधेयता भी अनुकल्प में हैं।[1] 'विपिन विपति अधिकाई' से बलवदनिष्टानुबधित्व को बतलाते हुए उनका कहना है कि सीताजी के लिए वनवास कृतिसाध्यता नहीं, अथवा वनवास की कृतिसाध्यता, बलवदनिष्टाननुबंन्धिता एवं हित साधनता में विधिवचन का जो बल श्रीराम को प्राप्त है वैसा वचनप्रयाण का पार्ष्णिक बल सीताजी के लिए उद्दिष्ट नहीं कहा जा सकता। यदि बनवास में 'बिपिन विपति अधिकाई' दृष्ट होने पर पश्चात्ताप हुआ तो सीताजी का वनवास राग प्रयुक्त मिथ्याज्ञान कहा जायगा। अतः सीताजी को पूर्वापर विचार द्वारा सत्परामर्श कराना अपना कर्तव्य समझकर गुरु स्थानापन्ना सयानी महिलाओं ने शिक्षा दी है। अतः उनकी शिक्षा व्यर्थ नहीं कही जा सकती। ध्यातव्य है कि सीताजी ने इसका समाधान सासुजी के सामने प्रकट किया है तथा आगे गंगाजी के अपौरुषेय वचन-प्रामाण्य से कृतिसाध्यता आदि सिद्ध किया है।

वनवास की सफलता में पार्ष्णिक बल

स्मरणीय है कि पतिप्रेम की पूर्ण निष्ठा में सीताजी को अपने पातिव्रत्यधर्म, पति का शौर्य एवं अनन्य सेवक लक्ष्मण जी के सेवकत्व का पार्ष्णिक वल प्राप्त है। भागवत धर्म की विधेयता की सर्वोत्कृष्टता दिखाने के लिए प्रभु ने सीताजी व लक्ष्मणजी के वनवासकृत्य में धर्मशास्त्र से अपेक्षित विधिवचन की प्रवर्तना विषयता की अप्राप्ति की न्यूनता का परिहार 'परिहरि सोचु चलहु बन साथा' तथा 'आवहु बेगि चलहु बन भाई' के द्वारा अपने आदेश के बल पर किया है। यह भी कहना असंगत नहीं होगा कि विधि वचन की मर्यादा को समझकर विवेकवती कौसल्याजी ने सीताजी के वनगमन को 'अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई' से धर्म्य बनाने का भी उपक्रम किया है। लक्ष्मणजी के लिए माताजी का विधिवचन 'मन क्रम वचन करेहु सेवकाई। तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू' के रूप में प्राप्त है ही।

संगति : भरतजी के उद्गार 'तदपि परितोष होत न जीके' के अनुरूप गुरुपत्नियों की उक्ति पर सीताजी के मनोभाव को कवि उत्तरपक्ष में व्यक्त कर रहे हैं।

दो० : सिख सीतलि हित मधुर मृदु सुनि सीतहि न सोहानि।
सरदचंदचंदिनि लगत जनु चकई अकुलानि॥ ७८॥

---

१. देवियों को दुर्गम भयस्थानों में जाने के लिए शास्त्रों का निषेध है। उसी को यहाँ समझाया गया है।

भावार्थ : गुरु पत्नियों की शीतल, हितकारी, मधुर और मृदु शिक्षा को सुनकर सीताजी के मनस् को अच्छा नहीं लगा मानो चकवी शरदचंद्र की चाँदनी के लगते ही व्याकुला हो गयी हो।

शीतलहित मधुरमृदु

शा० या० : गुरुपत्नी आदि बुद्धिमती महिलाओं ने धर्मशास्त्र के प्रायश्चितविधान में प्रधानकल्प एवं अनुकल्प के औचित्य के अनुसार सीताजी को शिक्षा दी है।[1] शारीरिक सुकुमारता के कारण पातिव्रत्य के प्रथम कल्प में सीताजी का अभिलषित पतिसान्निध्यात्मक वनवास कृत्यसाध्य प्रतीत होने से कवि उस शिक्षा को 'सीतलहित मधुर मृदु' कह रहे हैं। उसकी अवास्तविकता को उक्त गुणों से युक्त 'सरद चंद चंदिनि' की उपमा से स्पष्ट कर रहे हैं।

राजकीय विधान में सतीगमन पर व्यवस्था

पति के शरीर के साथ सती का सहगमन धर्मशास्त्र से अनुज्ञात होने पर भी लोकव्यवहार में गृहस्वामी कुलमान्य वृद्धों की ओर से तथा राजकीय व्यवहार में शासन की ओर से सती को समझा-बुझाकर रोकने की मर्यादा है। यदि पतिवियोग की असहिष्णुता एवं पतिप्रेम की परतन्त्रता में विधवा पति शरीर के साथ सती होने में कृतसंकल्पा ही है तो धर्मशास्त्र का अपर्युक्त निर्देश निर्णायक है। मन्थाद्युपदिष्ट "परिपालनोपायः न्यायः" के अनुसार यदि राजा सतीगमन को रोकने में उपर्युक्त उपाय नहीं करता तो पालनधर्म के विरुद्ध राजा की नृशंसता कही जायगी।

पति के वनगमन में सीताजी के अनुगमन को रोकने में राजा तथा संभ्रान्त महिलाओं का प्रयास उपर्युक्त न्यायपद्धति से संगत है, इसको प्रकाशित करने के लिए कवि ने सीताशिक्षा विषय की पुनरुक्ति की है।

उत्तर पक्ष से अनुभावों से पूर्व संकल्प का प्रकाशन

'जनु चकई अकुलानि' का भाव है कि गुरुपत्नियों की शिक्षा को सुनकर सीताजी ने पतिप्रेम का स्वाभाविक अनुभाव प्रकट करके मौनरूप में उत्तर दे दिया कि वह पति के साथ वन जाने में दृढ़संकल्पा हैं।

संगति : सरस्वती की माया से रागाधीना हुई कैकेयी नारियों की शिक्षा से क्षुब्धा हो गयी।

चौ० : सोय सकुच बस उतरु न देई। सो सुनि तमकि उठी कंकेई ॥ १ ॥

भावार्थ : सीताजी ने तो संकोचवश उत्तर नहीं दिया, पर कैकेयीजी उक्त महिलाओं की बात सुनकर आवेश में उठी।

गुरुपत्नियों के उत्तर में सीताजी के संकोच का कारण

उपर्युक्त 'तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह वनवासू' की व्याख्या में कहे विधिवचन की अनुपलब्धि की न्यूनता का परिहार प्रभु के आदेश 'परिहरि सोचु चलहु बन साथा' से संगत व सासू कौसल्याजी की अनुमति से हो चुका है। अतः समुचित उत्तर स्वयं देने में सीताजी को संकोच हो रहा है क्योंकि उसका उत्तरदायित्व प्रभु पर है, वे उपस्थित हैं। स्मरण रखना है कि सीताजी के उक्त निर्णय को प्रमाणित करने के लिए दो० १०३ में गंगाजी की अपौरुषेय वाणी वचनप्रमाण के रूप में सहायक होगी।

---

१. उदाहरणार्थ ब्रह्महत्या के निरासार्थ द्वादशाब्दिक प्रायश्चित विहित है। पर उक्त दीर्घकालिक असमर्थता होने पर अनुकल्परूप में गोदान बताया गया है।

कैकेयी के 'तमकि उठि' का भाव

प्रथम वरदान से भरतराज्य की स्वीकृति हो चुकी है। द्वितीयवर-रामवनवासनिमित्त से सीताजी के अनुगमन को लेकर गुरुपत्नियों द्वारा अड़चन उपस्थापित करना भक्ति की दृष्टि में राज्योत्सव से वंचित होना है। क्योंकि राज्योत्सव के प्रति पूर्वनिर्देशानुसार कैकेयी की मनोरथपूर्ति का प्रागभाव प्रतिबन्धक है। अतः मायाप्रेरित कैकेयी को असह्य हो रहा है। राजनीतिक दृष्टिकोण से कैकेयी को भय है कि यदि विरोधी मत व्यापक तथा उग्र हो जायगा तो संभव है कि श्रीराम के वनगमन में अपेक्षाकृत अति विलम्ब हो सकता है तब तक राजाश्री श्रीराम को रोकने का दूसरा उपाय सोचकर कहीं भरतजी को बुला लें तो राजा की उक्ति 'चहत न भरत भूपतिहि भोरे। बिधिबस कुमति बसी जिय तोरे' तथा 'विप्रवधू कुलमान्य जठेरी' की निर्णायक उक्ति 'राजु कि भूँजब भरत पुर' के अनुसार रामवनगमन बाधित हो जायगा मनोरथपूर्ति न होगी। जब कि सीताजी श्रीराम के साथ वन जाने में स्वयं प्रेरिता हैं, तथा दो० ४९ में विप्रवधुओं की उक्ति ('सीय कि पिय संगु परिहरिहि लखनु कि रहहहिं धाम') से दोनों का वनगमन पूर्वकल्पित है तो पुनः उसका प्रश्न उठाकर विलम्ब कराना राजकीय व्यवहार में बाधा करना है।

आवेश में अविवेक

खेद है कि श्रीराम का वनगमन कैकेयी की मनोरथपूर्तिप्रागभावध्वंसकार्यकारी है। परिणामतः उक्त प्रागभावरूप प्रतिबन्धक निरस्त होगा। राजाश्री की अन्तिम घोषणा सफल होगी। राज्य की अस्वीकृति में भरतजी सुखी होंगे, इस मर्म को रागात्मक आवेश में न समझकर कैकेयीजी अपने पुत्र के राज्यस्वामित्व की पूर्ति पर आसक्ता हो 'तमकि उठी' है।

संगति : आवेशात्मक मूढ़ता में तापसवेषसामग्रियों को श्रीराम के सामने कैकेयीजी रख रही हैं।

चौ० : मुनिपट-भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥ २॥

भावार्थ : कैकेयीजी ने श्रीराम के आगे मुनि के योग्य वस्त्राभूषण व पात्र को लाकर रखा और मृदु वाणी में कहा।

मुनिवेष

शा० व्या० : ईप्सितद्रव्यसंपन्नः (नीतिसार ४) के अनुसार राजाश्री के कोशागार में सब प्रकार की सामग्री की पूर्णता सदा रहती है। अतः याचित वर (तापस वेष विसेषि उदासी) के अनुरूप कैकेयीजी ने कोशागार से 'मुनिपट भूषन भाजन' को लाकर रखा है। इससे यह समझना चाहिए कि उक्त सामग्रियों को मँगाने की विशेष व्यवस्था अलग से नहीं की गयी है।

संगति : पिताश्री से कण्ठतः आदेश सुनने का विचार त्यागने को कैकेयीजी कह रही है।

चौ० : नृपहि प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा!। सील सनेह न छाड़िहि भीरा॥ ३॥
सुकृत सुजसु परलोकु नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ॥ ४॥

भावार्थ : हे रघुबीर ! तुम राजा श्री को प्राण से भी अधिक प्यारे हो। विपत्ति के समय में भी

राजा श्री अपने शील स्नेह को नहीं छोड़ेंगे। चाहे अपने पुण्य, सुयशस् एवं परलोक का नाश हो जाय। वह तुम से वन जाने को कभी नहीं कहेंगे।

मृदुवाणी का तात्पर्य

शा० व्या० : दो० ४१ में श्रीराम माता कैकेयीजी के माध्यम से 'पितु आयसु' का अनुमोदन कर चुके हैं। राजमौन से तत्कल्पित वचन को ध्यान में रखकर कैकेयीजी आगे जो कहेंगी (श्रीरामको पिताश्री के कण्ठतः आदेश की प्रतीक्षा नहीं करनी है)। उस तात्पर्य को युक्तिपूर्वक समझकर श्रीराम प्रसन्न होंगे, यही कैकेयीजी की 'मृदुबाणी' का सार्थक्य है।

अथवा मृदुवाणी का यह गौरव है कि राजाश्री का अव्यक्त मनोभाव[1] सती कैकेयीजी की वाणी में प्रकट होगा।

भीरा का भाव

वरयाचना के पुष्टीकरण में कैकेयीजी ने राजासे कहा था (तजहु सत्य जग अपजसु लेहू। छाड़हु बचन कि धीरजु धरहू) उसमें 'राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू' को कारण बताते हुए, 'भूप उर सोकू' संकट परेउ नरेसु, की स्थिति को 'भीरा' से व्यक्त किया है।

'रघुबीरा' संबोधन से इस समय कैकेयीजी रघुवंश की विमलताको रखने में उत्साहित कर रही हैं।

संगति : राजा वरदान की प्रतिज्ञाभंग के भय से अपनी सत्यसंधता (शील) को नहीं छोड़ना चाहते और वरदान की पूर्ति में तुम्हारा स्नेह भी नहीं छोड़ सकते। संकट की ऐसी स्थिति में वह वन जाने के लिए कैसे कहेंगे? इसलिए कैकेयीजी श्रीराम को ही निर्णय करने के लिए कह रही है।

चौ० : अस बिचारि सोइ करहु जो भावा। राम जननिसिख सुनि सुखु पावा॥ ५॥

भावार्थ : ऐसा विचार करके तुमको जो अच्छा लगे वही करो। श्रीराम ने माताजी की शिक्षा को सुनकर सुख माना।

कार्यनिर्णय का भार श्रीराम पर

शा० व्या० : 'अस बिचारि' से कैकेयी पूर्वापरसंवाद का विचार करके कार्य करने को कह रही है। पूर्व अवसर पर पिताश्री के न बोलने का कारण पूछने पर कैकेयीजी ने श्रीराम से कहा था 'तुम्ह पितु मातु वचनरत अहहू। तुम्हसन सुअन सुकृत जेहि दीन्हें। उचित न तासु निरादर कीन्हें'—जिसको सुनकर 'रामहि मातु बचन सब भाए' से कैकेयीजी श्रीरामकी रुचि जान चुकी हैं। अतः 'सोइ करहु जो भावा' में 'सोइ' से श्रीरामको अपने वचन 'सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी'' का संकेत करते हुए उसका कर्तृत्व श्रीराम की इच्छा पर छोड़ रही हैं।

---

१. बचन मोर तजि रहहिं घर परिहरि सील-सनेहु। अजसु होउ जग सुजसु नसाऊ। नरक परौं बरु सुरपुरु जाऊँ। सब दुख दुसह सहावहु मोही। लोचनओट रामु जनि होंही। [दो० ४४]।

श्रीराम की प्रसन्नता पितृवचनार्थपालन में

धर्मशास्त्र के वचन 'जीवतोर्वाक्यकरणात्' से पुत्रत्वको की शिक्षा देने के लिए प्रभु ने 'तव तनय होब मैं आई' के अनुसार दशरथसुत के रूप में अवतार लिया है। अतः पिताश्री के वचन-प्रमाण की रक्षा में 'जननिसिख' को सुनकर प्रभु प्रसन्न हैं। 'सुख पावा' में प्रभु का गूढ़ भाव यह है कि माता कैकेयी जी की शिक्षा अवतारकार्य के कार्यान्वियन में सहायक हो रही है।

सुखु पावा का फल

'राम जननिसिख सुनि सुख पावा' का फल है कि कैकेयी माताजी द्वारा अर्पित मुनिपट आदि को सार्थक करते हुए प्रभु चौ० ३-४ दो० ९४ में मुनिव्रत लेकर माताजो की शिक्षाको अवतार कार्य में स्वीकृत कर लेंगे। यही 'सुख पावा' से प्रभु की प्रसन्नता व्यक्त होगी।

संगति : कैकेयीजी की वाणी राजाश्री के लिए शल्य का कार्य कर रही है।

चौ० : भूपहि बचन बानसम लागे। करहिं न प्रानपयान अभागे ॥ ६ ॥
लोग विकल मुरछित नरनाहू। काह करिअ ? कछु सूझ न काहू ॥ ७ ॥

भावार्थ : कैकेयीजी के वचन को सुनकर राजाश्री को ऐसी पीड़ा हुई मानो बाण का घाव लगा हो। राजाश्री सोच रहे हैं कि मेरे प्राण कैसे अभागे हैं कि इस समय भी चले नहीं जाते ? इस प्रकार सोचते राजाश्री मूर्छित हो गये। वहाँ उपस्थित लोग व्याकुल हो गये। किसी को नहीं सूझ रहा है कि क्या किया जाय ?

राजा श्री का प्राणत्याग पर बल

शा० व्या० : 'लखी राम रुख रहत न जाने' का बोध होने पर भी 'धर्मधुरंधर धीर सयाने' राजा जीवभाव में जन्मान्तरीय सुतविषयक संस्कार की उद्‌बुद्धता में कैकेयीजो के धर्मसंबद्ध वचन से पीड़ित हो प्राण त्यागने पर उतारू हैं। अपना वश न चलने से मूर्छावस्थाको प्राप्त हो गये। मन्त्री गुरुनारी आदि विचारवान् लोग वहाँ उपस्थित थे, वे भी व्याकुल होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये।

संगति : कैकेयी जी के वचनप्रभाव से जो स्थिति उत्पन्न हुई वह माताजी की शिक्षा को कार्यान्वित करने में प्रभु के अनुकूल सिद्ध हो रही है।

चौ० : रामु तुरत मुनिवेष बनाई। चले जनक-जननिहि सिरु नाई ॥ ८ ॥

भावार्थ : इतने में श्रीराम तत्काल मुनि का वेष बनाकर माताजी व पिताश्री को प्रणाम करके चल दिये।

वनयात्रा के अनुकूल स्थिति

शा० व्या० : पिताश्री स्नेहवश छोड़ेंगे नहीं, वहाँ उपस्थित संभ्रांतजन रोकने का उपाय करेंगे तो मातृपितृवचनपालनात्मक धर्म में व्यवधान होगा, इसलिए प्रभु के 'सुख पावा' संकल्प के अनुकूल

परिस्थिति बन गयी जैसा आगे तमसातीर पर रात्रिनिवास में "लोग सोक श्रमबस गए सोई। कछुक देवमाया मति गोई' की स्थिति प्रभु को अयोध्यावासियों का साथ छोड़कर आगे जाने में अनुकूल होगी।

मुनिवेषधारण

'मुनिवेष बनाई' से समझना है कि श्रीराम ने राजकीय वेष का त्याग करके कैकेयीजी द्वारा समर्पित मुनिपट भूषण को धारण किया। ध्यातव्य है कि मुनिवेष धारण करने में स्वामित्वसूचक नामांकित मुद्रा एवं धनुर्बाण का त्याग नहीं है क्योंकि वह क्षत्रियत्व का अभिन्न चिन्ह है जैसा 'तापस वेष विसेषि उदासी' की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। 'जननी-जनक सिरु नाई' में समयोचित विशेषता यह दिखानी है कि प्रभु कैकेयी माताजी की मनोरथपूर्ति में पिताश्री के वचन प्रमाण की सत्यता को सिद्ध करने के लिए जा रहे हैं।

संगति : कैकेयीजी ने 'सोइ करहु जो भावा' से प्रभु की स्वतन्त्र इच्छा को नियामक माना है। चौ० १ से ५ दो० १५२ बा० का० में दशरथ सुत के रूप में 'इच्छामय नरवेष सँवारे। अंसन्ह सहित करिहउँ चरित' आदि से जो अवतारकार्य ध्वनित किया था, उसको 'सजि बन साजु समाजु सब वनिता बंधु समेत' से संगत दिखाते हुए कवि वर्णन कर रहे हैं।

दो० : सजि बन-साजुसमाजु सबु बनिता-बंधुसमेत।
बंदि बिप्र-गुरचरन प्रभु चले करि सबहि अचेत ॥ ७९ ॥

भावार्थ : वन के योग्य सब साज समाज से सजकर पत्नी और भाई के साथ प्रभु श्रीराम ब्राह्मणों एवं गुरुजनों के चरणों में नमस्कार करके चले। उस समय सब लोग अचेतनावस्था में रहे।

'करि सबहि अचेत' का भाव

शा० व्या : 'मुखं व्यादाय स्वपिति' में व्यक्त न्याय के अनुसार जिस प्रकार शयनकर्ता का मुख सोने के बाद ही खुलता है, उसी प्रकार कहा जायगा कि 'प्रभु चले' के अनन्तर सबकी अचेतन अवस्था (मूर्छा) हो गयी, न कि प्रभु सबको अचेतन करके चले। भाव यह कि श्रीराम को रोकने में किंकर्तव्यविमूढ़ता से राजा के मूर्छित होते ही सब लोग घबड़ा कर श्रीराम को जाते देख व्याकुल हुए उसी अवस्था को प्राप्त हो गये।

प्रश्न हो सकता है कि श्रीसीतारामजी के लिए वन जाने से रोकने के उपाय का जैसा वर्णन है वैसा लक्ष्मणजी के लिए क्यों नहीं है ?

इसके उत्तर में कहना है कि श्री सीतारामजी की सुरक्षा में लक्ष्मणजी का साथ रहना सबको इष्ट है, श्रीराम के रोकने में लक्ष्मणजी का रुकना तो संभावित है ही।

संगति : राजाश्री के महल से निकलकर प्रभु अग्निहोत्र शाला में विराजमान गुरु वसिष्ठजी के द्वार की ओर जा रहे हैं।[1]

चौ० : निकसि वसिष्ठद्वार भए ठाढ़े। देखे लोग विरहदव दाढ़े ॥ १ ॥

भावार्थ : महल से निकलकर प्रभु गुरु वसिष्ठजी के दरवाजे पर खड़े हो गये। उन्होंने देखा कि

---

१. अरुन्धती जी कैकेयी जी के महल में हैं तो गुरुजी का अग्निहोत्रशाला में रहना अस्वाभाविक नहीं है।

सब लोग विरहजन्य ताप से संतप्त हैं। 'लोग' से कौन कौन विवक्षित हैं, उनका उल्लेख आगे होगा।

गुरुजी के द्वार पर रुकने का प्रयोजन

शा० व्या० : वनगमन के लिए उद्यत सपरिकर प्रभुको देखकर विरह की अनुभूति में संतप्त लोग गुरुजी के अग्निहोत्रशाला द्वार पर खड़े हैं। प्रभु के वहाँ रुकने का प्रयोजन अपने आश्रित द्विजों, सेवकवर्ग आदि की पालनव्यवस्था गुरुजी के माध्यम से करनी है। लोगों के वहाँ खड़े होने का कारण गुरुजी द्वारा कोई अवध में रहने का उपाय करने की आशा है अथवा वे जानते हैं कि प्रभु गुरुजी को नमस्कार किये बिना आगे नहीं जायँगे।

संगति : दो० ४१ में 'मुनिगनमिलन बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर' में कहे 'सब भाँतिहित' के अतर्गत प्रभु के पालनकर्म को कवि प्रदर्शित कर रहे हैं।

चौ० : कहि प्रियबचन सकल समुझाये। बिप्रवृन्द रघुबीर बोलाए ॥ २ ॥
गुर सन कहि बरसासन दीन्हे। आदर दान बिनयबस कीन्हे ॥ ३ ॥
जाचक दान-मानसंतोषे। मीति पुनीत प्रेमपरितोषे ॥ ४ ॥

भावार्थ : प्रिय बचन कहकर प्रभु ने सबको समझाया। फिर ब्राह्मणों की मंडली को रघुबीर श्रीराम ने बुला लिया। गुरुजी से कहकर उनके वर्षाशन की[1] व्यवस्था और विनयपूर्वक उनको आदर करके दान दिया। याचकों को दान-मान से संतुष्ट दिया। मित्रों को पवित्र (निष्कपट) प्रेम से परितोष कराया।

वर्षाशनव्यवस्था में मुद्रांकन

शा० व्या : अर्थशास्त्र के व्यवहाराध्याय के अनुसार राजकीय व्यवस्था को मुद्रांकित करने का विधान है। अतः श्रीराम ने अपनी नामांकित मुद्रिका का उपयोग वर्षाशन की व्यवस्था में किया होगा। इतिहास से प्रसिद्ध है कि राजा दुष्यन्त ने ऐसी ही नामांकित-मुद्रिका शकुन्तला को दी थी। किष्किन्धा काण्ड में प्रभु के द्वारा उक्त मुद्रिका देकर हनुमान् जी को लंका भेजने का वर्णन मननीय है।

प्रजासंग्रह व परितोष

नीतिसार में प्रजासंग्रहोपाय के अन्तर्गत दान का महत्व है। विप्रों, विद्वानों को आदरपूर्वक विनयान्वित होकर दान देना उनकी प्रसन्नता का साधक है।

---

१. आचार्य कौटिल्य ने राजा के निकट रहने वाले पुत्र, पत्नी, ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय वर्ग को वृत्ति के रूप में वर्षाशन देने को व्यवस्था बतायी है। उसीको श्रीराम गुरुजी के माध्यम से (वर्तमान ट्रस्टी प्रथा के समान) दे रहे हैं। ज्ञातव्य है कि अर्थशास्त्र में राजकुमारों आदि को शासन की ओर से २४०० पण वार्षिक वृत्ति देने का विधान है। दीर्घकालिक वनवास की अवधि में यदि उस वृत्ति का वार्षिक उपयोग नहीं होगा तो अर्थशास्त्र के नियम के अनुसार नियतकाल में व्यय न होने से वह निधि राजकोष कोश में जमा हो जायगी।

मनु ने प्रायश्चित्ताध्याय के अन्तर्गत याचको को दान भी विहित माना है। अतः दान के अवसर पर याचकों का उल्लेख रामचरितमानस में यत्रतत्र किया गया है।

परितोष

'कहि प्रिय वचन' की सार्थकता ये "प्रियाणि च भाषन्ते प्रयच्छन्ति च सत्कृतं। श्रीमन्तो वन्द्यचरणाः देवास्ते नरविग्रहाः" की उक्ति से स्पष्ट है तथा नीतिशास्त्र में कहे साम-दान का प्रयोग दिखाया गया है। जैसा राज्याभिषेक की घोषणा को सुनकर आये हुए बालसखाओं को प्रभु ने 'आदरहिं प्रेमु पहिचानी' (चौ० २ दो० २४) से परितुष्ट किया, वे भी 'सील सनेहु निबाहु निहारा' करते हुए चले गये, उसी प्रकार यहाँ भी 'पुनीत प्रेम परितोषे' से मित्रों का परितोष दिखा रहे हैं।

संगति : प्रभु अपने निजी दासीदासवर्ग के रक्षण की व्यवस्था कर रहे हैं।

चौ० : दासी दास बोलाइ बहोरी। गुरहि सौंपि बोले कर जोरी ॥ ५ ॥
सबकै सार-सँभार गोसाईं!। करबि जनक-जननी की नाईं ॥ ६ ॥

भावार्थ : फिर प्रभु ने अपने दासी-दासों को बुलाया और उनको गुरुजनों के हाथ सौंपते हुए अंजलि बांधकर प्रार्थना की कि वे उन सबका रक्षण माताजी-पिताजी की तरह करते रहें।

दास का स्वरूप व मुनि मे जनकसाधर्म्य

शा० व्या : उपर्युक्त वर्षाशन व्यवस्था के अन्तर्गत गुरुजी द्वारा होने वाला यह दासीदास-वर्ग का 'सार सँभार' कार्य इसलिए सौपा गया है कि दासीदास ऐसा सेवक वर्ग है जो आजीवन अपने स्वामी की सेवा छोड़कर दूसरा कार्य करने की क्षमता नहीं रखता। अतः स्वामी के अतिरिक्त उनका कोई दूसरा अभिभावक नहीं है। दासी दासों के शोषण की व्यावृत्ति दिखाने के लिए उनके रक्षण में मुनि में साधर्म्य 'जनक जननी की नाईं' से स्पष्ट किया गया है।

'उक्त व्यवस्था की सुचरितार्थता में जितेन्द्रियता की प्रधानता को समझते हुए 'गोसाईं' संबोधन किया है। परिवार को सन्तप्त देखकर यह कार्य गुरुजी के प्रतिभूत्व में श्री रामजी ने सौंपा है।

संगति : उपरोक्त चौ० २ में 'कह प्रिय वचन समुझाए' का भाष्य 'मृदु बानी' से स्फुट हो रहा है।

चौ० : बारहिं बार जोरि जुगपानी। कहत रामु सबसन मृदुबानी ॥ ७ ॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि ते रहैं भुआल सुखारी ॥ ८ ॥

भावार्थ : बारंबार दोनों हाथ जोड़कर श्रीराम सबसे मृदु वाणी कह रहे हैं कि मेरा सब प्रकार से हित चाहनेवाला वही है जो राजाश्री को सुखी रहने का उपाय करता रहे।

'सकल समुझाए' का भाव

शा० व्या० : चौ० २ में कहे 'सकल समुझाए' के अन्तर्गत विप्रवृन्द, याचक, दासी दास आदि हैं जिनका संग्रह यहाँ 'सबसन' के अन्तर्गत किया गया है। सबकी वृत्ति एवं रक्षण की व्यवस्था में गुरुजी को सौंपने का उद्देश्य अपना निजी स्वार्थ नहीं है, बल्कि पिताश्री को सुखी रखने में है, इसको प्रभु ने 'जेहि ते रहैं भुआल सुखारी' से स्पष्ट किया है।

दो० : मातु सकल मोरे बिरहँ जेहि न होंहि दुखदीन ।
सोइ उपाउ तुम्ह करेहु सब पुरजन ! परम प्रवीन ! ।। ८० ।।

भावार्थ : अयोध्यावासियों ! आप सबकी परम चतुरता इसी में है कि आप लोग वही उपाय करें जिससे सब माताएँ मेरे विरह से दुःखिनी दीना न रहें ।

माताओं व पिताश्री का रक्षणोपाय

शा० व्या० : विरहदुःख कहने का तात्पर्य है कि चौ० ४ दो० १५२ में सुमन्त्र द्वारा कहे आदेश ('पालेहु प्रजहिं करम मन बानी । सेएहु मातु सकल सम जानी') का पालन करने में भरतजी के प्रति वे जनानुराग को बनाये रखें । अयोध्या में रहकर जिस प्रकार प्रभु स्वयं माताजी व पिताश्री की सेवा में सनस्की अनुकूलता बनाये रखते थे उसी प्रकार माताओं की सेवा सुव्यवस्था को स्थिर रखने का यह आयोजन है । इसकी एकवाक्यता दो० १७६ चौ० ४ से द्रष्टव्य है ।

संगति : इस प्रकार सबकी पालनव्यवस्था को बनाकर प्रभु गुरुजी की आज्ञा ले रहे हैं ।

चौ० : एहि बिधि राम सबहिं समुझावा । गुरपदपदुम हरषि सिरु नावा ।। १ ।।

भावार्थ : इस प्रकार श्रीराम ने सबको समझाया । फिर गुरुजी के चरणकमलों में नमस्कार किया ।

एहि विधि

शा० व्या० : गुरुजी प्रसन्न हैं तो देवतान्तर भी पूजनमात्र में प्रसन्न हो दैवानुकूलता में सहायक होते ही हैं । अभी वर्षाशन आदि की यथोचित व्यवस्था करने से गुरुजी प्रसन्न हैं, यह देखकर उक्त व्याप्ति को कार्यान्वित करते हुए श्री रघुनाथजी गणेश आदि को नमस्कार आगे करेंगे ।

संगति : गुरुजी की आज्ञा से प्रवर्तित विधि में देवानुकूलता प्राप्ति के लिए श्रीराम उन देवों का स्मरण कर रहें हैं । जिनकी राजाश्री ने पूर्वदिन गणेश आदि की स्थापना पूजा की है । उनको वन्दन कर वन के लिए जा रहे हैं ।

चौ० : गनपति गौरि गिरीसु मनाई । चले असीस पाइ रघुराई ।। २ ।।

भावार्थ : गणेश जी पार्वतीजी और शिवजी का स्मरण करके रघुनाथ जी उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हुए चले ।

'गनपति गौरि गिरीसु मनाई' का भाव

प्रत्येक शुभकार्य में गणेशजी की प्रथमपूज्यता शास्त्रप्रसिद्ध है । शिवजी रघुकुल के उपास्य हैं । शास्त्रप्रामाण्य के अनुसार अर्चावतार के रूप में सशक्ति शिवजी (भवानी के साथ) वहाँ विराजमान हैं । अतः उपास्य का स्मरण करके यात्रारम्भ करना शुभदायक है ।

अर्चाभेद

यदि पूछा जाय कि पार्वती को रामकथा सुनाने वाले शिवजी क्या अपने को ही 'गिरीसु' एवं पार्वतीजी को 'गौरी' कह रहे हैं ? इसके समाधान में कहना है शिवतत्व एक ही है । उपाधिभेद से अर्चावतार के रूप में वह पृथक्-पृथक् है, उस दृष्टि से शिवजी गिरीसु कह रहे हैं ।

देवताप्रत्यक्ष

कलि-अतिरिक्त काल में देवता का प्रत्यक्ष होना विष्णुधर्मोत्तर पुराण से मान्य है। अतः त्रेतायुग में पिताश्री के द्वारा आवाहित 'गनपति गौरि गिरीसु' के स्मरण से अर्चावतार रूप में उक्त उपास्य देवों ने प्रत्यक्ष होकर आशीर्वाद देना पुराणसम्मत है, इसलिए 'असीस पाइ' कहा गया है, इसमें आश्चर्य नहीं मनना है। पिताश्री के वचन प्रमाण की सिद्धि में 'श्रद्धाविश्वास रूपिणौ' के अनुसार गौरीनाथ शिवजी का स्मरण वनवास-कार्य की सफलता में सहायक रहेगा।

संगति : श्रीराम के चलने में दृष्ट-अदृष्ट प्रतिक्रिया को कवि बता रहे हैं।

चौ० : राम चलत अति भयउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर-आरतनादू ॥ ३ ॥
कुसगुन लंक अवध अतिसोकू। हरष-बिषादबिबस सुरलोकू ॥ ४ ॥

भावार्थ : श्रीराम के चलते ही अत्यन्त विषाद फैल गया। अयोध्यापुरी में ऐसा आर्तनाद हुआ कि सुना नहीं जा सकता। लंका में अपशकुन होने लगा। अवध में अत्यन्त शोक छा गया। देवलोक हर्ष व विषाद के वश हो गया।

सरस्वती के विचार का ध्वनन

शा० व्या० : दो० १२ के अन्तर्गत कहे रामराज्यविघ्न में सरस्वती के विचार 'सुनि सुर विनय ठाढि पछितातो। भयउँ सरोजबिपिन हिमराती' का दृष्ट स्वरूप 'जनु ग्रहदसा दुसह दुखदाई' के रूप में 'अति भयउ विषादू' 'पुर आरत नादू' की स्थिति का वर्णन है जो प्रत्यक्ष हो रहा है। 'आगिल काजु बिचारि बहोरी' से सरस्वती ने जो अप्रत्यक्ष फल का संकेत किया था, उसको 'कुसगुन लंक' से ध्वनित कर रहे हैं।

देवलोक का हर्ष-विषाद

'सुरपति बसइ बाँहबल जाके' के अनुसार देवराज राजा दशरथ की छत्रछाया में अपने को सुरक्षित मानते थे। राजाश्री की प्रस्तुत हीन-दीन अवस्था को देखकर देवलोक का 'विषादविबस' होना कहा गया है। दो० ११ में कहे 'रामु जाहिं बन राजु तजि होइ सकल सुरकाजु' का अनुमान देवों को श्रीराम के प्रस्थान से हो रहा है। अतः देविहतकार्य संपत्त्यर्थं रामवनगमन देखकर देवताओं को हर्ष है जो 'कुसगुन लंक' में सूचित हो रहा है। अथवा सरस्वती से कही उक्ति 'बिसमय हरष रहित रघुराऊ' के अनुसार श्रीराम की प्रकट निर्विकारता को देखकर देवता प्रसन्न हैं।

आर्तनाद में धैर्य

चौ० ६ दो० ५३ में माता कौसल्याजी के समक्ष प्रतिज्ञात 'कानन राजू' में राजनीतिक दृष्टि से सूर्यवंश के सार्वभौम राज्य के अपहृत भूभाग दण्डकारण्य की मुक्ति एवं पिताश्री के वचनप्रमाण के पालन में श्रीराम की धीरता प्रकट है। माता पिता, परिजन पुरजन आदि सबकी आर्त विषाद अवस्था को देखकर भी उससे विचलित न होते हुए श्रीराम कर्तव्यपथ पर अग्रसर हैं।

आर्ति की वृद्धि

'अति भयउ विषादू' में श्रीराम के वनगमन का विषाद पुरजनों के मनस् में दबा था ही, अभी सीताजी व लक्ष्मणजी के साथ चलते देखकर वह विषाद उत्तेजित हो आर्त्तनाद में फूट पड़ा।

संगति : चौ० ६ दो० ७९ का सम्बन्ध जोड़ते हुए सबकी किंकर्तव्यविमूढ़ता में भी (काह करिअ कछु सूझ न काऊ')राजधर्म से संबद्ध राजा की कर्तव्यता को दिखाने के पूर्व दुःख प्रकट कर रहे हैं।

चौ० : गइ मुरुछा तब भूपति जागे। बोलि सुमंत्रु कहन अस लागे॥ ५॥
रामु चले बन प्रान न जाहीं। केहि सुख लागि रहत तन माहीं ?॥ ६॥
एहि ते कवन व्यथा बलवाना ?। जो दुखु पाइ तजहिं तनु प्राना॥ ७॥

भावार्थ : मूर्छा चले जाने पर राजा चेतन हुए तो सुमन्त्र को बुलाकर ऐसा कहने लगे "श्रीराम तो वन के लिए चले जा रहे हैं, पर मेरा प्राण नहीं जा रहा है। मालूम नहीं किस सुख के लिए वह प्राण शरीर में रह रहा है ? इससे अधिक बलवत्तर और क्या दुःख होगा ? जो मिलने पर प्राण शरीर को छोड़ेंगे"

राजविवेक

श्रीमद्भागवत में कहे 'स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः' के अनुसार स्नेही शीलवान् सम्बन्धी के वियोग में सन्तों को अत्यधिक दुःख होता है, उसके समान दुखदायी अन्य कोई दुःख नहीं है। इस भाव से राजा अपने हृदय की पीड़ा प्रकट कर रहे हैं। यही उनका विवेक है। भक्तिसिद्धान्त में प्रेम ही प्रभु का शुद्धस्वरूप है। सात्विक शुचि भाव में राजा ने पुत्रप्रेम के माध्यम से भगवत् प्रेम का प्रकाशन पुत्र-विरह की पीड़ा से किया है।

अन्ध-शाप से शोक का विजय

चौ० ७ में राजा की उक्ति से सहज ध्वनित हो रहा है कि 'एहि ते' का अर्थ पुत्रविरह एवं 'कवन व्यथा बलवाना' से अंधशाप की बलवत्ता प्रकट है। जिसका स्मरण अन्त में राजाश्री प्रकट करेंगे। (चौ० ४-५ दो० १५५)। अतएव विवेक शोक को अभिभूत नहीं कर रहा है।

राजा की पीड़ा

संगति : कैकेयी से कहे 'मारेसि मोहि कुठायँ' के अनुसार परिस्थिति की परवशता को राजा ने व्यक्त किया है। फिर भी राजोचित विचार एवं धैर्य का अवलम्बन करते हुए पालनधर्म के अन्तर्गत राजा अपना कर्तव्य समझकर सुमन्त्र को आदेश दे रहे हैं।

चौ० : पुनि धरि धीर कहइ नरनाहू। लै रथु संग सखा तुम्ह जाहू॥ ८॥

दो० : सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गएँ दिन चारि॥ ८१॥

भावार्थ : फिर राजाश्री ने धैर्य रखकर कहा "हे सखे (सुमन्त्र) तुम रथ लेकर संग में जाओ। दोनों सुन्दर सुकोमल राजकुमारों को तथा सुकुमारी सीताजी को रथ पर चढ़ाकर ले जाओ और वन दिखाकर चार दिन में लौट आओ"।

सुठि सुकुमार भाव

शा० व्या० : 'सुठि सुकुमार' से राजकुमारों की निरपराधिता शीलगुणोपेतसुन्दरता एवं सुकोमलता को दिखाया है। विशेषतया सीताजी की सुकामरता को स्मरण करके पैदल चलने में उनकी अशक्तता को समझकर 'रथ चढ़ाइ' कहा है।

मृगयापरोक्षा

राजशास्त्र में कहे राजकुमाररक्षण प्रकरण के अनुसार नीति का पालन करते हुए राजा श्री 'धरि धीर' में सुमन्त्र को कर्तव्य का निर्देश दे रहे हैं। अर्थात् कहीं मृगयासक्ति में राजकुमार वनगमन में उत्साहित हैं तो वन दिखाकर उनको लौटा लाना है।

न्यूनतापरिहार

श्रीराम एवं सीताजी को रोकने में जैसा उपाय किया गया वैसा लक्ष्मणजी के लिए कोई उल्लेख नहीं है, इस न्यूनता का परिहार' सुठि सुकुमार कुमार दोउ' को लौटाने के राजादेश से ग्रन्थकार स्पष्ट कर रहे हैं।

'देखराइ बनु' व 'दिन चारि' का भाव

प्रश्न : 'देखराइ बनु' में प्रश्न हो सकता है कि कौन सा वन दिखाने को राजा कह रहे हैं?

उत्तर : इसके उत्तर में कहना है कि सुमन्त्र राजाश्री के आशयको समझकर ही रथ को दण्डकारण्य के उद्देश्य से श्रृंगबेरपुर की ओर ले गये होंगे जैसा कि 'काननराजू' से श्री राम के अभीष्ट वनगमन में दण्डकारण्य की राक्षसों से मुक्ति पूर्वव्याख्या में कही गयी है जिसको कवि ने आगे चलकर 'दण्डक बन प्रभु पावन कीन्हा' से स्पष्ट किया है।

'फिरेउ' से तीनों मूर्तियों को लौटाकर लाने अथवा उसके विकल्प में अकेले सुमन्त्र को लौटने का आदेश है। 'गए दिन चारि' कहने का भाव है कि (१) दो० १५० में सुमन्त्रकी उक्ति से स्पष्ट होगा कि 'प्रथम बासु तमसा भयउ दूसर सुरसरि तीर' से वन की सीमा श्रृंगबेरपुर तक पहुँचने में दो दिन लगा, आने में भी दो दिन लगेगा, इसलिए चार दिन की अवधि का निर्धारण किया, (२) कौसल्याजी एवं श्रीराम के द्वारा कहे वन के कष्टों का परिचय चार दिन में हो जायगा तो तीनों के संयम धैर्य की परीक्षा भी हो जायगी (३) राजा के जीवन की अवधि चार दिन ही रह गयी है, उसकी सत्यता उनके वचन से सहज स्फुट हो गयी है।

वनवासविधि का संकोच

जिस प्रकार शास्त्रकारों ने देशकाल परिस्थिति की प्रतिकूलता को ध्यान में रखकर धर्मविधि का संकोच करके उसके विकल्प में अनुकल्प माना है। उदाहरणार्थ द्वादशाब्दिक व्रत है जिसका उल्लेख पूर्व में

हो चुका है। उसी प्रकार तीनों मूर्तियों की सुकुमारता निरपराधिता आदि को समझकर राजाश्री ने धैर्य के अभाव में प्रयोग के अन्तर्गत वनवास विधि का संकोच करके अनुकल्प कहकर चार दिन में भ्रमण का निर्देश किया है।

संगति : पूर्वोक्त दोहे में कहे प्रयोगविधि में विध्यन्तर से और भी संकोच राजा समझा रहे हैं।

चौ० : जौ नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई ॥ १ ॥
तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिअ प्रभु! मिथिलेसकिसोरी ॥ २ ॥

भावार्थ : यदि धीरता में स्थित दोनों भाई न लौटें तो सत्यप्रतिज्ञ व्रतपालन में तत्पर रघुनाथ श्री रामजी से हाथ जोड़कर तुमने प्रार्थना करना कि प्रभो! जनककुमारी सीताजी को तो भेज ही दें।

'धीर सत्यसंध, दृढ़व्रत' का भाव

शा० व्या : 'दोउ भाइ' को धीर कहने का भाव है कि श्रीराम माता-पिता की आज्ञापालनात्मक कर्तव्य में अविचलित हैं और लक्ष्मणजी सेव्यत्वासमानकालीनसेवाधर्म में तत्पर हैं। 'लखी रामरुख रहत न जाने' से राजाको बोध हो गया है कि श्रीराम लौटेंगे नहीं, इसलिए 'जौ न फिरहिं' कहा है। 'सत्यसंध' से दो० ४१ में कहे श्रीराम की प्रतिज्ञा का विशेष संकेत है। 'दृढ़व्रत' से 'मुनिपट भूषन भाजन' के ग्रहण से संकल्पित व्रत में श्रीराम की दृढ़ता प्रकट है। 'विनती करेहु कर जोरी' को 'प्रभु' से सम्बन्धित करके राजा ने पूर्व में अनुभात श्रीराम के प्रभुत्व का आदर किया है। उनकी स्वतन्त्र इच्छा को नियामक रखा है। 'जौ नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई' में सत्यसंध दृढ़व्रत पुत्र के धर्म में बाधक न होने का विचार राजा श्री के धैर्यप्रयुक्त विवेक को प्रकट कर रहा है।

इस प्रकार दो० ८१ में कहे आदेश के अनुसार प्रथम कल्प से तीनों को लौटाना नही है, असमर्थता है तो उसके अनुकल्प में चार दिन का वनवास है। 'मिथिलेस किसोरी' कहने का भाव है कि जनकदुलारी सीताजी को लौटाने में राजा जनक का परितोष भी ध्वनित है।

संगति : सुमन्त्र को दिये राजा के सहेतुक (आदेश 'फेरिअ प्रभु मिथिलेसकिसोरी) में हेतु-उपन्यास को स्पष्ट करते हुए कवि चौ० ३ से दो० ७८ तक कही उक्तियों का भाष्य कर रहे हैं।

चौ० : जब सिय कानन देखि डेराई। कहेहु मोरि सिख अवसरु पाई ॥ ३ ॥
सास-ससुर अस कहेउ संदेसू। पुत्रि! फिरिअ बन बहुत कलेसू ॥ ४ ॥
पितुगृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी ॥ ५ ॥

भावार्थ : जब सीताजी वन को देखकर भयभीता होंगी, उस समय मौका पाकर मेरी शिक्षा को इस प्रकार कहना "सासु-ससुरजी ने यह संदेश[1] दिया है कि पुत्रि! लौट आओ, वन में बड़ा कष्ट है। कभी पिताश्री के घर में अथवा ससुराल में जहाँ तुम्हारी इच्छा होगी, वहाँ रहना।

---

१. संदेश की व्याख्या—"संदेशः स्यात् स्ववार्ताभिः प्रेषणं विषांतरे" (भावप्रकाशन)।

सीताजी के लिए असमर्थता में अनुकल्पस्मरण

शा० व्या : श्रीराम के कथनानुसार 'डरपहिं धीर गहन सुधि आए । मृगलोचनि, तुम्ह भीरु सुहाए' से सीताजी की सहज भीरुता संभावित है । अतः 'कानन देखि डेराई' का अवसर देखकर चौ० ३-४ दो० ७८ में कही अपनी शिक्षात्मक चार दिन का वनवास-अनुकल्पका स्मरण दिलाते हुए उसीको सीताजी से सुनानेके लिए राजाश्री कह रहे हैं । कहने का निष्कर्ष है कि राजा के आदेश ('फेरिअ प्रभु मिथिलेसकिसोरी') में कहे 'कानन देखि डेराई' से भीरुता एवं सुकुमारता में 'बन बहुत कलेसू' से होने वाली अधीरता है तो आदेश सुनाना ।

ध्यातव्य है कि कवि ने चौ० ५ दो० ७८ में 'सियमनु रामचरन अनुरागा । घरु न सुगमु बनु विषमु न लागा' से 'सासु ससुर पितु सुख' के त्याग में सीताजी की धीरता को स्फुट किया हैं जिसका भाष्य वन में पहुँचकर सुमन्त्र के साथ हुए सीताजी के संवाद में (दो० ९७ से चौ० २ दो० ९९ तक) प्रस्तुत करके उपरोक्त हेतुओं में हेत्वाभास सीताजी की पूर्ण धीरता को प्रकट करेंगे ।

अनुकल्प का औचित्य

स्त्री का रक्षण दुर्गरूप गृह में ही निरापद है । अतः शास्त्रकारों ने स्त्रियों को निर्जन भयावह एकान्त में रहने को मना किया है । उक्त नीति के अनुसरण में राजाश्री के पालनधर्म के अनुकूल उपरोक्त आदेश का औचित्य चिन्तनीय है ।

'पुत्रि' संबोधन

'पुत्रि' से पुत्रवधू में सास-ससुरजी का पुत्रिभाव विवाह के बाद घर में आने पर राजाश्री की उक्ति ("वधू लरकिनी पर घर आई । राखेहु नयन पलक की नाईं") से प्रकट है ।

संगति : राजशास्त्र में कहे निसृष्टार्थ दूत के समान सुमन्त्रको राजाश्री पूर्ण अधिकार देते हुए तीनों मूर्तियों के संग वन में भेज रहे हैं ।

चौ० : एहि बिधि करेहु उपायकंदबा । फिरइ त होइ प्रान अवलंबा ।। ६ ।।

भावार्थ : सीताजी को लौटाने मे इस प्रकार तुमने अनेक उपाय करना । यदि वह लौट आती हैं तो प्राणों को बड़ा सहारा मिलेगा ।

सुमन्त्र की निसृष्टार्थता व दूत की गुणवत्ता

'उपायकदंबा' से प्रजापालनधर्म से संबद्ध राजनीति के अन्तर्गत अनुष्ठेय उपायों को अपनानेकी स्वतंत्रता सुमन्त्र को दी है जिस प्रकार सन्धि के लिए परराष्ट्र में भेजा दूत उच्चकोटिका विद्वान्, तर्क कुशल एवं ज्ञानवान् दृढ़ निश्चय, मन्त्रगुप्ति में तत्पर, स्मृतिमान् होता है उसी प्रकार धीसचिव की योग्यता सुमन्त्र की है । ज्ञातव्य है कि 'उपायकंदबा' के अन्तर्गत सीताजी को राजादेश के बल पर बलात् नहीं लौटाना है, औचित्य पर पूर्ण ध्यान रखते हुए 'कानन देखि डेराइ 'व' बन बहुत कलेसू' से सीताजी की अप्रतिहत धीरता को देखकर कार्य करना है ।

'प्रान अवलंबा' का भाव

'प्रान अवलम्बा' का अर्थ जीवित रहना नहीं हो सकता किन्तु वेदना से त्राण पाने में है क्योंकि अंधशाप के विधान से मृत्यु अबाधित ठहरेगा ही। अतः चौ० ७ दो० ६० में कौसल्याजी की उक्ति "जौ सिय भवन रहै कह अम्बा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलम्बा, के उत्तर में प्रभु की शिक्षा—"जब जब मातु करिहि सुधि मोरी। होइहि प्रेम बिकल मति भोरी। तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी। सुन्दरि! समुझाएहु मृदु बानी' को आचरित करते हुए सीताजी का घर में रहना ही उनके प्राण का अवलंबन है अर्थात् विरहवेदना से त्राण पाना है।

सीतातत्व की प्रत्यप्रतिज्ञा

श्रीराम के प्रभुत्व की प्रत्यभिज्ञा में राजा दशरथ को 'सर्वश्रेयस्करीं सीतां रामवल्लभां 'का स्वरूप भी प्रतिभात है, ऐसा मानना असंगत नहीं है क्योंकि चौ० १ दो० १ में विवाहोपरान्त सीताजी की अवस्थिति से अयोध्या में 'नितनव मंगल मोद बधावा' की स्थिति से राजा परिचित हैं। इस दृष्टि से 'प्रान अवलम्बा' से राजा का यह भी भाव है कि जीतेजी उस स्थिति को बनाये रखने के लिए अयोध्या में सीताजी की उपस्थिति के लिए प्रयत्न करते रहें।

ज्ञातव्य है कि बालकाण्ड में मनु से कहे प्रभु के वचन' ('सोउ अवतरिहि मोरि यह माया') से सिद्ध है कि 'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता' के रूप में सीताजी मन्थरा-कैकेयी की कुमन्त्रणा में शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन होने से अयोध्या से दूर हो गयीं। भरतजी द्वारा शास्त्रमर्यादा का स्थापन हो जाने पर पुनः प्रभु के आश्रय में अयोध्या लौटकर आने की स्वीकृति देगी। चित्रकूट में पहुँचने पर 'सब विधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता' से स्पष्ट है कि सीताजी के विद्यामाया के स्वरूप को पहचानकर भरतजी उसकी अनुकूलता में संतुष्ट होकर आवेंगे। यही सबके प्राण का अवलम्ब होगा।

संगति : राजाश्री विधि की प्रबलता में अपने जीवन का अन्तिम परिणाम बता रहे हैं।

चौ० : नाहि त मोर मरनु परिनामा। कलु न बसाइ भएँ बिधि बामा॥ ७॥

भावार्थ : नहीं तो अन्त में मेरा मरण होना ही है। विधि विपरीत हो गया है तो कुछ वश नहीं चल सकता।

शा० व्या० : सीताजी के लौटकर आने में 'प्रान अवलंबा' की अन्तिम सीमा को स्पष्ट करते हुए राजाश्री कहते हैं कि रामविरह वेदना को भोगते-भोगते अन्त में मरना तो है ही। पुत्रविरहको अवश्यंभावी बनाने का विधान है ही तो विधि वाम को परिचर्चित करने में कुछ नहीं चलता।[1] इस प्रकार नीतिज्ञ विवेकी शास्त्रानुगामी राजा दशरथ ने अन्तकाल तक विधिविधान के पालन की अनिवार्यता दिखायी है।

'बिधि बामा' से अंधशाप के विधान से पुत्रविरह में होने वाला राजा दशरथ का मरण ध्वनित है।

संगति : 'पुनि धरि धीर कहइ नरनाहू' के अनुसार धीरता में कर्तव्य का बोध होने से राजाश्री कुछ बोल गये। पुनः स्नेहवशता में तीनों मूर्तियों का स्मरण करते मूर्छित हो गये।

चौ० : अस कहि मुरुछि परा महि राऊ। राम-लखनु-सिय आनि देखाऊ॥ ८॥

---

१. मृत्यु बुद्धिमताऽपोह्यो यावद् बुद्धिबलोदयम्। यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः॥ भाग १०।१।४८

भावार्थ : सुमन्त्र से ऐसा कहकर राजा मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़े। और उनके मुख से यही निकल रहा है "श्रीराम, लक्ष्मणजी और सीताजी को लाकर दिखाओ।"

राजा श्री के संस्कारों का उद्‌बोध
गुरुजी को मनोरथ सिद्धि

शा० व्या० : दो० ४ की व्याख्या में कहा गया है कि रामराज्योत्सव की अनुमति देने में गुरुजी का ध्येय राजाश्री की तन्मयता को बनाना है। उसी को यहाँ 'सुतविषयक तव पदरति होऊ' से पूर्व संस्करोद्बोध से मूर्च्छावस्था में राजाश्री की तन्मयता को 'राम लखनु सिय आनि देखाऊ' से होनेवाले हृदयोद्‌गार से स्फुट किया है।

संगति : श्रीराम नगर के बाहर निकल चुके होंगे, ऐसा अनुमान करके सुमन्त्र बिना विलम्ब किये राजाश्री के आदेश का पालन करने के लिए चले।

दो० : पाइ रजायसु नाइ सिरु रघु अति बेग बनाई।
गयउ जहाँ बाहेर नगर सीयसहित दोउ भाई ॥ ८२ ॥

भावार्थ : राजाश्री का आदेश पाकर, उनको नमस्कार करके सुमन्त्र बड़े वेग से रथ को लेकर चले। नगर के बाहर जहाँ सीताजी के साथ दोनों भाई थे, वहाँ पहुँच गये।

सीताजी का प्रथम उल्लेख

शा० व्या० : 'सीय सहित दोउ भाइ' में सीताजी का प्रथम उल्लेख करने का भाव है कि दोनों भाइयों के संग विशेषकर सीताजी के पैदल चलने की चिन्ता पर अधिक ध्यान है। 'अति बेग बनाइ' का उद्देश्य यही है कि तीनों मूर्तियों को दूर तक पैदल चलना न पड़े तथा राजवधू व राजपुत्रोचित मर्यादा में उनको रथ में बैठाकर राजधानी से गन्तव्य स्थान तक पहुँचाया जाय।

राजा के रथ भेजने एवं श्रीराम के रथ में चढ़ने का सारांश

१. सत्यसंध दृढ़व्रत दोनों कुमारों के लौटने में संशय समझकर सीताजी को अकेले लौटाने के लिए रथ की अपेक्षा होगी। अन्तरंग वयोवृद्ध मन्त्री सुमन्त्र आप्त अनुभवी विद्वान् हैं, उसके साथ सीताजी को अकेले लौटने लिए कहना उनकी विश्वास्यता का द्योतक है।

२ पिताश्री का आदेश (जहाँ तक सत्यसंध दृढ़व्रत का अविरोधी है) पालन करते हुए रथ में बैठनने की स्वीकृति से श्रीराम का विनय सर्वसाधारण जनता के सामने प्रकट हुआ है।

३. माता कैकेयीजी की प्रसन्नता के लिए अविलम्ब वनप्रदेश में पहुँचना इष्ट है। पैदल चलने से जनता भी साथ में जाती है तो राजनीतिक दृष्टि से कैकेयीजी को विरोधी संगठन को शंका को न होने देना हो।

४. रथ पर चढ़ना स्वीकार न करने से माता-पिता के आज्ञापालनात्मक धर्म में उदासीनता सम्बलित उत्साहवर्जित वननास सूचित होगा तो 'काननराजू' से ध्वनित चक्रवर्तित्व के बीजारोपण में श्रीराम का दंभ कहा जायगा। शेष विचार उपर्युक्त व्याख्या में कहा गया है।

संगति : प्रभु के समीप पहुँचकर सुमन्त्र ने रथ पर चढ़ने की प्रार्थना की।

चौ० : तब सुमंत्र नृपबचन सुनाए। करि बिनती रथ रामु चढ़ाए ॥ १ ॥
चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदयँ अवधहिं सिरुनाई ॥ २ ॥

भावार्थ : तब सुमन्त्र ने राजाश्री का आदेशात्मक वचन सुनाया और विनय पूर्वक प्रार्थना करके श्रीराम को रथ में चढ़ाया। सीताजी के साथ दोनों भाइ पारियात्रिक रथ में चढ़कर अयोध्या को मनस् से प्रणाम करके चले। वह रथ कैसा होगा, ? पाठकों ने इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए निम्न नोट में दिया उद्धरण द्रष्टव्य है।[1]

अवध प्रणाम का अभ्यास

शा० व्या० : 'करि बिनती रथ रामु चढ़ाए' से स्पष्ट किया गया है कि श्रीराम ने रथ पर चढ़ने की उत्सुकता नहीं दिखायी है, मन्त्री ने प्रार्थनापूर्वक रथ पर चढ़ाया है। ग्रन्थारंभ में 'बंदउँ अवधपुरी अति पावनि' से अयोध्यापुरी की पावनता को प्रकट किया है जिसका गान स्वयं प्रभु ने लंका से पुष्पकयान में लौटते हुए सब बन्दरों को सुनाया है। (चौ० २ से चौ० ७ दो० ४ उ० का०)। जन्मभूमि के प्रति आदर तथा वहाँ के निवासियों की अतिप्रियता की कृतज्ञता में प्रभु का 'अवधहिं सिरु नाईं' कहा गया है। 'हृदयं अवधहिं सिरु नाईं' की एकवाक्यता वनवासस्थ प्रभु के चिन्तन में स्फुट होगी। "जब जब रामु अवध सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं" (चौ० ३ दो० १४१)।

संगति : जब लोगों ने देख लिया कि श्रीराम जा ही रहे हैं तब 'बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं' के अनुरूप प्रजाजनों की विकलता एवं उनकी प्रीति का अनुभव कवि वर्णन कर रहे हैं।

चौ० : चलत रामु लखि अवध अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा ॥ ३ ॥
कृपासिंधु बहु बिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं ॥ ४ ॥

भावार्थ : श्रीराम के चलते ही अवध को अनाथ देकर सब लोग व्याकुल हो गये और साथ-साथ लगे रहे। कृपासागर प्रभु उनको बहुत प्रकार से समझाते हैं तो वे लौटते तो हैं, पर पुनः प्रेम के वश हो वापस आ जाते हैं।

'अवध अनाथा' में लोक-आक्रन्दन

शा० व्या० : राजनीतिक सिद्धान्त से राजाश्री रक्षक है, उसके आश्रय में प्रजा अपने को रक्षिता मानती है। अराजकता में जनजीवन असत्प्राय हो जाता है। 'अवध उजारि कीन्हि कैकेईं' से स्पष्ट है कि कैकेयीजी की निरंकुश कुचाल से जो कुसमय उपस्थित है उसको देखते हुए प्रजा को कैकेयीजी की अध्यक्षता में भरतराज्य के द्वारा न्यायपूर्वक प्रजापालन होने में शंका है जिसको 'लखि अवध अनाथा' से व्यक्त किया है।

---

१. दशपुरुषो द्वादशान्तरो रथः तस्मादेकान्तरावराः आषडन्तराविति कारयेत्। देवरथ पुष्परथ-सांग्रामिक पारियात्रिक परपुराभियानिकवैनयिकांश्च रथान् कारयेत् ॥ (अर्थशास्त्र रथाध्यक्ष प्र०)

प्रजा की द्विविध गतिविधि

'कृपासिंधु' से प्रजा के प्रति श्रीराम की कृपालुता व्यक्त है। 'बहुविधि समुझावहिं' से प्रभु ने यह भी समझाया होगा कि भरतराज्य में प्रजा रक्षिता रहेगी एवं 'दिवस जात नहिं लागहि बारा' से अवधि बीतते ही आने का आश्वासन दिया होगा। प्रजा सेवकभाव में स्वामी श्रीराम के अनुशासन को मानकर लौटी, पर पुनः प्रेम के अत्यधिक आकर्षण में फिर कर आ गयी। जैसा श्रीमद्भागवतोवर्णित गोपियों की अवस्था से स्फुट है।[1]

संगति : 'पुनि फिरि आवहिं' में प्रजा का मनोभाव कवि व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० : लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधिआरी ॥ ५ ॥
घोरजन्तुसम पुरनरनारी। डरपहिं एकहि एक निहारी ॥ ६ ॥
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत-हित-मीत मनहुँ जमदूता ॥ ७ ॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित-सरोवर देखि न जाहीं ॥ ८ ॥

भावार्थ : पुरवासियों को अवध पुरी अत्यन्त भयानक लग रही है मानो अन्धकारमय कालरात्रि ही हो। पुरवासी नरनारो निर्दयी भयानक जानवरों के समान एक दूसरे डरते हैं। उन लोगों को अपना घर श्मशान के समान दिखायी पड़ता है और परिवार के लोग भूत के समान जान पड़ते हैं,। अपने बालक, हितनात एवं मित्र मानो यमदूत हों। बागों में वृक्ष-लताएँ मुरझा गई हैं। नदी, तालाब ऐसे उदासीन (श्रीहोन) दिखायी पड़ते हैं कि देखा नहीं जाता।

शा० व्या० : कैकेयी जी द्वारा जो अनर्थ का आरंभ हुआ उससे प्रत्येक व्यक्ति शंकित हो सोच रहा है कि अब रक्षक कौन होगा ? अनर्थ की संम्भावनाओं की शंकाजाल में पड़ी जनता मर्यादा के अभाव को देखकर भयभीता है। युगान्त में कालरात्रि के घोर अन्धकार में जैसे कोई सहारा नहीं दीखता उसी प्रकार दिनकरमणि श्रीराम के दूर होने से प्रजा अपने को निराश्रया समझ रही है। सुखस्वरूप श्रीराम के अभाव में पारस्परिक में सुख के अभाव का अनुभव सबको हो रहा है। प्रीति की न्यूनता में प्रकृति में विकार आता है। जिसका संक्रमण वनस्पति, पेड़-पौधे, नदी तालाव जलाशयों आदि में दिखायी पड़ता है अर्थात् प्रेम के अभाव में प्रकृति का क्षोभ जड़-चेतन सबमें व्याप्त होता है। तब राजा की उक्ति 'सबहि रामु प्रिय जेहि बिधि मोही' के अनुसार प्रेमस्वरूप श्रीराम के अभाव में पुरनरनारियों का 'जन्तु सम' होना प्रकृतिसिद्ध है जैसे जल में या वन में छोटे-बड़े सभी जन्तु रहते हैं एक दूसरे को देखकर डरते हैं उसी प्रकार शंकितहृदय होने से पुरवासियों में एक दूसरे को देखकर शंका हो रही है। राजनीतिक दृष्टि से उनकी शंका का कारण यह भी है कि मालूम नहीं कौन कैकेयी के पक्ष का अनुगामी होगा और कौन श्रीराम के पक्ष का" ?।

घर मसान का भाव

'घर मसान' का भाव है कि घर छोड़कर सब लोग बाहर आ गये हैं तो सूना घर स्मशान के

---

१. चित्त सुखेन भवताऽपहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदन्न चलतस्तव पादमूलाद्यामः कथं व्रजमथो करवाम किंवा ?॥

सदृश हो गया है। अब उसमें जो परिजन दिखायी पड़ते हैं, वे प्रेतसदृश प्रतीत होते हैं। श्रीराम के साथ जाने में 'सुत हित मीत' का संबंध अवरोधक हो रहा है, अभी वह 'जमदूता' के समान बन्धन कारक लगता हैं। यही दृश्य देखकर लक्ष्मणजी के पूर्वकथित (दो० ७३ चौ० ५) वचन संगत है।

संगति : रामवियोग में उपर्युक्त प्रकृति की अन्यान्य विकृति को आगे बता रहे हैं।

दो० : हय गय कोटिन्ह केलिमृग पुरपसु चातक मोर।
पिक रथांग सुक सरिका सारस हंस चकोर ॥ ८३ ॥

चौ० : रामवियोगबिकल सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े ॥ १ ॥
नगरु सफल बनु गहबर भारी। खग-मृग बिपुल सकल नरनारी ॥ २ ॥
बिधि कैकेईकिरातिनि कीन्ही। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि ! दीन्ही ॥ ३ ॥
सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥ ४ ॥

भावार्थ : करोड़ों की संख्या में अयोध्यापुरी में जो घोड़े, हाथी, खेल के लिए पाले हिरन, पालतू पशु (गोधन, कुत्ते आदि) चातक, मोर, कोयल, पपीहा, तोते मेना, सारस, हंस, आदि पशु-पक्षी थे, वे सब रामवियोग में व्याकुल होकर ऐसे स्तब्ध खड़े थे मानो जहाँ-तहाँ चित्र में लिखकर बनाये हों। फलों से लदे वृक्षों से भरपूर अयोध्या नगरी बड़े भारी सघन वन के समान और उसमें बसनेवाले नर-नारी पशु-पक्षी के समान फलास्वाद लेते हुए आनन्दित थे। विधाता ने उसमें कैकेयी रूप किरातिनी को ऐसा बसाया कि उसने आग लगाकर दसों दिशाओं में दावाग्नि का असराहनीय ताप फैला दिया। जैसे दावाग्नि के ताप को न सह सकने के कारण वन के वासी भागने लगते हैं, उसी प्रकार रघुनाथ जो के विरह-ताप को सहन न करने के कारण सब पुरवासि-जन व्याकुल होकर (घर से) भाग चले।

कलिदोष से सत्व (प्रेम) का अभाव

शा० व्या० : धर्म-अर्थकाम-मोक्ष चारों पुरुषार्थों के भोग से जीवन को सफल करने वाले वर्णाश्रम धर्मावलम्बी अयोध्यावासियों का पूर्णसत्वरूप श्रीराम के प्रति ऐसा आकर्षण है कि कैकेयी के पुरस्कर्तृत्व में होनेवाले कलिदोष से सुख का अभाव देखते ही वे व्याकुल होकर श्रीराम की ओर भाग चले।

कैकेयीजी की वृत्तिपर आश्चर्य

'विधि कीन्ही' से नगरवासी कैकेयीजी के सतीत्व, नीतिपालन एवं रामप्रीति को समझकर उसकी कृति पर आश्चर्य करते हुए विधि को कारण कह रहे हैं।

राजनीति शास्त्र में आटविकों को सत्यभेदी माना गया है। इस दृष्टि से 'किरातिनी' के दृष्टान्त से कैकेयीजी की अविश्वास्यता पर जनता खेद प्रकट कर रही हैं।

श्रीहीनता

आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि संगति व प्रेम का प्रभाव बनस्पतियों पौधों पर पड़ता है जिससे

वे पल्लवित होते हैं। श्रीराम के स्नेह का संक्रमण समस्त पशु-पक्षी, वृक्षलताओं, सरोवरों-नदियों में व्याप्त था। अतः कैकेयीजी की कुटिलता से रामविरह में सब श्रीहीन दिखायी पड़ रहे हैं।

संगति : चौ० ३ दो० ८३ में चलत रामु लखि अवध अनाथा" से पूर्वोपक्रान्त बिषय से संगत पौर-नरनारियों का विचार कवि प्रस्तुत कर रहे हैं।

चौ० : सबहिं विचारु कीन्ह मन माहीं। राम-लखन-सियबिनु सुखु नाहीं॥ ५॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनुरघुवीर अवध नहिं काजू॥ ६॥

भावार्थ : सब ने मनस् में विचार किया कि श्रीराम, लक्ष्मणजी और सीताजी के विना अयोध्या में सुख नहीं है। जहाँ श्रीराम हैं वहीं सब समाज की शोभा है। बिना रघुवीर के अवध में रहने का कोई काम नहीं हैं।

सुमित्राजी व अवधवासियों की मनोवृत्त में अन्तर

शा० व्या० : सुमित्राजी की उक्ति 'अवध तहाँ जह रामनिरासू' से प्रजा की उक्ति में अन्तर यह है कि सुमित्राजी की रामप्रीति व लक्ष्मणजी की उपासना में ढ़ढ़ता है, प्रजा का मनोभाव अभी तत्सदृश होने पर भी माया से प्रभावित हो वहाँ से निवृत्त होगा जैसे चित्रकूट में दो० ३०२ के अन्तर्गत वर्णित है।

अवधवासियों का सत्परामर्श

स्नेहरूप श्रीराम के सान्निध्य में जो सुख की लहर चल रही थी वह प्रमाणबहिष्कृत अपनयसान्निध्य में समाप्त होती देखकर पुरवासी विचार कर रहे हैं कि श्रीराम के प्रमाणत्रयप्रमित नीतितत्वात्मक प्रेम के अधीन रहना अच्छा है क्योंकि परस्पर विश्वास्यता एवं प्रीति में ही सुख समृद्धि रहती है। कवि ने उक्त तत्व के व्याप्यव्यापकभावसाधक युक्ति को अन्वयव्यतिरेक से अभी दो० ६ में समझाया है श्रीराम के व्यक्तिशः उल्लेख से निम्न सामान्यव्याप्ति को स्पष्ट किया है कि प्रमाण त्रय परतन्त्र-नीतिमान् की अस्तिता में ही (वर्णाश्रम) समाज की प्रीतिसंबलित अस्तिता रह सकती है। इसकी एकवाक्ता चौ० ५ दो० ८६ में 'जो पै प्रियवियोगु बिधि कीन्हा। तौ कस मरनु न मागे दीन्हा' से स्पष्ट है। ऐसा सत्परामर्श करके अयोध्यावासियों को अवध में रहना इष्ट नहीं प्रतीत होता।

संगति : अयोध्यावासियों के हृदय में उपरोक्त परामर्श उदित होने से वे श्रीराम के अनुगमन का निर्णय कर रहे है।

चौ० : चले साथ अस मंत्रु दृढ़ाई। सुरदुलभि सुखसदन विहाई॥ ७॥
रामचरनपंकज प्रिय जिन्हही। विषयभोग बस करहिं कि तिनहीं ?॥ ८॥

भावार्थ : ऐसी मन्त्रणा को मनस् में स्थिर करके सब लोग श्रीराम के साथ चल दिये। उन्होंने स्वर्गस्थ देवों के लिए भी दुर्लभ सुखों से पूर्ण अपने घरों को छोड़ दिया। जिनकी प्रियता श्रीराम के चरणकमलों में है, उनको विषयभोग क्या वश में कर सकता है ?

अनुगमन का निर्णय

शा० व्या० : 'सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं' के अनुसार सब लोगों ने विचार करके जो मंत्रणा (सत्परामर्श) को उसी पर दृढं होकर उन्होंने श्रीराम के साथ वन अनुगमन का निर्णय किया।

सुरदुर्लभ की यथार्थता

'सुरदुर्लभ सुखसदन' की यथार्थता अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भ में दो० १ के अन्तर्गत वर्णित है। राजा दशरथ की न्यायप्रिय प्रमाणत्रयपरतन्त्र शासन पद्धति में 'मनिगन पुर नरनारि सुजाती' सुचि अमोल सब भाँती से वर्णाश्रमधर्मावलम्बिनी अयोध्यावासीनी जनता की शुचिता प्रकट है। जिसमें उनकी धर्मनीति में प्रवृत्ति, सत्व, बुद्धि, त्याग, अध्यवसाय चेष्टा आदि गुणसंपत्ति के साथ सुख समृद्धि भी पूर्ण है।

विषय भोग में अवाश्यकता

'रामचरन पंकज प्रिय' से अयोध्यावासियों की शास्त्रानुयायिता स्फुट है 'धर्मं ते विरति' के अनुसार उनके धर्माचरण का उद्देश्य विषयोपभोग नहीं है। 'सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचन्द्र मुख चन्दु निहसि' से स्पष्ट है कि अपने घरों में सब प्रकार की सुख समृद्धि प्राप्त रहते उनकी प्रीति श्रीरामचरणों में ही लगी थी। अतः 'सुरदुर्लभ सुखसदन बिहाई' में विषयभोग बाधक नहीं हो सका।

संगति : असमर्थता के कारण बालक वृद्ध जा न सके पूर्वोद्धृत परामर्श के कारण वे अनुगन्ताओं को रोक भी न सके।

दो० : बालकवृद्ध बिहाइ गृह, लगे लोग सब साथ।
तमसातीरनिवासु किय प्रथम दिवस रघुनाथ॥ ८४॥

भावार्थ : बालकों और वृद्धों को घर में छोड़कर सब लोग रघुनाथजी के साथ हो लिये। पहले दिन रघुनाथजी ने तमसा नदी के किनारे निवास किया।

अनुगन्ताओं का देहगेहसम्बन्धत्याग

शा० व्या० : चलने में अशक्त होने के कारण बालक-वृद्धों को घर में छोड़ने का उल्लेख किया गया है। श्रीमद्भागवत में एकादशस्कन्ध में कहे सिद्धान्त' नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित्' के अनुसार भगवदनुरागी पुरवासियों ने श्रीराम के अनुगमन में पूर्वोक्त परामर्श के अनुसार कर्तव्य को अपनाकर देहगेहसम्वध का त्याग किया है।

संगति : साहित्यसिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार श्रृंगार में नायक-नायिका के प्रेम का वर्णन करने में नायिका की प्रीति का प्रथम उल्लेख करके नायककी प्रीति का वर्णन किया जाता है, उसी प्रकार कवि प्रजा के राग को दिखाकर श्रीराम के राग का वर्णन कर रहे हैं।

चौ० : रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदयँ दुखु भयउ बिसेषी॥ १॥
करुनामय रघुनाथ गोसाई। बेगि पाइअहि पीर पराई॥ २॥

भावार्थ : रघुनाथजी ने प्रजा को प्रेमवश देखा तो उनके दयार्द्र चित्त में विशेष दुख हुआ। गोसाई

(जितेन्द्रिय) रघुनाथजी करुणा से पूर्ण हैं, वे दूसरे की पीड़ा का तुरन्त अनुभव करते हैं।

पालन को त्यागकर जाने में दुःख

शा० व्या० : 'दुख भयउ बिसेषी' का भाव है कि मातृपितृवचन पालन की कर्तव्य निष्ठा में परिजन एवं राज्य को त्यागने में श्रीराम को दुःख नहीं है, पर पालनधर्म के अगंगत प्रजाको छोड़कर जाने में दुःख विशेष करुणामय श्रीरघुनाथजी के 'सदय हृदय' की पूर्ण सात्विकता को[1] प्रकट कर रहा है जिसमें 'पीर पराई' का उदय लोक के दुःखको निरस्त करने में है।

संगति : यथार्थ बोध कराने में प्रभु के 'मृदु बचन' का उपयोग कवि ने अनेक स्थलों पर दिखाया है। यहाँ प्रजा के दुःख को दूर करने में प्रजा का स्नेहानुबन्धी (प्रेमबस) मोह प्रतिबन्धक हो रहा है।

चौ० : कहि सप्रेम मृदुबचन सुहाए। बहुबिधि राम लोग समुझाए ॥ ३ ॥
किए धरमउपदेस घनेरे। लोग प्रेमबस फिरहिं न फेरे ॥ ४ ॥

भावार्थ : श्रीराम ने सुन्दर मृदु वचनों से प्रेमसहित सब लोगों को बहुत प्रकार से समझाया, धर्म से भरा उपदेश देकर उनको लौटाना चाहा, पर स्नेह के अधीन होकर वे नहीं लौट रहे हैं।

बहुविधि समुझाए का तात्पर्य

शा० व्या० : 'बहु बिधि समुझाए' से प्रभु के 'प्रियबचन' (चौ० २ दो० ८०) में कहा तात्पर्य विवक्षित है। 'मृदुबचन' द्वारा यह बोध कराया कि जिस विधि के विधान में प्रभु ने वनवास को अपनाया है, उसका अनुसरण करने में माता कौसल्याजी एवं गुरुजी ने उसके विपरीत हठ नहीं किया। भक्ति की छत्रछाया में धर्मनीति की मर्यादा को स्थिर रखने में जिस प्रकार उनका योगदान है उसी प्रकार प्रजा का सहयोग होगा तो राजा का बचन' 'सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई' की सफलता में उनका हित होगा। इसीलिए माताजी व पिताश्री के वचन पालन में स्वयं प्रवृत्त होकर प्रभु ने परिजन स्वपुरवासियों को राजा व माताओं को सुखी रखने के उपाय की ओर प्रवृत्त होने की विधि (चौ० ८ से दो० ८० तक)। को दुहराया 'सप्रेम' से श्रीराम के प्रति जनता का अनुराग व विश्वास्यता स्फुट है।

उपदेश की विविधता

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के सम्बन्ध से अधिकार भेदेन उपदेश की विविधता लोक में ज्ञात है यहाँ दो० ८४ में कहे बालक, वृद्ध, स्त्रियों के सम्बन्ध से 'धरम उपदेश घनेरे' का तात्पर्य अवधवासियों की स्नेहासक्ति को दूर कर अधर्म अनर्थ से बचाकर परिजनरक्षण एवं वृद्धसेवा-कर्तव्य में लगाना है। 'धरम उपदेश घनेरे' का प्रकार वही समझना चाहिए जो चौ० ८ दो० ५३ में कौसल्याजी से कहे 'जनि सनेह बस डरपसि भोरे' तथा सीताजी व लक्ष्मणजी को दिये गये धर्म के उपदेश दिये गये है।

---

१ तद्भावभावनात्मा स्यात् परदु:खादिसेवया। परस्य सुखदुःखादेरनुभावेन चेतसः। (भावप्रकाशन)

उपदेश की उपेक्षा का फल

ध्यातव्य है कि प्रभु ने उपदेश की उपेक्षा का फल दो० ६३ में सीताजी को तथा दो० ७० में लक्ष्मणजी को समझाया है। पर प्रभु के उपदेश में उपन्यस्त हेतुओं का उनके द्वारा किया दोषनिरूपण युक्तियुक्त होने से वे न तो कर्तव्यच्युत हुए और न अधर्म-अनर्थ के दोषभागी ही हुए। 'लोग प्रेमबस फिरहिं न फेरे' से स्नेह की परतन्त्रता में प्रभु के उपदेश की उपेक्षा करके हठवश साथ में जाने का फल प्रजा को इतना अवश्य भोगना पड़ा कि देवमाया के वश हो मोह से आवृत होकर उनका संग प्रभु से बिछुड़ेगा।

उपदेश की घनता

'उपदेश घनेरे' में प्रभु के उपदेश के घनत्व की सार्थकता यही है कि उनको बाद में (एकहिं एक देहिं उपदेसू। तजे राम हम जानि कलेसू') प्रभु के उपदेशों का स्मरण होगा। यही अवध पर रामकृपा है।

संगति : चौ० ४ दो० ८३ में 'फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं' में प्रजा का राग दिखाया था। 'प्रेमबस फिरहिं न फेरे' में उनका अनुराग दिखाया जिसको 'सीलु सनेहु' से स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० : सीलु सनेहु छाड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई ॥ ५ ॥

भावार्थ : प्रजा के शील स्नेह को देखते उनको छोड़ा भी नहीं जा सकता, इसलिए रघुनाथ जी अड़चन में पड़कर आगा-पीछा से छुटकारा सोचने लगे।

प्रभुप्रेमातिशयिता में धर्म त्याग

शा० व्या० : प्रभु के प्रति अनुरागावस्था में स्तम्भ होने से शास्त्रकारों के मत से धर्ममर्यादा के अतिक्रमण में अनिष्ट नहीं माना जाता। अनुरागी का शील स्नेह प्रभु के लिए अविस्मरणीय है।

असामंजस्य

अनुराग की प्रबलता में 'धरम उपदेस घनेरे' का उल्लंघन करके साथ में चलने वाले पुरजनों के शील स्नेह की उपेक्षा प्रभु नहीं कर सकते, इसको 'असमंजस मे' से स्पष्ट किया है क्योंकि यहाँ कर्तव्य का विलोप हो रहा है। इसके प्रत्युदाहरण में भरतागमन को सुनकर प्रभु के 'हृदयँ खभारु' (चौ० ६ दो० २२७) की स्थिति स्मरणीय है।

संगति : प्रभु के 'असमंजस-भाव में देवमाया का कार्य कवि प्रस्तुत कर रहे हैं।

चौ० : लोग-सोगश्रम बस गए सोई। कछुक देवमाया मति गोई ॥ ६ ॥

भावार्थ : सब लोग (रामवियोग जनित) शोक एवं चलने के श्रम के कारण सो गये, उसमें देव माया ने भी कुछ उनकी मति पर आवरण कर दिया अथवा कुछ लोगों को देवमाया ने मोहित कर दिया।

देवमाया

शा० व्या : जैसे प्रभु के संकल्प (चौ० ७ दो० १०) को जानकर देवों की उक्ति ('बिसमय हरष

रहित रघुराऊ। तुम्ह सब जानहु राम प्रभाऊ') को सुनकर सरस्वती ने रामराज्य में विघ्न उपस्थपित करके प्रभु के बनवास कार्य को बनाने में माया का प्रयोग किया (जैसा 'तब किछु कीन्ह राम रुख जानी' चौ० ३ दो० २१८ से स्पष्ट है) वैसे ही यहाँ प्रभु के असमंजस भाव को जानकर देवमाया का कार्य समझना चाहिए। इसी प्रकार 'सुरमाया सब लोग बिमोहे' (चौ० ४ दो० ३०२) के द्वारा पुरजनों को चित्रकूट से अयोध्या लौटाने में देवमाया का कार्य कहा जायगा। प्रभु के कार्य में सहायक 'देवमाया' के प्रयोक्ता शिवजी भी हो सकते हैं क्योंकि चौ० २ दो० ८१ में 'गिरीसु मनाई' से चलते समय प्रभु ने शिवजी का स्मरण किया है। शिवजी की उपकृति की प्रत्युपकृति में प्रभु का 'संभु चरन सिरु नाइ' दो० ८५ में नमन विवक्षित होगा।

स्वामिकर्म

देवमाया से अर्थशास्त्रोक्त स्वापन प्रयोग का प्रकार चिन्तनीय है। प्रकृतिकर्म-प्रकरण में राजा के कर्म के अन्तर्गत मायात्मक कार्य का प्रवर्तन भी विवक्षित है। उस नीति के अनुसरण में श्रीराम के द्वारा देवमाया का उपयोग संगत कहा जायगा।

मतिगोइ पर एक दृष्टि

प्रश्न : शील-स्नेह से युक्त साधुस्वभाववाले अयोध्यावासियों पर देवमाया का प्रयोग कैसे ?

उत्तर : साधु स्वभाव होने मात्र से नीति के अनुष्ठानों में किसी व्यक्ति की विद्वत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि उसकी सफलता घुणाक्षरन्याय से या दैवयोग से भी हो सकती है। प्रसंगान्तर में अपेक्षित ऊहापोह के द्वारा वस्तुतत्व को यथावत् समझना मूढ़बुद्धि के लिए अशक्य है। इसीलिए भारतीय राजनीतिशास्त्र ने आप्त होते हुए भी मूढ़ों को मंत्रणा में अधिकारी नहीं बताया है। न्यायमतानुसार व्याप्ति, सत्परामर्श, पक्षधर्मता आदि से अनभिज्ञ व्यक्तिका अनुमान यथार्थ नहीं माना जाता। इसी प्रकार साधु-स्वभाव होते हुए भी वनगमन में प्रेम रखनेवाली अयोध्यावासिनी जनता को श्रीराम के सान्निध्यमें रहते भी 'मति गोई' से मोह होना असंगत नहीं कहा जा सकता।

लोग का अर्थ

'लोग' से साधारण जन एवं 'कछुक' से राष्ट्रपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रमुख्य कुलीन वर्ग आदि विवक्षित हैं। 'कछुक' वर्ग चौकन्ने रहते हुए भी देवमाया के वश होकर कुछ न समझ सके कि क्या हो रहा है ? मोह का स्वरूप अग्रिम ग्रन्थ में द्रष्टव्य होगा।

संगति : देवमाया से प्रभावित प्रजा पर श्रीराम की प्रतिक्रिया का वर्णन किया जा रहा है।

चौ० : जबहिं जामजुग जामिनि बीती। राम सचिवसन कहेउ सप्रीती ॥ ७ ॥
खोज मारि रथु हाँकहु ताता !। आन उपाय बनिहि नहिं बाता ॥ ८ ॥

भावार्थ : जब दो प्रहर रात बीत गयी तब श्रीरामचन्द्रजी ने मन्त्री सुमन्त्र से सप्रेम कहा कि रथ को खोजमारि प्रकार से हाँक दो। दूसरे कोई उपाय से बात नहीं बनेगी।

'जामजुग जामिनि बीती' का भाव

शा० व्या० : 'जाम जुग जामिनि' का अर्थ है रात्रि का दूसरा प्रहर बीतना अर्थात् रात्रि के मध्यभाग के उपरान्त। आयुर्वेदसिद्धान्त के अनुसार सात्विक प्रकृति को स्वल्पनिद्रा से ही अन्न का पाचन हो जाता है। अतः उनको रात्रिजागरण प्रयुक्त आलस्य या दोष नहीं होता। अर्धरात्रि के अनन्तर वे स्वभावतः जाग जाते हैं। श्रीराम सहित तीनों मूर्ति सत्वप्रकृतिस्थ हैं। सुमन्त्र भी वैसे ही हैं। प्रजाजनों की सत्वप्रकृति इस समय शोक, श्रम व देवमाया से आवृत होने से निद्रा से अभिभूत है।

श्रीराम के विचार

'सप्रीती' से सामप्रयोग करते हुए श्रीराम का आन उपाय बनिहि नहिं बाता' से सुमन्त्र को समझाना है कि राजाश्री के आदेशानुसार मन्त्री को चार दिनों के भीतर लौटना है तो रथ को चला देना चाहिये। मन्त्री को भी यही इष्ट है क्योंकि वह भी प्रजा को किसी प्रकार लौटाने का उपाय सोच रहा था। 'आन उपाय' का यह भी तात्पर्य है कि पैदल चलने में शोकश्रमसंतप्त प्रजा के कष्ट को दूर करने के लिए उनको अयोध्या में लौटाने का उपाय करने के अतिरिक्त दूसरे उपाय (समझाने-बुझाने) से बात नहीं बनेगी।

चाँदनी रात के अभाव में खोजमार

अभिषेक मुहूर्त्त की दृष्टि से कल्पना होती है कि शुक्लपक्ष के द्वितीयार्धका समय होगा। रात्रि के अन्तिम प्रहर में अन्धकार होगा तो रथचिह्न को खोजना कठिन होगा। अर्थशास्त्र में विधान है कि शत्रु पक्ष को भ्रम में डालने के लिए स्वचिह्न को समाप्त करने के उद्देश्य से रथ को 'खोजभारि' विधि से हाँकना चाहिये। उसी न्याय से श्रीराम सुमन्त्र से अभी उसी कौशल को अपनाने की सलाह दे रहे हैं। प्रसंगतः वह भी स्मर्तव्य है कि विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार सत्यसंध का रथ जमीन से दो अंगुल ऊपर भी चलता है, उदाहरणार्थ धर्मराज युधिष्ठिर का रथ। अन्तः खोजमार असंगत नहीं है।

संगति : श्रीराम के कथनानुसार सुमन्त्र ने रथ तैयार कर दिया।

दो० : रामलखनसिय जान चढ़ि सम्भुचरन सिरु नाइ।
सचिवँ चलायउ तुरत रथु इत उत खोज दुराइ ॥ ८५ ॥

भावार्थ : श्रीराम लक्ष्मण एवं सीताजी के साथ रथ पर चढ़ गये शिवजी को नमस्कार किया। मन्त्री सुमन्त्र ने तुरन्त ही रथ को इधर-उधर घुमाते हुए ऐसा चला दिया कि खोज के चिह्न पकड़ में न आ सके।

कृतज्ञताप्रकाशन

शा० व्या० : पूर्वोक्त चौपाई ६ में देवमाया की व्याख्या में कही शिवजी की उपकृति की कृतज्ञता-प्रकाशन में अभी शिवजी को नमस्कार करना संगत कहा जा सकता है।

संगति : माया का कार्य विपरीतार्थदर्शन कराना है। देवमाया से प्रभावित अयोध्यावासियों की स्थिति निद्रा से जागने के बाद क्या हुई ? इसका वर्णन कवि कर रहे हैं।

चौ० : जागे सकल लोग भए भोरू। गे रघुनाथ भयउ अति सोरू ॥ १ ॥
रथकर खोज कतहुँ नहिं पावहिं। राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिं ॥ २ ॥

भावार्थ : भोर हो जाने पर सब लोग जागे तो (रथ को न देखकर) बड़े जोर-जोर से चिल्लाते लगे कि रघुनाथजी वन में चले गये। रथ चलने का निशान खोजने पर भी नहीं मिला तो चारों दिशाओं में राम-राम कहते हुए दौड़ने लगे।

भक्ति (अंगो) के अंग (नीति) के प्रति प्रेम

शा० व्या० : चौं० ३-४ दो० ८५ की व्यख्या में कहा गया है कि स्नेही की अधीनता में प्रभु के उपदेशानुसार कर्तव्य का पालन न करने से पुरवासियों ने नीति (अंग) का अतिक्रमण किया, उसके परिणाम स्वरूप वे भक्ति की छत्रछाया में स्थित होने पर भी उनको पिता-माताप्रभृति की सेवा (नीति) पालनार्थ अवध की ओर पहुँचाने के हेतु प्रभु ने उपेक्षा की माया के चपेट में तो गये। वे आ फिर भी अयोध्यावासियों के 'सीलु सनेहु छाड़ि नहिं जाई' से स्पष्ट है कि वे प्रभु के प्रियपात्र हैं। उनका अनुराग 'राम राम कहि' से स्फुट हो रहा है। अतः अन्त में वे धर्मनीति के अनुष्ठान में दो० ८६ के अनुसार स्थिर हो अंगपालन कर प्रभु के कृपापात्र वने रहेंगे।

संगति : देवमायाद्वारा आवृत प्रजा का हृदयोद्‌गार प्रकट हो रहा है।

चौ० : मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू। भयउ बिकल बड़ बनिकसमाजू ॥ ३ ॥

भावार्थ : जैसे जहाज पर चढ़ा व्यापारियों का समाज समुद्र में डूबने की स्थिति में व्याकुल हो जाता है वैसे ही पुरवासी विकल हो रहे हैं।

वणिक दृष्टांत का भाव

शा० व्या० : 'बनिक समाजू' के दृष्टान्न से स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार धनप्राप्ति के लिए व्यापारी वर्ग समुद्र की यात्रा करते हैं और जहाज के डूबने का भय उपस्थित होने पर धननाश की सम्भावना में विकल हो जाते हैं, उसी प्रकार पुरवासी रामसान्निध्यप्राप्ति की आशा में चले थे, पर श्रीराम का संग छूट जाने से व्याकुल हो रहे हैं।

संगति : अब प्रभु के आदेश का स्मरण करके अपनी स्थिति का निचार कर रहे हैं।

चौ० : एकहिं एक देहिं उपदेसू। तजे राम हम जानि कलेसू ॥ ४ ॥
निदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुवीर बिहीना ॥ ५ ॥
जौं पै प्रिय बियोगु बिधि कीन्हा। तौ कस मरन न मागें दीन्हा ॥ ६ ॥

भावार्थ : एक दूसरे को उपदेश देते हुए कहते हैं कि हमारा कष्ट देखकर प्रभु ने हमलोगों को छोड़ दिया जैसे जल के वियोग में मछली प्राणत्याग को प्रशंसित मानती हैं। और राम-वियोग में अपने जीवित को निन्दित ठहराते हुए कहते हैं कि रघुनाथजी के बिना जीवन धिक्कृत है। यदि विधाता को प्रिय का वियोग करना ही था तो माँगने पर हमको मरण क्यों नहीं दे दिया ?

प्रभु के उपदेशपालन में कल्याण

शा० व्या० : 'उपदेश' से पूर्वश्रुत उपदेश यहाँ समझना चाहिये। प्रजा को क्लेश से बचाने के लिए 'धरम उपदेस घनेरे' को स्वीकृत करने में अवधवासी अपनी सहमति प्रकट कर रहे हैं, क्योंकि उसी में क्लेश-अपहरण से अपना कल्याण होनेवाला है। इस प्रकार अपना दोष और श्रीराम की उपकारिता बताकर 'सीलु सनेहु' का परिचय अयोध्यावासी दे रहे हैं। अयोध्यावासियों का यही साधुत्व है कि विकलता में भी वे रागद्वेष से रहित व अनुराग में स्थिर हो भक्ति की छत्रछाया के आकांक्षी हैं और विधिकार्य में तत्पर हैं। प्रभु का वियोग करानेवाली निद्रा में अपना प्रमाद समझ कर स्वयं को धिक्कार रहे हैं।

अन्वयव्यभिचार का निरास

प्राण वियोग की परिज्ञात सामग्री रहते मृत्यु न होना अन्वय-व्यभिचार है, उसकी समीक्षा करते हुए वे विधि को दोषी ठहराकर सामग्री के अभाव से उक्त दोष को निरस्त कर रहे हैं अर्थात् अपने प्राण का वियोग न होने में विधि को प्रतिबन्धक मान रहे हैं। यह विधि अदृष्टात्मक न होकर प्रभु के आदेशानुसार दृष्ट विधि है जैसा आगे चौ० ८ में 'अवधि आस सब राखहि प्राना' से स्पष्ट है जिसको अग्रिम चौपाई में 'एहि बिधि' से ध्वनित किया है।

विधि की प्रबलता

प्रबलतर विधि अपने प्रभाव से इष्ट कार्योत्पत्ति में प्रतिबन्ध करता है। क्वचित् उत्कटतर दैव कार्यसिद्धि कराकर विश्राम लेता है अन्यत्र कार्य के अभाव में विधि की ही कारणता मानना कथनमात्र है। क्योंकि इस चिन्तन में पुरुषार्थ की न्यूनता होने पर विधि का रहना न रहने के बराबर है।

संगति : उपर्युक्त अन्वय-व्यभिचार के विचार में निमग्न अयोध्यावासियों के भाव को शिवजी स्फुट कर रहे हैं।

चौ० : एहि बिधि करत प्रलापकलापा। आए अवध भरे परितापा॥ ७॥
बिषमबियोगु न जाइ बखाना। अवधि आस सब राखहिं प्राना॥ ८॥

भावार्थ : इस प्रकार बहुत प्रलाप करते हुए प्रजाजन मनस् में संतप्त होते अयोध्या में आये। उनके कठिन वियोगज दुःख का वर्णन नहीं हो सकता। अवधि बीतने पर श्रीराम के लौटने की आशा में सब लोग प्राण को रखे हुए हैं।

एहि विधि

'एहि बिधि' से उनके 'प्रलापकलापा' में विसंवादिता भ्रम आदि दोषों की प्रसक्ति, सत्यसंघ पिताश्री के वचनप्रमाण के अनुगमन में प्रभु के वनवास की प्रमेयसिद्धि में आश्वस्त होना, कैकेयी की कुमति से संक्रमित दोष की मुक्ति आदि विवक्षित हैं।

वियोगज दुःख में भी जीवनधारण

शा० व्या० : श्रीराम का साथ छूटने पर 'जौ पै प्रियवियोगु विधि कीन्हा' के विचार में प्रजा का जो प्रलाप हो रहा है, उसको 'एहि बिधि' के अन्तर्गत कहकर कवि उनके वियोगज दुःख को अवर्णनीय बता

रहे हैं। अयोध्या लौटने में मनः संताप होते हुए भी प्रभु के उपदेश से प्राप्त धैर्य के बल पर जीवनधारण में समर्थ होते हुए वे अवधि की समाप्ति पर प्रभु के मिलने की आशा में जीवित हैं।

प्रभु के 'किए धरम उपदेश घनेरे' के पालन में प्रजा का अयोध्या लौटना और 'अवधि आस' में प्राणों का रक्षण करना प्रभु की प्रसन्नता का साधक होगा जैसा चौ० ३ दो० १४१ में 'जब जब रामु अवध सुधि करहीं' से प्रकट होगा।

संगति : प्रभु के उपदेशपालन की सफलता के लिए प्रजा प्रभुप्रीत्यर्थ स्वकर्म को अपना रही है।

दो० : रामदरस हित नेम-ब्रत लगे करन नरनारि।
मनहुँ कोक-कोकी कमल दीन बिहीन तमारि ॥ ८६ ॥

भावार्थ : अयोध्यावासी स्त्री-पुरुष श्रीरामदर्शन-प्राप्ति के लिए नियमव्रत में लग गये। उनकी स्थिति ऐसी है कि मानो चकवा-चकवी या कमल सूर्य के न रहने पर दीन-हीन हो गये हों।

कोक दृष्टान्त का निष्कर्ष

शा० व्या : 'कोक कोकी' के दृष्टान्त से नर नारियों के 'विषमवियोग' की दशा तथा सूर्यहीन समय में संकुचित कमल के समान प्रियविरह में दीन नर-नारियों की दशा एवं सूर्योदय होने पर पुनः खिलने की आशा के समान रामदर्शन में उत्साहित प्रजा का 'अवधि आस' स्फुट हो रहा है। उसी आशा में 'रामदरस हित नेम व्रत' में स्थित प्रजा का शील स्नेह प्रकट किया है।

प्रजा के व्रत की सार्थकता

चिन्तनीय विषय यह है कि धर्मनीति के अनुसरण में प्रजा का 'नेमव्रत' श्रीराम के वनवास की सफलता में सहायक होगा जैसे पतिव्रता का पातिव्रत्य पति के रक्षण में प्रभावकारी होता है, उदाहरणार्थ बृन्दा के पातिव्रत्यप्रभाव से जालंधर का दिग्विजय।

संगति : प्रारम्भिक वनवासात्मक विधि का निरूपण करने के बाद माता कौसल्याजी से कहे 'कानन राजू' के अन्तर्गत संपत्ति का अर्जन वक्तव्य है जिसका आरम्भ चौ० १ दो० ८८ में होगा। अभी उस का उपक्रम हो रहा है।

चौ० : सीता-सचिवसहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई ॥ १ ॥
उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दण्डवत हरषुबिसेषी ॥ २ ॥
लखन सचिवँ सियँ किए प्रनामा। सबहि सहित सुखु पायउ रामा ॥ ३ ॥

भावार्थ : सीताजी व मन्त्री सुमन्त्र के साथ दोनों भाई शृंगबेरपुर के पास पहुँच गये। गंगाजी को देखकर श्रीराम रथ से उतर पड़े विशेष प्रसन्नता से उनको प्रणाम करने लगे। लक्ष्मणजी, मन्त्री और सीताजी ने भी प्रणाम किया यह देखकर सबके साथ श्रीराम सुखी हुए।

श्रीराम का राजमार्ग से गमन

शा० व्या० : मालूम होता है कि अयोध्या से शृंगवेरपुर तक का राजमार्ग होगा उसी मार्ग से

श्रीराम का रथ पहुँचा है। राजशास्त्र के विधान के अनुसार राजमार्ग से जानेवालों पर आटविकों का आक्रमण संभावित नहीं है। इस दृष्टि से ऐसी कल्पना की जा सकती है कि भरत जी का समाज मार्गान्तर से गया होगा—जिस कारण से आटविकों की शंका का उत्थापन भरतयात्रा में वर्णित है।

श्रीराम का हर्षविशेष

'देवसरि' से शापानुग्रह में समर्थ गंगाजी का देवत्व प्रकट किया है। 'हरषु बिसेषी' से ध्वनित है कि स्वकुलावतंस राजा भगीरथ के प्रयत्न से गंगाजी द्वारा जिस प्रकार पूर्वजों की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई उसी प्रकार पिता श्री के वचन का प्रामाण्य गंगाजी की वाणी से प्रकट होकर (दो० १०३) वनवास की सफलता पूर्वक सिद्धि में सहायक होगा। प्रभु के 'हरषुबिसेषी' में सहयोगिनी सीता जी, लक्ष्मणजी व सुमन्त्र का गंगाजी को प्रणाम करना 'सुख पायउ रामा' का साधक इसीलिए है कि पिता श्री के वचन प्रमाण के अनुगमन में तीनों के योगदान से श्रीराम आश्वस्त हैं।

संगति : गंगाजी की महिमा का वर्णन करके प्रभु गंगाजी की प्रसन्नता से वनवास की मंगलमूलता में तीनों को आश्वस्त कर रहे हैं जैसा 'सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई' से व्यक्त है।

चौ० : गंग सकल-मुद-मंगल मूला। सब सुखकरनि हरनि सब सूला ॥ ४ ॥
कहि-कहि कोटिक कथाप्रसंगा। रामु बिलोकहिं गंगतरंगा ॥ ५ ॥
सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुधनदीमहिमा अधिकाई ॥ ६ ॥

भावार्थ : गंगाजी सम्पूर्ण मुद-मंगल की मूला हैं, सब सुख को देनेवाली और सब पीड़ा को हरने वाली हैं। गंगा-स्तवन में अनेक प्रकार की कथा प्रसंगों को कहते हुए श्रीराम गंगाजी की लहरों का दर्शन कर रहे हैं। गंगाजी की महिमा को प्रभु मन्त्री सुमन्त्र, छोटे भाई लक्ष्मणजी और प्रिया सीताजी को सुना रहे हैं।

गंगाजी के सम्बन्ध में प्रतिज्ञा

शा० व्या० : न्याय भाषा में गंगाजी के सम्बन्ध में "इयं गंगा प्रणामाश्रितप्रसादवती प्रमोदस्य सर्वविधमंगलस्य सुखस्य च मूलं दुःखनिरसनक्षमा च" यह श्रीराम की प्रतिज्ञा कही जायगी। 'कोटिक कथा' का भाव है कि प्रतिताज्ञातार्थ को सिद्ध करने के लिए प्रभु ने उक्त कोटि के आधार पर विविध कथा प्रसंगों को सुनाया।

गंगादर्शन में मुदमंगलमूलता

चौ० ३-४ दो० ३६ में सत्यसंध राजा द्वारा गायी वनवास की फलश्रुति के सिद्धि में गंगाजी की मुदमंगलमूलता एवं सुखदातृत्व को साधनतया प्रकट करते हुए पिता श्री के वचनप्रमाण के पालन में समस्त अयोध्यावासियों की पीड़ा का निरसन एवं सुखप्राप्ति को प्रभु समझा रहे हैं। 'रामु बिलोकहि' से स्फुट है कि प्रभु की दृष्टि से गंगाजी को तेजस्विता प्राप्त हो रही है उसका प्रकाशन सीताजी की वाणी ('लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे' चौ० ६ दो० १०३) से संगत व दो० १०३ में प्रकट गंगाजी की प्रसन्नता से होगा।

दोनों भाई का कर्तृत्व

सीताजी का अयोध्या से बाहर निकलना उसने दुर्ग को त्यागना है। अब से सीताजी के रक्षण का भार दोनों भाइयों पर है अतः रथ पर चढ़ते और उतरते वनगमन का कर्तृत्व व्यासज्यवृत्ति है समझाने के लिए कवि ने दो० ८३१ चौ० २ में और यहाँ दोउ भाई कहा है।

संगति : 'सचिवहि अनुजहि प्रियहि' को उक्त विषय में आश्वस्त करने के अतिरिक्त गंगाजी की महिमागान के बहाने सचिवादि को थोड़ा विश्राम भी प्राप्त कराते हुए प्रभु गंगास्नान की धर्मार्थिता को प्रकट कर स्नानादि कर रहे हैं।

चौ० : मज्जनु कीन्ह पंथश्रम गयऊ। सुचि जलु पिअत मुदित मन भयऊ ॥ ७ ॥

भावार्थ : गंगाजी में स्नान करने पर मार्ग का श्रम दूर हो गया। गंगाजी के पवित्र जल का पान करने से मानस प्रसन्न हो गया।

स्नान में विधि का अनुगमन

शा० व्या० : मार्ग का श्रम व उष्णता का परिहार विश्राम द्वारा करके स्नान करना आयुर्वेद शास्त्र सम्मत है। उस विधि का पालन प्रभु ने स्वयं किया और साथ में चलने वाले तीनों से कराया है। यह स्नान कामया अर्थ कहा जायगा। चौ० ३ दो० ९४ में 'सकल सौच करि राम नहावा' से मुनिव्रत के निमित्त से किया स्नान धर्म का द्योतक है। 'रामु बिलोकहि गंगतरंगा' से तेजस्विता व 'सुचिजल' के पान का प्रभाव 'मुदित मन भयउ' से प्रकट किया है।

संगति : शास्त्र की प्रतिष्ठा रखने में प्रभु का नाट्य दिखाते हुए शिवजी श्रीराम का प्रभुत्व प्रकाशित कर रहे हैं।

चौ० : सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारु। तेहि श्रम यह लौकिक व्यवहारु ॥ ८ ॥

भावार्थ : जिस प्रभु का स्मरण करते ही श्रम चला जाता है उस प्रभु को श्रम होना लोकव्यवहार के नाते कथनमात्र है।

प्रभु के नाट्य का उपयोग

शा० व्या० : "मम मायासंभव संसारा" के अनुसार अनादि काल से प्रवृत्ता मूलाविद्या रूप माया से आवृत ईश्वर-अंश जीव भवपथ में भ्रमण करता रहता है,[1] तथा सुख की खोज में सदा श्रांत होता रहता है। 'सच्चिदानन्द निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा' के अनुसार जब तक वह अन्तमुर्ख हो सच्चिदानन्द की प्राप्ति नहीं करता तब तक उसको विश्राम नहीं मिलता। अथवा सुषुप्ति का सुख भी आत्मसुखसम होने से जिस प्रकार दैनिक कार्य में श्रांत जीव निद्रा में विश्राम का अनुभव करता है। उसी प्रकार 'जिमि "हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि' के अनुसार स्व-स्व वर्णाश्रमोचित धर्म का पालन करते हुए[2] भगवत्प्राप्ति के प्रयत्न में लगे जीव का श्रम तभी दूर होता है जब वर्णाश्रम के माध्यम से शरणागत हो प्रभुकृपा की उपलब्धि करेगा। अतः वर्णाश्रम में रहकर प्रभु धर्ममर्यादा में रहते हुए श्रम का भी अनुसरण करते हैं 'सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारु' की एकवाक्यता नारदचरित्र में कहे 'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी' से स्पष्ट है।

---

१. उत्तर काण्ड में वेदस्तुति में कहा है 'भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि कालकर्म गुननि भरे।"

२. बरनाश्रम निज निज धरमनिरत वेदपथ लोग। चलहि सदा पावहि सुख नहि भय सोक न रोग ॥

'तेहि श्रम' से कवि प्रश्न करते हैं कि ('मायाधीस ग्यानगुनधामू') अलौकिक करनीवाले प्रभु को क्या श्रम हो सकता है ? श्रीरामरूप में अवतरित प्रभु को 'मज्जनु कीन्ह पंथश्रम गयऊ' कहना लोक व्यवहार में नाट्यमात्र है, उसमें अविद्या का सम्बन्ध नहीं है।

संगति : कवि (शिवजी) मनुष्यरूप में अवतरित श्रीराम के नर-चरित्र में प्रभुसम्बन्ध का स्मरण कराने हेतु प्रभुत्व को श्रीराम में स्फुट कर रहे हैं।

दो० : सुद्ध सच्चिदानन्दमय कंद भानुकुलकेतु ।
चरित करत नर अनुहरत संसृतिसागरसेतु ॥ ८७ ॥

भावार्थ : श्रीराम शुद्ध (प्रकृति पार त्रिगुणातीत मलदोष मुक्त) सित्य, ज्ञानमय, आनन्दमय प्रभु हैं। सूर्यकुल के यशस् को विस्तृत करनेवाले श्रीराम मनुष्य के समान आचरण करते हुए भवसागर से पार होने के लिए पूल के रूप में अपने चरित्र को बना रहे हैं।

संसार से पार होने में प्रभु की शिक्षा

शा० व्या० : शिवजी की उक्ति 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिन्धु जन हित तनु धरहीं' से स्पष्ट है कि श्रीराम के मानवोचित शास्त्रानुयायी चरित्र संसारसागर से पार होने के लिए सेतुरूप में उपलब्ध हैं। जैसा सुतीक्ष्णजी ने कहा है। 'अति नागर भवसागर सेतु। त्रातु सदा दिनकरकुलकेतु।'

रामप्रदर्शित मार्ग

'नर अनुहरत' से ध्यातव्य है कि मानव चरित्र को दिखाने के लिए श्रीराम ने भरद्वाज ऋषि द्वारा निजवेदपथ (मुनि बटु चारि संग तब दीन्हें) को शास्त्रस्मृतिशोधित बताकर (सोधि सुगम मगु तिन्ह कहि दीन्हा) सबके लिए सुगम किया है। 'चरित करत' से कवि रामचरित्र का आदर्श स्थापित कर रहे हैं। निष्कर्ष यह है कि शास्त्रानुगमन से अन्वय-व्यतिरेकतःफलप्राप्ति की सिद्धि निर्णीत की जा सकती है अन्यथा संशय के समाधान में मानव असमर्थ है।

संगति : चौ० १ दो० ८७ की संगति में कहे मित्रसंपत्ति की प्राप्ति का आरम्भ दिखाया जा रहा है।

चौ० : यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई ॥ १ ॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा ॥ २ ॥

भावार्थ : निषादराज गुह को जब यह समाचार मिला तो उसने मनस् में प्रसन्न होकर अपने प्रिय बन्धुओं को बुलाया और भेंट में देने के लिए फल मूल का भार साथ में लेकर अत्यन्त हर्षित हृदय से मिलने के लिए चला।

आतिथ्यसत्कार

शा० व्या० : अपने राज्य में अपने मित्र अयोध्याराज—राजकुमारों के आने का समाचार चरों द्वारा मिलने पर गुह प्रसन्न हुआ। 'मुदित' से मित्रतासूचक भाव 'एवं प्रियबंधु' से विश्वस्त स्वमण्डल विवक्षित है। देश-कालानुसार उपलब्ध वन्य फल मूलादि भेंट के लिए उपयुक्त पदार्थ हैं। सामन्त-राजाओं के लिए नियम है कि चक्रवर्ती राजा या राजपुत्र से मिलने के लिए रिक्तपाणि न जाय इसलिए 'लिए फल मूल भेंट'

कहा है। 'भरि भारा' से गुह की त्यागशीलता एवं उदारता प्रकट की है[1]। प्रियदर्शन के आवेग में हर्षभाव की वास्तविकता को 'हियँ हरषु अपारा' से व्यक्त किया है। 'गुह निषाद' से जाति का परिचय देते हुए आटविक होने के साथ गुह की मल्लहाध्यक्षता होना भी विवक्षित है।

जब का सम्बन्ध

'सुधि जब पाई' में ग्रन्थकार जब की आकांक्षा को अग्रिम दोहा ८९ के चौ० ४ में कहे 'तब' तक अनुवृत्त करना चाहते हैं जिससे गुह को 'सुधि पाई' की न्यूनता का परिहार हो जाय और गुह को वास्तविक स्थितिकी जानकारी होकर ही दो० ८८ में कही प्रभु की उक्ति के अनुसार राजकीय व्यवस्था का अनुमान हो जाय।

संगति : प्रभु के अनुराग में उपहार देते हुए देख रहा है।

चौ० : 'करि दण्डवत' भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे॥ ३॥

भावार्थ : प्रभु के सामने भेंट की वस्तुओं को रखकर गुह ने साष्टांग प्रणाम किया। अत्यन्त प्रेम में भरकर प्रभु की ओर देखने लगा।

दण्डवत आदि से ध्वनि

शा० व्या० : 'करि दंडवत' से गुह का विनय प्रकट करते हुए 'बिलोकत' से व्यक्त स्निग्धादृष्टि से उसकी मित्रता एवं 'अति अनुरागे' से प्रभुप्रेम दर्शाया है।

संगति : अयोध्यापति के सम्बन्ध से मित्र राजा का सम्मान एवं नीतिदृष्टि से सुहृद्भाव भी श्रीराम व्यक्तकर रहे हैं।

चौ० : सहजसनेहबिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई॥ ४॥

भावार्थ : गुह के प्रति सहज प्रेम के वश हो रघुपति श्रीराम ने उसको पास में बैठाकर कुशल पूछा।

मित्रभेद विश्वास्यता, विरोधपरिहार

शा० व्या० : नीतिशास्त्र में मित्र के चार भेद बताये हैं—औरस, मैत्रसंबद्ध, प्राकृत और कृत्रिम। उनमें औरस एवं मैत्रसंबद्ध को सहज कहा जाता है। 'सहज सनेह' से गुह का मैत्रसंबद्ध प्रेम दिखाया है। 'निकट बैठाइ' से गुह की विश्वास्यता प्रकट की है। धर्मशास्त्र के अनुसार द्रष्टा के द्वारा ब्राह्मण के लिए 'कुशल' शब्द का प्रयोग है। यहाँ तो राजनीति की मर्यादा में उसका अनुवाद करते हुए कवि ने 'पूँछी कुशल' कहा है। अतः धर्मशास्त्रा से विरोध नहीं है।

संगति : आटविकधर्मज्ञता पूर्वक पालन करने से प्राप्त शुचिता से गुह का सेवकत्व एवं भक्तिभाव आगे प्रकट हो रहा है।

---

१. सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्॥ (किरातार्जुनीय)

चौ० : नाथ ! कुसल पदपंकज देखें । भयउँ भागभाजन जन लेखें ।। ५ ।।
देव ! धरनि धनु धामु तुम्हारा । मैं जनु नीचु सहितपरिवारा ।। ६ ।।
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ । थापिय जनु सबु लोगु सिहाऊ ।। ७ ।।

भावार्थ : 'पूँछी कुशल' के उत्तर में गुह बोल रहा है "हे नाथ ! आपके चरणकमलों का दर्शन करने से कुशल ही है । अपना जन मानकर आपने जो 'निकट बैठाइ' से आदर किया है, उससे मैं सौभाग्यका पात्र हुआ हूँ । हे देव ! मेरा धन, भवन, भूमि आदि सब आपका है, मैं तो नीच सेवक हूँ, परिवारसहित आपकी सेवा में उपस्थित हूँ ।

भाग्यभाजनता

शा० व्या : 'भागभाजन' की उपपत्ति आगे चौ० १-२ दो० १२४ में स्पष्ट होगी । वनवास में प्रवृत्त प्रभु के चरणारविन्द के दर्शन में 'लखनु सिय राभ बटाऊ' का दर्शन भाग्यभाजनता का साधक है । प्रभु ने स्वयं आकर दर्शन देना कुशलता की पूर्णता है ।

नीचधर्म का अभिमान

अपनी जाति की शास्त्रमर्यादा में रहते स्वयं को नीच मानते हुए तदनुबन्धी आटविक धर्म का पालन करने में गुह को ग्लानि नहीं है, अपितु 'मैं जनु नीचु' कहने में उसको स्वाभिमान है । अतः चरणस्पर्श न कर 'पदपंकज देखे' से गुह का शास्त्रमर्यादोचित आचरण प्रभु को इष्ट है । 'नीच' निन्दार्थक नहीं, अपितु शास्त्रोक्त पारिभाषिक शब्द है ।

स्वजन सहित आत्मनिवेदन

"धरनि धनु धाम" के समर्पण के साथ सपरिवारसेवा से आत्मनिवेदन का भाव व्यक्त है । राजनीति दृष्टि से सामन्त राजा के नगर में मान्य राजा का स्वजन एवं स्वपुरवासियों के सामने आना सामन्त के सम्मान के स्थापन का द्योतक है, इसलिए गुह श्रीराम से पुर में प्रवेश करने की प्रार्थना कर रहा है । भक्तिदृष्टि से अपने पुर में प्रभु का स्वागत उसके सेवकत्व की स्थापित करने वाला होगा जिससे उसको और परिजनों को प्रसन्नता होगी ।

ध्यातव्य है कि गुह के मनोरथ ('थापियजनु सबु लोगु सिहाए') को चित्रकूट में समस्त अयोध्या वासियों के समक्ष गुरु वसिष्ठजी के आलिंगन से पूर्ण करेंगे (चौ० ६ से दो० २४३) ।

संगति : मातृपित्राज्ञापालनात्मक धर्म के अनुष्ठान में प्रभु पुरप्रवेश का निषेध बता रहे हैं ।

चौ० कहेहु सत्य सबु सखा ! सुजाना । मोहि दीन्ह पितु आयसु आना ।। ८ ।।

भावार्थ : हे सखे ! तुम तो सुजान हो, जो कहते हो वह ठीक ही है । पर मुझे पिताश्री की आज्ञा (तापसवेष बिसेषि उदासी रहकर) से मुनिव्रत में वनवास की चतुर्दशवर्षव्याप्ति निभानी है ।

सखित्व का फल

शा० व्या० : 'सखा' से गुह के हितैषित्व में विश्वास्यता प्रकट है । अतएव सखा के सम्बन्ध से गुह

का अपने पुर में ले चलने का आग्रह उचित है (पित्रादेश की मर्यादा न रखी जाय तो माता कैकेयीजी के मनोरथ पूर्ति प्राग भाव ध्वंस नहीं होगा। अतः सखा का वचन प्रभु ने सार्थक नहीं किया।) तथा राजनीति-दृष्टि से मित्र राजा के साथ सखा का व्यवहार का यह भी उपयोग है कि वनमार्ग में दिङ्मोह होने पर अन्तपाल आटविक सहायक होतेहैं। जैसा आगे गुह की उक्ति (दो० ८४) में स्पष्ट होगा।

चरवाक्यैकवाक्यता

उपरोक्त चौपाई में कहे सत्य का अन्वय देहलीदीपकन्याय के अनुसार 'सत्य कहेउ' व 'सत्य सुजाना' ऐसा करने से यह सिद्ध होता है कि श्रीराम का वनवास करना सत्य है कि और 'सुधि पाई' से गुह ने चरों द्वारा जो बातें जानी हैं वह भी सत्य हैं। सुजाना से गुह की सुमत्ति ध्वनित है जैसा लक्ष्मणजी के साथ हुए संवाद में उस की सुमत्ति स्पष्ट होगी। (चौ० ६ दो० ९० से चौ० २ दो० ९२ तक)।

संगति : 'आयसु आना' को प्रभु स्पष्ट करते हुए गुह से कह रहे हैं।

दो० : बरष चरि दस बासु बन मुनिब्रत-बेषु अहारु।
ग्रामबासु नहिं उचित सुनि गुहहि भयउ दुखु भारु ॥८८॥

भावार्थ : "चौदह वर्ष के वनवास में मुनिव्रत एवं तदनुकुल वेष और आहार होने से मेरा ग्राम में रहना उचित नहीं है," ऐसा सुनकर गुह को भारी दुःख हुआ।

सत्यता में व्यवधान इष्ट नहीं है।

शा० व्या : मुनिव्रत के निर्वाह में तदनुकूल वेष और आहार का साधन ग्रामवास में नहीं बनेगा क्योंकि उदासीनता में होने वाली एकाग्रता ग्रामवास में विकसित नहीं होगी तो माताजी के वचन "तापसवेष विसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनवासी' की सत्यता में व्यवधान होगा।

'मुनिव्रत वेष अहारु' की यथार्थता

मुनिव्रत में तपस् एवं अन्वीक्षा मुख्य है दो० ११० में कहे तापसमिलन से प्रभु के तपस् की प्रतिष्ठा तथा अन्वीक्षा को अरण्यकाण्ड में दो० १५-१६ के अन्तर्गत लक्ष्मणसंवाद वर्षावर्णन तथा नारद संवाद आदि स्थलों पर स्फुट किया है। कैकेयीजी के उक्त मनोरथ में 'तापस वेष विसेषि उदासी' से निहित मनोरथपूर्तिप्रागभाव के ध्वसं का उपधायक दूसरे दिन (चौ० ३-४ दो० ९४ में) सविधि मुनिव्रत का ग्रहण करके प्रभु तापसवेष बनाकर स्पष्ट करेंगे तथा 'चौदह बरिस रामु बनवासी' की पूर्णता चरितार्थ करेंगे। मुनिव्रत के उपक्रम में कैकेयी द्वारा प्रदत्त 'मुनिपट भूषन भाजन' को धारण करने से व्रतांग विधिकी मर्यादा में व्रतस्थ का पूर्वापेक्षित संयम आवश्यक है जैसा अभिषेकविधि में गुरुवसिष्ठजी ने "राम करहु सब संजम आजू" की शीक्षा दी थी। कैकेयीजी को दिये वरदान से सम्मत पिताश्री के वचन से चौदह वर्ष का वनवास करना है उस विधि की फलोपलब्धि शुचिता में ही पर्यवसायिनी होगी अतः विधि को प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए प्रभु ने 'ग्रामवास' को अनुचित बताया है। उसी प्रकार गुह, भरद्वाज ऋषि, वाल्मीकि मुनि आदि द्वारा किए सत्कार में मुनिव्रतोचित आहार का उल्लेख उक्तार्थ को स्पष्ट करेगा।

स्मणीय है कि प्रभु ने वनवासको व्रत कहकर अपरिहार्य भाररूप में स्वीकार नहीं किया है, बल्कि दो०४१

के अनुसार मुदित मनस् से स्वीकार करके मुनिव्रत को अंगीकृत किया है जैसा श्रीमद्भागवतोक्ति "दत्त-क्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य' से एकार्थक है।

उदासीनत्व में आटविकसंग्रह व दंभाभाव

चौ० ३ दो० २९ की व्याख्या में 'उदासीनत्व की उपपत्ति' के "अन्तर्गत निष्कासित राजपुत्र के द्वारा राजविरोध में आटविक बल के संघटन की" अर्थ शास्त्र में चर्चा की गयी है। किन्तु उपरोक्त दोहे में श्रीराम ने उक्त दोष का निरसन करके आटविक समाज को जिस प्रकार सामप्रयोग से अनुकूल बनाया है उसी प्रकार सुमन्त्र के सक्षित्व में मुनिव्रत का उल्लेख करके वनवाससमन्वितधर्मरुचि का संकेत कैकेयीमण्डल के आश्वासनार्थ किया है। 'दंभं महदुपासया' से समन्वित 'मोहि दीन्ह पितु आयसु' से प्रभु के मुनिव्रत वेषु अहारु' में दंभ का अभाव दिखाया है।

'बरस चारि दस' से 'चौदह बरिस' का समन्वय

कैकेयी जी द्वारा कहे 'चौदह बरिस' की व्याप्ति 'चारि दस या दस चारी' से वनवास की अवधि में न्यूनातिरिक्तत्वभ्रान्ति का निरास करते हुए अंक की प्रामाणिकता को शब्दविपरिवर्तन से स्थिर किया है जैसा संवैधानिक या न्यायिक प्रणाली से अंकों को शब्दान्तर में लिखने की प्राचीन परम्परा है।

संगति : पूर्वोक्त चौ० १ में 'यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई' से अयोध्या के वृत्तान्त की पुष्टि जब श्रीराम के कथन से हो गयी तो गुहसमाज को सब बातें ज्ञात होने पर। और दो० ३३ में सुमित्राजी के वचन ("राम सिय रूपु सुसीलु सुभाउ") की यथार्थता प्रकट होने पर गुहजनों का सहज उद्गारे व्यक्त हो रहा है।

चौ० : राम-लखन-सियरूप निहारी। कहहिं सप्रेम ग्रामनरनारी ॥ १ ॥
ते पितु-मातु कहहु सखि ! कैसे ?। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे ॥ २ ॥
एक कहहिं भल भूपति कीन्हा। लोयन लाहु हमहि बिधि दीन्हा ॥ ३ ॥

भावार्थ : श्रीराम, लक्ष्मणजी और सीताजी का रूप आँखों से देखकर प्रेमाकर्षण में ग्रामवासी स्त्री-पुरुष आपस में कहने लगे। स्त्रियाँ कहती हैं "हे सखि ! वे माता-पिता कैसे (कठोर) होंगे ?" जिन्होंने ऐसे (सुकुमार) बालकों को वन में भेज दिया इसके उत्तर में पुरुषों का एक वर्ग कहता है राजा ने अच्छा ही किया जिससे इनके दर्शन में हम लोगों को भाग्यवशात् नेत्रों का लाभ मिला।

रूप आदि का प्रयोजन

शा० व्या० : 'रूप निहारी' से तीनों के रूप गुण संपत्ति का आकर्षकत्व दिखाया है। 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' के अनुसार आत्मगुणसम्पन्न व्यक्ति के प्रति आदरभाव को 'सप्रेम' से व्यक्त किया है। स्वाभाविक कोमल हृदय होने से नारियों को आश्चर्य यह कि सुकुमारता से युक्त बाल्यावस्था में इन तीनों को माता-पिता ने वनवास के लिए कैसे जाने दिया ?[1] 'ते पितु मातु' में पिताश्री का प्रथम उल्लेख इसलिए किया

१. कौसल्याजी की उक्ति "बय बिलोकि हियँ होई हरासू। बड़भागी वन" (चौ० ४ दो० ५६, की एक वाक्यता में ग्रामनारियों का उद्गार स्फुट है।

है कि श्रीराम के कथन में 'पितु आयसु' से पित्राज्ञा की प्रधानता दिखायी गयी है। 'पितु आयसु' के यत्र तत्र उल्लेख का तात्पर्य है कि प्रभु को सत्यसंघ पिताश्री के वचनप्रमाणता की चतुर्दशवर्षीय वनवास से सिद्ध करना है (दो० ५३)।

राजा को भला कहने का फल

धर्मगति को समझनेवाला विचारवान् वर्ग राजा को दोषी न ठहराकर इन तीनों के दर्शन का भाग्य समझकर राजा को भला मान रहा है। इस प्रकार भेदजनक शंका का तत्काल परिहार हो जाना आगे कहे प्रभु के 'सिंसुपातर' विश्राम में गुह द्वारा की जानेवाली सुरक्षा-व्यवस्था में निश्शंकता का साधक होगा।

अयोध्या में श्रीराम के आदर्श चरित्र को सुनकर दूरस्थ वनवासियों को उनके दर्शन की आकांक्ष थी जिसको विधि ने 'भल भूपति कीन्हा' से पूर्ण किया है, इस पर वे अपना सन्तोष व्यक्त कर रहे हैं।

संगति : 'आज्ञासम न सुसाहिबसेवा' के आदर्श के अनुकूल गुह का सेवकत्व यही है कि अपना हठ या आग्रह न करके प्रभु के वचन का पालन करते हुए मुनिव्रत की मर्यादा के अनुकूल विश्राम की व्यवस्था में वह उद्यत है मित्रराजा के सम्बन्ध से विश्राम स्थल की सुरक्षा का भी गुहको ध्यान है।

चौ० : तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना ॥ ४ ॥
लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा ॥ ५ ॥

भावार्थ : तब प्रभु के विश्राम स्थल का यथोचित विचार करके निषादराज ने अनुमान कर लिया कि शीशम का वृक्ष विश्राम स्थान होगा। ऐसा जानकर उसने रघुनाथजी को ले जाकर वह स्थान दिखाया। उसको देखकर श्रीराम ने उस स्थान को सब प्रकार से सुन्दर बताया।

मुनिव्रत के अनुरूप विश्राम स्थल

शा० व्या० : 'अनुमाना' से प्रभु के कहे 'मुनिव्रत वेषु अहारु' के अनुकूल स्थान के निर्णय में उचित विचार विमर्श दिखाया है। 'सब भाँति सुहावा' से जल का सुपास, स्थल की स्वच्छता, छाया, एकान्त वातावरण और सर्वोपरि सीताजी की सुरक्षा आदि विवक्षित है। 'सुहावा' गुह की प्रसन्नता का भी साधक है।

संगति : 'सब भाँति सुहावा' अर्थात् विश्राम स्थान में प्रभु के स्थित होने पर वहाँ के पुरवासी आश्वस्त होकर घर लौट आये।

चौ० : पुरजन करि जोहारु घर आए। रघुबर संध्याकरन सिधाए ॥ ६ ॥

भावार्थ : शृंगवेरपुरवासी प्रभु को नमस्कार करके अपने घर चले आये। तब रघुनाथजी संध्या करने के लिए चले।

संध्यावंदन

शा० व्या० : आगे दो० ८९ से स्पष्ट होता है कि प्रभु की यह सायंकालीन संध्या है।[1] प्रभु के

---

१. प्रतिष्ठितेऽहनि संध्यामुपासीत (अर्थशास्त्र १)।

एकान्त वास में बाधा न हो, इसलिए पुरवासियों ने वहाँ से हट जाना उचित समझा। अथवा रघुनाथजी को नित्यकर्म को अपेक्षा से भीड नहीं चाहिये समझकर निषादराज के संकेत से वे लौट गये।

संगति : प्रभु की सेवोचित व्यवस्था पूर्ण करने के लिए गुह अकेले वहाँ रह गया।

चौ० : गुहँ सँवारि साँथरी डसाई। कुस किसलयमय मृदुल सुहाई ॥ ७ ॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी ॥ ८ ॥

भावार्थ : कुशा के ऊपर मुलायम पत्तों से सजाकर सुन्दर गद्दी तैयार करके गुहने उसको बिछा दिया। जिन फल-मूलों को मीठे और नरम समझा, उनको बड़ो पवित्रता से अपने हाथों से पत्ते के दोनों में भर-भरकर वहाँ रख दिया।

बलाध्यक्ष का कर्तव्य

शा० व्या० : अर्थशास्त्र के निर्देशानुसार जिस प्रकार राजा की यात्रा में, ('नायकः पुरतो यायात्') नायक (बालक्यक्ष) को आगे की व्यवस्था करनी चाहिए, उसी प्रकार का कार्य गुह कर रहा है। यह भारतीय राजनीतिसम्मत लोकसंग्रह के अन्तर्गत विश्वस्त मंडल का उपयोग है। निष्कर्ष यह कि निराकांक्ष नीतिमान् के प्रति वह समाज हर्षोल्लास के साथ कृतज्ञता के भाव में सेवा के लिए तत्पर होता है।

भरद्वाज जैसे ऋषि के सत्संग एवं सूर्यवंश के सम्पर्क का फल है कि 'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता' की सार्थकता में गुह की कृतार्थता प्रकट हो रही है।

शुचि भोज्य फल

'सुचि मृदु मधुर' से मुनिव्रतोचित शास्त्रोनुमोदित सात्विक आहार वन्य फलमूलादि विवक्षित हैं। पूर्वोक्त चौ० २ दो० ८८ में कहे 'लिए फल मूल भेंट भरि भारा' 'भेंट धरि आगे' से पृथक् यह 'सुचिफल मूल' है क्योंकि दो० ८८ में गुह को प्रभु का मुनिव्रत ज्ञात हो चुका है। अपने हाथ से लाकर 'सुचि फल मूल' का भेंट करना गुह के सेवकत्व को प्रकट करता है।

संगति : सेवाभाव में शास्त्रोचित मर्यादा को रखते सेवक की सप्रेम भेंट को प्रभु स्वीकार कर रहे हैं।

दो० : सिय सुमन्त्र भ्रातासहित कन्द मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि पाय पलोटत भाइ ॥ ८९ ॥

भावार्थ : रघुवंशमणि श्रीराम ने सीताजी सुमन्त्र और भाई लक्ष्मणजी के साथ कंद मूल फल का भोजन किया। शयन में प्रभु में विश्राम करने पर भाई लक्ष्मणजी उनका चरण दबाने लगे।

शा० व्या० : विदेशवास में उपलब्ध भोजन को अपने साथियों में बाँट कर खाना नीतिसम्मत है और नायक की मर्यादा व प्रीति का संग्राहक है। चौ० ७-८ दो० ८९ में कहे दिनभर के निराहार एवं श्रम के बाद भोजन-शयन का क्रम दिखाया गया है।

धर्मनीति का समन्वय

ज्ञातव्य है कि श्रीमद्भगवद् गीता की ज्ञानेश्वरी टीका में "धर्माची नीतिची शेजभरी" उक्ति के

अनुसार श्रीराम और सीताजी का एक शैया पर सोना धर्मनीति का समन्वय है। इसको कवि अग्रिम वर्णन में स्फुट करेंगे। इसका प्रकाश लक्ष्मण-गुह संवाद में स्पष्ट होगा। रामशैया का दर्शन करके (चौ० ७ दो० १९८) भरतजी धर्मनीति की सुस्थिर मर्यादा देखकर चित्रकूट में तदनुकूल भाव का प्रकाशन करेंगे।

संगति : चौ० ४ दो० १५१ में सुमन्त्र द्वारा प्रकाशित लक्ष्मणजी के धनुर्धरत्वव्रत का प्रकाशन किया जा रहा है।

चौ० : उठे लखनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी ॥ १ ॥
कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन ॥ २ ॥

भावार्थ : प्रभु को सोते जानकर लक्ष्मणजी उठे और सुमन्त्र से मीठी वाणी में सोने को कहने लगे। आप धनु-बाणष् को सजाकर कुछ दूरी पर वीरासन से बैठकर जागने लगे।

सात्विक की निद्रा व सेवक का पहारा

शा० व्या० : 'प्रभु सोवत जानी' से सात्विकों की स्वल्प निद्रा समझनी चाहिए। जैसा "सन्नद्ध पार्श्वस्थितवीरयोधः सेवेत साध्वीं निशि योगनिद्राम्" नीतिसार में स्फुट है। दुर्ग के बाहर राजा के शयन करने पर पहरा देने का जैसा विधान है वैसा ही कार्य लक्ष्मणजी का स्वामी की सुरक्षा के लिए हो रहा है। यद्यपि मन्त्री सुमन्त्र भी सावधान हैं फिर भी लक्ष्मणजी माता सुमित्राजी के उपदेश ('सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई') से संगत सेवाकार्य वनवास-अवधिसमाप्तिपर्यन्त समझना चाहिए जैसे श्रीराम की संध्या, पार्थिवपूजा आदि का क्रम कवि ने बताया है।

सेवाश्रम का परिहार

जिस प्रकार सुमन्त्र के प्रति ('तुम्ह पुनि पितु सम अतिहित मोरे। बिनती करउं तात कर जोरे।' (चौ० १ दो० ९६ में) प्रभु का आदर व्यक्त है, उसी प्रकार लक्ष्मण जी 'मृदु बानी, से सुमन्त्र को विश्राम करने की प्रार्थना कर रहे हैं एवं च अपनी पहरेदारी से उनको आश्वस्त कर रहे हैं। जैसे योगी को ध्येय मनोमयी मधुर मूर्ति के चिन्तन में या स्वामी की एकाग्रतापूर्वक उपासना में पतिव्रता को या उसकी प्रसन्नता का स्वाद मिलता है, उस स्वाद के रससंचार में आन्तरिक पुष्टि होकर योगी या पतिव्रता को श्रम का अनुभव नहीं होता वैसे ही सेवक लक्ष्मण जी को प्रभुसेवा में निद्रात्याग आदि से कोई श्रम का अनुभव नहीं है।

संगति : लक्ष्मणजी के मौलबन्धुत्व में गुह का सहयोग प्रकट किया जा रहा है।

चौ० : गुहँ बोलाइ पाहरु प्रतीती। ठाव-ठाव राखे अति प्रीती ॥ ३ ॥
आपु लखन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सर चाप चढ़ाई ॥ ४ ॥

भावार्थ : गुहने विश्वस्त पहरेदारों को बुलाकर स्थान-स्थान पर अत्यन्त प्रीतिभाव से नियुक्त कर दिया। फिर वह स्वयं कम्बर में तरकस कसते हुए धनुष्य पर बाण चढ़ाकर लक्ष्मणजी के पास जाकर बैठ गया।

शुचिपहरियों की नियुक्ति

शा० व्या० : अर्थशास्त्रोक्त उक्ति[1] के अनुसार गुह ने पाहरू प्रतीती' की नियुक्ति की है। अरण्यवासी ऋषियों (भरद्वाजादि) के संपर्क से जिस प्रकार निषादराज का चित्त शुद्ध है उसी प्रकार उसका मण्डल भी है जिसको 'पाहरूप्रतीती से कहा है। राजकुमार श्रीराम के सुरक्षार्थ उनकी नियुक्ति से आश्वस्त होकर गुह स्वयं भी 'कटि भाथी सर चाप चढ़ाई' से सन्नद्ध होकर सावधान है।

संगति : 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिनहि बिलोकत पातक भारी' के अनुसार मित्रताभावप्राप्त गुह के हृदय का विषाद लक्ष्मणजी के सामने प्रकट हो रहा है।

चौ० : सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदयँ विषादू ॥ ५ ॥
तनु पुलकित जलु लोचन बहई। बचन सप्रेम लखनसन कहई ॥ ६ ॥

भावार्थ : प्रभु को (गुह) सोते हुए देखकर निषाद के हृदय में स्नेहवशता के कारण विषाद उत्पन्न हो गया। उसका शरीर पुलक से भर गया, नेत्रों से आँसू गिरने लगे लक्ष्मणजी से प्रेम-भरे वचन कहने लगा।

गुह की प्रीति

शा० व्या० : राजा के प्रति अनुराग एवं पूज्यता के भाव में प्रजा राजोपचाररहित अवस्था में राजा को देखकर दुःखिनी होती है। वही स्थिति गुह की हो रही है जैसे 'प्रेमबस' से विषयतृष्णा से शून्य श्री राम की मध्यस्थवृत्ति से परिचित गुह का न्यायप्रिय श्रीराम के प्रति प्रेम एवं विश्वास प्रकट है। उसके अनुराग की वास्तविकता को चौ० ६ में प्रीति के स्वाभाविक अनुभाव के प्राकट्य से दिखाया है।

त्रयी की स्थापना में संवरणभाव

ध्यातव्य है कि 'संवरणमात्रं हि त्रयी लोकयात्राविदः' के अनुसार बृहस्पति के मत से प्रजा में प्रीति-भाव को संवरणमात्र से ही स्थापित किया जाय तो राजा की नीति की सफलता कही गयी है। वैसा न कर यहाँ पर श्रीराम ने त्रयी को वेदानुगामनी नीति के वास्तविक अनुसरण में सुसंगत बनाकर उसकी यथार्थता प्रकट की है। फलतः जहाँ संवरण का प्रश्न ही नहीं है वहाँ सफलता अन्त तक स्थिर है। यही भारतोय राजनीति की विशेषता है।

संगति : 'बचन सप्रेम लखन सन कहई' को कवि स्फुट कर रहे हैं।

चौ० : भूपति-भवन सुभायँ सुहावा। सुरपति-सदनु न पटतर पावा ॥ ७ ॥
मनिमय-रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे ॥ ८ ॥

दो० : सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुवासु।
पलंग मञ्जु मनिदीप जहँ सब बिधि सकल सुपासु ॥ ९० ॥

चौ० : बिबिध बसन उपधान तुराई। छीरफेन मृदु बिसद सुहाई ॥ १ ॥
तहँ सियरामु सयन निसि करहीं। निज छबि रति-मनोज मृदु हरहीं ॥ २ ॥

---

१. अन्ते इव गणिनोऽक्रुद्धा लुब्धान् दृष्ट कर्मणः। पर्यासवेतना नाप्तान् मण्डलेन निवेशयेत् (नीविसार)।

भावार्थ : राजा दशरथ का राजमहल प्राकृतिक सुन्दर है जिसकी बराबरी इन्द्रभवन भी नहीं कर सकता। महल में मणियों से जड़े सुन्दर छत बने हैं, मानो कामदेव ने अपने हाथों से सजाया हो। जहाँ पवित्र अत्यन्त विचित्र उच्च भोग के योग्य पुष्पों की सुगन्ध आदि से सुवासित वातावरण, सुन्दर पलंग, मणियों के दीप आदि सब प्रकार के आराम सुविधा के साधन उपलब्ध हैं, अनेक प्रकार के ओढ़ने बिछाने के वस्त्र, गद्दी तकिये दूध के फेन के समान उज्ज्वल कोमल और स्वच्छ शोभित हो रहे हैं, ऐसे महल में सुशोभित पलंग पर श्री सीतारामजी रात्रि में सोते थे। उस समय उनकी शोभा श्री कामदेव के गर्व को भी हरण करने वाली थी।

भूपतिभवन व सुरपतिसदन का वैधर्म्य

शा० व्या : 'भूपति' से भारतीय राजनीतिसम्मत सत्यसंध राजा दशरथ की शुचिता धर्मधुरंधरता, शास्त्रज्ञता, नीतिमत्ता आदि विवक्षित है जिसके आकर्षण से राजमहल विद्वानों, महात्माओं से सेव्य है। वर्णाश्रमावलम्बी अवधवासियों का राजाश्री के प्रति पूज्यता का भाव है। राजाश्री की इस भक्ति का फल है कि प्रभु श्रीराम वहाँ प्रकट हैं।

स्वर्गस्थ इन्द्रभवन में पहुँचना सुकृतकर्माधीन है। सकाम कर्मानुष्ठान से कर्मफल को स्पृहा रखने वालों को इन्द्रलोक अभीप्सित है, अपितु इन्द्रभवन का वैभव एवं रमणीयता असुरों के लिए भी सदा स्पृहणीय रही है। क्योंकि वहाँ सर्वांगीण शुचिता एवं निरुपाधिक प्रीति नहीं है। अयोध्या का राजभवन प्रेमतत्व से प्रतिष्ठित एवं धर्मनीति से अलंकृत है वहाँ भगवदुपासकों व महात्माओं की पहुँच निर्बाध है। 'सुभायँ सुहावा' से शुचिभावसम्पन्नता दिखायी है जो (' न पटतर पावा') इन्द्रभवन में नहीं है। इन्द्रभवन में कामोपयोग की प्रधानता है, यहाँ धर्म-नीति प्रयुक्त जितेन्द्रियता है। पूर्ण शुचिता के लोप से असुर दानव इन्द्रलोक पर अधिकार करने में सफल हुए हैं। चौ० २ दो० २५ की व्याख्या में अयोध्या मिथिला जैसी पवित्र नगरी में असुरों के प्रवेश न करने का कारण स्पष्ट किया गया है। अत: 'सुरपति बसइ बाँहबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके' से 'भूपतिभवन' की श्रेष्ठता स्पष्ट है। यही भारतीय राजनीति की प्रतिष्ठा है।

रमणीयता में अलौकिकता

'रतिपति निज हाथ सँवारे' से भूपतिभवन की रमणीयता एवं 'सुचि सुविचित्र से उसकी अलौकिकता है। प्रभु के मनोरंजनहेतु भवन की अलौकिक साधन सम्पन्नता 'सुभाय सुहावा' से संगत है। सब विधि सकल सुपासु' से शास्त्रमर्यादा के अनुकूल शुचि साधन सामग्रियों की उपलब्धता वर्णित है। दो० ९० में प्रभु का शयनागार काम शास्त्र की विधि से सुसज्जित है।

रतिपति की उत्प्रेक्षा में चमत्कृति

'जनु रतिपति' की उत्प्रेक्षा से स्फुट है कि प्रभु की रति समझकर स्वर्गस्थ रतिपति से इतर अलौकिक रतिपति द्वारा प्रभु के उपभोग्य (सुभोगमय) सामग्रियों का निर्माण हुआ है। अत: वह 'सुचि सुविचित्र' हैं। प्रभु के शृंगार में सुगंध सुवास का संबंध पुष्पों से तथा प्रकाश का मणियों से शास्त्रसिद्ध अलौकिक है। उक्त सात्विक शुचि सामग्रियों से विभूषित शयनागार में श्रीरामजी की जो शोभा है, उसके आगे मदोत्पादक

शृंगार से अपने को अलंकृत करनेवाले रति व कामदेव की शोभा फीकी है। 'छीरफेन' के दृष्टान्त में 'मृदु विसद' से सात्विकता शुचिता व्यक्त है।

श्रीरामशृंगार की विशेषता

अर्थशास्त्र का कहना है कि अर्थकामुक अजितेन्द्रिय राजा का वैभव व शृंगार भृत्यवर्ग और प्रजा के लिए आमिष होता है। जिसमें स्पर्धा-इर्ष्या स्वाभाविक है। न्यायप्रिय सत्यशील नीतिमान् धर्मरुचि राजा को विभूषित एवं शृंगारित करने में प्रजा को सुखनुभूति होती है उसके प्रति प्रजा में ईर्ष्या नहीं है। श्रीराम तो पूर्ण सत्व व प्रेम की मूर्ति हैं उनके प्रति प्रेम होना अर्थसिद्ध है। यह विशेषता अन्यत्र नहीं है।

प्रश्न : मित्र राजा के नाते निषादराज का सूर्यवंश से संपर्क होने पर भी अन्तः पुर के शयनागार से परिचित होना कहाँ तक संभव है ?

उत्तर : इसके समाधान में कहना है कि गुह भी राजसधर्मा है, कामसूत्र का ज्ञाता है। सूर्यवंश की शुचिता सात्विकता के अनुकूल 'राम-सिय-रूप सुसीलु सुभाउ' के शयनागार में शृंगार की शुचिता का अनुमान उसको सहज हो सकता है। भगवद्भक्ति के प्रभाव से प्रभु के उपभोग्य सामग्री का सौन्दर्य उसको प्रतिभाते हैं तो इसमें आश्चर्य नहीं है।

संगति : तृणशैया पर शयन करते हुए श्री सीतारामजी की धर्मशुचिता को देखकर गुह के हृदय का सहज उद्गार प्रकट हो रहा है।

चौ० : ते सियरामु साथरीं सोए। श्रमित बसनबिनु जाहि न जोए॥ ३॥

भावार्थ : वही श्री सीताराम जी कुश की गद्दी पर सो रहे हैं। उनको राजोचित वस्त्रों से विहीन श्रमित रूप में सोते देखा नहीं जाता।

सेवक का स्वामी के प्रति भाव

शा० व्या० : पूर्वोक्त 'सब विधि सकल सुवास' से सम्पन्न शयनागार में शयन करनेवाले श्री सीतारामजीको कुशकी गद्दी पर सोते देख गुह को वेदना हो रही है। 'सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू' ऐसे प्रभु को श्रमका स्पर्श नहीं है किन्तु उनको 'श्रान्त' जानकर दुःखी होना गुह के सेवकत्वभक्ति का परिचायक है जैसे चित्रकूट में बैठे अयोध्यावासियों के स्मरण में 'दुखारो' प्रभुको' लखि सिय लखनु बिकल होइ जाहीं' कहा हैं।

सेवक में सेव्य की रुचि अधीनता

स्वामी की रुचि रखना सेवक का कर्तव्य है अतः दो० ८८ में कही प्रभु की धर्मरुचि वह समझ रहा है इसलिए श्री सीताराम जी की दो० ९० में वर्णित शैया के अनुरूप व्यवस्था न करने में सेवक गुह को दुःख हो रहा है।

संगति : प्रभु को सेवकों से शून्य श्रान्तरूप में कुशशैया पर श्रीराम को सोते देख गुह पुनः हार्दिक पीड़ा व्यक्त कर रहा है।

चौ० : मातु-पिता-परिजन-पुरवासी। सखा-सुसील-दास अरु दासी॥ ४॥

भावार्थ : माता-पिता परिजन अयोध्यापुर के वासी, मित्र सदाचारी दास और दासियाँ जिनकी प्राण की तरह रक्षा करते हैं वही गोसाइं श्री राम जमीन पर सो रहे हैं।

स्वामी व सेवक की परस्पर-प्रियता

शा० व्या० : अर्थशास्त्र के आत्मरक्षितक प्रकरण से संगत प्रजानुरागी राजा के रक्षणोपाय के अनुसार गुह की उक्ति है। श्रीराम की सर्वप्रियता गुरु वसिष्ठ जी से कही दो० ३ के अन्तर्गत राजा दशरथ की उक्ति से स्पष्ट है।[1] श्रीराम के लालन-पालन में माताजी पिताश्री, परिजन, पुरवासियों, मित्रों की जैसी लगन थी वैसी ही लगन से उनके श्रमपरिहारार्थ सेवा में दास-दासियों का योग था। सुमित्राजी की (चौ० ५-६ दो० ७४ में) कही उक्ति से श्रीराम की प्राणप्रियता स्पष्ट है।[2] 'तेइ राम गोसाईं' से श्रीराम की निरासक्ति एवं जितेन्द्रियता प्रकट करते हुए 'महि सोवत' से गुह के कहने का भाव है कि दो० ९० में कहीं सुखशैया में श्रीराम को जो आनन्द था वही महिशयन में है, पर प्रभु के उपभोग्य सामग्री से रहित महिपर शयन करने से सेवक को दुःख है।

संगति : श्रीसीताराम की वैभवसंपन्नता को सोचने के बाद गुह अत्यन्त सुकुमारी सीताजी के बारे में विशेष सोच कर रहा है।

चौ० : पिता जनक जगविदित प्रभाऊ। ससुर सुरेससखा रघुराऊ ॥ ६ ॥
रामचन्दु पति सो बैदेही। सोवत महि बिधिबाम न केही ? ॥ ७ ॥

भावार्थ : वैदेही सीताजी के पिता राजा जनकजी हैं जिनका प्रभाव संसार में प्रसिद्ध है, ससुर रघुराज दशरथजी हैं जो देवराज इन्द्र के सखा हैं तथा पति श्री रामचन्द्र प्रभु हैं। ऐसी सीताजी को भी भूमि पर सोना पड़ रहा है तो कहना पड़ता है कि विधाता का विधान किसको विपरीत नहीं होता ?

विधि का चमत्कार

शा० व्या० : विधि को स्वतन्त्रता दिखाते हुए गुह का कहना है कि दृष्ट में सम्पूर्ण ऐश्वर्य की सम्पन्नता एवं 'सुरेससखा' से प्राप्त दैवानुकूलता व सीता जी में गुणसंपत्ति की न्यूनता न रहने पर भी उनको भूमि पर सोना पड़ रहा है, इसमें विधि का अद्भुत सामर्थ्य है क्योंकि प्रभु की आह्लाददायिनी शक्ति के रूप में अवतरित (उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं सर्वश्रेयस्करीं रामवल्लभाम्) सीताजी के लिए भाग्य का सम्बन्ध नहीं है।

विधि का अर्थ

ज्ञातव्य है कि ग्रन्थकर यहाँ 'वधि वाम' से, 'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु विहाइ बड़ेहि अभिषेकू' में प्रभु की संकल्पित विधि के अन्तर्गत देवों के विघ्नोपाय में 'गइ गिरा मति धूति' द्वारा सरस्वती के आयोजित वनवास विधि का संकेत कर रहे हैं।

संगति : उक्त 'विधि बाम' में गुह कर्मसिद्धान्त को स्फुट कर रहा है।

---

१. विप्रसहित परिवार गोसाईं। करहिं छोहु सब रौरिहि नाईं ॥
जे गुरचरनरेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं ॥

२. गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं ॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथरहित सखा सबही के ॥

चौ० : सिय-रघुवीर कि कानन जोगू ? । करमप्रधान सत्य कह लोगू ॥ ८ ॥

भावार्थ : श्री सीतारामजी क्या वनवास योग्य हैं ? लोग ठीक ही कहते हैं कि कर्म प्रधान है !

कर्म के विवक्षित अर्थ से काननजोगु का उत्तर

शा० व्या० : यहाँ 'करम' से वेदोक्त विधान विवक्षित है जिसका अनुसरण सन्त, महात्मा, नीतिमान् भी करते हैं उनको सदा विधि के परतन्त्र रहना पड़ता है। कैकेयीजी के सामने 'विधि सबविधि मोहि सनमुख आजू' कहकर प्रभु ने दो० ४१ में 'पितु आयसु संमत जननी' से पिता श्री के वचनप्रमाण को मानकर वनवास स्वीकार किया है यही विधि का स्वतन्त्र प्रामाण्य है। उसकी प्रामाणिकता वनवास से ही सिद्ध होगी—यही 'सिय रघुवीर कि कानन जांगू' का उत्तर है।

गुह द्वारा निर्णीत 'विधि बाम' की एकवाक्यता विप्रवधुओं की उक्ति (राम सरिस सुत कानन जोगू) तथा कौसल्या जी की उक्ति (बय बिलोकि हियं होइ हरांसू) से संगत रामवनवास में 'भयउ कराल कालु बिपरीता' (चौ० ५ दो० ५७) 'भा मोहि सब विधि बाम विधाता' (चौ० ७ दो० १६५) से स्मरणीय है।

'करमप्रधान' के अन्तर्गत ही सरस्वती के विधान से प्रेरिता कैकेयीजी का कर्म स्मरणीय है जैसा विप्रवधुओं ने 'काह कहिहि सुनि तुम्ह कहुँ लोगू' कहा है।

संगति : अग्रिम लक्ष्मणसंवाद के उपक्रम में ग्रन्थकार गुह का पूर्वपक्ष उपस्थपित कर रहे हैं। राममक्ति की अधीनता अज्ञानिता से गुह के विचार में जो नीति का ह्रास व्यक्त होगा, उसका निराकरण लक्ष्मणजी के उत्तर में स्फुट होगा।

दो० : कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह ।
जेहिं रघुनंदन-जानकिहि सुख अवसर दुख दीन्ह ॥ ९१ ॥

चौ० : भइ दिनकरकुलबिटप कुठारो । कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी ॥ १ ॥

भावार्थ : कैकेयराजा की लड़की कैकेयी मूर्खा है। उसने कठोर कुटिलता का कार्य किया है (विवाहोपरान्त) सुख का समय आने पर रघुनाथजी व सीताजी को जिसने दुःख देने का काम किया। कुमति कैकेयीजी ने सूर्यवंशरूप वृक्ष को काटने के लिए कुठार का कार्य किया है सम्पूर्ण संसार को दुःखी किया है।

गुह के पूर्वपक्ष का प्रयोजन कैकेयी को दोषी ठहराना है

शा० व्या० : रामवनवास में हेतुतया 'वाम विधि' का स्थापन करना लक्ष्मण गुह संवाद का सैद्धान्तिक पक्ष कहा जायगा। अभी जो महिशयन आदि की वेदना में 'कृत्वाचिन्तया' या 'आहार्य' रूप में कैकेयी जी को दोषवती बताते हुए गुह पूर्वपक्ष का उपस्थापन कर रहा है उसका परिणाम प्रीति का उच्छेदन है जो रघुवंश में भेदनीति का प्रवर्तक हो सकता है। उसका फल होगा राजनीतिक चाल से अर्थशास्त्रोक्त 'राजपुत्रस्य वृत्ति' प्रकरण के अनुसार निष्कासित राजपुत्र आटविक बल का संघटन करने का उद्यम करना है। गुह के इस पूर्वपक्ष में कैकयनंदिनि से 'कैकेयी दोषवती' यह प्रतिज्ञावाक्य तथा 'कुटिलपनु कीन्हा' हेतुवाक्य कहा जायगा।

मन्दमति का भाव

'राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राम मातु भलि सब पहिचाने' आदि से राजादि पर दोपारोपण करना कैकेयी का मन्दमतिमत्त्व है अर्थात् अविवेक है। 'कुटिलपनु कीन्हा' से स्वधर्म की आड़ में कैकेयीजी ने राजाश्री को वचनबद्धता में फंसाना, स्वार्थसाधन में अपने पुत्र के लिए राज्यप्राप्ति के मनोरथ से श्रीराम का वनवास मांगना, पिता श्री के आदेशपालन के नाम पर श्रीराम से वनवास की स्वीकृति कराना आदि विवक्षित है। (कैकयनंदिनि' से कैकयराज की सम्मति भी ध्वनित मानी जा सकती है)।

दैवसम्बन्ध का आरोप

प्र० : श्री सीताराम जी को कर्म का सम्बन्ध ही नहीं है तो दुख:-सुख का भोग कैसा ?

उ० : कहना होगा कि अपनी हार्दिक वेदना के वशीभूत होकर गुह उनको जीवकोटि में मानकर पूर्वपक्ष में 'रामो जीवः सुखदुःखादिमत्त्वात् अथवा रामः कर्माधीनफलभोक्ता जीवत्वात्' कहकर आरोप कर रहा है। इसका समुचित समाधान लक्ष्मण जी उत्तरपक्ष में करेंगे।

गुह की उक्ति में एकरूपता

प्रजा की उक्ति ('कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंसबेनुबन आगी' चौ० ४ दो० ४७) तथा कौसल्याजी की उक्ति ('को दिनकरकुल भयउ कृसानू') की एक वाक्यता गुह की उक्ति में स्पष्ट है। 'बिस्व दुखारी' का भाव चौ० ५ दो० २०७ में भरद्वाजजी की उक्ति ('राम गवनु वन अनरथ मूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला') की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

संगति : कवि गुह के पूर्वपक्ष का उपसंहार करते हुए उसके विषाद को दिखा रहे हैं।

चौ० : भयउ विषादु निषादहि भारी। रामसीय महि सयन निहारी ॥ २ ॥

भावार्थ : निषादराज गुहको श्री सीतारामजी के भूमिशयन को देखकर विषाद अत्यन्त समृद्ध हुआ।

विषादवृद्धिक्रम

शा० व्या० : पूर्व में श्रीराम का भूमिशयन, फिर सीताजी का महिशयन और अन्त में श्री सीताराम जी दोनों का महिशयन कहकर गुह के 'भयउ विषादु भारी' में विषाद के उत्तरोत्तर वृद्धि का क्रम दिखाया है। जिससे पुनरुक्ति का परिहार परिज्ञात होता है।

संगति : कवि आगे पूर्वपक्ष में कहे उपरोक्त दोषों का समाधान निरूपित करेंगे। उसके पूर्व लक्ष्मण जी का गुणप्रकाशन कर रहे हैं।

चौ० : बोले लखन मधुर मृदु बानी। ग्यान-बिराग-भगतिरस सानी ॥ ३ ॥

भावार्थ : शिवजी कह रहे हैं कि गुहके कथन के उत्तर में लक्ष्मणजी जो बोल रहे हैं वह वाणी मृदु मधुर, ज्ञान, वैराग्य भक्ति रस से भरी है।

मधुर मृदु वाणी आदि का भाव

शा० व्या० : 'मधुर मृदु बानी' का भाव है कि ऐसी वाणी जो श्रोता को प्रिय लगे और साथ ही वह सूत्रात्मक वाणी के सारांश (निष्कर्ष) को हृदयंगम करे। भागवतसिद्धान्तानुसार ज्ञान वैराग्य के

साथ ही भक्ति की शोभा है। 'रस सानी' का भाव भक्ति के रसास्वाद में अनानंदतापादक आवरण हटकर प्रीति के अनुभावप्राकट्य में है। जैसा लक्ष्मणजी उपसंहार में 'सिय रघुवीर चरनरत होहू' से भक्ति रस का औचित्य स्थापित करेंगे।

संगति : शिवजी उत्तर में रघुनाथ श्रीराम जी का प्रभुत्व प्रकट करते हुए भक्ति की स्थापना करेंगे उसके पूर्व गुह के कहे 'करमप्रधान' से कर्मसिद्धान्त को लेकर दो० ९१ में सुख-दुःखदातृत्व को स्पष्ट करते हुए लक्ष्मणजी चौ० ४ से दो० ९३ तक ज्ञान वैराग्य के तत्व का निरूपण कर रहे हैं।

चौ० : काहु न कोउ सुख दुखकर दाता। निजकृत करमभोग सबु भ्राता ॥ ४ ॥

भावार्थ : कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता। वास्तव में सब जीव अपने-अपने कर्म का फल भोगता हैं।

लक्ष्मणजी का उत्तर सुख-दुःखसाधनता का विवेक

शा० व्या० : जीव के सम्बन्ध में कर्मसिद्धान्त को बताते हुए लक्ष्मण जी का कहना है कि वैध (धर्म्य) आचरण से सुख एवं निषिद्ध (अधर्म्य) आचरण से दुःख मिलता है। जो जन्मान्तरीय कर्म का फल है। वर्तमान अत्युत्कट पाप-पुण्य का फल कभी इस जन्म में भी मिलता है। संचित कर्मफल (प्रारब्ध) का भोग ही जन्म का कारण है। अतः सुख-दुखभोग में साक्षी रूप ईश्वर की पक्षपातिता नहीं है। सुख-दुःखभोक्तृत्वसाधक (प्रारब्ध) अदृष्ट है जिसका आश्रय जीव है।

आनन्द की विस्मृति

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' होने पर 'भूमि परत भा डाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी' के अनुसार जन्म लेते ही जीव मायावृत हो मोह या मिथ्याज्ञान से आवृत हो जाता है। विषयसंसर्ग में देहाध्यास के कारण अपने आनन्दस्वरूप को भुला देता है। (इस सम्बन्ध में चौ० ८ दो० ७७ में 'करइ जो करम पाव फल सोई' की व्याख्या द्रष्टव्य है।[1]) इस प्रकार कैकेयीजी पर किये गुह के दोषारोपण का तात्विक उत्तर लक्ष्मण जी ने दिया है।

संगति : मूलभूत अविद्या के रहते जो सांसारिक प्रपंच दिखायी पड़ता है उसमें सत्य का आभास अधिष्ठान की ज्ञत्ता व मिथ्याज्ञान (मोह) के कारण है। इसको लक्ष्मणजी स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० : जोग बियोग भोग भल मन्दा। हित अनहित मध्यम भ्रम फन्दा ॥ ५ ॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करम अरु कालू ॥ ६ ॥
धरनि धामु धनु पुरपरिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू ॥ ७ ॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोहमूल परमारथु नाहीं ॥ ८ ॥

भावार्थ : संयोग-वियोग (मिलन-बिछोह) भोग, अच्छा-बुरा, शत्रु-मित्र उदासीन ये सब भ्रम के फन्दे हैं अर्थात् भ्रम व फन्दे में डालने वाले हैं। जन्म-मरण, सम्पत्ति-विपत्ति, कर्म और काल आदि जहाँ तक हो सके सभी ससार में फँसाने वाले घटक हैं। भूमि, घर, धन, नगर,

१. वैदिक सिद्धान्त संरक्षिणी में शिवशक्ति आदि ३६ तत्व की व्याख्या में यह विषय कहा गया हैं।

परिवार, स्वर्ग, नरक आदि जहाँ तक व्याहारिक जगत् है—उन सबको देखते सुनते भी मनस्में विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि उनका मूल कारण मोह (अज्ञान) है, उनमें परमार्थ सत्य नहीं है।

जोगादि का अर्थ

शा० व्या० : जोगादि की शाब्दिक व्याख्या इस प्रकार है—

जोग-वियोग—इन्द्रियों का विषय संयोग व संयोगाभाव।

भोग—सुख दुःख-साक्षात्कार।

भल-मंदा—इष्ट-अनिष्ट अथवा प्रिय-अप्रिय। हित अनहित—शुत्रुमित्र मध्यम-तटस्थ।

भ्रम-फन्दा—विशेष का अदर्शन या विपरीतदर्शन। जन्म-आद्य प्राणसंयोग।

मरण—अन्तिम प्राणसंयोग का ध्वंस। जगजाल-मायाप्रयुक्त भेदकार्य या भागवतानुसार इन्द्रिय-विक्षेप ही बन्धन है।

संपत्ति—अर्थ या गुणसंपत्ति। विपत्ति धर्मार्थप्रतिघातक व्यसन।

कर्म—कारकों को संबंध जिससे होता है। या धर्म अधर्म। काल-आत्मा का बाह्य रूप, रूपरसादि का परिवर्तक उत्पादक ऋतु आदि। 'धरनि धामु धनु पुरपरिवारू सरगु नरकु'-ये सब कर्मप्रयुक्त फल हैं जो व्यवहारार्थ उपलब्ध होकर देखने सुनने में आते हैं।[1] गुनिअ-तत्वपूर्वक बिचार। मोहमूल-अविद्योपादनक।

मोहमूल

जिस प्रकार भ्रमप्रणाली में शुक्ति का अज्ञान स्वसत्तासमसत्ताक रजत को तब तक प्रकट करता है जब तक शुक्ति का परिचय नहीं होता, उसी प्रकार जबतक स्वरूपाज्ञान रहेगा तब तक अविद्या—प्रयुक्त जन्म-मरणादि रहेंगे। आत्मसाक्षात्कार होने पर मूलाज्ञान का विनाश होगा। संसार समाप्ति होगी अतः उपर्युक्त पदार्थों की सत्ता त्रिकालाबाधित नहीं है, वे असत्य हैं। उपनिषदों द्वारा निर्णीत यथार्थतत्व ही सत्य का प्रमाण है, वही परमार्थ है (इसका विचार वेदान्तसूत्र मुक्तावलि में द्रष्टव्य है)।

संगति : स्वाप्निक प्रपंच के उदाहरण से संसार की असत्यता को समझा रहे हैं।

दो० : सपने होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ ॥ ९२ ॥

भावार्थ : स्वप्न में कोई राजा दरिद्र या भिक्षुक हो जाय या कोई दरिद्र स्वर्ग का राजा इन्द्र हो जायश उसका हानि-लाभ जागने पर कुछ नहीं है। उसी प्रकार सांसारिक प्रपंच को मनस् में समझो।

पारमार्थिक दृष्टि का उपयोग

शा० व्या० : व्यावहारिक परमार्थ तत्व के विचार में जैसे स्वाप्निक सृष्टि असत् है वैसे ही परमार्थ

---

१. दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् स्यास्नुश्चरिष्णुः महदल्पकं च।
विनाऽच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं सएव सर्व परमार्थ भूतः। (भा० १०)

तत्व के विचार में विश्वसृष्टि असत् है। जीव स्वाप्निक पदार्थों एवं संबंधों की अनुकूलता-प्रतिकूलता से हर्ष-विषाद से प्रभावित होता हुआ जागते ही उपने को पृथक्त्वेन अनुभव करके स्वाप्निक प्रपंच से उदासीन रहता है, उसी प्रकार संसार भी दीर्घकालीन व्यावहारिक प्रपंच है जिसमें पूर्वकथित संयोग-वियोग सुख-दुखादि द्वन्द्व ('देखिअ सुनिअ') का अस्तित्व स्वप्न के समान है क्योंकि उसमें स्वरूप अज्ञात है। यह दोष श्रीसीताराम में नही है।

संगति : विषय में सुख-दुःख की कल्पना भ्रममात्र है। प्रापंचिक हानि लाभ को देख-सुनकर उन दोनों में दोष देखते रहना मोह एवं भ्रान्ति है। गुणतात्विक दृष्टि उससे हटकर वह संपन्न हो जाय तो परस्पर में कलह की संभावना नहीं होतो यही पारमार्थिक दृष्टि का उपयोग समझा रहे हैं।

चौ० : अस बिचारि नहिं कीजिअ रोषू। काहुहि बादि न देइअ दोषू॥ १॥

भावार्थ : लक्ष्मणजी कह रहे हैं "ऐसा विचार करके क्रोध मत करो और व्यर्थ में किसी को दोष मत दो।"

गुह में मैत्रीभाव की उत्पत्ति

शा० व्या० : लक्ष्मणजी तात्विक दृष्टि से सम्पन्न हैं। वे रोष का त्याग एव परदोषदर्शन से गुह को विरत कराकर यथार्थज्ञान से सम्पन्न कराते गुह के सेवकत्व को पुष्ट कर रहे हैं। राजनीतिक दृष्टि से कैकेयीजी के प्रति रोष से उद्भूत शंका को निर्मूल करके अयोध्या के प्रति गुह की मैत्रीभाव को जगा रहे हैं। इसके साथ मित्र राजा को आश्वस्त कर रहे हैं कि चौ० १ दो० ९२ की व्याख्या में कहे अयोध्या के विरुद्ध कल्पित उपक्रम में दोनों राजकुमारों की प्रवृत्ति नहीं है, वे तो राज्य से उदासीन हैं धर्मतः उन्होंने वनवास को स्वीकार किया है। नीतिमान् नायक के सेवकका यही आदर्श है।

संगति : विवेकी विद्वान् और अविवेकी सांसारिक जीव का वैधर्म्य बता रहे हैं।

चौ० : मोहनिसाँ सबु सोव निहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥ २॥
एहि जगजामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंचवियोगी॥ ३॥

भावार्थ : सब सांसारिक जीव मोह रूपी रात्रि में सो रहे हैं जिसमें विविध स्वप्न देख रहे हैं। इस संसार रूपी रात्रि को योगी जागृत् रहकर परमार्थ दृष्टि में देखते हैं वे प्रपंच से अपने को अलग रखकर परमार्थचिन्तन में रत हो संसार को संघटित करते हैं।

परमार्थदृष्टि का नीति से सम्बन्ध

शा० व्या० : जिस प्रकार सांसारिक जीव रात्रि में सोते हुए तरह-तरह के स्वप्न देखकर उनको सच समझता है, पर जागते ही उनकी वास्तविकता को भ्रम समझता है उसी प्रकार मोहग्रस्तता में पूर्वोक्त हानि-लाभ, संपत्ति-विपत्ति आदि से संबंधित विविध व्यावहारिक प्रपंच जाग्रत् में स्वप्न के समान दिखायी पड़ते हैं, उनमें सत्यता नहीं है। अज्ञता में वस्तु की सांसारिक सत्यता शुक्ति में रजत के समान, दृश्य मात्र होती है, उसमें वास्तविकता नहीं मानी जाती। निर्विकार हो फिर भी शास्त्रीयनीति के विद्वान् भक्ति की स्थापनाकर अपना कार्य पूर्ण करते हैं। शास्त्रों में कहे तत्वों को आन्वीक्षिकी के माध्यम से समझते हुए जो व्यक्ति शास्त्रानुगमन में दृढ़ रहता है और वैदिक कर्म में ईश्वरोपासना समझकर रत रहते नीति को अपनाता है उसको

परमार्थ ज्ञान का फल प्राप्त है, इसी स्थिति में वह सांसारिक प्रपंच में रागद्वेषभावासक्त नहीं होता। 'जग जामिनि' का अर्थ जागतिक मोहान्धकार है, उसमें परमार्थतत्व के योग में लगा योगी जागता रहता है।[1] रात्रि दिखाई नहीं पड़ती। परमार्थ से यहाँ ब्रह्म निरूपित है, जो कि श्रीराम हैं। मोह से असंग रहने के कारण परमार्थ योगी को जागतिक पदार्थों में सत्यता प्रतिभात होती नहीं है, अतः उसके लिये जगजामिनी दिन के समान है अर्थात् स्व-स्वरूप से परिचित रहते सांसारिक पदार्थों में सत्यता स्पष्ट नहीं दिखायी देती हैं, उनमें भ्रम नहीं होता।

संगति : श्रीराम के प्रति अनुराग रखनेवाले गुह को उक्त ज्ञान से सम्पन्न कराकर लक्ष्मणजी उसकी दोषदृष्टि को हटाते श्री सीतारामजी के वनवाससम्बन्धी दुःख का निरास कर रहे हैं। नीतिधर्मानुयायी श्रीराम के वनवास में विधि की प्रतिष्ठा को समझा रहे हैं।

अथवा 'जगजामिनी' में जागने वाले की पहिचानने वाले कौन हैं समझा रहे हैं।

चौ० : जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषयविलास बिरागा ॥ ४ ॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथचरन अनुरागा ॥ ५ ॥

भावार्थ : जीव को संसार में तभी जगा समझो जब सम्पूर्ण विषयों के विलास में उसको वैराग्य हो जाय और विवेक होने पर उसका मोह व भ्रम दूर हो जाय। तभी श्री रघुनाथजी के चरणों में उसकी प्रीति दृढ़ होगी।

विराग-विषयविलास

शा० व्या : विषय विलास को घृणित समझना शम या विराग है। विज्ञानकोष में स्थित शम की अवस्था प्राप्त होने पर जीव सदसत् की अन्वीक्षा करता है यही जीव की जागृति है विषय विलास 'विरागा' का भाव है—सांसारिक पदार्थों के भोग में सुख दुःखानुभूति से असंग रहना अर्थात् उसका संवेदन न होना।

विवेक और सत्य व्यवहार में

मोह व भ्रम को दूर करने के लिए साध्यसाधनभाव का विश्लेषण करते हुए शास्त्रप्रतिपाद्य अर्थ स्वरूप को समझकर प्रमाण प्रमेय का निर्धारण करना विवेक है। जब तर्कात्मक आपत्ति से सन्देह का निरास होने पर आपत्तियों की उपस्थिति में शंका नहीं होगी, तब विद्वान् प्रपंच में ऊंचे-नीचे प्रसंग से विचलित नहीं होते। यथार्थ निर्णय होने पर मोह हट जाता है, कर्तव्य में निष्ठा होती है। अकर्तव्य को कर्तव्य समझना या कर्तव्यनिर्धारण न करना मोह है। इन सब दोषों को न देखकर धर्म का अनुसरण करते श्रीराम कर्तव्यमार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं, इसको समझकर प्रापंचिक हानि लाभ सुखदुःखादि का मोह एवं भ्रान्ति को सेवक मिटा दें (जैसा दो० ९३ में मिटई जग जाता कहा है) तो उसको विवेक की प्राप्ति होगी जिससे 'रामचरन अनुरागा' की सिद्धि होगी।[2] 'राम चरन' को विद्वानों ने प्रमाण और तर्क कहा है, अतएव शास्त्रानुगमन ही 'चरन अनुरागा' है, प्रभु की कृपाप्राप्ति का साधन है। सर्वज्ञ प्रभुप्रणीत होने से शास्त्रानुशासन अपरिवर्तनीय व, त्रिकालाबाधित है।

---

१. गीता में कहा है—या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी·····

२. अस विवेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनु राता ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।

मोह एवं भ्रम का वैलक्षण्य विद्याध्ययन

पुरोवर्तिवस्तु के विशेषांश के अज्ञान या आवरण में विपरीतदर्शन भ्रान्ति है। पुरोवर्तिवस्तु को संस्कार से स्मृत यथार्थ वस्तु के समान मानना नैयायिक मत से साधारण धर्म का परिचय है, वह भ्रमकारक है। अतः भ्रान्ति में पुरोवर्तिवस्तु के विशेषदर्शनभाव को मोह समझना चाहिये। इस मोह के अपसरण से पुरोवर्तिवस्तु का विशेषदर्शन जब होता है[1] तब भ्रान्ति नष्ट होती है जो विद्याध्ययन से ही संभव है। इस प्रकार लक्ष्मणजी ने गुह को कृतक इन्द्रियजय समझाया है। बा० का० दो० ११७ में रजत-सींप के दृष्टान्त से भ्रम का स्वरूप समझाया है।

संगति : सब पुरुषार्थ की सिद्धि रामपदप्रीति में है जैसा सुमित्रा माता जी ने भी चौ० ४ दोहा ७५ में समझाया है।

चौ० : सखा ! परम परमारथु एहू। मन-क्रम-बचन-रामपदनेहू ॥ ६ ॥

भावार्थ : हे सखे ! सबसे बड़ा परमार्थ यही है कि कायेन वाचा मनसा श्रीराम के चरणों में प्रीति हो।

रामपदस्नेह का स्वरूप

शा० व्या : 'रामपद नेहू' से स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार शास्त्रकी अवहेलना या शास्त्रमर्यादा का अतिक्रमण न करते हुए श्रीराम ने स्नेह की (भक्ति) प्रतिष्ठा में राजनीति को अंगतया अपनाया है उसी प्रकार से शास्त्र-सहकृत प्रमाणत्रयपरतन्त्रता में आचरण करते हुए जीव ने भी संसार में मनसा वाचा कर्मणा सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य अर्थ रामप्रीति है ऐसा समझना चाहिए। भाव यह है कि अपने आचरण को शास्त्र से आबद्ध सीमित कर लोकयात्रा को सम्पन्न करते पुरुषार्थ की सफलता रामसेवा के पर्यवसान में है अन्यथा भक्ति-वैराग्य के नाम पर सेवक ने किया शास्त्रामर्यादित कर्म रागद्वेषप्रयुक्त होने से रामसेवा नहीं कही जायगी न तो नीतिविरुद्ध होने से प्रभु की प्रसन्नता पादक होगा।

संगति : पूर्वोक्त दोहे के चौ० ८ में "देखिअ गुनिअ सुनिअ मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं" में परमार्थ को स्पष्ट करते हुए लक्ष्मणजी ने श्रीराम का तात्विक स्वरूप समझाया हैं। अब तापस प्रसंस में चौ० ४ दो० ११० में 'तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने' के समान लक्ष्मणजी श्रीराम के प्रभुत्वसाधक युक्ति से गुह की रामभक्ति को पुष्ट कर रहें हैं। अथवा सुमित्राजी के उपदेश में (चौ० ४ से ७ दो० ७१) कहे तत्व का प्रकाशन करते हुए लक्ष्मणजी रामपदप्रीति में अपती निष्ठा दिखा रहे हैं।

चौ० : राम ब्रह्म परमारथरूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा ॥ ७ ॥
सकल-बिकाररहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा ॥ ८ ॥

भावार्थ : श्रीराम ब्रह्म हैं, परमार्थ स्वरूप हैं। वह अनादि हैं। उनके स्वरूप अज्ञेय है, इन्द्रियातीत हैं। उनकी उपमा नहीं है। वह भेद से परे मायातीत हैं, सब प्रकार के विकारों से शून्य हैं। वेद उनको 'नेति-नेति' कहकर निरूपण करते हैं।

---

१. रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतलगत न परहिं पहिचाने ॥

ब्रह्म आदि का अर्थ

शा० व्या० : आवरणरहित होना ब्रह्म है। प्रमेय न होना अविगत है। इन्द्रियों का विषय (दृश्य) न होना अलख है। आदि का पता न होना अनादि है। केवल उसीका एकमात्र स्वतंत्र त्रिकाल में एकरस रहना परमाथ रूपा' है। केवल उसी का एकमात्र स्वतंत्र अस्तित्व होना अनूपा है।

भक्ति और वेदान्त का समन्वय

समस्त मायिकार्थ का बाध करते हुए 'नेति नेति' द्वारा प्रमाणभूत श्रुति का (परिचेय) निरूप्य श्री राम ईश्वर है। ब्रह्म स्वयं प्रकाश है, उसको प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। सृष्टि के उत्पत्ति प्रलय की काल-गणना में एकमात्र वही स्थिर है, अतः अनादि है, उसके अस्तित्व को उपमेयतया समझाने लिए कोई उपमान नहीं है। वह सजातीय-विजातीय-स्वगतादिभेदशून्य है।

गोसाईजी ने श्रीराम को ब्रह्म आदि विशेषणों से विशेषित कहा है इसलिए कि उपासकों की रुचि सगुण श्री रामपर केन्द्रि है भक्तिसिद्धांत में सगुण के अतिरिक्त कोई नहीं है। निर्गुण का उसी में समावेश है। ज्ञातव्य है कि जिसको सगुण कहा गया है वह और उसके गुण सभी रागद्वेषात्मक द्वन्द्व से विमुक्त हैं उनको माया का स्पर्श नहीं है भक्तों के रक्षणार्थं अनुकम्पा वे करते हैं तो इच्छात्मक माया से अवच्छिन्न हो सृष्टयादिकार्य करते हैं अतः भक्ति शास्त्र व वेदान्त शास्त्र से विरोध नहीं हैं।

संगति : ब्रह्म ही ईश्वरावतार सगुण रूप में दृश्य होता है, उसका हेतु समझा रहे हैं।

दो० : भगत-भूमि-भूसुर-सुरभि-सुरहितलागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुजतनु सुनत मिटहि जगजाल ॥ ९३ ॥

भावार्थ : भक्तों, पृथ्वी, ब्राह्मणों, गौ और देवताओं की रक्षा के लिए वह कृपालु ईश्वर मनुष्यशरीर धारण करके जो चरित्र करता है, उसको सुनकर सांसारिक मोह का नाश हो जाता है।

'भक्त, भूमि, भूसुर सुरभि, सुर' का रक्षण

शा० व्या० : छल छोड़कर भक्त जो मनस् वाणी एवं कर्म से भगवत्सेवा में जीवन को समर्पित करता है एकमात्र भगवत्कृपा का अभिलाषी है, पूर्व सुकृति से जन्मतः ऐसे भक्त सब योनियों में हो सकते हैं वैसे सेव्यसेवकभाव के आकर्षण में 'धरि मनुजतनु' द्वारा ईश्वर का दृश्य होना भगवान् की कृपालुता है।

भूमि—बा० का० चौ० ४ से ६ तक 'परम सभीत धरा अकुलानी' का कारण धर्म की ग्लानि एवं परद्रोही का भार कहा गया है। पृथ्वी को भय शोक से मुक्त करने के लिए जब वरदृप्त आतंकवादी का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं होता तब ईश्वर को उससे पृथ्वी की रक्षा करने के लिए अवतरित होना पड़ता है।

भूसुर—वेदशास्त्र की उपासना में जीवन समर्पित करनेवाले ब्राह्मण सात्विकता का अवलम्बन लेकर धर्मद्रोहियों की पीड़ा सहते हैं तो उनकी दयनीय स्थिति हो जाती है। वेदपथ की परम्परा को बनाये रखने में उनकी पवित्र वृत्ति पर आघात लगता है तो जीवनयापन कठिन हो जाता है अतः 'श्रुतिसेतुपालक राम' अवतरित होकर उनकी रक्षा करते हैं जैसा श्रीमद्भागवत में कहा है। 'त्वयोदितो ऽयं जगतो हिताय यदा यदा वेदपथः पुराणः। बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भिस्तदा भवान् सत्वगुणं बिभर्ति ॥''

सुरभि—गाय से प्राप्त होनेवाला दुग्धाहार सत्वगुण का पोषक है। गोघृत-हव्य से देवताएँ तृप्त होती हैं। इसलिए गौ मंगलतमा मानी जाती है। गोमांसादि के प्रलोभन से गौ का उत्पीड़न मानवों को सत्वहीन एवं तामसस्वभाववाला बना देता है तो समाज में परपीड़न बढ़ता है। सात्त्विकताप्रयुक्तसाधुत्व का ह्रास दुराचार से होने लगता है। गौकी आकृति में आवेद्य पशु के (जैसी जरसी) दूध का पान बालकों के जीवन को सत्वहीन उग्र करता है। अतः सत्वगुण की स्थापना के लिए गोहित में प्रभु का अवतार है।

सुरहित—देवता सत्वगुणप्रधान हैं। भगवदादेश का पालन करते हुए देवगण स्वधर्मवृत्ति में स्थिर रहते हैं अर्थात् वेदों में बताये यज्ञभाग हविष् का ग्रहण करते हुए दूसरे के भाग का अपहरण नहीं करते। असुरों का स्वभाव इसके विपरीत है। वे अपना भाग तो लेते ही हैं, दूसरों के भाग का भी हरण करने के लिए उद्यत रहते हैं जैसे राक्षसों को दिये रावण के आदेश में स्पष्ट है (चौ० ५ से दो० १८' बा० का०)। अतः देवों को प्राप्त होनेवाले भोजन की व्यवस्था को मर्यादित रखने के लिए प्रभु का अवतार है जैसा श्रीमद्भागवत में 'सत्वगुणं बिभर्ति' कहा है। सत्वगुण के आश्रय में रहनेवाले "भगत भूमि भूसुर सुरभि" के सुररक्षणार्थं प्रभु श्रीराम का अवतार या चरित्र है।

'मनुजचरित सुनत मिटहिं जगजाल' का भाव

जब वर्णाश्रमधर्मानुष्ठान में अपेक्षित सात्विकता धर्मद्रोही तत्वों से पीड़ित होती है तब शास्त्रविधि के वैभव में असंभावितता आदि दोष उत्पन्न होते हैं, यज्ञादि कर्म में हविष् का लोप होने लगता है। अशुभ-कार्य में प्रवृत्ति हो जाती है तो देव, ब्राह्मण गौ आदि का जीवन संकट में पड़ जाता है। अतः श्रुति-पंथ की मर्यादा स्थापित करने के लिए ईश्वर मायावच्छिन्न हो अवतीर्ण होते हैं और मानवोचित धर्मानुष्ठान के द्वारा भक्ति की छत्रछाया में अंगतया अन्य विद्याओं से संवलित नीति का अनुसरण करने की शिक्षा देते हैं जिसका फल यह भी है कि भववेदना से ग्रस्त साधुजनों की 'भ्रमफन्दा' 'मोहमूल' भावना का निरास व स्वधर्म में निष्ठा बढ़ती है।

संगति : श्रीराम के नीतिमय चरित्र को सुनकर गुह अपने मोह-भ्रमको मिटा दे और रामभक्ति में दृढ़ हो जाय इस आशय से लक्ष्मणजी आगे समझा रहे हैं।

चौ० : सखा ! समुझि अस परिहरि मोहू। सियरघुबीर चरनरत होहू ॥ १ ॥

भावार्थ : हे सखे ! ऐसा समझकर मोह छोड़ दो और श्री सीतारामजी के चरणों में प्रीति लगाओ।

चरणसेवा में प्रवृत्ति

शा० व्या० : प्रभु के मनुजअवतार का प्रयोजन समझाते हुए लक्ष्मणजी मोहनाश के उपाय में 'चरनरत होहू' से सेव्यसेवकभाव में गुह को प्रवृत्त करा रहे हैं। उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि ने रामचरित के उपसंहार में भवसागर को पार करने (जगजाल को मिटाने) के लिए यही सिद्धान्त स्थिर किया है।[1] श्री सीतारामजी के धर्म-नीतिमय चरित्र को देख सुनकर विवेकपूर्वक उनकी उपास्यता में सेवक ने अपने

---

१. सेवक सेव्यभाव बिनु भव न तरिअ उरगारि। भजहु रामपदपंकज अस सिद्धान्त बिचारि ॥
(दो० ११९ उ० का०)

सेवकत्वप्रयोजक प्रीति को जगाना कर्त्तव्य है। श्रीमद्भागवतोक्ति (तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम्' को चरितार्थ करनेवाले लक्ष्मणजी का संवाद सखा गुह के प्रति सौहार्द का प्रकाशक है और सांसारिक जीवों को शास्त्रानुगत नीतितत्व से समन्वित विवेक की शिक्षा देकर उनके मोह का नाश करनेवाला है।

संगति : सेवकों के बीच स्वामी के गुणगान की चर्चा में स्वामी के प्रति प्रीति समय भान नहीं कराती है।

चौ० : कहत रामगुन भा भिनुसारा। जागे जगमंगल सुखदारा ॥ २ ॥

भावार्थ : श्रीराम के गुणों को कहते सबेरा हो गया। जगत् का मंगल करने वाले सुखदाता श्रीराम जागे।

लक्ष्मण जी का जागरण

शा० व्या० : श्रीराम के गुणों को कहते लक्ष्मणजी और गुह ऐसे तन्मय हो गये कि रात्रि बीत गयी, उनको रात्रिजागरण का अनुभव नहीं हुआ। लक्ष्मणजी के रात्रिजागरण के इस उपक्रम से चतुर्दशवर्षावधिक वनवास में उनके जागरण का नैरन्तर्य समझना चाहिए।

जगमंगल

'जगमंगल' का भाव भरद्वाज मुनि द्वारा कहे 'लाभ अवधि सुख अवधि' से ऋषिसमाज में तोष होना है जिसको प्रभु ने वाल्मीकि जी के आगे 'मंगलमूल विप्रपरितोषू' कहा है वाल्मीकि मुनि ने भी उक्त मंगलमूलता को 'मंगल मूरति' से व्यक्त किया है। देवों के द्वारा प्रवर्तित वनवास की फलोपधायकता 'जब तें आइ रहे रघुनायकु। तब तें भयउ बन मंगलदायकु' से स्पष्ट है। प्रभु के चित्रकूटवास को ग्रन्थकार ने 'मंगलमय अति पावन पावन' कहकर 'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित' से जगत् का मंगल-कार्य ध्वनित किया है। अर्थात् 'असुर मारि थापहिं सुरन्हि' का आरम्भ हो रहा है।

संगति : कैकेयी माताजी के 'मुनि-पट भूषन-भाजन आनी' से संकल्पित मुनिव्रत धर्म को स्नान से प्रभु चरितार्थ कर रहे हैं।

चौ० : सकल सौच करि राम नहावा। सुचि सुजान बटछीर मगावा ॥ ३ ॥
अनुजसहित सिर जटा बनाए। देखि सुमन्त्र नयन जल छाए ॥ ४ ॥

भावार्थ : सब प्रकार की शुचिताविधि पूर्ण करके श्रीराम ने विधिपूर्वक स्नान किया। शुचि होकर विधि के ज्ञाता श्रीराम ने वट का दूध मँगवाया। छोटे भाई लक्ष्मणजी के साथ उस दूध को शिरस् पर लगाकर जटा बना ली। यह देखकर सुमन्त्र के नेत्रों में आँसू आ गये।

शौच

शा० व्या : श्रीराम का यह मुनिव्रतनिमित्तक शौचकर्म नित्यचर्या से इतर है। 'शौच' से धर्मशास्त्र-निर्दिष्ट शम दम सत्य दया आदि व अर्थशुद्धि संगृहीत हैं। मुनिव्रत के विशेष विधान में अंगभूत शौचकर्म 'सकल सौच करि' यहाँ कथित है।[1] 'सुचि' से श्रीराम की सर्वांगीण शुचिता अर्थशुचिता (राज्य त्याग) से भी संबद्ध है।

---

१ शौचन्तु विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं शौचं बाह्यं भावशुद्धिरथान्तरं। सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं विशिष्यते। योऽर्थे शुचिः स शौचवान्न मृदा वारिणा शुचिः। शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः। (शब्दकल्पद्रुम)

सुमन्त्र का दुःख श्रीराम का व्रत

राजा के कहे "जौं नहिं फिरहिं धीर दुइ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई" की यथार्थता में 'अनुजसहित सिर जटा बनाए' से दोनों भाइयों को वनवास में 'धीर दृढ़व्रत' जानकर सुमन्त्र को 'एहिं बिधि करेहु उपाय कदंबा' में निराशा होने से रामप्रीतिवश आन्तरिक विवशता के अनुभाव में अश्रुपात हो रहा है। कैकेयीजी के वरदानप्रयोजक मनोरथ की चरितार्थता को स्पष्ट करके सुमन्त्र द्वारा कैकेयी माताजी को आश्वस्त कराने की नैतिक दृष्टि का यह महत्वपूर्ण संकेत है जिससे कैकेयी जी का आभ्यन्तर विरोध यह जानकर शान्त हो जाय कि, श्रीराम के साथ भाई लक्ष्मण जी को भी वनवास में कोई उद्विग्नता नहीं है। धार्मिक दृष्टि से 'सुचि सुजान' श्रीराम ने शास्त्रप्रामाण्य को वर्णाश्रमधर्मावलम्बियों के शिक्षार्थ प्रकट किया है जैसा कि राक्षसों के उपद्रव से बचाने के लिए दण्डकारण्य को शुचि बनाना है वह कार्य तभी सम्पन्न होगा जब स्व में शुचिता होगी। इसी प्रकार बालकाण्ड दो० २२६ में धनुर्भंग प्रसंग में राम सुजान का चरित्र 'सकल शौच करि जाइ नहाए' कहा गया है। लक्ष्मण जी की उक्ति ('करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल') को स्फुट करनेवाली श्रीराम की उक्त शौच-क्रिया शास्त्रपरतंत्र है, यद्यपि चौ० २-३ दो० २४८ में कहे 'जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमगल मूला। सुद्ध सो भयउ साधु संमत अस' के अनुसार श्रीराम सदा शुचि स्वरूप विकाररहित हैं। तथापि 'सुजान' से श्रीराम की शास्त्रविधिसंगत सुज्ञता एवं उचितकारिता को प्रकट किया है।

संगति : 'देखि सुमन्त्र नयनजल छाए' से आन्तरिक दुःखप्रयुक्त शारीरिक अनुभाव प्रकट हो रहा है।

चौ० : हृदय दाहु अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अतिदीना ॥ ५ ॥

भावार्थ : सुमन्त्र के हृदय में तीव्र सन्ताप हो रहा है, मुँह पर उदासी छा गयी है। दोनों हाथ जोड़कर अत्यन्त दीन वाणी में वह बोला।

श्रीराम को लौटाने का उत्साह समाप्त

शा० व्या : श्रीराम की मुनिव्रतोचित क्रिया को देखकर तीनों मूर्तियों को लौटाने का उत्साह समाप्त हो जाने से श्रीरामविरह की कल्पना में व्यथित सुमन्त्र का हृदय जलने लगा, मुँह उतर गया। 'अति दीना' से उपाय कदंब' में अपने कर्तृत्व के बल का सहारा छूट जाना, असहाय अवस्था का द्योतक है। कर्तृत्वाभिमानरहित दीनता प्रभु की प्रसन्नता में साधक है।

संगति : वनवासनिवर्तक कर्तृत्वोपाय में असहाय होकर सुमन्त्र ने राजादेश का सहारा व दो० ८१ में कहे राजाश्री के द्वितीय आदेश का प्रामाण्य दिखाने के लिए अग्रिम ग्रंथ प्रस्तुत है। अथवा अंगविद्याओं के द्वारा पुष्ट भयी हुई भक्ति की स्थापना में ग्रन्थकार सत्यपन्थ को दृढ़ रखने के लिए श्रीराम-लक्ष्मणजी-सीताजी एवं सुमन्त्र का संवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। उसका प्रयोजन सर्वथा असत्य के वर्जन की शिक्षा देनी है जैसा कि बालकाण्ड में चौ० १ से ३ दो० ५९ में व्यक्त है। उत्तर ग्रंथ में श्रीराम धर्म की और लक्ष्मण जी राज्योत्सवरूप अर्थ की एवं सीताजी 'प्रभु प्रीतिरूप काम की प्रतिष्ठा में सत्य पर आरुढ़ हो अकार्यकारित्वरूप असत्य को वर्जित कर रहे हैं।

चौ० : नाथ! कहेउ अस कोसलनाथा। लै रथु जाहु राम के साथा ॥ ६ ॥
बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई ॥ ७ ॥
लखनु रामु सिय आनेहु फेरी। संसय सकल संकोच निबेरी ॥ ८ ॥

भावार्थ : 'हे नाथ ! कोशलेश्वर ने ऐसा कहा है कि रथ लेकर श्रीराम के साथ जाओ। वन दिखाकर गंगा-स्नान कराकर दोनों भाइयों को शीघ्र लौटाकर ले आना। सब प्रकार के सन्देह-संकोच को दूर करके लक्ष्मणजो, श्रीरामजी और सीताजी को लौटा लाओ।

बनु देखाइ आदि का भाव

शा० व्या० : दो० ८१ की व्याख्या में कहे अनुसार 'बनु देखाइ' से बाल सुलभ मृगया रुचि एवं 'सुरसरि अन्हवाइ' से धर्मरुचि को पूरी करते हुए कैकेयीजी के वरदान प्रयुक्त मनोरथ से उपस्थित समस्या के समाधान में 'संसय सकल संकोच निवेरी' में द्वितीय आदेश का उपयोग करना है।

'रथ चढ़ाइ' की एकवाक्यता

दो० ८१ में 'रथ चढ़ाइ देखराइ बनु' की व्याख्या में कहा गया था कि राजाश्री के संकेत को समझकर सुमन्त्र शृंगबेरपुर की ओर रथ को लेकर चले होंगे, उसी को यहाँ 'सुरसरि अन्हवाइ' से स्पष्ट किया है।

प्रयोगप्राशुभाव

'आनेहु फेरि बेगि' के अन्तर्गत 'फिरेउ गए दिन चारि' रूप प्रयोगविधि से मीमांसोक्त प्रयोग-प्राशुभाव स्फुट होता है जिसका तात्पर्य है कि अत्यावश्यक से अतिरिक्त विलम्ब न करना। 'संसय सकल निबेरी' से न्यायभाषानुसार 'संशय-संकोचसामान्याभाव' कहा जायगा।

पूर्वोक्त न्यूनतापरिहार का स्मरण

पूर्व व्याख्या में इस आक्षेप की चर्चा की गयी है कि श्रीराम व सीताजी को रोकने का जैसा उपाय किया गया वैसे लक्ष्मणजी के विषय में क्यों नहीं उल्लेख किया गया ? इसका समाधान पूर्व व्याख्या में किया जा चुका है, उसी का स्मरण यहाँ लक्ष्मणजी के प्रथम उल्लेख से ज्ञातव्य है।

पुनरुक्तिपरिहार

'आनेहु फेरि' व 'आनेहु फेरी' की द्विरुक्ति में पुनरुक्तिदोष का निराकरण करते हुए कहना है कि 'संसय सकल सँकोच निबेरी' विधेय है और 'आनेहु फेरी' अनुवाद वाक्य है।

'संसय निबेरी' का भाव

दो० ४१ में श्रीराम के वनवासस्वीकृतिपरक प्रतिज्ञातार्थनिर्बहण में 'पितु आयसु जननी सम्मत' पर आधारित वचन के प्रमाण्य में 'आनेहु फेरी' द्वारा वनवास संशय को अवकाश मिलेगा। यद्यपि जिस प्रकार 'वचनात् प्रवृत्तिः' सिद्धान्त को मानकर मुनिव्रत में श्रीराम प्रवृत्त हुए हैं उसी प्रकार 'वचनान्निवृत्तिः' के आधार पर फेरी' वचन से वनवासनिवृत्ति हो सकती है। फिर भी वन या अवध वास की सफलता संदिग्ध ही कही जायगी।

अथवा 'लखनु रामु सिय आनेहु फेरी' के कार्यान्वियन में एक सूक्ष्म विचार यह भी है कि राजाश्री के प्रथम आदेश (प्रथम कल्प) के बाध में 'आनेहु फेरी' का द्वितीय आदेश (अनुकल्प) तभी मान्य होगा, जब तीनों में से एक को भी वनवास में उद्वेगजनकता या कृत्यसाध्यता निर्णीत या संदिग्ध होगी। ऐसी स्थिति है नहीं, तो राजाश्री के पूर्व आदेश की चरितार्थता (चौ० ३-४ दो० ३६ में) स्थिर रहते द्वितीय आदेश का प्रामाण्य संदिग्ध होगा। ऐसा संशय श्रीरामजी न करें क्योंकि भयदशा में द्वितीयादेश की ही प्रसक्ति समझनी है।

'निबेरी' संकोच वेरी का भाव

कैकेयी माताजी के सामने प्रतिज्ञात ('जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़समाजा') अर्थ से हटने में श्रीराम को संकोच हो सकता है। 'सँकोच निबेरी' का यह भाव है कि जिस प्रकार राजाश्री के वचन से श्रीराम को वन जाना है उसी प्रकार उनके वचन से लौट आना है तो भी कैकेयीजी से कहे राजाश्री के वचन ('राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती। नाहिं त जरिहि जनम भर छाती') से समन्वित विप्रवधुओं की उक्ति (हठि फेरु रामहि जात वन) की अस्वीकृति और कैकेयीजी के वनवास आदेश की स्थिरता के रहते श्रीराम को लौटाने का द्वितीय आदेश लोकमत में समादृत न होने से नीतिविरुद्ध होगा अतः वन से लौटाने का संकोच स्पष्ट है उसका परिहार पूर्ववत् स्मर्तव्य है।

संगति : राजाश्री का द्वितीय आदेश सुनाकर उसके समाधान में श्रीराम के निर्णय की अपेक्षा व्यक्त कर रहे हैं।

दो० : नृप अस कहेउ गोसाइँ ! जस कहइ करौं बलि सोइ।
करि बिनती पायन्ह परेउ दीन्ह बाल जिमि रोइ॥ ९४॥

भावार्थ : हे गोसाइं ! राजाश्री ने ऐसा कहा है। अब आप जैसा कहें, मैं समर्पणपूर्वक वही करूँ। इस प्रकार विनती करते हुए श्रीराम के चरणों पर सुमन्त्र गिर पड़े और बालक के समान रो पड़े।

'नृप अस कहेउ आदि' का तात्पर्य

शा० व्या० : 'नृप अस कहेउ' से राजाश्री के आदेश का सन्देशमात्र विवक्षित है। 'गोसाइं' सम्बोधन से श्रीराम की जितेन्द्रियता को दिखाते हुए उनके द्वारा कहे कर्तव्यनिर्देश के पालन में विश्वास प्रकट किया है।

'बाल जिमि रोइ' से उपायान्तर के अवलम्ब में सुमन्त्र की असहायावस्था एवं समर्पण भाव व्यक्त है। 'बालानां रोदनं बलं' के अनुसार निरुपाय होकर बिनती सुनाने में बालक का रोना उसका बड़ा बल है।

संगति : 'करि विनती' को आगे चौ० १ में स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० : तात ! कृपा करि कीजिअ सोई। जाते अवध अनाथ न होई॥ १॥

भावार्थ : हे तात ! कृपा करके वही कार्य करिये जिससे अवध अनाथ न हो जाय।

तात सम्बोधन

शा० व्या० : तात संबोधन का प्रयोग पिता, पुत्र, भाई, सखा आदि स्नेही सम्बन्धियों के लिए किया जाता है। पूर्वोक्त दोहे में कहे 'बाल जिमि रोई' को ध्यान में रखते हुए सुमन्त्र का 'तात' संबोधन परम पिता श्रीराम के प्रति स्नेह व सम्पूर्ण अवध के पालन की अपेक्षा से आदरभाव की अभिव्यक्ति के लिए है। कृपा का यह भाव है कि श्रीराम की वत्सलता से संपूर्ण अवधवासी परिचित है। श्रीराम प्रजा-वत्सल है और उनकी छत्रछाया में अपने को अवध सुरक्षित मानते हैं। अवध अनाथ का भाव यह कि प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाले मन्त्री सुमन्त्र को जनहित की चिन्ता सर्वप्रधान है जैसा राममाता कौसल्याजी ने श्रीराम के वनगमन को समझ कर 'करि अनाथ जन परिजन गाऊँ' कहा है। सुमन्त्र ('जाते अवध अनाथ न होई',) की प्रार्थना की सार्थकता चौ० ३ दो० १४१ में 'जब जब राम सुधि करहीं' से स्पष्ट होगी।

तत्काल में उक्त विनती में सुमन्त्र का आन्तरिक भाव प्रभु के अयोध्या में लौटकर आने का आश्वासन प्राप्त करना है। यही प्रजा को समझाना है।

संगति : 'आनेउ फेरी' से सम्बद्ध आदेश के विषय में व्यंजनया श्रीरामजी 'बाल जिमि' अवस्था में आये सुमन्त्र को धर्मनीतिसमन्वित तत्व का उपदेश सुना रहे हैं।

चौ० : मन्त्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। तात! धरममतु तुम्ह सबु सोधा॥ २॥

भावार्थ : श्रीराम ने मन्त्री सुमन्त्र को उठाकर बोध कराया और कहा "हे तात! तुम सम्पूर्ण धर्ममत के ज्ञाता हो।

प्रबोध व 'धरममत सोधा' का स्वरूप

शा० व्या० : अर्थशास्त्र के अनुसार राजा और राज्य के रक्षण का भार मन्त्री पर है, इस तत्व को समझाना श्रीराम के प्रबोध का[1] उद्देश्य है। उसका निष्कर्ष यह है कि वन जाने में संशय संकोच नहीं है। इसी अभिप्राय से धर्मनीति का प्रबोध कराते हुए धर्मसेतुपालक श्रीराम ने समझा दिया कि पूर्व राजवचन की प्रमाणता के रहते द्वितीय आदेश (विधि) की प्रसक्ति नहीं है। किंबहुना सुमन्त्र द्वारा सुनाए राजादेश (द्वितीय) से पूर्वादेशप्रवर्तनाहेतुक कृतिसाध्यता हितसाधनता व बलवदनिष्टाननुबन्धिता शंकित होगी द्वितीयादेश को मानने पर नीतिदृष्टि से श्रीराम के राज्यलोभ को कल्पना को प्रजा में अवकाश प्राप्त होगा। दो० ३१ में कहा राजवचन (लोभु न रामहि राजकर) असत्य होगा। तब तो परिणाम में भेदनीति को प्रोत्साहन मिलेगा। किंबहुना दोनों राजादेश व्यवस्थित विकल्प के अभाव में मीमांसोक्त अष्टविध अप्रमाण्य दोष से दुष्ट होंगे व्यवस्थित विकल्प में द्वितीय आदेश को मानने में श्रीराम बाध्य नहीं है क्योंकि उनका धैर्य अटूट है। अथवा विकल्प के अन्तर्गत किसी एक को स्वीकृति में अनुष्ठाता स्वतन्त्र कहे जाते हैं तो वनवास स्वीकृति के बाद उसको त्यागना ठीक नहीं अतः राजादेश का विरोध किया नहीं कहा जायगा यही प्रबोध है।

'धरममतु सोधा' से सुमन्त्र को धर्म का तत्त्व जानकर समझना है कि अयोध्या लौटने में कलिजन्य अधर्म से पारस्परिक भेद को अवकाश है। वचनप्रमाण के आदर में धर्म सुरक्षित है, धर्म की स्थापना में ही सुमन्त्र के कहे 'अवध अनाथ न होई' की सार्थकता है।[2] पंचांगविवरणपूर्वक विचार से शोधित मत सत्व की प्रधानता में नीत्यात्मक धर्म का स्थापक है जो कर्तव्य में धीरता प्रदान करता है। जैसा कि मीमांसोक्त अपच्छेद न्याय के अनुसार प्रथम आदेश का निमित्त समाप्त होने पर ही द्वितीयादेश की प्रसक्ति संगत मानी जाती है, अन्यथा नहीं। जैसे कैकेयीजी के मनोरथपूर्तिप्रागभाव का अस्तित्व रहते पूर्वादेश निरस्त नहीं होगा। न तो पूर्वानिमित्त रहते द्वितीयादेश की सफलता समझी जायगी क्योंकि उक्त प्रागभाव के रहते श्रीराम का राज्य होना ही नहीं है, यही धरममतु सोधा है।

संगति : प्रत्यक्ष अनुमान शब्द इन तीनों से प्रमित वनवास रूप अर्थ 'धरममतु' की सफलता का निर्माता है, इसको प्रभु दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० : सिबि-दधीच-हरिचन्दनरेशा। सहे धरमहित कोटिकलेसा॥ ३॥
रंतिदेव-बलिभूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना॥ ४॥
धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम-निगम-पुरान बखाना॥ ५॥

---

१. शृंगारप्रकाश में प्रबोधका विभावास्भाव द्रष्टव्य है।

२. सहायास्साधनोपाया विभागो देशकालयोः विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पंचाङ्गमिष्यते। (नीतिसार)।

भावार्थ : राजा शिवि, हरिश्चन्द्र और दधीचि ऋषि ने धर्म के लिए अनेकों कष्ट सहे। राजा रंतिदेव और परम सयाने राजा बलि ने बहुत संकट सहकर भी धर्म को स्थिर रखा। वेद शास्त्र पुराण सब यही कहते हैं कि सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है।

सत्यान्नास्ति परो धर्मः

शा० व्या० : परलोकविश्वास पर आधारित शपथ के समान सत्य पर आधारित प्रतिज्ञा दृढ़ रहती है। प्रतिज्ञातार्थनिर्वहण में सत्यसंधता प्रकट होती है जैसा 'सत्यमूल सब सुकृत सुहाए'। वेद पुरान विदित मनु गाए' से स्पष्ट है।[1] धर्म को अपनाने वाले सत्यावलम्बी महापुरुषों के उदाहरण में दो कोटि हैं– एक कुलीनतासम्पन्न हैं, दूसरे व्रतस्थ की कोटि में राजा रन्तिदेव एवं बलि मुख्यतया उल्लिखित हैं। अपने प्रतिज्ञातार्थनिर्बहण में वनवासरूप धर्म को वचन प्रमाण की सत्यता में आबद्ध रखने का प्रबोध श्रीराम को कुलगत सत्यसंधता से परम्पराप्राप्त है। व्रतस्थकी दृष्टि से वचन प्रमाण की सत्यता पर आधारित मुनिव्रत में स्थित श्रीराम का वनवास-धर्म से विचलित होना सत्यमूलक धर्म के विरुद्ध होगा। प्रमाणप्रमित अर्थ के अनुष्ठान में धर्मरुचि सत्यता की साधिका है, उसमें संशय-संकोच का कोई कारण नहीं है।

राजा का सर्वलोकनमस्कृतत्व

आगम निगम प्रमाणभूत वचनों से परिपुष्ट सत्यका सिद्धान्त पुराणप्रसिद्ध इतिहासों से सिद्ध है। राजा का सर्वलोकनमस्कृतत्व सत्यपालन में ही है, इसीलिए राजपद को दुरारूढ़ कहा गया है। सत्यव्रत में सब धर्मों का अन्तर्भाव है। सत्य से च्युत होने पर अन्य धर्मों की सतेजस्कता जाती रहती है। ध्यातव्य है कि सत्य से संवलित शुचिता का प्रभाव है कि साक्षात् धर्म श्रीराम का वरण करेगा जैसा भरद्वाज-आश्रम से आगे जाने पर यमुनातीर पर तापसमिलन में दर्शनीय होगा।

संगति : श्रीराम अपने धर्मानुष्ठान में सत्य की प्रामाणिकता पर दृढ़ निश्चय व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० : मैं सोइ धरमु सुलभु करि पावा। तजें तिहुँ पुर अपजसु छावा ॥ ६ ॥
संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरनकोटिसम दारुन दाहू ॥ ७ ॥

भावार्थ : मैंने उसी सत्यधर्म को सुलभता से प्राप्त किया है, उसको छोड़ने से तीनों लोक में अपयशस् फैल जायगा। अपयशोमूलक कार्य करोड़ों मरण के समान कीर्त्तिमान् व्यक्ति को तीव्र वेदना देनेवाला है।

धर्मस्थिरता से यशस् धर्मत्याग में अपयशस्

शा० व्या० : आगमनिगमप्रतिपादित सत्यसंवलित जो है, उसको श्रीराम ने कैकेयी माताजी के सामने 'आयसु पालि जनमु फलु पाई' कहा है, उसी धर्म को 'धरमधुरीन धरम गति जानी' श्रीराम ने कौसल्याजी के सामने 'पिता दीन्ह मोहि काननराजू' कहकर व्यक्त किया है। सत्यसंध पिताश्री की वचन-बद्धता से कैकेयी माताजी की वरयाचना में सत्यका बल है जिसका समर्थन माता कौसल्याजी ने ('जो पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवधसमाना' से) किया है। अतः पिताश्री सत्यसंध के प्रतिज्ञातार्थ के पालन का समय (वनवासात्मक धर्म के अनुष्ठान) अनायासेन प्राप्त हुआ है, उसको प्रभुने मुनिव्रत से स्थिर किया है। उसका त्याग करके अयोध्या लौटना वचनप्रमाणप्रसूतधर्म में निहित सत्यता के अनुष्ठान की

१. नारायणोपनिषद में 'सत्यं परमं वदन्ति' आदि वचनों से सत्य की महिमा गायी गयी है।

वंचना या विसंवादिता कहलायेगी। सत्य से च्युत होने पर सत्यसंध पिताश्री के त्रैलोक्यव्यापी यशस् की हानि के साथ वनवास की फलश्रुति में कहे सत्यसंध राजा के वचनानुसार "होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई" की अस्थापना तथा चौ० २ दो० २८ की व्याख्या में कहे कैकेयीजी के मनोरथ प्रागभाव के अस्तित्व के रहते रामराज्य की संदिग्धता होगी। पिताश्री के उक्त संभावित अपयशस् के अतिरिक्त श्रीराम के संबंध से 'तिहुँ पुर अपजसु छावा' का अर्थ असफल होगा वचनप्रमाण की सत्यता विलुप्त होगी तो रघुपति चरित की सफलता में वर्णित (उत्तर काण्ड दो० २० में वरनाश्रम निज निज धरमनिरत वेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहि भय सोक न रोग') की चरितार्थता अप्रसिद्ध होगी। नीतिमत से लोक में अविश्यस्यता का पात्र होना अपयशस् है।

प्रभु के इच्छित कार्य में धर्म की सुलभता

श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित अनेकविध धर्मों में अनुष्ठाता की योग्यता (सामर्थ्य) को जानकर आचार्य जिस धर्म को अपनाने के लिए निर्णीत करते हैं, वही धर्म अनुष्ठेय होता है। इस प्रकार शास्त्र ने आचार्यवचन के प्रामाण्य की परंपरा प्रतिष्ठापित की है। उसी परंपरा से संगत पुत्र की कृतार्थता में, 'तनय मातु पितु तोष-निहारा' से व्यक्त प्रभु के प्रतिपादित सिद्धान्त ("सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु वचन अनुरागी") की सार्थकता में 'मुनिगन मिलन बिसेषि वन सबहिं भाँति हित मोर' की सिद्धि के लिए राजाश्री के द्वारा अवतार कार्य में देवों हितसाधक वनवासात्मक धर्म की उपलब्धि ('पितु आयसु जननी संमत') अनायासेन हुई है अन्यथा, प्रयत्न करने पर भी वनवासार्थ माता-पिता की आज्ञा को प्राप्त करना सुलभ न होता। उसी को श्रीराम ने 'सोइ धरमु सुलभ करि पावा' से स्पष्ट करते हुए सुमन्त्र को प्रबोध कराया है।

अपयशस् से राजा को मुक्ति

ज्ञातव्य है कि वचनप्रमाणप्रमितवनवास में श्रीराम की धीरता-स्थिरता से प्रकट सत्यपालनात्मक धर्म-संदेश को सुमन्त्र द्वारा सुनकर सत्यसंध राजा को 'आनेहु फेरो' के आदेश में सम्भावित अपयशस् से होनेवाली 'मरन कोटि सम दारुन दाहू' से मुक्ति मिलेगी। स्मरण रखना है कि रामराज्य की स्थापना में पूर्वकथित कैकेयी जी की मनोरथ पूर्ति के प्रागभाव (प्रतिबन्धक) का ध्वंस जब तक वनवास की पूर्णता से सिद्ध नहीं होगा तब तक वरदानात्मक वचनबद्धता में सत्यसंधता की च्युतिका अपयशस् रहते राजाश्री का संताप किसी जन्म में नहीं मिटेगा। ग्रन्थकार ने लंकाकाण्ड में लंकाविजयोपरान्त इस रहस्य को 'चितइ पितहि दीन्हेंउ दृढ़ ग्याना' (चौ० ५ दो० ११२) से स्फुट किया है।

संगति : 'धरममतु सोधा' में समर्थ सुमन्त्र के प्रबोधार्थ अधिक कहना आवश्यक न समझकर श्रीराम सुमन्त्र के सुनाए राजाश्री के संदेश का उत्तर व्यंजना से सुना रहे हैं।

चौ० : तुम्हसन तात ! बहुत का कहऊँ ?। दिएँ उतरु फिरि पातकु लहऊँ ।।

भावार्थ : हे तात ! तुमसे मैं ज्यादा क्या कहूँ क्योंकि गुरुजनों को उत्तर देने में विरोध का प्रदर्शन करना पाप है।

आप्त गुरुजनों से उत्तर-प्रत्युत्तर में दोष

शा० व्या० : शिवजी द्वारा स्थापित सिद्धान्त ('मातु पिता गुर प्रभु के बानी। बिनहि बिचारि करिअ सुभजानी') का आदर रखते हुए हितकारी पिताश्री के 'आनेहु फेरी' के आदेश के विरोध में बोलना गुरु-

अपमान दोष का कारण होगा। सुमन्त्र पितातुल्य आदरणीय एवं परमार्थज्ञान में पण्डित हैं उनसे धर्म-तत्व के विषय में उत्तर-प्रत्युत्तर करना अनपेक्षित है। 'तुम्हसन' का भाव है कि तत्वज्ञानी के सामने तत्व प्रबोध का संकेत कराने के लिए सीमित कथन से अधिक बोलना अनावश्यक है। उदाहरणार्थ काक-भुशुण्डि को लोमश ऋषि से शास्त्रार्थ करने का परिणाम गुरु-अवज्ञारूप पाप एवं 'उपज क्रोध ज्ञानिन्ह' के हिएँ के रूप में घटित हुआ। (चौ० ६-७ दो० १११ उ० का०)।

'फिरि पातक लहउँ' से यह भी भाव व्यक्त है कि 'आनेहु फेरी' के उत्तर में आदेश को मानकर लौटने में मुनिव्रतभंगरूप पाप नहीं बल्कि राजाश्री के पूर्वादेश भङ्गज पाप की भी प्रसक्ति होगी।

संगति : नीतिसार में कहे 'प्रणिपातेन हि गुरून्' के अनुसार श्रीराम वृद्धोपसेवात्मक विनय का अनुसरण कर रहे हैं।

दो० : पितुपद गहि कहि कोटिनति विनय करब कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कै ? तात ! करिअ जनि मोरि ॥ ९५ ॥

भावार्थ : पिताश्री को चरणस्पर्शपूर्वक मेरा अनेक प्रणाम कहकर हाथ जोड़कर मेरी ओर से विनती करना कि वह मेरे विषय में किसी बात की चिन्ता न करें।

लोकसंग्राहक प्रणति से राजाश्री को आश्वासन

शा० व्या० : 'गुरुं प्रणतिभिः' सिद्धान्तानुसार श्रीराम की नति से राजशास्त्रोक्त लोकसंग्राहक गुण प्रकट है। श्रीराम को सत्यसंध के वचनप्रमाणाधीन धर्मानुष्ठान में राजवचन से अनुमित, प्रमेय की सिद्धि श्रीराम को निश्चित है तो श्रीराम के कुशल-मंगल के लिए राजाश्री को चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है। चिन्ता का विषय सुमन्त्र द्वारा छन्द १५२ में स्पष्ट होगा। लंकाकाण्ड दो० ८० के अन्तर्गत 'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका' से स्पष्ट किया गया है कि सत्याचरण से धैर्य, शौर्य, त्याग, संतोष, जितेन्द्रियता, विवेक आदि समस्त गुणों की संपन्नता प्राप्त होती है। राजवचन की सत्यता को अपने धर्मा-नुष्ठान से स्थिर रखने का व्रत लेकर उसके द्वारा सत्य-शीलसमन्वित सर्वसद्गुणसंपन्नता को समझाकर 'चिंता करिअ जनि मोरि' से वनवास की फलसिद्धि में राजा को श्रीराम आश्वस्त कर रहे हैं।

संगति : चौ० ७-८ दो० ९४ में कहे राजा के आदेश के समाधान में सुमन्त्र को प्रबोध कराकर उसकी प्रार्थना ('गोसाइँ जस कहइ करौं बलि सोई') के उत्तर में श्रीराम कह रहे हैं।

चौ० : तुम्ह पुनि पितुसम अतिहित मोरे। बिनती करउँ तात ! कर जोरे ॥ १ ॥
सब बिधि सोइ करतव्य तुम्हारे। दुख न पाव पितु सोच हमारे ॥ २ ॥

भावार्थ : "हे तात ! तुम पिताश्री के समान हो, मेरा अतिहित चाहनेवाले हो अतः तुमसे करबद्ध प्रार्थना है कि तुमको सब प्रकार से वही कार्य करना चाहिये जिससे पिताश्री को हमारे बारे में सोचकर दुःख न हो।

तात, दुःख व सोच का ध्वनितार्थ

शा० व्या० : यद्यपि राजशास्त्र के मत से श्रीराम सेव्यगुणसंपन्न स्वामी हैं और सुमन्त्र द्रव्यप्रकृति हैं, तो भी श्रीराम अपने विनय गुण से सुमन्त्र का पितासम आदर करते हुए प्रार्थना भाव में बोल रह हैं। 'दुख' से पुत्र के वनवास का दुःख तथा 'सोच' से सत्यसंधतासंबद्ध वचन के पालन में श्रीराम के

वनगमन का पश्चात्ताप ध्वनित है जैसा चौ० ५ दो० ३६ में राजा के वचन 'मोर पछिताऊ न जाइहिकाऊ' से व्यक्त है।

अतिहित आदि का भाव

सुमन्त्र के लिए अतिहित कर्तव्य यही है कि पिताश्री के उक्त दुःख या शोक का विधिपूर्वक समाधान करते हुए पुत्र के वनवास की सफलता के लिए सत्यसंध के वचन प्रमाण की प्रतिष्ठा को सुमन्त्र सुरक्षित रखें। 'पितुसम' से स्नेहप्रयुक्त सहज हितकर्तृत्व एवं मन्त्रित्वसमन्वितकर्तव्यप्रयुक्त विशेषद्रित कर्तृत्वको 'आति-हित' कहा है। राजशास्त्र में भी राजा के विपद्ग्रस्तता या धर्मान्तर आदि कार्यों में व्यस्त होने पर मन्त्री पर विशेष उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य का भार सौंपा गया है उसका संकेत 'सब बिधि के अन्तर्गत है। 'बहुत का कहऊं' से संगत सब विधि से राजा के वचन प्रमाण की प्रमेयसिद्धि में कैकेयी के मनोरथ पूर्ति प्रागभाव (प्रतिबन्धक) के निरसन में राजाश्री की वचनबद्ध सत्यसंधता के सुरक्षार्थ जितना बताने से सुमन्त्र को प्रबोध हो जायगा, उतना श्रीराम ने कहकर धर्ममतशोधन की दृष्टि से तर्कसम्मत त्रयी की सुप्रतिष्ठा के हेतु कर्तव्य समझा दिया। ध्यातव्य है कि प्रभु के वक्तव्य को सूत्ररूप में प्रत्याहारन्यायेन विषय को यहाँ समझाया है जिसका भाष्य करते हुए राजा को सामने (छन्द १५१ से दो० १५२ तक) माता प्रभृति को अलग-अलग कहे प्रभु के संदेश का उद्घाटन सुमन्त्र द्वारा कवि करेंगे, यद्यपि ग्रन्थकार ने यहाँ उसका संकेत नहीं किया है। तथापि 'सब विधि सोइ कर्तव्य तुम्हारे' के अन्तर्गत कर्तव्यनिर्देश की विधि के अनुसरण में सुमन्त्र का कार्य प्रशंसनीय व प्रभु के अतिहित का संपादक है।

संगति : लक्ष्मण-संवाद में श्रीराम के प्रभुत्व का ज्ञान और सुमन्त्रसंवाद से सेव्य का स्थैर्य धैर्य आदि प्रकट कराकर ग्रन्थकार इस संवाद का प्रयोजन गुह को सेवानिष्ठा के उद्बोध से व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० : सुनि रघुनाथ-सचिवसंवादू। भयउ सपरिजन बिकल निषादू॥ ३॥

भावार्थ : श्री रघुनाथ और मन्त्री सुमन्त्रका संवाद सुनकर निषादराज गुह स्वमण्डलसहित व्याकुल हो गया।

राम-साचिवसंवाद का प्रयोजन

शा० व्या : 'सपरिजन बिकल' से सत्यरुचि में अभिनिविष्ट व सेव्यत्व गुणों में सम्पन्न स्वामी के सत्वगुण का संक्रमण सेवारुचि गुह व उसके समाज पर दिखाया गया है। 'काननराजू' के उद्देश्य में राजनीति की सफलता जनानुराग की स्थापना में है, जिसका आरंभ गुहसमाज के अनुगामित्व से हो रहा है जैसा आगे चौ० ६ दो०२५१ में गुहपरिजनों के उद्गार से स्पष्ट होगा–(सपनेहुँ धरम वृद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन दरस 'प्रभाऊ) लक्ष्मणजी के 'ज्ञान विराग भगति रससानी मृदुबानी' से प्राप्त शिक्षा का प्रभाव है कि विषाद-विकलता में भी सेवाप्रयुक्त कर्तव्य में गुह दृढ़ रहकर अपने परिजनों को भी रामसेवा में प्रवृत्त करेगा।

संगति : वचनप्रमाण की प्रमेयसिद्धि में प्रतिबन्धक तत्व का निरसन (कैकेयी के मनोरथपूर्ति प्राग-भाव के ध्वंस) करने के निमित्त से वनवास के औचित्य का प्रबोध कराते हुए सुमन्त्र से प्रभु ने धर्म-नीति की प्रतिष्ठा के हेतु से विनती की किन्तु सुमन्त्र का वचन सुनकर लक्ष्मणजी ऐसा सोच रहे हैं कि पिताश्री का यह आदेश तो भविष्यत् में रामराज्योत्सव अर्थ का बाधक होगा सदा के लिए, भरत जी ही राजा

बने रहेंगे संभवं है कि यह मेरे भाइकी एक चाल हो उसी के विरोध में कैकेयी जी के मनोरथपूर्ति प्रागभाव ध्वंसार्थं लक्ष्मणजी कटुवचन से अपना वनवास हेतुक धैर्य प्रकट कर रहे हैं।

चौ० : पुनि कछु लखन कही कटुबानी। प्रभु बरजे अनुचित जानी ॥ ४ ॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखनसंदेसु कहिअ जनि जाई ॥ ५ ॥

भावार्थ : फिर लक्ष्मणजी ने कुछ कठोर वचन कहे जिसको बड़ा अनुचित समझकर प्रभु ने लक्ष्मणजी को बोलने से रोक दिया। श्रीराम स्वयं सकुचा गये और सुमन्त्र को अपनी शपथ दिलाते हुए कहा कि लक्ष्मण जी के संदेश की आनुपूर्वी जाकर मत कहना।

कटुवाणी से रोष का प्रकाशन

शा० व्या : कैकेयीजी की मनोरथपूर्तिप्रागभाव का ध्वंस वनवास की पूर्णता होने पर ही होगी तभी राम राज्योत्सव (अर्थं) सम्भव है। इसका संकेत लक्ष्मण जी (दो० १० में कहे प्रियवचन) प्रभु के वचन से समझ चुके हैं। भरतजी को सांकुशता (चौ० ३-४ दो० ६२ से) राजा श्री के निर्णायक वचन से सिद्ध है। अभी उसके वैपरीत्य में सुमन्त्र द्वारा प्रस्तावित आदेश जो वनवासनिवर्तक है उसका अर्थ होगा कि कैकेयी जी को मनोरथपूर्तिप्रागभाव की सुरक्षा करनी है और भरतराज्य को निष्कंटक बनाना है ऐसा सोचकर लक्ष्मणजी रुष्ट हैं उसका प्रकाशन कटुवाणी से व्यक्त हो रहा है।

वाणी का कटुत्व; सेव्यत्वगुण

निर्हेतुक कल्पना में लक्ष्मणजी का वचन भेदनीतिपोषक समझकर उस वचन को शिवजीने कटु कहा है। श्रीराम के द्वारा दिए सुमन्त्र के उपरोक्त प्रबोध में भी वैपरीत्य की संभावना जानकर प्रभु ने लक्ष्मणजी को कटुवाणी से विमुख किया है। सामान्य सदाचार में अश्राव्य अनुचित वचन कटु है। 'बरजे' से सेवक के दोष-परिहार में सचेष्ट स्वामी का सेव्यत्वगुण दिखया है।

प्रश्न : 'कटुबानी' में लक्ष्मणजी ने क्या कहा होगा ? क्या समझकर प्रभु ने उसको वर्जित किया ?

उत्तर : ग्रन्थकार ने यहाँ कटुबानी को स्पष्ट नहीं किया है, सुमन्त्र द्वारा राजाको सुनाए संदेश में (चौ० ३-८ दो० १५२) भी अस्फुट है। अत: चित्रकूट में भरतजी के प्रति लक्ष्मणजी की कटूक्ति से अनुमान किया जा सकता है कि कटुवाणी के अन्तर्गत भरतजी के प्रति कटुवाक्य कहा गया होगा।

लक्ष्मणजी की 'कटुवाणी' की उपपत्ति

लक्ष्मणजी के कटुवाणी की उपपत्ति में कहना है कि कैकेयीजी की प्रथम वरयाचना में 'देहु एक वर भरतहिं टीका' सावधिक नहीं है। कैकेयी माताजी से कहे श्रीराम के वचन (भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू) में भी सावधिकत्वका उल्लेख नहीं है। सुमन्त्र के साथ हुए श्रीराम के संवाद में भी पित्राज्ञा-पालनात्मक धर्म के अन्तर्गत वनवास के औचित्य की चर्चा में अवधिकी समाप्ति पर श्रीराम के राजपदासीन होने का कोई निश्चय व्यक्त नहीं किया कि बहुना भरतजी के प्रति प्रभु के कहे संदेश में 'नीति न तजिअ राजपदु पाए' को सुनकर लक्ष्मणजी के मनस् में भरतजी द्वारा श्रीराम के राज-पदाधिकार के अपहरण की शंका जागृत हुई जिसका प्रकाश चित्रकूट में लक्ष्मणजी को उक्ति ('तेऊ आजु राजपदु पाई। चले धरम मरजाद मेटाई') से व्यक्त हुआ। पूर्वोक्त चौ० ५ दो० ९४ की व्याख्या में कहा गया है कि श्रीराम के मुनिव्रत-धारण से भी श्रीराम के अयोध्या लौटने में संशय होने से 'हृदयँ दाहु अति बदन मलीना' व अतिदीन स्थिति में सुमन्त्रने 'तात ! कृपा करि कीजिअ सोई। जाते अवध

अनाथ न होई' से प्रभु के लौटने का आश्वासन प्राप्त करने का भाव व्यक्त किया है उसका समाधान नहीं हुआ यही कटूक्ति का कारण है।

बड अनुचित जानी

चौ० ९ दो० १० में प्रभु संकल्पित विचार 'बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू' में 'बिमल बंस' से राजा दशरथ की सत्यसंधता, 'बड़ेहि अभिषेकू' से बंशपरंपराप्राप्त धर्म में 'बन्धु बिहाइ' से नीति की न्यूनता से राज्यभिषेकविधि में अनौचित्य समझा। उस अनौचित्य को दूर करने के लिए राजा के सत्यसंधतासंबद्ध वचन प्रमाण को स्थिर बनाने के हेतु कैकेयीजी के मनोरथपूर्ति-प्रागभाव के ध्वंसार्थं प्रभु ने वनवास को अपनाया उसके विरोध में लक्ष्मणजी की कटूक्ति को प्रभु ने 'बड़ अनुचित' समझना प्रभु की नीतिज्ञता का परिचायक है। स्मरण रखना चाहिए कि चौ० ६ से ८ दो० ४८ में भरत जी के विरुद्ध एक वर्ग का आरोप सुनते ही प्रजा ने भी 'सुकृत जाहि अस कहत तुम्हारे' से उस आरोप का बाध करते हुए 'यह बात अलीहा' कहकर भरत जी के प्रति कहे विरोध का अनौचित्य बताया था जिसकी पुष्टि कौसल्या जी ने अपने वचन (दो० १६९ चौ० ४) में की है उसी को प्रभु ने यहाँ अनुचित कहा है।

कटु वचन का अप्रकाशन

जिस प्रकार प्रभु ने 'अनुचित एकू' को गुप्त रखा उसी प्रकार लक्ष्मणजी की 'कटुबानी' से व्यक्त 'बड़ अनुचित' को प्रकट कराना नीतिविरुद्ध समझकर सुमन्त्र द्वारा उसके प्रकाशन में संकोच दिखाकर 'लखन संदेसु कहिअ जनि जाई' से सुमन्त्र को शपथपूर्वक रोक दिया क्योंकि उसके प्रकाशन से कैकेयीजी के मनोरथपूर्तिप्रागभावध्वंस में बाधा संभावित थी। प्रसंगतः यह भी स्मरण रखना है। थाती रूप में रखे राजा के वरदानवचन की सत्यसंधता में न्यूनता रह जाती यदि कैकेयीजी द्वारा वर की याचना न होती इस दृष्टि से उसकी धर्मसंबद्ध वरयाचना में भरतराज्य एवं रामवनवास नीतिसंगत कहा जायगा। इस सूक्ष्म तत्व का प्रकाशन' जेहि जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी' से विज्ञानी वाल्मीकि मुनि के समक्ष प्रभु कैकेयी माताजी की प्रतिष्ठा दिखायेंगे। उसमें अप्रसन्नता को प्रकट होगी तो व्रत में बाधा होगी। इसलिए लक्ष्मण जी की आनुपूर्वी को सुनाने से रोका।

सपथ देवाई का भाव

लक्ष्मण जी ने सब धर्मों का योग रामसेवा में अर्पित किया है सेवाधर्म से इतरधर्मनीति की उपेक्षा में समय-समय पर अनन्य सेवक लक्ष्मणजी के 'कीरति भूति सुगति' के हानि' के प्रसंग में स्वयं प्रभु उनको सँभाल करते हैं जैसा चौ० १-२ दो० २०० में भरतजी की उक्ति ('लालन जोगु लखन लघु लोने। सिय रघुबीरहि प्रानपिआरे') से स्फुट है। अतः 'कटुबानी' में नीति का ह्रास देखकर प्रभु ने निज सपथ देवाई' से लक्ष्मणजी को नीतिविरोधी कार्य से बचाया है। भरतजी में आरोपित उक्त निरंकुशता अयोध्या में सुमन्त्र द्वारा प्रकट होगी तो राज्य में अनीति का प्रचार होगा। इसलिए 'बरजे अनुचित जानी में लक्ष्मणजी की कटु आनुपूर्वी और तदर्थ के प्रकाशन से सुमन्त्र को रोकने के लिए सपथ देवाइ का उल्लेख किया है।

लक्ष्मण जी का अभिमत

सुमित्राजी की उक्ति "जेहि न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु रहइ उपदेसू' को ध्यान में रखते राजादेश ('आनेहु फेरी') की प्रतिक्रिया में लक्ष्मणजी की कटुवाणी के संबंध में इतना कहा जा सकता है अयोध्या लौटाने की चर्चा करना छन्द ९५ में माताजी के उपदेश ('पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति

वन बिसरावहीं') के विरुद्ध होगा, अपितु लक्ष्मणजी के मत से कैकेयीजी के मनोरथपूर्ति में श्रीराम के वनवास में अपेक्षित उदासीनत्व का भंग होगा वैसा न होने देना ही लक्ष्मणजी का अभिमत है।

लक्ष्मणजी के कटुवचन की सप्रयोजनता

ग्रन्थकार राजाश्री के सामने लक्ष्मणजी की कटूक्ति एवं 'प्रभु बरजे' का उल्लेख कराकर श्रीराम के अनुशासन में लक्ष्मणजी के सेवकत्व की स्थिरता और लक्ष्मणजी के द्वारा अपने अभिनय से गुह को सेवाधर्म की शिक्षा ऐसे दो तत्व समझा रहे हैं उसका फ़ल यह कि 'प्रभुबरजे' के अनुशासन में लक्ष्मणजी के तत्काल सावधान हो जाने से गुह को वृद्धाभिसम्मति के अनुगमन में आत्मसंयम की प्रवृत्ति होगी जैसा भरतजी से युद्ध करने की उत्तेजना में ' सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा। सहसा करि पछिताहिं बिमूढ़ा'' से स्पष्ट होगा।

अभिनयज ज्ञान की शाब्दबोधता

लक्ष्मणजी की 'कटुबानी' व 'प्रभु बरजे' से होनेवाला गुह का उक्त अर्थज्ञान मीमांसोक्त अर्थज्ञानज 'शब्द बोध' का उदाहरण है जैसा ''पश्यतः श्वेतिमारूपं ह्लेषाशब्दं च शृण्वतः खुरविक्षेपशब्दाच्च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः'' से होने वाले अर्थबोध को शब्दबोध कहने की मीमांसा प्रणाली है।

शपथ का प्रयोजन

धर्म की दृष्टि से 'धरम मत सोधा' से समन्वित परलोकविश्वास से लक्ष्मणजी के कटुवचनविशेष को सुमन्त्र ने अप्रकाशित करना शपथ का प्रयोजन है। नीति दृष्टि से अनैतिक कथन या विचार का प्रचार भेदनीति के प्रोत्साहन का कारण है अतः 'दुःख न पाव पितु सोच हमारें' के कर्तव्य में प्रभु ने शपथपूर्वक वर्जन करना पिताश्री के आश्वासन में सहायक होगा।

शपथ द्वारा वर्जित कटुवाणी का सुमन्त्र द्वारा उल्लेख क्यों ?

प्रभुके आदेश 'लखन संदेसु कहिअ जनि जाई' में स्पष्ट है कि प्रभुने कटुबाणी में कहे सदेश को सुनाने से रोका है। 'कटुबानी' के उल्लेखमात्र से शपथ भंग दोष की प्रसक्ति नहीं है क्योंकि शपथ का उद्देश्य कटुवाणी आनुपूर्वी व उसके विषय को अप्रकाशित रखना है। 'पुनि पुनि पूँछत मंत्रिही राऊ। प्रियतम सुअन संदेस सुनाऊ' के उत्तर में लक्ष्मणजी के संदेश के संबंध में कुछ न कहना मन्त्री का राजाश्री के प्रति अविश्वास्यता का सूचक होगा अतः रामशपथ की मर्यादा में प्रभु के वचन ('सब बिधि सोइ करत तुम्हारें') के अनुकूल विधि का पालन करते हुए राजाश्री को 'लखन कहें कछु वचन कठोरा' सुनाकर सुमन्त्र ने दोतरफा कर्तव्य का निर्वाह किया है। इससे यह ज्ञातव्य है कि 'लखन कही कटुवानी' ऐसा सामान्यतया सुनाने में श्राराम की अनुमति है। यह सुमन्त्र की बुद्धिमत्ता है कि लक्ष्मणजी के संदेश को प्रभुवचन में परिष्कृत करके सुनाया है (चौ० ९-८ दो० १५२)। यह सिद्धान्त है कि लोकवेदबाह्य व्रह्मज्ञानी या भक्त के उद्गार नीति में वहीं तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे भारतीय राजोति के अविरोध में लोकसंग्रह के अनुकूल हैं।

विशेष वक्तव्य

लक्ष्मणजी का कटुवचन बोलना औचित्य की दृष्टि से लक्ष्मणजी का चापल्य कहा जायगा जिसको सुमन्त्र राजाश्री के सामने 'लखन लरिकाईं' कहेंगे। कवि (शिवजी) ने चौ० ८ दो० १० में अपनी प्रार्थना ''हरहु भगत मन कै कुटिलाई' की सार्थकता को यहाँ प्रकट किया है।

संगति : राजाश्री के आदेश में 'कहे जौ न फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई' के विषय में सुमन्त्र दोनों भाइयों की वनवास में धीरता-देखकर आश्वस्त हो गए। अब कामसंवलित धैर्य के परीक्षार्थं 'फेरिअ प्रभु मिथिलेस किसोरी' के सम्बन्ध में सीताजी को लौटाने का उपाय कर रहे हैं।

चौ० : कह सुमन्त्र पुनि भूपसंदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिनकलेसू ॥ ६ ॥
जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया ॥ ७ ॥
नतरु निपट अवलंबबिहीना। मैं न जिअब जिमि जलबिनु मीना ॥ ८ ॥

दो० : मइके ससुरे सकल सुख जबहिं जहाँ मनु मान।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान ॥ ९६ ॥

भावार्थ : फिर सुमन्त्रने राजाश्री का संदेश सुनाते हुए कहा "सीताजी वन के कष्टों को सहन नहीं कर सकेगी। इसलिए जिस प्रकार से उनका अवध में लौटना हो सके वही रघुवर श्रीराम करें, नहीं तो एकमात्र सीताजी का सहारा भी छुट जाने पर मैं जल बिना मछली को तरह सुखेन जीवित नहीं रह सकूँगा। नैहर में और ससुराल में दोनों जगह सब प्रकारका सुख है। सीताजी का जब तक जहाँ रहने का मनस् करे तब तक वहाँ सुख मानकर रहे जब तक कि विपत्ति का अन्त न हो जाय।

सुमन्त्र को सुनाये राजादेश का अनुवाद

शा० व्या० : चौ० ४ दो० ७८ में राजाश्री ने श्रीराम के अनुगमन में उद्यता सीताजी से कहा था" "कहि बन के दुख दुसह सुनाए। सास ससुर पितु सुख समुझाए" उसका भाष्य करते हुए सुमन्त्र को जो आदेश दिया था (चौ० १ से ७ दो० ८२) उसी का अनुवाद 'कह सुमन्त्र पुनि भूप संदेसू' से कवि प्रस्तुत कर रह हैं।

सीताजी के लिए राजादेश की प्रसक्ति

कौसल्याजी व श्रीराम के साथ हुए संवाद में सीताजी के वनक्लेश-असहिष्णुता के विषय में कहा जा चुका है। ग्रन्थकार उसका यहाँ पुनः उल्लेख करके 'जब सिय कानन देखि डेराई' के सम्बन्ध में सुमन्त्र-द्वारा राजाश्री की शंका का समाधान कराना चाहते हैं अर्थात् वन में आने के बाद भी सीताजी को भय या वन के क्लेश की प्रसक्ति नहीं है। 'जौ नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई' के अनुसार वनवास में दोनों भाइयों की धीरता व स्थिरता सुनकर 'जौ नहिं फिरहिं' में राजाश्री को जिस प्रकार सन्तोष होगा उसी प्रकार 'एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा फिरइ त होइ प्रान अवलम्बा' के अनुसार राजादेश को सुनाकर सीताजी की वनवास में स्थिरता धीरता जानने का उपाय सुमन्त्र ने किया है। ध्यातव्य है कि राजाश्री के आदेश में 'हेतू उपन्यास' सहित आदेशप्रामाण्य से पातिव्रत्य के अनुकल्प की प्रसक्ति तभी है जब 'सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू' की स्थिति होगी।

राजाश्री के अवलंब विहीना में जलबिनु मीना की स्थिति

जन्मान्तरीय वरयाचनात्मक वचन प्रमाण (चौ० ६ दो० १५१ बा० का०) के आधार पर राजाश्री के जीवन की अवधि की अन्तिम घटना 'जल बिनु मीना' से ध्वनित है। जिस रामरूप जल से पूर्ण

अयोध्यारूप जलाशय में राजा मछली रूप से रहते थे, उसका जल श्रीराम के वनगमन से घटने लगा। जैसे सूखते जलाशय में थोड़ा जल आते-रहने से मछली को जीवित रहने की आशा होती है, उसी प्रकार सीताजी के लौटने से राजाश्री का 'प्रान अवलंबा' है जो भागवतोक्ति के अनुसार मृगतृष्णा के समान है।[1] 'प्रान अवलम्बा' से सीताजी के रहने से राजाश्री का जीवन रहेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि मइके ससुरे रहिहिं' से सीताजीका सततवास इष्ट नहीं है। अथवा जब तक प्राण रहेगा तब तक सीताजी की उपस्थिति में वेदना नहीं होंगी। 'जब लगि बिपति बिहान' से सीताजोके लौटने की स्थिति में वनवास अवधि के समाप्त होने पर श्रीराम का आना आशान्वित है यही प्राणवलंब अयोध्या के लिए भी है।

'जहाँ मनु मान' से वनक्लेश से निवृत्त कराकर सीताजी की रुचिपूर्ति में राजा का सुखानुभव व्यक्त है।

संगति : सीताजी के सम्बन्ध में सुनाये राजाश्री के संदेश का उपसंहार कर रह हैं।

चौ० : बिनती भूप कीन्ह जेहि भाँती। आरति प्रीति न सो कहि जाती॥ १॥

भावार्थ : राजाश्री ने जिस भाव में उक्त विनती की है। उसमें व्यक्त वेदना एवं प्रेम का वर्णन नहीं किया जा सकता।

शा० व्या० : श्रीराजा के संदेश में सीताजो के वनवास के कष्टों के प्रति उनकी दुःख वेदना एवं सीताजी के प्रति प्रीति का वाचिक उल्लेख करने में संतोष न मानकर राजाश्री की कातरभाव में कहीं विनती में प्रकट आर्ति-प्रीति के अनुभावों से उसकी पुष्टि कर रहे हैं। ज्ञातव्य है कि प्रेमास्पद की अनुपस्थिति में तटस्थ व्यक्ति द्वारा कही बात से प्रेमी की प्रीति का यथार्थ परिचय होता है जैसे भरतजी की प्रीति का यथार्थ परिचय उनकी अनुपस्थिति में श्रीराम के द्वारा प्रकट भरतप्रीति का परिचय तटस्थरूप में स्थित भरद्वाज ऋषि द्वारा "सुनहु भरत रघुबर मनमाहीं। प्रेमपात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं" से स्फुट किया गया है।

संगति : सुमन्त्र का सन्देश सुनकर पहले की तरह श्रीराम पूर्वपक्ष का उपस्थापन सीताजी के सामने कर रहे हैं।

चौ० : पितुसंदेसु सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्ह सिख कोटिविधाना॥ २॥
सास ससुर गुर प्रिय परिवारू। फिरहु न सबकर मिटै सभारू॥ ३॥

भावार्थ : कृपानिधान श्री रामजी ने पिताश्री के संदेश को सुनकर सीताजी को अनेक प्रकार से शिक्षा देते हुए समझाया कि उनके लौटने में सासुजी ससुरजी गुरुजी प्रियजन परिवार आदि सबका हार्दिक दुःख दूर होगा।

प्रभु की पूर्वपक्ष में शिक्षा

शा० व्या० : दो० ७७ में श्रीराम के प्रभुत्व का अनुमान करके 'लखी राम रुख रहत न जाने' से राजाश्री ने श्रीराम की स्वतन्त्रता का आदर दिखाया है, उस आदरभाव से समन्वित 'सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया' की प्रतिक्रिया में प्रभु सीताजी को लौटने की शिक्षा दे रहें हैं। कौसल्याजी के सामने सीताराम-

१. यथाऽबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाऽहं पराङ्मुखः।

संवाद में उक्त शिक्षा का वर्णन हो चुका है। उसकी पुनरावृत्ति सुमन्त्र के सामने करने का उद्देश्य यही है कि 'हठि राखे नहिं राखिहि प्राना' की स्थिति में प्रभु के निर्णय ('परिहरि सोचु चलहु बन साथा') चौ० ३ दो० ६८ की यथार्थता वन में आने के बाद स्पष्ट हो जाय। ध्यान रखना है कि अग्रिम सीतारामसंवाद भी पूर्व संवाद की तरह हेतु-उपन्यासयुक्त है अतः सीताजी ने उपन्यस्त दो पक्षों के विचार में हेतु का निर्णय करना है। एक पक्ष 'नतरु निपट अवलंब बिहोना' और दूसरा पक्ष 'मैं न जिअब' है। सीताजी के लौटने से राजाश्री के प्राण-अवलंब के प्रथम पक्ष के विचार का निष्कर्ष यही होगा कि राजाश्री के पास पुत्रविरह में सीताजी का पहुँचना अल्पकालिक सुख मात्र है। उपरोक्त जन्मान्तरीय विधान से पुत्र विरह में घटित नाम स्मरणात्मक मनोयोग में (अंधशाप प्रयुक्त विधान से) राजाश्री के अन्त को नियत जानकर प्रभु ने बिदा के समय राजा ('लोग बिकल मुरुछित नरनाहू') की स्थिति पर ध्यान नहीं दिया। इससे सीताजी को द्वितीय पक्ष के विचार का निष्कर्ष समझने में देर न लगी अर्थात् रामविरह में राजा की मृत्यु सुनिश्चित है तो प्राण-अवलंबनमात्र के संतोषार्थ अयोध्या में लौटने से कोई लाभ नहीं होगा। इस प्रकार से प्रथम पक्ष अस्पष्टलिंगक कहा जायगा जो न्यायमत से निर्णायक नहीं है। उपरोक्त शीर्षक में कहे विषय से संगत शिक्षा से प्रभु का तात्पर्य है कि वनवास में आने के बाद यदिसीताजी को क्लेशानुभव हुआ तो कैकेयीजी के मनोरथपूर्तिप्रागभावध्वंसप्रयोजक वनवास में उदासीनत्व न होने से बाधा होगी। इसलिए पूर्वोक्त दोहें में कहे राजा के संदेशानुसार विधिसंगत कोटि के अन्तर्गत 'पातिव्रत्य के अनुकल्प का आश्रय लेकर अयोध्या लौटना अच्छा है जिससे 'सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेस से सम्बन्धित सासुजी-ससुरजी आदि गुरुजनों के हृदय की पीड़ा दूर हो, यह पूर्व पक्षकोटि समझनी होगी। 'कृपानिधाना' से वनवास स्वीकृत करने पर भी माताजी, पिताजी स्वजनों आदि के प्रति प्रभु की कृपा प्रकट है।

संगति : राजाश्री की शिक्षा को सुनकर चौ० ५ दो० ७८ में कहें सीताजी के मनोभाव ("सिय मनु राम चरन अनुरागा') को प्रकट करते हुए पातिव्रत्य धर्म में सबके समक्ष सीताजी की दृढ़ता का परिचय कराने के लिए उत्तर पक्ष से सीताजी के द्वारा स्वपक्ष के उपस्थापन की प्रतिज्ञा कर रहें हैं।

चौ० : सुनि पतिबचन कहति बैदेही। सुनहु प्रानपति ! परम सनेही ॥ ४ ॥

भावार्थ : पति का वचन सुनकर राजा विदेह की लड़की सीताजी ने कहा 'हे परमप्रिय प्राणपते ! सुनिये।

उत्तर पक्ष में प्राणप्रिय आदि का ध्वनितार्थ

शा० व्या० : 'नतरु निपट अवलम्ब विहीना। मैं न जिअब' के प्रत्युत्तर में कवि 'वैदेही' से प्राणप्रिय पति के विरह में दो० ६७ में कही सीताजीकी विदेहावस्था का अनुमान सुमन्त्रको करा रहे हैं। उसका निष्कर्ष यह होगा कि न्यायभाषा के अनुसार राजाश्री के संदेश में कहा तर्क "यदि सीताजी अयोध्या प्रति न प्रत्यागमिष्यति र्तीह श्वशुरादीनां जीवितप्रयुक्त से रक्षेपेक्षायां दोषभागिनी भविष्यति" यह तर्क मूलशैथिल्य दुष्ट ठहरेगा। दो० ६६ से ६७ तक में सीताजी के कहे पतिस्नेह का स्वरूप 'परम सनेही' से स्फुट है। कहने का निष्कर्ष है कि सीताजी के लौटने में 'प्रान अवलम्बा' से राजाश्री की सुरक्षा न होकर उनके लिए चिन्ता का विषय हो जायगा।

संगति : वैदेही सीताजी 'प्रानपति परमसनेही' से अपनी स्थिति को स्पष्ट कर रही हैं।

चौ० : प्रभु ! करुनामय ! परम विवेकी ! ? तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी ? ॥ ५ ॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाइ ? । कहँ चन्द्रिका चंदु तजि जाई ? ॥ ६ ॥

भावार्थ : 'हे दयासागर ! प्रभो !' आप तो परम विवेकी हैं, स्वयं समझ सकते हैं कि शरीरको छोड़कर कहीं उसकी छाया ढकी रह सकती है ? अथवा सूर्य को छोड़कर उसकी किरणें या चन्द्रमा को छोड़कर उसकी चाँदनी कहाँ जा सकती हैं ?

विवेकी आदि का भाव

शा० व्या० : 'विवेकी से आन्वीक्षि की प्रयुक्त विवेक से संपन्न श्रीराम का निर्णायकत्व स्फुट है। 'परम विवेकी' से (बा० का० चौ० ४ दो० १५२ में) मनु से कहे प्रभु के वचन आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया) से प्रभु की क्रिया-ज्ञान-आनन्द शक्ति का संकेत करते हुए सीताजी ने प्रभु के साथ अपना सान्निध्य स्पष्ट करने के लिए तीन दृष्टान्त दिये हैं जैसे शरीर की तमोरूप छाया से क्रियाशक्ति, सूर्य प्रभा से ज्ञानशक्ति, और चन्द्रप्रभा से आनन्द शक्ति। क्रिया-ज्ञान-आनन्दस्वरूप श्रीराम की प्रभा व सीताजी में अभिन्नता नामवन्दना के प्रकरण में "कहिअत भिन्न न भिन्न बंदउँ सीताराम-पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न" से ग्रन्थकार ने स्फुट की है। 'परम प्रिय खिन्न' से प्रभु का करुणाकरत्व स्पष्ट है।

श्रीराम व सीता के अभेद शंका समाधान

प्र० : उपरोक्त दृष्टान्तों से परिपुष्ट श्रीराम के साथ सीताजी का अभिन्न स्वरूप लंकानिवास में प्रभु से अलग होने पर कैसे स्थिर रहा ?

उ० : इस प्रश्न के समाधान में कहना है कि अरण्यकाण्ड में नर[1] (मानत्व साधक) लीला के प्रकाशन हेतु से प्रभु ने शक्तिस्वरूपा सीताजी को अपनी प्रभा में लीन कर लिया, दृष्ट में मायारचित प्रभा से युक्त सीताजी का प्रतिबिम्बमात्र रह गया जिसने प्रभु के संकल्पित 'प्रियाव्रत रुचिर सुसीला' का रहस्यमय चरित्र किया। प्रभु के प्रसन्नतार्थ नरलीला में दो० ६९ में सीताजी की उक्ति (तौ प्रभु विषय बियोग दुःख सहिहहिं पाँवर प्रान) की चरितार्थता व लंका की अशोकवाटिका में वर्णित सीताजी की दशा एवं हनुमान्‌जी द्वारा सुनाये प्रभु के संदेश ("तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा। सो मनु सदा रहत तोहिं पाहीं) आदि में द्रष्टव्य होगी। इस प्रकार श्रीराम और सीताजी के अभेद में बाधा नहीं है।

प्रसंग से मर्तव्य है कि सीताजी व प्रभु का सेव्य सेवक संबंध न्यायभाषानुसार प्रभुआदेश हेतुक इष्ट साधनत्वाद्यनुमिति प्रयोज्य प्रवृत्तिमत्व रूप है यदि अयोध्यावास में 'राजसंताप हेतुक इष्ट साधनत्वामुमिति प्रयोज्य प्रवृत्तिमती' होती है तो सीताजी का सेवकत्व नहीं कहा जायगा। कहने का आशय है कि सेव्य के आदेश को हेतु समझकर उसके द्वारा अपना श्रेयस् अनुमित करके सेव्य के आदिष्ट कार्य में प्रवृत्त होना सेव्यसेवक संबंध की अभिन्न अटूटता है।

---

१. सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नरलीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा॥
जबहिं राम सब कहा बखानी। प्रभुपद धरि हियँ अनल समानी॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥ चौ० १ से ४ दो० २४

संगति : चौ० ५ दो० ७७ में राजा की शिक्षा को सुनकर उस पर सीताजी के मनोभाव ('घरु न सुगमु बनु विषमन लागा') को प्रकट कराने के बाद भोगविलासवैभव से हीन स्थिति में वनवासक्लेशसहन में सीताजी की धीरता का सुमन्त्र को परिचय कराना है। अतः पति को उनके पक्ष का उत्तर सुनाकर सीताजी सुमन्त्र को अभिमत सुना रही है।

चौ० : पतिहि प्रेममय विनय सुनाई। कहति सचिवसन गिरा सुहाई ॥ ७ ॥
तुम्ह पितु-ससुरसरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी ॥ ८ ॥

दो० : आरतिबस सनमुख भइउँ बिलगु न मानब तात !।
आरजसुतपदकमल-बिनु बादि जहाँ लगि नात ॥ ९७ ॥

भावार्थ : पति को प्रेमपूर्ण विनय सुनाकर सीताजी मन्त्री से सुन्दर वाणी में कहने लगीं "आप पिताश्री और ससुरजी के समान मेरा हित करने वाले हैं। आपको उत्तर देना बड़ा अनुचित है। हे तात ! अपनी हार्दिक पीड़ा के वश होकर आपके सामने उपस्थित हुई हूँ इसका आप बुरा न माने। वास्तविक बात यही है कि [1]आर्यपुत्र पति के चरणकमल के आश्रय के विना जहाँ तक संबंध है, वह सब मेरे लिए व्यर्थ हैं।

सीताजी की प्रेममय आदि का भाव

शा० व्या : 'प्रेममय' से सीताजी के प्रति पति की विश्वास्यता प्रकट है। पति-पत्नी के प्रेम संबंध में धर्म के अतिरिक्त सेव्यसेवक भावहेतुक रुचि भी व्यक्त है। विनय से सेवकोचित गुणसंपन्नता दिखायी है। 'गिरा सुहाई' का भाव है कि सीताजी के वचन औचित्यपूर्ण हैं, सुमन्त्र के समाधान में प्रभावकारी हैं तथा सीताजी के अभिलषित तात्पर्य को सिद्ध करनेवाले हैं।

भारतीय-महिला सदाचार में अमर्यादित रूप में गुरुजनों के सम्मुख होकर उनसे प्रतिवाद करना अनुचित समझती है। 'आपत् काले मर्यादा नास्ति' के अनुसार आर्त्ति के वश होकर सीताजी ससुर-पितातुल्य मन्त्रीसुमन्त्र के सम्मुख प्रत्युत्तर के लिए उपस्थित होने में क्षमाप्रार्थना कर रही हैं। क्योंकि हितकारी आप्त की बात पर ध्यान न देना उसकी अनास्था का द्योतक होगा। विनय का यही स्वरूप है जैसा भरतजी चौ० ७-८ दो० १७७ में कही उक्ति से स्पष्ट है।[2] 'पितु ससुर सरिस हितकारी' से भरतजी द्वारा चौ० ३ दो १७७ में कहे सिद्धान्त "गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनिमन मुदित करिअ भल मानी' की एकवाक्यता स्फुट है।

---

१. धर्म के सम्बन्ध से आर्य वह है जिसमें कुलशील, दान, धर्म, सत्य कृतज्ञता अद्रोह आदि गुण है। राजनीति के सम्बन्ध से जो सामदानदण्ड भेदादि उपायों के सफल प्रयोग में समर्थ हैं। भागवत मत से वर्णाश्रमधर्म प्रधान व्यक्ति आर्य होते हैं। ऐसे आर्यों द्वारा ही विश्व शाश्वत पथ (वेद मार्ग) में स्थित रहता है।

२. अब तुम्ह विनय मोरि सुनि लेहू। अनुहरअ सिखावनु देहू ॥
उतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहि न साधू ॥

आर्तिवश पर वक्तव्य

प्रसंगत: बालकाण्ड में वर्णित सप्तर्षियों के वचन का पार्वती द्वारा सहेतुक प्रत्याख्यान स्मरणीय है। जिस प्रकार पार्वतीजी ने नारदजी के शास्त्रसम्मत वचनप्रमाण में आस्था व्यक्त की उसका विरोधी होने से सप्तर्षि के प्रत्याख्यान से पार्वती की उपधाशुद्धि हुई इसी प्रकार पातिव्रत्य के प्रथमकल्प में 'आरज सुत पद कमल' की प्रीति में सीताजी की निष्ठा व्यक्त है। 'जहँ लगि नात' के एकमात्र आधार पति श्रीराम हैं, उनसे अलग होकर 'जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया' में कही विधि सासु-ससुरजी पिताश्री आदि का नाता पातिव्रत्य धर्म की निष्ठा के विरुद्ध होने से असंगत हैं। फिर भी 'नैमित्तिकेन नित्यं बाध्यते' के अनुसार राजाका 'प्रान अवलंबा' निमित्त सीताजी के पातिव्रत्यात्मक नित्यधर्मका बाधक है तो भी सुमन्त्रको राजा की 'आरति प्रीति' की प्रबलता व सीताजी के 'आरति' का विचार करना है जो 'आनेहु फेरी' की दृष्टि से सुनकर उदित है।

संगति : प्रभु के "सियहि दीन्ह सिख कोटि विधाना" के अन्तर्गत सीताजी ने अभिमत विधि के स्वतन्त्र निर्णय को सुमन्त्र के समक्ष प्रकाशित कराकर कवि 'गिरा सुहाई' का सार्थक्य दिखावेंगे। चौ० ६ दो० ९६ में उपस्थापित' सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू' द्वारा निर्दिष्ट अनुमान में हेत्वाभास को समझाते हुए दो० ६४ से ६६ तक कही सीताजी की उक्ति की यथार्थता को सिद्ध कर रहे हैं।

चौ० : पितुबैभव बिलास मैं दीठा। नृपमनि मुकुट मिलत पदपीठा ॥ १ ॥
सुखनिधान अस पितुगृह मोरे। पियबिहिन मन भाव न मोरे ॥ २ ॥

भावार्थ : पिताश्री जनक के वैभवविलास को मैंने देखा है कि उनके पैर रखने की चौकी पर बड़े-बड़े श्रेष्ठ राजाओं का मुकुट झुक जाता था अर्थात् वे नतमस्तक होते थे। सम्पूर्ण सुख से भरपूर मेरे पिताश्री का घर है। पर प्रियतम पति के बिना वह भी मेरे मनस् को अच्छा नहीं लगता।

मिथिला का वैभव

शा० व्या० : पितृगृह के प्रथम उल्लेख से सीताजी अपने बाल्यकाल के सुखोपभोग की स्थिति का स्मरण कर रही हैं। राजा जनक की मिथिला नगरी का वैभव इतिहासप्रसिद्ध है, फिर उनके महल का क्या कहना? ज्ञातव्य है कि राजपीठाधिपति ज्ञानशिरोमणि राजा जनक के यहाँ वैभव-सामग्रियों का संग्रह रावण की तरह बलात् अपहृत या रागप्रयुक्त नहीं है बल्कि राजशास्त्रसम्मत प्रजा के मन:कर्षणानुकूल अद्भुत रस से समाश्रित है। विरक्त भगवदनुरागियों को उपलब्ध सुखसामग्रियों का प्रयोजन भोग में नहीं है, शास्त्रानुमोदित दान व देवप्रीत्यर्थं धर्म में है। कहने का आशय यह है कि पितृगृह के संस्कार में पली सीताजी की आसक्ति वैभवविलास से संगृहीत सुखोपभोग में नहीं है जैसा 'सुख मकरंद भरे प्रियमूला। निरखि राम मनु भंवरु न भूला।' (चौ० ४ दो० ५३) की व्याख्या में स्फुट है।

'नृपमनि मुकुट मिलत पद पोठा' से कहीं राजा जनक की सर्वमान्यता चौ० ६ से ८ दो० ३२२ में 'राजकाज सब साज सँभारी। सौंपि सचिव गुर भरतहि राजू' से स्पष्ट है।

संगति : दोहा ९६ में राजा के संदेशानुसार 'मइके ससुरे' में 'रहहि सुखेन सिय' से सम्बन्धित मैके के सुख की अस्पृहा बताकर सीताजी श्वशुरगृह के वैभव की अस्पृहा को समझा रही हैं।

चौ० : ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रकट प्रभाऊ ।। ३ ।।
आगे होइ जेहि सुरपति लेइ। अरध-सिंघासन आसनु देई ।। ४ ।।
ससुर एतादृसअवध-निवासू। प्रियपरिवारु मातुसम सासू ।। ५ ।।
बिनु रघुपतिपदपदुमपरागा। मोहि केउ सपनेहुँ सुखद न लागा ।। ६ ।।

भावार्थ : कोसलराज ससुर दशरथ जी चक्रवर्ती राजा हैं जिनका प्रभाव चौदहों लोक में विदित है। देवराज इन्द्र भी जिनका आगे बढ़कर स्वागत करते हैं बैठने के लिए इन्द्रासन का आधा भाग देते हैं। ऐसे प्रतापी ससुर जी के अवधराज्य में निवास है -- जहाँ प्रियता-भावसम्पन्न परिवार में माता जी के समान आदर प्रेम करने वाली सासु जी हैं, मुझको रुचिकर नहीं है क्योंकि रघुनाथ श्रीराम के चरण कमलों के धूल की अप्राप्ति में मुझको कोई भी स्वप्न में भी सुखदाता नहीं लगता।

दशरथ जी का वैभव

शा० व्या० : राजा दशरथ के शौर्य, धैर्य, सत्यसंघता, धर्मधुरंधरता, नीतिमत्ता से प्रभावित चतुर्दश लोकवासी उनके संरक्षण की आकांक्षा रखते हैं। देवासुरसंग्राम में इन्द्र की सहायता करने से देवराज राजा दशरथ को इन्द्रासन का आधा भाग प्रदान करने में हर्षित होते हैं। पृथ्वी पर ससुरजी का चक्र-वर्तित्व प्रसिद्ध है।

चक्रवर्तित्व सूर्यवंश का

अभी अवधराज्य का दण्डकाण्य भू-भाग वरदृप्त रावण के अधीन है तो चक्रवर्तित्व कैसे रहा? इसके समाधान में कहना है कि रावण द्वारा दण्डकारण्य को अधीन रखने में राजा दण्डक को दिये शापका विधान अशुचि कार्यकारी होने से रघुवंश ने शुचिता बनाये रखने के लिए अपने चक्रवर्तित्व को सुरक्षित रखते अवध की स्वाधिकार से दूर कर दिया। सीताजी के वचन 'चक्कवइ कोसलराऊ' से कोशलराज के चक्रवर्तित्व की स्थापना ध्वनित हो रही है, जिसका श्रीगणेश दण्डकारण्यप्रवेश से होगा। श्रीराम के द्वारा प्रभुशक्ति से खरदूषण आदि राक्षसों का विनाश होने पर दण्डकारण्य स्वाधीन होगा इसमें सीताजी की शास्त्रसंपन्न दूरदर्शिता प्रकट है। इस प्रकार चौ० : ४ दो० ६५ में कहे वचन, तनु धनु धाम धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू' की एकवाक्यता में सीताजी की गिरा सुहाई में पूर्वापर विरोध नहीं है।

शास्त्रभक्ति से सीताजी का सामर्थ्य

पहले कहा जा चुका है कि शास्त्र ही प्रभुचरण हैं। 'पदपदुमपरागा' के गूढ़ार्थ में कहना है कि परम विरागी ज्ञान की महती मर्यादा राजा जनक के सान्निध्य में बाल्यकाल से ही शास्त्रचर्चा सुनते सीताजी को प्रभु पद प्रीति में पर्यवसित हो गयी है। शास्त्रोदित विवेक से सम्पन्ना बुद्धिमती सीताजी को अयोध्या में प्रभुपद के सतत सान्निध्य में मिथिला में प्राप्त विद्याओं से प्रकाशित भक्ति, धैर्य, विराग, विषादाभाव आदि गुणों में स्थिरता है। अतः कठिन परिस्थितियों में शास्त्रमत के आधार पर आप्तवचनार्थ का स्वतन्त्र निर्णय करने में वह समर्था है।

संगति : पूर्व कथित सीताराम संवाद में 'वन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय विषाद परिताप घनतेरे' से सम्बन्धित राजसन्देश ('सहि न सकिहि सिय विपिन कलेसू') के पूर्ण निरास के हेतु वन के कष्टों को सहन में अपनी स्थिरता को सुमन्त्र के आगे सीताजी व्यक्त कर रही हैं।

चौ० : अगम पंथ बनभूमि पहारा। करि-केहरि-सर-सरितअपारा ॥ ७ ॥

कोल-किरात-कुरंग-बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपतिसंगा ॥ ८ ॥

भावार्थ : वन की कँकरीली जमीन, कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलना दुष्कर है, हाथी, सिंह आदि हिंसक पशुओं का भय है। तालाब-तलैया, नदी, पहाड़ आदि को पार करना मुश्किल है। वनवासी कोल किरात हरिन, पक्षियों का संग है। फिर भी प्राणनाथ के संग रहने से वे सब मुझको सुखदायी लगते हैं।

सीताजी की स्थिरता

शा० व्या० : दो० ६२-६३ के अन्तर्गत वन के भय कष्टों का जैसा प्रभु ने उल्लेख किया था उनको समासरूप में कहकर पातिव्रत्यधर्म के अनुसरण में पति के संग वन में रहकर वन के प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति सीताजी सुखानुभव प्रकट कर रही हैं।

आत्मगुणसंपन्न नितिमान् के लिए शास्त्रनिर्दिष्ट प्रमाणत्रयप्रतीत अर्थ निष्फल नहीं होते। ऐसे प्राणपति के संग में वन के सुखदावृत्व का अनुमान सीताजी की दृढ़ शास्त्रनिष्ठा और धृति का परिचायक है। क्योंकि उत्तम सेवक में सेव्य के गुण का संक्रमण होना स्वभावसिद्ध रहते हैं।

महाव्रतसम्बन्धी-योग सिद्धान्तानुसार शम दम की पूर्णता में अनुष्ठाता के अहिंसाविका संक्रमण सन्निकट वासी पशु पक्षी आदि में होता है जिसके फलस्वरूप उनमें मित्रता का भाव जागृत हो जाता है जैसा चित्रकूट के रामनिवास से 'वयरु बिहाई चरहिं एक संगा' से स्फुट है।

संगति : राजा के आश्वासनार्थ सुमन्त्र को अपनी धीरता-स्थिरता का परिचय कराकर सीताजी अपना सन्देश सुना रही हैं।

दो० : सास-ससुरसन मोर हुँति विनय करबि परि पाँय।

मोर सोचु जनि करिअ कछु मैं बन सुखी सुभायँ ॥ ९८ ॥

भावार्थ : मेरी ओर से विनती करते हुए उनके चरण छूकर कहना कि वे अपने मनस् में मेरी चिन्ता न करें। मैं वन में स्वाभाविकतया सुखिनी होउँगी।

करबि परि पायँ आदिका तात्पर्य

शा० व्या० : 'करबि परिपायँ' से सीताजी ने सेवाभाव तथा 'विनती' से तात्कालिक राजादेश पालन में अपने धर्म एवं शास्त्रसम्बद्ध असन्तोष को व्यक्त करने में अपना विनय-भाव दिखाया। 'मोर सोचु जनि करिअ कछु' का आशय है कि मुझको वन में क्लेश से बचाने के लिए नैहर था ससुराल में रखकर मेरी पतिविरह-जनितव्यथा (पीड़ा) का उद्दीपन राजा की चिन्ता का विषय होगा तो राजाश्री का 'प्रान अवलम्बा' सार्थक नहीं हो सकेगा, तदपेक्षया पति के साथ वनवास में सीताजी सुखिनी है यह जानकर राजाश्री की चिन्ता दूर होगी। 'मैं बन सुखी सुभायँ' से सीताजी ने वनवास में स्वाभाविक धर्मरुचिसंवलित सुखानुभव की यथार्थता स्पष्ट की है अर्थात् पति के अनुगमन में वह बलात् धर्मप्रेरिता नहीं है या वनवास में सुखाभास

नही है, इसका अनुमान सुमन्त्र को सीताजी की सुखानुभूति में प्रकट स्वाभाविक अनुभाव से हो गया जिसको सुमन्त्र ने राजाश्री को सुनाया है।[1]

राजाश्री के लिए सीता जी का सन्देश सुमन्त्र द्वारा इतना ही है जो उक्त दोहे में कहा है। पूर्वोक्त कथन 'एहि बिधि करहु उपाय कदंबा' में सुमन्त्र के समाधानार्थ समझना है।

संगति : पातिव्रत्यधर्माचरण में धीरता तथा वनवास के विषयों को सहने में स्थिरता का परिचय कराकर सीताजी अब अपने रक्षण के सम्बन्ध में सुमन्त्र को आश्वस्त कर रही हैं।

चौ० : प्राणनाथ प्रिय देवर साथा। वीर धुरीन धरे धनु हाथा ॥ १ ॥

भावार्थ : प्राणनाथ पति और प्रिय देवर (लक्ष्मण) साथ हैं, दोनों वीर धीर हैं, धनुष् को हाथ में धारण किये हैं (तो फिर रक्षण की क्या चिन्ता है)।

शा० व्या० : 'वीर धुरीन' से उत्साह, धैर्य, स्थैर्य, शौर्य, त्याग, अविस्मय, सत्व आदि गुणों की पूर्णता एवं 'धरे धनु हाथा' से तापस वेष में भी रक्षण-पालन की तत्परता में विशेषता दिखायी है। इस प्रकार दैवी, आसुरी, मानुषी, भौतिक आदि विपत्तियों के प्रतीकार में दोनों वीरों की सक्षमता में विश्वास प्रकट है।

संगति : अपने सन्देश के उपसंहार में सीताजी अपने कथन का निष्कर्ष सुनाते भाव-विभोर हो गयीं।

चौ० : नहिं मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरे। मोहि लगि सोचु करिअ जनि भोरे ॥ २ ॥

भावार्थ : मुझको वनवास में मार्ग चलने का शारीरिक श्रम, मनस् में भ्रम या दुःख बिलकुल नहीं है, इसलिए मेरे लिए भूलकर भी कोई चिन्ता न करें।

'नहिं भ्रम दुःख मन मोरे' का स्पष्टीकरण

शा० व्या० : चौ० १ से ६ दो० ६७ के अन्तर्गत सीताजी की उक्ति से 'नहिं मगश्रम' का स्पष्टीकरण मन्तव्य है।

उपरोक्त चौ० ६ दो० ९८ में 'पदपदुम परागा' की व्याख्यानुसार समझना है कि नीतिसार में कहे "तयावश्यं फल सिद्धिः" के अनुसार नीतिसंगत शास्त्रद्वारा निर्णीत वचन प्रमाण की प्रमेयताको (वनवास की फलसिद्धि को) अवश्यंभावी मानना सीताजी के शास्त्रोदित विवेक, विरति, धर्मनिष्ठा एवं सहज भक्ति नीति का परिचायक है। वनवास में कैकेयीजी की मनोरथपूर्ति से रामराज्याभिषेकप्रतिबन्धक का निरास समझकर सीताजी के मनस् में कोइ भ्रम दुःख नहीं है। प्रभु अनुराग में उत्साहिता सीताजी की उक्ति में (शास्त्र-निष्ठा में) मनस् की स्थिरता से प्रसन्ना होकर गंगाजीने दो० १०३ में अपौरुषेयवचन के माध्यम से आशीर्वाद से वनवास में तीनों मूर्तियों की कुशलता ध्वनित की है। वनवास में आने के बाद सीताजी के 'नहिं मगश्रमु भ्रमु दुख मन मोरे' कहने से स्पष्ट है कि संस्कारवश अज्ञानयया या मिथ्याज्ञान से वनवास में वह प्रवृत्ता वहहीं है। किन्तु वास्तविक मूल्य रखती है अतः वनवास में उक्त निर्णीत अर्थको जानकर भी राजा-देश से अयोध्या में सीताजी ने लौटना अनिर्णीत अर्थ का साधक होगा।

---

१. करि प्रनामु कछु कहत सिय सिय भइ सिथिल सनेहु।
थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह ॥ दो० १५२।

वनके विषयों के सहन में अशक्तता एवं भवनसुख में अभ्यस्तता समझकर सीताजी के बारे में सोच करना भूल है, इस विषय में राजाश्री को अश्वस्त करने के हेतु से सीताजी ने अपने सन्देश का निष्कर्ष सुनाया है।

संगति : इतना कहते कहते सीताजी शिथिलांगी हो गयी। सुमन्त्र भी निरुत्तर होकर 'उपायकदंबा' में निरुपाय होकर विकल दशाको प्राप्त हो गये।

चौ० : सुनि सुमंत्र सिय सीतलबानी। भयउ बिकल जनु फनि मनिहानी॥ ३॥
नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥ ४॥

भावार्थ : सीताजी के समाधानपूर्ण वचनों को सुनकर सुमन्त्र व्याकुल हो गये, मानो साँप मणि खो जाने पर विकल हो। आँखों से उनको कुछ दिखायी नहीं पड़ता, कानों से सुनायी नहीं पड़ता और अत्यन्त घबराहट में कुछ नहीं पा रहे हैं।

शीतलवाणी आदि का भाव

शा० व्या० : सीतल बानी' का भाव है कि भक्ति, विद्याप्रयुक्त विवेक, नीति वैराग्य, धर्म से संपृक्ता-सीताजी की 'गिरा सुहाई' है। किन्तु एक ओर राजा के आदेश को कार्यान्वित करने में अपनी असफलता का दुःख और दूसरी ओर तीनों प्रेम मूर्तियों के विछोह का दुःख तथा उनके न लौटने का समाचार सुनकर राजाश्री के प्राण त्याग की शंका से व्याकुल सुमन्त्र का मनस् सीताजीकी वाणी की शीतलता से आश्वस्त नहीं हो रहा है।

'जनु फनि मनिहानि' में उपमान प्रामाय

मीमांसोक्त मतानुसार कहना है कि कवि सुमन्त्र को उपरोक्त विकलता में 'फनि मनि हानी' की उपमा से 'एतादृशी विकलता राज्ञो दशरथस्य' की उपमिति श्रीराम प्रभृति तीनों मूर्तियों को कराते हुए उपमान प्रमाण को स्फुट कर रहें हैं जैसा कि सुमन्त्र द्वारा सन्देश सुनने के अनन्तर राजाश्री की दशा दो० १५४ के अन्तर्गत 'मनि बिहीन जनु व्याकुल व्यालू 'तलफत मीन मलीन जनु' से प्रकट होगी। आँखों से दिखाई न पड़ना, कानों से सुनाई न पड़ना, कसवरोध आदि से व्याकुलता का अनुभाव प्रकट होकर सुमन्त्र 'अति अकुलाना' की दशा में पहुँच रहा है।

दोहा १५२ में सुमन्त्र की उक्ति से स्पष्ट होगा कि सीताजी दो० ९८ में कहे सन्देश को सुनाने के बाद उपरोक्त चौ० १-२ में अपने कथन का निष्कर्ष कहते-कहते पतिप्रेम के अनुभाव में विह्वला हो गयीं जैसा राजाश्री के आगे दो० ७८ में कहे 'चकई अकुलानि' से सीताजी की स्नेह शिथिलता प्रकट हुई थी।

संगति : 'लखनु रामु सिय आनेहु फेरो' के राजादेश के विषय में प्रभु ने सुमन्त्र को प्रबोध कराया है। जैसा चौ० २ दो० ९८ में 'मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा' से निरुपित हो चुका है। अब यह स्थिति है कि तीनों मूर्तियों को छोड़कर अकेले रथ लेकर अयोध्या में कैसे जायँ जबकि विरह वेदना से सुमन्त्र को जीवित रहना अयन्त कठिन हो रहा है। इसलिए प्रभु पुनः प्रबोध कर रहे हैं।

चौ० : राम प्रबोधु कीन्ह बहुभाँती। तदपि होति नहिं सीतलि छाती॥

श्रीराम ने सुमन्त्र को अनेक प्रकार से प्रबोध कराया। तब भी उनके हृदय में ढाढ़स नहीं बँध रहा है।

प्रबोध में 'बहुभाँती' का भाव

शा० व्या : कैकेयीं जी ने राजाश्री से कहे बचन ('देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग 'अपजसु लेहु') को अनूदित करते हुए श्रीराम से कहा था 'देन कहेन्हि मोहि दुइ वरदाना। मांगेउँ जो कछु मोहि सुहाना'। विदा के समय श्रीराम ने स्नेहशिथिल व शोकविकल पिताश्री ('तात किएँ प्रिय प्रेमप्रमादू। जसु जग जाइ होइ अपवादू') से उसी विषय को समझाया। उसीका संकेत सुमन्त्र के प्रति प्रभु के बहुभाँति प्रबोध में ज्ञातव्य है। नीति दृटि से 'बहुभाँती' का यह भी तात्पर्य है कि राजाश्री के आदेशानुसार मन्त्री सुमन्त्र दोनों भाइयों को लौटने के लिए बाध्य करते हैं तो इतिहासज्ञों के लिए राज्यलोभ की शंका उठकर आलोचना का बिषय होगा तथा तटस्थ मुनियों के मत से अपयशस् का विषय होगा अथवा केवल सीताजी को ही लौटाने का हठ करते हैं तो भी चौ० २ दो० ९७ की संगति में कहे अनुसार 'प्रान अवलम्बा' का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, अपितु दो० ९८ की व्याख्यानुसार सीताजी का भवननिवास व्यर्थ होगा।

तदपि होत नहिं सीतल छाती' का भाव

श्रीराम द्वारा 'बहुभाँती' प्रबोध कराने पर भी सुमन्त्र को सन्तोष न होना भक्तों के स्वभावानुकूल है। बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं' के अनुसार सज्जनों को सन्तविरह में हृदयविदारक दुःख होता है, उसी प्रकार भक्तों को प्रभु का वियोग असह्य होता है।

ग्रन्थकार सुमन्त्र की स्नेहशिथिलता तथा चौ० ७ दो० १४२ में 'राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल व्याकुल भारी' से शोकशिथिलता को 'सोक सिथिल रघु सकइ न हाँकी' से स्फुट करेंगे। प्रभु के विरह में सुमन्त्र का उद्‌गार अयोध्या में पहुँचने पर शोक की कल्पना में सुमन्त्र की विकलता दो० १४३ से १४६ तक भावरसिकों के लिए आस्वाद्य है। अन्ततः इतना कहना होगा कि सुमन्त्र के प्राणाधार में चौ० ४ दो० १४५ में 'जिउ न जाइ उर अवध कपाटी' से कवि प्रभु के प्रबोध की सार्थकता स्फुट करेंगे।

संगति : सुमन्त्र द्वारा राजादेश का कथन एवं उसके उत्तर में श्रीराम-सीता के सम्वाद का उपसंहार करते हुए कवि बोल रहे हैं।

चौ० : जतन अनेक साथ हित कोन्हें। उचित उतर रघुनन्दन दीन्हें॥ ६॥

भावार्थ : अपने साथ लौटाने के लिए सुमन्त्र ने इस प्रकार अनेकों उपाय किये और उसका उत्तर श्री रघुनाथ जी ने दिया।

उपायकदंब का दिग्दर्शन

शा० व्या० : प्रथम पक्ष में राजादेश के आधार पर 'लखनु रामु सिय आनेहु फेरी' के लिए और दूसरे पक्ष में 'जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया' के लिए सुमन्त्र ने जो उपाय किया वह 'जतन अनेक' से विवाक्षित समझना है। श्रीराम एवं सीता जी के सम्वाद में कहा विषय 'उचित उतर' के अन्तर्गत है जिसका सविस्तर अनुवाद सुमन्त्र ने अयोध्या में लौटकर राजाश्री को सुनाया है। पूर्वोक्त व्याख्या में स्पष्ट किया गया है कि राजाश्री का, माताओं का, परिवार एवं प्रजा के हित के साथ सुमन्त्र का हित भी तीनों को लौटाने में नहीं है, अपितु वनवास की पूर्णता में ही है। नैनिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण

हित यह है कि सुमन्त्र द्वारा श्रीराम को वनवास में अधिष्ठित सुनकर कैकेयी माताजी को दोनों वरदानों के कार्यान्वियन से अपने मनोरथपूर्ति में सान्त्वना मिलेगी जो मनोरथपूर्तिप्रागभावध्वंसनिर्मिति में प्रभु को इष्ट ही है।

अथवा भक्तिपक्ष से 'साथ हित कीन्हे' का अर्थ सुमन्त्रका प्रभुके साथ जाना कहा जाय तो कौसल्याजी की उक्ति ('जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ सन्देहू') के अनुरूप प्रभु का उत्तर समझना होगा। अर्थात् प्रेम में प्रमाद होने पर मन्त्री कर्तव्यच्युत होंगे तो राजाश्री के प्रति उत्तरदायित्व की हानि एवं प्रजा के हितसाधन में बाधा होगी। चौ० २ से ६ दो० १०४ में प्रभु के साथ रहने की प्रार्थना में गुह ने भी सेवकत्व के अनुरूप 'राम रजायसु सीस धरि' को आचरित किया है।

संगति : कवि प्रभु के विधान की प्रबलता दिखा रहे हैं।

चौ० : मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करमगति कछु न बसाई ॥ ७ ॥

भावार्थ : प्रभु की मरजी के विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता। कर्म की गति ऐसी प्रबल है कि किसी का उस पर कुछ वश नहीं है।

विधान की स्वतन्त्रता

शा० व्या० : कवि अपना निर्णय दे रहे हैं कि प्रभु के संकल्पित विधान का प्रतीकार करने में कोई पुरुषार्थ शक्त नहीं है। प्रभु के संकल्प का बल पाकर देवप्रेरिता सरस्वती की माया से प्रभाविता कैकेयीजी के मनोरथपूर्तिप्रागभावध्वंसहेतुक वनवास की गतिविधि को रोकने में किसी का वश नहीं है। ग्रन्थकार ने शिवजी की उक्ति ('कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं') से रामरजाई की जो प्रतिष्ठा स्थापित की है उसी का अनुगमन परमपुरुषार्थी राजा दशरथ को भी 'लखी रामरुख रहत न जाने' से करना पड़ा।

भक्तों की प्रवृत्ति

कर्मसिद्धान्त का निरूपण पूर्व व्याख्या में यथास्थान किया गया है। ज्ञातव्य है कि प्रभु के सेवक-भक्त विधि-अनुशासन के विरुद्ध कार्य करने में प्रवृत्ति नहीं रखते अतः वे प्रभु की आज्ञा को अवहेलना कभी नहीं करते। अर्थशास्त्र में कहे स्वायत्तसिद्धिक राजा के निर्णय के अनुरूप 'रामरजाई' से श्रीराम की स्वायत्तसिद्धिकता प्रकट की गई है।

संगति : विफलप्रयत्न होने पर भी सुमन्त्र विनयपूर्वक श्रीराम के आदेश को मानकर तीनों को नमस्कार करके शिथिलावस्था में रथ की ओर लौट रहे हैं।

चौ० : रामलखनसियपद सिरु नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई ॥ ८ ॥

भावार्थ : लक्ष्मणजी और सीताजी सहित श्रीरामके चरणों में शिरस् झुकाकर सुमन्त्र नमस्कार कर लौटे, मानो वणिक् अपनी पूंजी गँवाकर लौट रहा हो।

भक्तों के धन श्रीराम

शा० व्या० : मूलधन वणिक् का बहिश्चर प्राण कहा गया है। श्रीरामरूप धनको खोकर स्वस्थानको लौटने में शोक से संतप्त सुमन्त्र की मरणासन्न दशा होगी जिसका विस्तृत वर्णन आगे गुह के मिलन पर

चौ० ३ दो० १४२ से १४६ तक होगा। इसी हेतु से भक्तों के लिए भगवान् को 'लोभिहिं प्रिय जिमि दाम' से उपमित किया गया है।

तीनों को नमस्कार करने का अभिप्राय

श्रीराम के साथ सीताजी और लक्ष्मणजी को भी नमस्कार करने से स्पष्ट है कि उनकी कटूक्ति व प्रत्याख्यान से अश्रद्धा न होकर सुमन्त्र को उनकी धीरता-स्थिरता से समन्वित सेवकत्व के प्रति आदर है। इसी दृष्टि से सुमन्त्र ने राजाश्री से लक्ष्मणजी के कटुवचन का प्रसंग सुनाया है।

प्रभु के 'बहुभाँति प्रबोधा' के प्रभाव से सुमन्त्र कर्तव्यकी ओर उन्मुख तो हुए परन्तु 'तदपि होत नहिं सीतल छाती' से स्नेह शिथिलता में उनकी विप्रलंभ अवस्था भी रसज्ञों के आस्वाद के लिए वर्णित है।

संगति : रथ में जुते श्रीराम के घोड़ोंकी दशा का वर्णन करके कवि माता-पिता, व पुरवासियों के संताप का अनुमान करा रहे हैं।

दो० : रथु हाँकेउ हय रामतन हेरि हेरि हिहिनाहिं।
देखि निषाद बिषादबस धुनहिं सीस पछिताहिं ॥ ९९ ॥

चौ० : जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जिइहहिं कैसे ? ॥ १ ॥

भावार्थ : सुमन्त्र के रथ हाँकते ही घोड़े श्रीराम के शरीरकी ओर देख-देख कर हिनहिनाने लगे। ऐसा देखकर विषादसहित गुह गण दुखित हो शिरस् पीटकर पछताने लगा और सोचने लगा कि-जिसके वियोग में ये पशु घोड़े ऐसे व्याकुल हो रहे हैं, उसके वियोग में माता पिता कैसे जीवित रहेंगे ?।

स्वामी और पशु का प्रेम-संबंध

शा० व्या० : अर्थशास्त्रोक्त विधान से राजा को अपने घोड़े हाथी प्रभृति पशुओं का रोज निरीक्षण करना चाहिये। अपने स्वामी की स्नेहमयी दृष्टि से पशु भी स्वामी को पहचानते हैं और उनके प्रति प्रीतिभाव से आबद्ध होते हैं। फिर शीलस्नेहनिधान श्रीराम के प्रति उनके द्वारा पालित घोड़ों का स्नेहासक्त होना स्वाभाविक है। हिनहिनाहिं' से घोड़ों की विरहजन्य पीड़ा प्रकट है मानों वे श्रीराम की ओर देखकर उनको अपनी भाषा में बुला रहे हों। अन्तर्यामी प्रभु ने उनके आर्तनाद को समझा है। इसीलिए सुमन्त्र की विकलता एवं घोड़ों की आर्ति के हरण के उपाय में सचेष्ट प्रभु ने अग्रिम निवास (चौ०१ दो०१०५ में 'त्रिटप तर वासू') से गुह को मन्त्री के सहायतार्थ लौटाया है जैसा चौ० ५ दो० १४२ में 'फिरेउ निषादु प्रभुहि पहुँचाई' से स्पष्ट होगा। गुहसमुदाय में 'धुनहिं सीस पछिताहिं' से मन्त्री व पशुओं के विषादभाव का संक्रमण दिखाया है। गुह की सात्विकता एवं सहृदयता का परिचय ('प्रजा मातु पितु जिइहहि कैसे' द्वारा) परदुःख की अनुभूति से स्फुट किया गया है।

संगति : सुमन्त्र के लौटने का प्रसंग आगे चौ० ५ दो० १४२ में ('फिरेउ निषादु प्रभुहिं पहुँचाई') जोड़ा जायगा। सुमन्त्र के साथ श्रृंगबेर पुर तक प्रभु का पहुँचना राजादेश के अनुशासन में है, आगे का कार्यक्रम प्रभु के स्वतन्त्र कर्तृत्व से सम्बन्धित है जिसमें भक्ति, धर्म नीति का महत्व भी दर्शाया जा रहा है।

चौ० : बरबस राम सुमन्त्रु पठाए। सुरसरितीर आपु चलि आए ॥ २ ॥

भावार्थ : श्रीराम ने सुमन्त्र को बलपूर्वक लौटाया। फिर वे स्वयं ही गंगाजी के तीर पर चले आये।

बरबस का तात्पर्य

शा० व्या० : 'बरबस' से स्पष्ट होता है कि 'जतन अनेक साथ हित कीन्हें' के अनुसार सुमन्त्र श्रीराम के संग जाना चाहते थे, पर श्रीराम ने उनको बलात् कर्तव्य को ओर प्रेरित करके भेजा। इस प्रकार भक्ति की प्रधानता में राजाश्री, परिवार एवं प्रजाहित को ध्यान में रखकर प्रभु ने राजविद्या का रक्षण किया है। उसी कर्तव्य में राज्यरक्षणार्थ सुमन्त्र का 'बरबस' पठाए' को अपेक्षित समझना कहा है।

'आपु तब आए' का तात्पर्य

'विप्र धेनु सुर संतहित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छानिर्मित तनु मायागुन गोपार' से समन्वित प्रभु के अवतारप्रयुक्त स्वतन्त्र चरित्र का आरम्भ 'आपु आए' से स्फुट किया गया है। उत्तरकाण्ड में दो० ८६ के अन्तर्गत कागभुशुण्डि को प्रभु ने 'सत्य सुगम निगमादि बखानी' से सम्मत 'निज सिद्धान्त' को सुनाया है उसी सत्य सुगम को प्रभु ने सुमन्त्र से 'मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा' कहकर स्फुट किया है। अपने उक्त सिद्धान्त को 'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी' से 'सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ' की यथार्थता को अग्रिमप्रसंग में चरितार्थ करके प्रभु भक्ति की प्रधानता में वर्णाश्रम के अनुशासन में स्थित केवट के स्वधर्मपालन का फल दिखाना चाहते हैं उक्त उद्देश्यको 'आपु तब आए' से व्यक्त करके ग्रन्थकार समझाना चाहते हैं कि स्वाध्याय जप तपस् आदि के अनुष्ठान से वर्णाश्रमअंतर्गत उच्चवर्ण को शास्त्रानुगामित्व का जो फल प्राप्त होता है वही फल अधम केवट को शास्त्रमर्यादित स्वधर्मपालन से प्राप्त है। अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था ऊँच-नीच का भेद प्रभुप्राप्ति में बाधक नहीं किंबहुनालोकयात्रार्थं समाज को सुसंगठित करने एवं परम्परागत प्राप्त विद्याकला आदि के रक्षण व उत्कर्ष में उसका उपयोग है, वार्ताव्यापार के परिणाम में प्रतिद्वन्द्विताजनित असन्तोष को मिटाने में सहायक है।

संगति : जिस प्रकार स्वधर्मनिरत वेदशास्त्रपारंगत ब्राह्मणों, तपस्-त्याग-जप-योगादिसाधनसपन्न मुनियों, पातिव्रत्यरूपस्वधर्मस्थित माताओं, नीत्यनुगामी राजा एवं न्यायोपार्जित महाजनों को प्रभुदर्शन प्राप्त है उसी प्रकार शास्त्रानुशासन में दृढ़ नीच केवट को भी श्रीराम के आवरणरहित स्वरूप का परिचय प्राप्त हो रहा है, अथवा स्वधर्ममर्यादा में रहते अपनी वृत्ति में जीवन को निभाते आजीवन त्रयीविद्यानुगति को जिसने अपनाया और उसको भक्ति के पोषण में समर्पित करता हुआ दासता में रहा उस सरल स्वभाव बालक का संरक्षण करने वाली भक्ति धर्म के प्राबल्य को इस प्रकार स्फुट कर रही है जिसमें श्रीराम प्रभु भी परतन्त्र हो केवट के अनुसरण और मनावन में तत्पर हैं। ऐसा समझाने के लिए उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ है।

चौ० : मागी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ॥ ३ ॥

भावार्थ : प्रभु ने गंगापार जाने की अपेक्षा से नाव मँगवायी, पर केवट नहीं आया। वह बोला "मैं आपका मर्म जानता हूँ।"

'मागी नाव' का अर्थ

शा० व्या० : चौ० ३ दो० १५१ में सुमन्त्र की उक्ति ('रामसखा तब नाव मगाई') से स्पष्ट होगा कि

निषाद से कहकर प्रभु ने उससे नाव मँगवायी। अथवा प्रभु के नाव माँगने पर केवट नाव नहीं लाया तो नाविकों के आधिपत्य के अधिकार से निषादराज गुह ने नाव मँगवायी अथवा प्रभु के पार जाने की आकांक्षा को जानकर गुह ने नाव मंगवायी।

'मरमु मैं जाना' का भाव

१ त्रयीप्रामाण्य के अधीन मायाच्छन्न अवतारी प्रभु अपने आवरणरहित स्वरूप को त्रयीप्रामाण्य में अधिष्ठित, स्ववृत्ति में स्थित, स्वधर्म का निष्कपट आचरण करने वाले के सामने नहीं छिपा पाते इस मर्म को शास्त्रमर्यादित धर्मनिष्ठा में निष्कपट वृत्ति रखने वाला केवट जानता है।

२. 'मागी नाव न' के अन्वयार्थ से 'मरमु जाना' का सरलार्थ होगा कि तीर पर खड़े प्रभु की गंगा-पार जाने की आकांक्षा को केवट ने जान लिया और तत्काल 'केवट आना' से नाव को लाया।

प्रभु की आकांक्षा को शास्त्रानुशासित नौकावृत्ति में एकाग्रता रखने वाले इस केवट ने ही जाना, अन्य मल्लाह न जान सके, जैसे श्रीकृष्ण के रासक्रीड़ार्थ वंशीनाद को कृष्णप्रेम में अनुरक्ता गोपियों ने ही सुना।

३. 'मागी नाव' से गंगापार होने की (प्रभु की) आकांक्षा व 'मरमु तुम्हार मैं जाना' सेप्रभु चरणोदक-पान करने की केवट की आकांक्षा से मीमांसोक्त प्रकरण (उभय-आकांक्षा) स्फुट है। प्रभुकी आकांक्षा के मर्म को जानने की योग्यता जन्मान्तरीय संस्कार से अथवा विद्वत्संगति व साधु-संग में रहकर शुचिता की सम्पन्नता से प्राप्त होती है। भरद्वाजप्रमुख मुनियों के सान्निध्य में स्वकुलोचित्त शास्त्रमर्यादित जीविकोपार्जन (नौकावृत्ति) से अर्थशुचि केवट की आकांक्षा से प्रभु का ('सुरसरि तीर आपु चलि आए' से) आकृष्ट होना कहा गया है।

४. 'मरमु मैं जाना' में 'मैं' पर विशेष बल देने का तात्पर्य है कि शास्त्रोपदिष्ट वर्णाश्रमधर्मानुसार स्ववृत्ति में दृढ़ व शास्त्रमर्यादा के उल्लंघन में रुचि न रखते सेवाभाव से जीविकोपार्जित अर्थ में संतुष्ट केवट–जैसे स्वधर्मनिष्ठा में अभिमान रखने वाले शास्त्रोपासक को यह रहस्य ज्ञात हो जाता है कि शास्त्ररूप प्रभु के चरणों की प्राप्ति अवश्यंभावी है।

'मर्म' के अर्थ के अनुसार निम्नलिखित व्याख्या मन्तव्य है —

[क] "मर्म दुश्चेष्टितं यद्विनाशकरं" के अनुसार कहना होगा कि नौका को स्त्रीरूप में बनाकर उसकी जीविकाको नष्ट करना केवट ने इस मर्म को जानना।

[ख] "मर्म छिद्रं" अर्थात् दूसरे के छिद्र या भेद को जानना। जैसे श्रीराम के मानुषरूप में मायावच्छिन्नताप्रयुक्त भेद को जान लेना।

[ग] "मर्म विशेषदर्शनं"—'अयं प्रभुः' इस अनुमिति के होने में साधनतया हेतु को अर्थात् प्रभुत्वसाधक युक्तियों को देखना अथवा शुचितापूर्ण वृत्ति से निर्मल अन्तःकरण में प्रभुत्व को प्रतिभात करना।

'केवट' का विशेषशब्दार्थ

केवट की उपरोक्त शुचिता एवं धर्म निष्ठा को कवि ने 'के+वटाः' के अर्थ में ध्वनित किया है अर्थात् 'बटु विश्वास अचल निजधर्मा' का प्रतीक कौन है? इस प्रश्नोत्तर को 'केवट' शब्द में स्फुट किया है।

ज्ञातव्य है कि वट से उपमित निज धर्म में विश्वास व अचलता केवट-चरित्र से स्पष्ट होगी। केवट की इस योग्यताको समझकर 'न आना' का अर्थ उसकी उपेक्षा अथवा नकारात्मक वचनप्रयोग नहीं है, बल्कि उसका प्रेममय अभिनय है जो प्रभु के चरणोदकपान की अभिलाषा में भक्तिरसिकों के लिए आस्वाद्य है।

संगति : 'मरमु मैं जाना' से संगत 'नाव न आना' का स्पष्टीकरण अग्रिम उक्तियों में किया जा रहा है।

चौ० : चरनकमलरज कहुँ सबु कहई। मानुषकरनि मूरि कछु अहई॥ ४॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहनतें न काठ कठिनाई॥ ५॥
तरनिउ मुनिघरिनी होई जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥ ६॥
एहि प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिं जानउँ कछु अउर कबारू॥ ७॥

भावार्थ : केवट कहता है "सब लोग कहते हैं कि आपके चरणकमल की धूल में मनुष्य बनाने की जड़ी है क्योंकि उसके छूते ही पत्थर की स्त्री (अहल्या) सुन्दरी नारी हो गयी। हमारी नाव तो काठकी है। काठ पत्थर से कड़ा नहीं होता तो नाव और भी आसानी से मुनिपत्नी बन जायगी और अहल्याकी तरह उड़कर चली जायगी तो बड़ी बाधा होगी। इसी नाव से मैं सब परिवार का भरण-पोषण करता हूँ। इसको छोड़कर अन्य किसी काम को मैं कूड़ा की तरह हेय जानता हूँ।"

प्रभु के चरणकमलरजस्स्पर्श का माहात्म्य

शा० व्या० : बालकाण्ड छंद २११ में अहल्योद्धारप्रसंग में कहे "परसत पद पावन सोकनसावन प्रगट भइ तपपुंज सही। गै पतिलोक अनन्दभरी" की घटना ऋषिमुनियों द्वारा सर्वलोकविदित हुई है। विश्वामित्र ऋषि के साक्ष्य में श्रीराम के प्रथम वनवास (चरित्र) में पदरजस् का उक्त महात्म्य सुनकर केवट को पदरजः प्राप्ति की आकांक्षा जागृत हुई। मुनियों के सत्संग कथाश्रवण द्वारा अहल्या की विनती में प्रभु के ('कारन रहित दयाल') दीनबन्धुत्व को सुनकर गौतम ऋषि के वचनप्रमाण पर विश्वास करनेवाली पाहन समाधि में स्थिर अहल्या के उद्धार से 'बटु विश्वास' केवट को 'अचल निज धर्म' के अनुरूप शास्त्र-वचनप्रमाण से विश्वास है कि वर्णाश्रमधर्मानुसार स्वधर्मपालन में शास्त्रमर्यादित जोविकोपार्जन वृत्ति पर अडिग रहकर प्रभुपद की सहज प्राप्ति है। प्रभु का वन में आना देखकर सहज सुभाव केवट को अपने उद्धार में प्रभुपदरजस् की प्रबल आकांक्षा है।

उत्तरकाण्ड में पुरवासियों से कहे प्रभु के वचन ('सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई") के अनुसार कहना है कि शास्त्र ही प्रभुवचन है, शास्त्रानुशासन को मानने वाला प्रभु का प्रियतम सेवक है। 'मानुष करनि मूरि' से ध्वनित है कि शास्त्रसेवा से मानवता सिद्ध होती है ऐसे शास्त्रानुयायी के लिए प्रभु के वचन ('नरतनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो') की सार्थकता सिद्ध है। इसी कोटि में केवट प्रभु के अनुग्रह का पात्र है।

केवट के तर्क की महत्ता-सम्भवप्रमाण से

अपनी सामान्य बुद्धि से केवट समझता है कि पत्थर से काठ मृदु है, इसलिए चरणरजस् के स्पर्श

से काठ की नाव का मानुषीकरण शीघ्रतर होने में आश्चर्य नहीं है। वर्णाश्रमधर्मपालन में शास्त्रानुशासित वृत्ति से नौका ही उसके परिवार की जीविका का साधन है, उसको छोड़कर अन्य वृत्ति को 'कबारू' अर्थात् निषिद्ध अशुचि घृणित मानता है, और शास्त्रविहित धर्म का उल्लंघन समझता है तथा शास्त्रवचन रूप आदेश के पालन में अपना हित निश्चित समझता है जैसे पतिव्रता का स्वयं के पति में हितभाव एवं पर पुरुषसंग में घृणा।

इसको न्याय की अनुमानप्रणाली से यह कहना होगा कि 'मन्नौका नारी भविष्यति भक्तसंकल्पानुसारेण प्रभुचरणरजस्स्पर्शात्। इसमें दृष्टान्त है पत्थरअहल्या का स्त्री होना। 'भक्तसंकल्पानुसारेण यत्र यत्र तादृशचरणरजस्स्पर्शः तत्र तत्र मानुषीत्वम्' इस प्रकार केवल 'मानुष करनि मूरि' चरणरजस् से सामान्य व्याप्ति को 'छुअत सिला भइ नारि सुहाई' के दृष्टान्त से पुष्ट करके साध्यविशेष ('तरनिउ मुनि घरिनि होइ जाई') का अनुमान अपनी सूक्ष्म बुद्धि से केवट कर रहा है। तृतीयान्त के अभाव में अनुमान प्रणाली के अन्तर्गत साध्यव्याप्ति की दुष्टता व्यभिचार से हो सकती है जैसा अग्रिम सोरठा में 'अटपटे बैन' से ध्वनित है। तृतीयान्त निर्देश से संभव प्रमाण का पार्ष्णिक बल यह कहा जायगा तब अभी व्यभिचार दोष नहीं है। यतः जीविकोपार्जन वृत्ति में अर्थशुचिता, हृदय की पवित्रता, सरल स्वभावप्रयुक्त शास्त्रोपासना जिसमें प्रकट है वैसे केवट के संकल्पित प्रभाव के बल पर 'तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई' अवश्यंभावी है। सइ प्रकार अन्यत्र पादरजस् का मानुषीकरणत्व प्रकट नहीं है तो भी पक्षेतरत्व दोष निरस्त होता है। निष्कर्ष यह है कि सम्भव प्रमाण के पृष्ठबल अहल्या के उद्धार में गौतम ऋषि के शापानुग्रह था यहाँ 'बटु विश्वास अचल निज धर्मा' केवट को संभव शंका का बल है। भक्तों की ऐसी संभव शंका प्रभु-अनुग्रह की साधिका है। इस प्रकार सामान्य व्याप्ति का (जहाँ शुचि शास्त्रोपासक के संकल्प का बल है वहाँ प्रभु के चरण कमलरजस् का प्रभाव कार्यकारी है) निर्दुष्टत्व उक्त अनुमिति की उत्पादक है।

संगति : केवट प्रभु के पादप्रक्षालन की आकांक्षा का औचित्य कह रहा है।

चौ० : जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पदपदुमपखारन कहहू ॥ ८ ॥

भावार्थ : यदि आप पार जाना अवश्य चाहते हैं तो मुझको चरण कमल धोने की आज्ञा दीजिये।

'पार गा' का भाव

शा० व्या० : प्रभु को पार जाना अवश्य है तो केवट अपनी पादप्रक्षालन की अनुपेक्षणीय उक्तसंभव शंका को मिटाने के लिए चरण कमल को धोने की आज्ञा माँग रहा है। 'पार गा चहहू' में देशाटन या मृगया की आकांक्षाका निरास 'अवसि' से स्पष्ट किया है। अथवा वाल्मीकि मुनि द्वारा छंद १२६ में कहा 'श्रुतिसेतु पालक राम' के वनगमन का प्रयोजन "सुरकाज धरि नरराजतनु चल दलन खल निसिचर अनी" 'अवसि गा चहहू' से ध्वनित है।

नाविकान्तर का निरास, पादप्रक्षालन की अर्हता

जिस नाविक से बात हो रही है उससे विना तय किये दूसरे नाविक से बात चलाना शिष्टाचार के विरुद्ध है। दूसरी बात यह भी है कि उस नाविक की शंका से भड़क कर दूसरा नाविक ले जाने को तैयार न हो, इसलिए नौकान्तर से पार जाने का तर्क अभी संगत नहीं है। भक्ति के संरक्षकत्व में त्रयी की

प्रतिष्ठा से श्रीराम का श्रुतिसेतुपालकत्व सिद्ध करने में शास्त्रानुशासित शुचिवृत्ति में स्थिर केवट की 'पदुम पखारन' की आकांक्षापूर्ति अपेक्षित है।

पूर्वोक्त चौ० ३ की व्याख्या में मीमांसोक्त प्रकरण के अन्तर्गत कही उभय आकांक्षा 'अवसि' से स्पष्ट हो रही है, जिसके अनुसार कहना होगा कि प्रभु के पार जाने की आकांक्षा में केवट की पाद प्रक्षालनात्मक आकांक्षा होने से उसकी पूर्ति अवश्य होगी।

संगति : शास्त्रवचनप्रमाण के बल पर प्रभु के चरणकमलरजस् की प्राप्ति में केवट की निर्भयता प्रकट हो रही है।

छं० : पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ! उतराइ चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ-सपथ सब साचो कहौं।।
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसी, दास, नाथ! कृपाल! पारु उतारिहौं।। १००।।

भावार्थ : हे नाथ! आपके चरणकमल धोकर नाव पर चढ़ाकर पार ले जाने की मजदूरी (उतराई) मैं नहीं माँगता। हे श्रीरामजी! आपके प्रण की दुहाई देते हुए राजा दशरथ की शपथ लेकर मैं सब बात सच-सच कहता हूँ। चाहे लक्ष्मणजी बाण मार दें, पर मैं जब तक चरण नहीं धोऊँगा तब तक हे दयालो! नाथ! यह दास तुलसी नामक केवट कहता है कि मैं पार नहीं उतारूँगा।

'न उतराई चहौं' का भाव

शा० व्या० : 'तरनिउ मुनिघरिनी होइ जाई' से होनेवाली शास्त्रोपदिष्ट जीविकोपार्जन वृत्ति में बाधा होने की शंका को दूर करने के लिए केवट पैर धोकर नाव पर चढ़ाना चाहता है। 'न उतराई चहौं' का भाव है कि शास्त्रादेश एवं राजादेश को मानकर ब्राह्मणों, तपस्वियों से वह पार उतारने की मजदूरी न लेकर निःशुल्क सेवा में रुचि रखता है। यदि कहा जाय कि ये राजपुत्र हैं तो विष्टिरूप में उनकी सेवा करने के लिए वह बाध्य होगा—ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि अभी ये जटाजूटधारी मुनिव्रतस्थ हैं, इसलिए उतराई लेना आकांक्षित नहीं है। विधि के अनुष्ठान में फल की आकांक्षा न रखना शास्त्र का कथन है भगवदुपासकों को सेवा के बदले में किसी फल की इच्छा नहीं रहती। 'परम अकिंचन प्रिय हरिकेरे' से स्पष्ट है कि ऐसे निराकांक्ष उपासक प्रभु को प्रिय हैं।

'राम आन दसरथ सपथ' का उद्देश्य

"सब साँची कहौं" से केवट अपने पूर्वोक्त कथन की सत्यता की व्याप्यवृत्तिता में सत्यसंध राजा दशरथ के वचन प्रमाण के आधार पर श्रीराम के पित्राज्ञापालनात्मक धर्म की मर्यादा की दुहाई दे रहा है। राजाश्री की सत्यसंधता का इतना प्रभाव है कि दूरस्थ आटविक भी राजाश्री की शपथ लेकर झूठ बोलने का साहस नहीं करता। निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार वचनप्रमाण की मर्यादा में श्रीराम वनवास में प्रतिष्ठित हैं उसी प्रकार केवट भी शास्त्रवचन की मर्यादा में नौकोपार्जनवृत्ति में स्थिर है। वर्णाश्रम धर्म की स्थापना में शास्त्रोपदिष्ट वृत्ति के रक्षणार्थ पादप्रक्षालन कराकर नौका पर चढ़ना प्रभु के वनवास में उद्दिष्ट धर्मनीति के अनुकूल है अन्यथा 'बाट परइ मोरि नाव उड़ाई' को शंका से केवट की शास्त्रविहित वृत्ति से च्युत करने का दोष प्रभु पर होगा।

लक्ष्मणजी के दण्डविधान की चर्चा

'रघुपति कोरति बिमल पताका। दण्ड समान भयउ जस जाका' से स्वामी श्रीराम के कीर्तिविस्तार में बाधा दिखायी पड़ने पर लक्ष्मणजी का दण्डविधान प्रसिद्ध है। यहाँ प्रभु के पार जाने की आकांक्षा में केवट द्वारा उपस्थापित प्रतिरोध से प्रभु के कार्य में विलम्ब होने से 'बरु तीर मारहुँ लखनु', केवट को सहर्ष स्वीकार है, पर विना चरण धोये नाव पर चढ़ाकर पार ले जाना स्वीकार नहीं है ग्रन्थकार की उक्ति 'बन्दउँ लछिमनपद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता' की सार्थकता भी 'दंडसमान भयउ जस जाका' में स्मर्तव्य है 'उसका परिचय यहाँ स्पष्ट है।' कहने का भाव है कि अपनी शास्त्रोक्त उपासना में प्रभुपदरजः प्राप्ति रूप फल की उपलब्धि के अवसर का लाभ उठाने में लक्ष्मणजी का दण्ड भी केवट को इष्ट है भक्तों का ऐसा ही धैर्य है।

धर्मप्रधान को अवध्यता व रक्षण की उपपत्ति

राजनीति सिद्धान्त से 'बरु तीर मारहुँ लखनु' का भाव यह भी है कि यद्यपि धार्मिक व्यक्ति अवध्य माना जाता है, पर 'ऋते राज्यापहारात्तु स च दण्डः प्रशस्यते' के अनुसार यदि धार्मिक राज्यापहरणकर्ता होगा तो वाध्य है। श्रीराम के 'काननराजू' की स्थापना में केवट के बाधक होने की शंका में वह लक्ष्मणजी द्वारा वध्यकोटि में समझा जा सकता है, उसके निरासार्थ केवट की उक्ति "चढ़ाइ नाव न उतराई चहौं" लक्ष्मणजी के लिए भी दण्डविधान में विचारणीय होगा जिसका संकेत प्रभु के 'चितइ लखनतन' से स्फुट समझना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि केवट की मनोरथपूर्तिप्रागभाव ध्वंस में 'पदकमल धोइ' अपेक्षित है, उसकी पूर्ति में ही 'काननराजू' को सफलता विहित है।

लक्ष्मणजी के द्वारा वध्यत्वशंकोपपत्ति

प्रश्न हो सकता है कि जटा बनाये मुनिवेष में दोनों भाइयों को देखकर भी केवट को लक्ष्मणजी के दंड की आशंका क्यों है? इसके उत्तर में कहना है कि चौ० ४ दो० १५१ में कहे 'लखन बान धनु धरे बनाई' से लक्ष्मणजी के धनुर्धरत्व की भावभंगिमा से 'बरु तीर मारहुँ' की आशंका असंगत नहीं है।

जबलगि का भाव

'जबलगि तब लगि' का भाव है कि केवट को पार उतारने में देर नहीं है, प्रभु की अनुमति की देर है अर्थात् प्रभुकार्य में विलम्ब का दोषभागी वह नहीं है।' 'कृपाल' से केवट को प्रभु की कृपा से पादप्रक्षालन की आकांक्षापूर्ति में विश्वास है।

केवट का नाम तुलसी

छन्द में कहे 'चहौं, कहौं, पखारिहौं' में उत्तम पुरुष की क्रियापद प्रयोग से सम्बद्ध क्रम में प्रयुक्त 'उतारिहौं' प्रयोग से सिद्ध होता है कि केवट अपना नाम 'तुलसी' लेकर अपने को प्रभु का दास कहता है। ऐसा अर्थ करने में कितना लाघव है इसका विचार विद्वान् करें।

संगति : उपरोक्त चौ० ३ की व्याख्या में केवट की तर्कोक्ति का अटपटापन (व्यभिचार आदि दोष) एवं उसकी भक्ति पर प्रसन्न हो प्रभु सीताजी व लक्ष्मणजी की ओर देख रहे हैं।

सो० : सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुनाऐन चितइ जानकीलखनतन ।। १०० ।।

भावार्थ : करुणासागर प्रभु केवट के प्रेम भये ऊटपटांग वचन (कौतुकपूर्ण तर्क) को सुनकर सीताजी व लक्ष्मणजी की ओर दृष्टिपात करते हुए हँसे।

केवट के अटपटे बैन

शा० व्या० : प्रभु के चरणकमलरजस् व मानुषीकरण के कार्यकारणभाव से केवट का अनुमान ('तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई') सम्भावनामात्र है उसमें व्याप्यव्यापकभाव न होने से यह अनुमान प्रमाण नहीं माना जा सकता। रजस् और मानुषीकरण में हेतु-हेतुमद्भाव कहते हुए भी उसमें सत्तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है, यही अटपटापन हैं। 'प्रेम लपेटे' से भक्तिसम्वलित शास्त्रप्रतिष्ठापकवचन की सार्थकता यह कि नाव की उतराई की वार्ता में ऐसा व्यवहार और प्रेम अटपटा है जो संसार में देखा-सुना नहीं जाता।

'चितइ जानकी लखन तन' से केवट की अधिकारिता

जैसे सीताजी अपने पातिव्रत्य धर्मानुष्ठान से एवं लक्ष्मणजी शिशुभावापन्न भक्ति से प्रभु के चरणसेवा-के अधिकारी हैं वैसे ही अधम जाति केवट का 'बटु बिस्वास अचल निज धर्मा' के अनुरूप शास्त्रादेश में पूर्ण विश्वास रखकर स्वधर्मानुगत शुचिवृत्ति में स्थिर रहना ही 'पद कमल धोइ' का अधिकार है। इस रहस्य की विज्ञता को सूचित करने हेतु प्रभु सीताजी व लक्ष्मणजी की ओर देख रहे हैं। इस विषय में ज्ञातव्य है कि लक्ष्मणजी को विज्ञता की पूर्णता उनकी जिज्ञासा में प्रभु के उत्तर से अरण्य काण्ड में (दो० १४ से १६ तक) स्फुट होगी।[1] जिसको सुनकर 'भगतिजोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभुचरनन्हि सिरु नावा' से लक्ष्मणजी को पूर्ण सन्तोष होगा। गंगाजी का आश्रय लेकर धर्मानुष्ठान करने वाले केवट की उपासनाविज्ञता प्रकट है। सीताजी का पातिव्रत्यधर्मा (वनवास) नुष्ठान गंगाजी की प्रसन्नता में सहयोगी होकर दो० १०२ में कहें वरदान से जानकी जी के उक्त विज्ञता की पूर्णता को स्फुट करेगा।

वनवास की सफलता में केवट का योग

सीताजी और लक्ष्मणजी को प्रभु के 'चितइ' का यह भी गूढ़ भाव है कि कैकेयी जी के मनोरथपूर्ति-प्रागभावध्वंस में सीताजी पातिव्रत्य धर्म से व लक्ष्मणजी सेवाधर्म से प्रवृत्त हैं उनका जिस प्रकार शारीरिक सहयोग वनवास की सफलता के लिए है उसी प्रकार स्वधर्मनिष्ठ केवट की भक्ति से उसके मनोरथपूर्तिप्रागभाव-ध्वंस के सिद्ध्यर्थं प्रार्थित ('पद कमल धोइ') आकांक्षापूर्ति वनवासकार्य के सम्पन्नतार्थ गंगापार जाने में सहयोगी है। 'रहसी रानि रामरुख पाई। बोली कपट सनेहु जनाई' में व्यक्त कैकेयी जी की धर्मसंवलित वाणी ('रामहि मातु बचन सब भाए। जिमि सुरसरि गत सलिल सुहाए') के समान केवट के 'प्रेम लपेटे अटपटे बैन' प्रभु को प्रिय है। जैसे 'बेगि करहु बनगवन समाजू' व 'आवहु बेगि चलहु बन भाई' से जैसे कृपालुता

---

१. प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती।।
एहिकर फल पुनि बिषयबिरागा। तब मन धर्म उपज अनुरागा।।
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम .... आदि की चरितार्थता केवट में है तात निरन्तर बस मैं ताके ते।

व्यक्त थी, वैसे ही केवट के लिए अपनी कृपालुता की पुष्टि को समझाना ('चितइ जानकी लखनतन') प्रभु का उद्देश्य है।

विहसे करुणायतन का भाव

'बिहसे' से हास्य का विविध प्रकार भावप्रकाशन में द्रष्टव्य है। 'माया हास' से प्रभु के हास्य का उद्देश्य अपने स्वरूप को छिपाकर दूसरों को मायामोहित करना है अथवा 'बिहसे करुनाऐन' से संकेत है कि सीताजी व लक्ष्मणजी को सेवा का अवसर देने में प्रभु की करुणा है।

संगति : 'बरु तीर मारहुँ लखनु' की शंका के उत्तर में केवट के संतोषार्थ 'चितइ जानकी लखन तन' में दोनों की सांकेतिक सम्मति को सूचित कराते हुए प्रभु पैर धोने की अनुमति दे रहे हैं।

चौ० : कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई ॥ १ ॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू ॥ २ ॥

भावार्थ : कृपा के सागर प्रभु मुसकुराकर बोले कि वही करो जिससे तुम्हारी नाव कहीं न जाय। जल्दी से जल लाकर पैर धो लो। बड़ी देर हो रही है, पार उतारो।

धर्मशील के प्रति प्रभु का प्रेम

शा० व्या० : प्रभु के 'चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं' के अन्तर्गत शास्त्रादेश को प्रमाण मानकर स्वधर्मविहित जीविकोपार्जनवृत्ति में स्थिर रहने वाले के प्रति प्रभु प्रसन्न होते हैं, वह चाहे किसी जातिधर्म का हो। उत्तम-अधम का भेद प्रभु की वत्सलता में साधक या बाधक नहीं है। प्रभु के 'बोले मुसुकाई' से राजनीति में कहा सेव्य का कर्तव्य भी स्मरणीय है अर्थात् सेवकों से स्मितपूर्वक भाषण, अभिलषित से अधिक देने की तत्परता आदि।

सोइ करु का भाव व संभवप्रमाण का समाधान

प्रभु के चरणकमलरजस् में 'मानुषकरनि मूरि कछु अहई' की शंका में 'तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई' के निवारणार्थ 'एहि प्रतिपालउँ सबु परिवारू' से कहे स्ववृत्ति के रक्षार्थ 'जब लगि न पाय पखारिहौं' को कार्यान्वित करने की अनुमति 'सोइ करु' से व्यक्त है। 'जेहि तव नाव न जाई' से ध्वनित है कि स्वधर्म-पालनकर्ता को स्ववृत्तिलोप की शंका प्रभुकृपा से दूर हो जाय जैसा लक्ष्मणजी की उक्ति 'भगत भूमि भुसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल' से व्यक्त है। 'सोइ करु' की पूर्णता होने पर केवट की शंका दूर हो जायगी तो 'नाव न जाई' के संकल्प में व्यक्त पूर्वोक्त सम्भवप्रमाण की प्रसक्ति नहीं होगी, फिर पैर धोने के बाद चाहे चरणों में धूल भले ही लगे। जिस प्रकार मनोरथपूर्ति में माता कैकेयीजी की स्वतन्त्रता को प्रभु ने 'बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू' से सुरक्षित रखा उसी प्रकार केवट को अपनी आकांक्षा-पूर्ति में 'सोइ करु' से स्वतन्त्रता देना प्रभु की विधिसंगत 'कृपासिन्धुता' का परिचायक है।

'होत बिलंबु' का उद्देश्य

शास्त्रविधि के अनुष्ठान में नान्तरीयकतया जितना विलम्ब अपेक्षित है उतना ही ग्राह्य है। यहाँ वनगमन-प्रागभावात्मक वनवासविधि कर्तव्य है, उसको पूर्ण करने में केवट से कहे 'बेगि आनु जल पाय पखारू' विधि में 'होत बिलंबु' का उपरोक्त तात्पर्य मननीय है जिसका उद्देश्य पिताश्री के वचन-प्रमाण से वनवास विधि की सफलता है।

संगति : प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रसंग में श्रीराम के प्रभुत्व को अविस्मरणीय रखकर रामचरित्र का अवगाहन कराना ग्रन्थकार का उद्देश्य है। ग्रन्थके उपसंहार में 'एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा। रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ रामगुन ग्रामहि। राम भजे गति केहि नहिं पाई' से जो सिद्धान्त स्थिर किया है, उसका प्रतिपादन यथास्थल करते हुए ग्रन्थकार ने नाम-महिमा का गायन किया है। तदनुसार अग्रिम दो चौपाइयों की व्याख्या मननीय है।

चौ० : जासु नाम सुमिरत एकबारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा ॥ ३ ॥
सोइ कृपालु केवटहिं निहोरा। जेहि जगु किय तिहु पगहु ते थोरा ॥ ४ ॥

भावार्थ : जिस रामनाम का एक बार स्मरण करके मनुष्य अपार संसारसागर से पार हो जाते हैं, जिन्होंने संपूर्ण जगत् को तीन पग से भी कम कर दिया (वामनावतार में दो पग में ही नाप लिया) वही कृपालु श्रीराम गंगापार जाने के लिए केवट से विनती करते हुए दीनता दिखा रहे हैं।

कलि में अनुष्ठेय धर्म और सात्विकता

शा० व्या : पूर्व युग में जीवों के आयुष्य की विशाल मर्यादा को देखते हुए दीर्घकालीन साधन भगवत्प्राप्त्यर्थ सुसाध्य था। जैसे जैसे युगपरिवर्तन से जीवनशक्ति का ह्रास होता गया वैसे-वैसे तत्काला-नुसार धर्मविधान की मर्यादा संकुचित होती गयी। इससे धर्म के सनातनत्व में अन्तर या परिवर्तन नहीं समझना चाहिए, केवल युगानुरूप धर्ममर्यादा में धर्म की व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने की विधि समझना है। भगवन्नामस्मरण का योग पूर्वयुगीय धर्मसाधन में अनुस्यूत रहा जैसा उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि के सम्वाद से (दो० १०३-१०४ के अन्तर्गत) स्पष्ट है।[1] कलि में शक्ति के अभाव से पूर्वकालीन विशेष धर्मसाधन लुप्त हो गये, केवल वर्णाश्रम की मर्यादा में रहते स्ववृत्ति के अनुरूप जीविका का नियन्त्रण रखते 'कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा' के अनुसार सत्य, शौच, दया, अहिंसादि साधारण धर्म का कायिक वाचिक मानसिक अनुष्ठान एवं पापकर्मों से निवृत्ति कर्तव्य है।[2] उक्त इति-कर्तव्यता में स्थिर रहकर सात्विकता की वृद्धि से मनस् की शुद्धि होती है। स्वधर्मपूर्वक भगवत्स्मरण रखने का प्रयोजन भी यही है कि अन्तकाल में मनःशुद्धि होकर नामस्मरण का उद्बोध हो, नामोच्चारणद्वारा पाप-नाशक सम्पूर्ण प्रायश्चित हो जाय। उपरोक्त दीर्घकालीन साधन की तुलना में यह स्वल्प साधन होते हुए भी भगवन्नामस्मरण मुक्तितक पहुँचाने का साधन है। ज्ञातव्य है कि सात्विकता के ह्रास से रजस्तमस्

---

१. कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरिध्यान तरहिं भव प्रानी ॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं ॥
द्वापर करि रघुपतिपदपूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा ॥
कलियुग केवल हरि गुन गाहा।
सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृतप्रभाव प्रसन्न मन जाना ॥
सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा ॥
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस ॥ तामस बहुत रजोगुन थोरा कलि—

२. एतवन्तः समाम्नातो योगः सांख्यं मनीषिणां। त्यागस्तपः शमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः। दान-व्रत-तपो-होम-जप-स्वाध्यायसंयमैः श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते। भा० १०

की वृद्धि होती है। 'कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा' की स्थिति में कपट, हठ, दंभ द्वेष, पाषंड, मान, मोह, काम, मद आदि दोष पनपते हैं तो तामस धर्म स्वस्थान से फैलता है। सात्विकता से हीन तामसधर्म में प्रवृत्त मनुष्य के मनस् में मृत्यु के समय भगवन्नाम का स्फुरण नहीं होगा। इसको ध्यान में रखकर 'नाम सुमिरत एक बारा' का अर्थ धार्मिकों के लिए बोद्धव्य है। साधनरत उपासकों के लिए भी शिक्षा है कि सात्विकता से च्युत होने पर अशुचि संसर्ग से मनःशुद्धि में विकार आ सकता है तब सब साधनों के फल रूप में भगवद्दर्शन का लाभ संदिग्ध होगा तथा 'जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं' के अनुसार अन्त समय में राम नामोच्चारण कठिन होगा।

'केवटहि निहोरा' के भाव में सापेक्षमसमर्थवत् का स्मरण

'प्रभु केवटहि निहोरा' में "समर्थवत् पदविधिः" के विपक्ष में कहा "सापेक्षमसमर्थवद् भवति वचन स्मरणीय है। अर्थात् पार जाने की सापेक्षता से युक्त होने से सर्वसमर्थ प्रभु साधनोपायविहीन हो केवट का निहोरा करते हुए असमर्थ हो रहे हैं। सेव्यसेवकभाव में ऐसी पारस्परिक साकांक्षता भक्तों को आस्वाद्य होती है। नीतिदृष्टि से सेव्य की सेवक के प्रति निरपेक्षता औद्धत्य का द्योतक है जिससे प्रीति, एकता, व संघटन पारस्परिक आकर्षण के अभाव में विस्खलित होते हैं। अतः समर्थ प्रभु ने स्ववृत्ति में एकनिष्ठ शास्त्रसेवात्मक वर्णाश्रम मर्यादा में स्थित अधम जाति केवट के प्रति निष्पक्ष होकर उसकी आकांक्षापूर्ति में परतन्त्र होना कृपालुता है।

जगत् को 'तिहु पगहु तें थोरा' करने का भाव

'जग किय तिहु पगहु ते थोरा' कहकर ग्रन्थकार राजा बलि के इतिहास का स्मरण करा रहे हैं। बलि ने अपने सुकृत बल से शुक्राचार्य के वचनप्रमाण का आश्रय लेकर तीनों लोक को जीत लिया था। परन्तु शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन होने से तीन पग में बलि से पृथ्वी के दानकी प्रतिज्ञा कराकर तत्सहित तीनों लोकों को दो पग में नापकर बलिका निग्रह किया तीसरा पग उसके मस्तक पर रखा। तथापि उसकी साधना की सफलता में अनुगृहीता का यह फल कि वे स्वयं परतन्त्र हो गये, यही प्रभु की कृपालुता है। भक्तों का भी स्वभाव है कि वे स्वामी को अपने अधीनस्थ समझकर उनकी परतन्त्रता का अनुचित लाभ उठाने की इच्छा नहीं रखते। असुरों राक्षसों की प्रवृत्ति नीतिविरुद्ध है, वे स्वार्थलोभ के वशीभूत हो अपनी आकांक्षापूर्ति में सेव्य का दुरुपयोग करने में हिचकते नहीं।

बलि और केवट के चरित्र में अन्तर

केवट प्रसंग में बलि के उदाहरण का उद्देश्य है कि बहुकाल-अपेक्षित बहुव्ययसाध्य-साधन करने पर भी बलिको प्रभुप्राप्ति के पूर्व प्रभुनिग्रह का पात्र होना पड़ा। केवट शास्त्रोपदिष्टधर्म का पालन करते हुए नियत जीविकोपार्जनवृत्ति में स्थिर रहकर स्वल्पसाधन से ही प्रभु के अनुग्रह का पात्र हो रहा है, यही वर्णाश्रमधर्म स्थित सेवा की सुगमता है।

'सोइ कृपालु' से ध्वनित प्रभुत्व

'सोई' से कवि श्रीराम का मूल प्रभुत्व प्रकट कर रहे हैं जिसके प्रमाण में 'उतरहिं नर भवसिंधु अपारा' से वेदसम्मत प्रभुस्मरण का फल एवं उसकी पुष्टि में गंगाजी का 'सुनि प्रभु वचन' संगत है।

वं बा० का० चौ० ६ दो० १४६ में मनु के वचन "देखहि हम सो रूप भरि लोचन कृपा करहु प्रभुआरति-मोचन" में कहे 'सो रूप' की एकवाक्यता 'सोइ कृपालु' से स्मर्तव्य है।[1]

संगति : ग्रन्थकार ने यहाँ वार्ताविद्या एवं त्रयी के बलाबल का विचार प्रस्तुत किया हैं। जैसे त्रयी के प्रामाण्य बलपर श्रीराम भाई और प्रिया के साथ वनगमन में प्रवृत्त हुए हैं। वैसे ही केवट के जीविकोपार्जनच्छेद साधन की शंका में वार्ता विद्या को प्रधानता देकर त्रयी के पुरस्कर्ता श्रीराम को आगे झुके देखकर गंगाजी के मोह का उपस्थापन व प्रतीकार भक्ति के संरक्षकत्व में कवि शिवजी दिखा रहे हैं।

चौ० : पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभुबचन मोहमति-करषी॥ ५॥

भावार्थ : प्रभु के वचन "आनु जल पाय पखारू" सुनकर गंगाजी के मति का मोह दूर हुआ और अपने जल का प्रभु के चरणों से सान्निध्य देखकर गंगाजी प्रसन्ना हो गयी।

'देवसरि हरषी' से गंगाजी का मोह वतन्निरास

शा० व्या० : त्रयी के स्थापनार्थं बलि का निग्रह करने में समर्थ प्रभु त्रयी के उच्च साधनों से विहीन व स्वधर्मोचितवृत्ति में निमग्न केवट की आकांक्षापूर्ति में त्रयी के बल की उपेक्षा करके वार्ता विद्या की प्रतिष्ठा रख रहे हैं, प्रभु की इस परतन्त्रता को देखकर गंगाजी को मोह हो गया पर तत्काल ही 'रामभक्ति जहँ सुरसरिधारा' से कहे अपने स्वरूप का बोध होते ही गंगाजी ने भक्ति एवं अन्य विद्याओं के अन्तर्भाव को समझकर सन्देह दूर किया जिसको 'मोह-मति-करषी' से व्यक्त किया है। इसके प्रत्युदाहरण में सरस्वती का 'ठाढ़ि पछिताती, बिबुध मति पोची' आदि के सन्देह के निरास में "आगिल काजु विचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुशल कवि मोरी' का विचार मन्तव्य है। पूर्व में कहा जा चुका है भक्ति अंगी है अंगरूप अन्य विद्याओं का उपयोग उस अंगी के पोषण में है। भक्ति की छत्रछाया में प्रत्येक विद्या की यथावसर प्रतिष्ठा प्रभु की प्रसन्नता के लिए है। 'राम सदा सेवक रुचि राखी' को चरितार्थं करने में प्रत्येक विद्या की प्रतिष्ठा प्रभु को इष्ट है इसको ध्यान में रखकर विद्याओं के बलावल का विचार रामचरितमानस में मननीय है।

उक्त उदाहरण (सरस्वती के 'हरषि हृदयँ दसरथपुर आई') के अनुरूप केवटद्वारा गंगाजल को प्रभुचरण के सान्निध्य में लाना 'देवसरि हरषी' का संयोजक है। गंगाजी के हर्ष का प्रमाण दो० १०३ में द्रष्टव्य होगा। गंगाजी के आश्रय में स्वमर्यादित जीविकोपार्जनवृत्ति में एकाग्र केवट की निष्ठा को उपासनारूप में स्वीकार करके गंगाजी केवट के ऊपर भी प्रसन्ना हैं।

गंगाजी का "पदनख निरखि" से संबंधित हर्ष

विनयपत्रिका में ग्रन्थकार के 'जब ते जिव हरिते बिलगान्यो' की दुःखद दशावर्णन में गंगाजी के सम्बन्ध में प्रभु के पद से 'अजहूँ न मिटत बहिबो ताहू केरो' बिलग होने के बाद का यह गंगाजी का हर्ष अपने मूल उद्गमस्थान प्रभुपद के सायुज्य से प्रकट हो रहा है।

यहाँ जलरूप में गंगाजी का प्रत्यक्ष होने के प्रसंग में स्मरण रखना चाहिए कि प्रभु द्वारा प्रशंसित (चौ० २-३ दो० १०८) मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजी के निवास से तथा शुचिभुत पवित्रात्मा गुह केवट जैसे सेवक के आश्रय से गंगाजी के जल में विशेष तेजस् व्याप्त है।

---

१. जो संशय बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुण्डि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥

संगति : वार्ता विद्या की प्रतिष्ठा में प्रभुपदप्राप्ति का अवसर सुलभ होने पर केवट की पुण्यपुंजता को कवि प्रदर्शित कर रहे हैं।

चौ० : केवट रामरजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा ॥ ६ ॥
अति आनंद उमगि अनुरागा। चरनसरोज पखारन लागा ॥ ७ ॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहिसम पुन्यपुंज कोउ नाहीं ॥ ८ ॥

भावार्थ : श्रीराम की आज्ञा मिल गयी तो केवट कठौता (काठ का बर्तन) में पानी भरकर ले आया और अत्यन्त उमग उमगकर प्रेमसहित हो प्रभुचरणकमलों को धोने लगा। देवगण उसके ऊपर फूल बरसाने लगे एवं सम्पूर्ण लोक उसकी सराहना करते हुए कहने लगे कि इसके समान पुण्यपुंज (पुण्यात्मा) इस समय दूसरा-कोई नहीं है।

शिवजी का समाधि

शा० व्या० : ऐसा मालूम होता है कि शिवजी पार्वती को रामकथा सुनाते हुए नाममाहात्य के आनन्द में विभोर[1] होकर समाधिस्थ हो गए। फिर केवटप्रसंग का स्मरण आने पर 'रामरजायसु पावा' का पुनः उल्लेख करते हुए प्रादप्रक्षालन में केवट के आनन्द का वर्णन करने लगे क्योंकि 'बेगि आनु जल पाय पखारू' से प्रभु की आज्ञा का उल्लेख हो चुका है।

केवट का अनुराग

शास्त्र के आदेश में रहकर नौकोपार्जनवृत्ति की एकनिष्ठता से प्राप्त मनस् की शुचिता में केवट का प्रभु पद में राग था, वह प्रभुपद प्राप्त होते ही अनुरागभाव में परिवर्तित हो गया। 'जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि' के अनुसार 'पानि कठवता भरि लेइ आवा' से सेवाकार्य में रत प्रभु-अनुरागी केवट में श्रमाभाव एवं आनन्दानुभूति व्यक्त है।

केवट की पुण्यपुंजता

प्रभु के अनुराग में 'प्रेम तन पुलकावली' से युक्त जनकदम्पती द्वारा प्रभु के पुनीत चरण धोने में आनन्द व सौभाग्य का वर्णन बा० का० छन्द ३२४ में द्रष्टव्य है।[2] इस समय 'चरनसरोज पखारन लागा' में केवट के सौभाग्य को देखकर संपूर्ण देवलोक पुष्पवर्षा द्वारा अपना हर्ष प्रकट करते हुए उसकी प्रशंसा कर रहे हैं, किंबहुना केवट के प्रतिपक्ष में पुण्यपुंजता की समानता में कोई दूसरा नहीं दिखायी देता। संपूर्ण शास्त्रों का अन्तिम ध्येय प्रभुप्राप्ति है शास्त्रोक्त धर्माचरण में काम व अर्थलोलुपता के आकर्षण में जीव शास्त्ररुचि खो देता है शास्त्रों में यज्ञ, तपस् जप व्रतादि धर्मानुष्ठान से पुण्य संचय करने का साधन

---

१. तुम्ह पुनि राम राम दिनराती। सादर अनंग आराती' से शिवजी का नामप्रेम स्पष्ट है।

२. जे पदसरोज मनोज अरि उर सर सदैव विराजहीं।
जे सकृत सुमिरत विमलता मन सकल कलिमल भाजहीं ॥
जे परसि मुनिबनिता लही गति रही जो पातकमई।
मकरंदु जिनको सम्भुसिर सुचिता अवधि सुर बरनई ॥
करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं।
जे पद पखारत भाग्यभाजनु जनकु जय जय सब कहैं ॥

बताया है। तमः प्रधान जाति में जन्म लेकर शास्त्रोक्त स्वधर्मानुष्ठान से युक्त केवट अपनी जीविकोपार्जनवृत्ति की शुचिता से प्रभुचरणकमलप्राप्ति के योग्य उच्चतम पुण्यपुंजता का भाजन बन गया। है। चौ० ५ दो० १०९ में "मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे बहु जनम सुकृत सब कीन्हे" से कवि ने स्पष्ट किया है कि अनेक जन्मों के पुण्य संचय प्रभुप्रासि के योग में सहायक है। निष्कर्ष यह है कि शास्त्रानुगमन से पुण्यसंचय करते हुए वाचा मनसा निश्छल प्रभुभक्ति को अपनाया जाय तो उक्त पुण्यपुंजता प्राप्त होगी अन्यथा नहीं।

संगति : मनोरथपूर्ति में केवट की पुण्यपुंजता को दिखाकर फल दिखा रहे हैं।

दो० : पद पखारि जलु-पान करि आपु सहितपरिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार ॥ १०१ ॥

भावार्थ : प्रभु के चरणों को धोकर उस जल को परिवार सहित स्वयं पीकर पितृगणों का उद्धार करके केवट फिर प्रसन्न मनस् से प्रभु को पार ले गया।

कृतकृत्यता

शा० व्या० : 'मुदित' से मनस् का शंकानिवृत्तिपूर्वक समाधान एवं कृतकृत्यता का भाव प्रकट किया गया है।

पितृगणों का उद्धार

'पितर पारु करि से वेदोक्त 'एकत द्वित त्रित' सम्बद्ध इतिहास स्मरणीय है। पितृगण आशा लगाये रहते हैं कि उनके वंश में कोई ब्रह्मज्ञ पुत्र पैदा हो तो वे उसको अपने सम्पूर्ण पापों को समर्पित करके मुक्त हो जायँ। वह ब्रह्मज्ञानी पुत्र सम्पूर्ण पाप का क्षय हृदयस्थ प्रभु को पाप समर्पण के द्वारा कर देता है। देवगणों की वाणी 'एहि सम पुण्यपुंज' कोउ नाहीं से भक्त केवट की योग्यता पितृगणों के उद्धार में प्रकट है।

केवटचरित्र पर विशेष वक्तव्य

केवट का चरित्र वर्णाश्रम धर्म के महत्व एवं उसकी प्रतिष्ठा को दर्शानेवाला है। शास्त्रमर्यादा में रहकर अपनी-अपनी वृत्ति से जीविकोपार्जन करते हुए प्रत्येक वर्णाश्रयी भगवदनुग्रह का पात्र बन सकता है। भक्ति के संरक्षकत्व में त्रयीप्रामाण्य की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से प्रभु जिस प्रकार चौर्य धर्म में स्थित गुहको, व नौकोपार्जन वृत्ति में एकनिष्ठ केवट को (अधमाधमपात्र) दर्शन देते हैं उसी प्रकार व्रत, जप, तपस् आदि साधनरत (उत्तमोत्तमपात्र) भरद्वाज आदि मुनियों को कृतार्थ करते हैं। प्रभुकी निष्पक्षपातिता का नियामक इतना ही है कि स्ववृत्ति में असन्तोष एवं परधर्म या परवृत्ति में असूया नहीं होनी चाहिए। इस संबंध में शंबूक का दृष्टान्त स्मरणीय है। शूद्र होते हुए शंबूक ने स्वधर्म का त्याग करके असूयाभाव में परधर्म का आश्रय लेकर हठपूर्वक तपस्या की, वही उसके विनाश का कारण है। क्योंकि उसके तपस्या का उद्देश्य शास्त्रविरोधी कार्य है। शास्त्रमर्यादा के उल्लंघन में समाज को विघटन से बचाना राजशासन का कर्तव्य है। जीविकोपार्जनवृत्ति के नियमित संतुलन से समाज की व्यवस्था सुरक्षित रहती है अन्यथा असंतोष अनाचार फैलता है। शास्त्रमर्यादित वृत्ति में रहते हुए प्रत्येक वर्णाश्रमी को अपनी योग्यता व गुणों से राजशासन के आदर का पात्र बनाना नीतिसंगत है। इसी में प्रभु की प्रसन्नता है। ग्रन्थकार ने शास्त्रमर्यादा के अन्तर्गत केवट की शुश्रूषात्मक दासधर्म की महत्ता दिखाते हुए शास्त्रोपदिष्ट जीविकावृत्ति के निर्वहण में प्रभु का अनुग्रह प्रतिष्ठापित किया है 'एहि प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिं जानउँ कछु अउर कबारू' से केवट की परवृत्ति के ग्रहण में घृणा एवं वैराग्य स्पष्ट है, फलतः केवट परवृत्ति को धर्म-

च्युति समझता है अरण्यकाण्ड में प्रभु के वचन (धर्म विरति जोगते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना) के अनुसार नौकापार्जनवृत्ति के योग से ज्ञान प्राप्त हुआ जो 'तुम्हार मरमु मैं जाना' से प्रकट है। जैसे शास्त्र को प्रभु का चरण कहा गया है वैसे प्रभुका चरणामृत भक्ति, ज्ञान, विज्ञान से सम्पन्न कराकर भवरोग को सदा के लिए मिटानेवाला है जैसा केवट 'मिटे दोष दुख दारिद दावा' से स्पष्ट करेगा। इस उक्ति से यह भी स्पष्ट है कि राजनीति में कहे एकार्थाभिनिवेशित्व दोष की प्रसक्ति उसमें नहीं है। जिस प्रकार दोहा ८० के अन्तर्गत प्रभु के द्वारा धर्मार्थप्रवर्तन में वर्षाशनव्यवस्था कही गयी है उसी प्रकार केवट के प्रसंग में वार्ताव्यवस्था बतायी गयी है।

संगति : प्रभु की प्रसन्नता में भक्त का सेवाकर्तव्य एवं स्वामी की नीतिसंगत उदारता प्रकट हो रही है।

चौ० : उतरि ठाढ़ भए सुरसरिरेता। सीय-रामु-गुह-लखनसमेता॥ २॥

केवट उतरि दण्डवत कीन्हा। प्रभुहिं सकुचि एहि नहिं कछु दीन्हा॥ ३॥

भावार्थ : सीताजी लक्ष्मणजी और गुह के साथ श्रीराम गंगापार उतरकर रेती पर खड़े हों गये केवट ने नाव से उतरकर प्रभु को नमस्कार किया तब प्रभु को संकोच हुआ कि इसको कुछ नहीं दिया।

'प्रभुहिं सकुच' का भाव

शा० व्या० : केवट के 'न उतराई चहौं' कहने के बाद प्रभु के 'सोइ करु' कह देने पर पार उतरने के बाद उतराई रूप में केवट को कुछ न देने या देने में प्रभु को संकोच हो रहा है, क्योंकि दानवर्जित साम प्रयोग को शास्त्रविरुद्ध मानकर केवट को कुछ न देना या अपनी अनुमत्ति के विरोध में देना दोनों ही संकोच का कारण है।

'सीय राम गुह लखन समेता' का भाव

'ठाढ़ि भए' से श्रीराम की वचनप्रमाण में स्थिरता एवं उनका अनुगमन करनेवाले लक्ष्मणजो और सीताजी की धीरता दिखाते हुए 'समेता' से नीतिप्रयुक्त संघबद्धता में श्रीराम की धर्मोपधा शुचिता सीताजी की कामशुचिता, लक्ष्मणजी सेवकत्वप्रयोजक शुचिता, तथा गुह की सेवकोचित भयोपधा शुचिता को व्यक्त किया गया है। इस संघ की सफलता में गुह का योगदान प्रशंसनीय है। दो० १११ में 'सखहि सिखावनु दीन्ह' के अनुसार नीतिशिक्षा को ग्रहण करके श्रीराम के आदेश में, स्थिर रहकर गुह ने वनवास-अवधि पर्यन्त अयोध्या के रक्षण में उसी तीर पर रहकर जो तत्परता दिखायी उसकी उपकृति में प्रभु ने लंका से लौटते समय गुह को हृदय से आलिंगन किया है। (चौ० १२ दो० १२१ लं० का०)।

संगति : प्रभु के संकोच का भाव समझ कर सीताजी की प्रतिक्रिया श्रीराम के संकोच को दूर कर रही है।

चौ० : पिय हियकी सिय जाननिहारी। मनिमुदरी मनमुदित उतारी॥ ४॥

कहेउ कृपाल लेहु उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥ ५॥

भावार्थ : प्रियतम पति के हृदयगत भाव को जाननेवाली सीताजो ने प्रसन्न-मनस् से मणिजड़ित

अँगूठी को निकाल लिया। कृपालु प्रभु ने केवट से कहा कि उतराई ले लो यह सुनकर केवट ने अत्यन्त आकुल हो प्रभु के चरणों को पकड़ लिया।

केवट की आकुलता माताजी की प्रसन्नता व शीलता

'राम सदा सेवक रुचि राखी' के अनुसार प्रभु ने केवट की आकांक्षापूर्ति में चरणामृत प्रदान किया है। प्रभु की इस कृपालुता से अनुभावित होकर 'चितइ जानकी लखन तन' के संकेत से सीताजी ने लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब विधि कर जोरे' के प्रभाव की प्रतीक 'मनिमुदरी' को महादानी-गौरव के अनुरूप केवट को देने में अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। पतिव्रता के शील का यह उदाहरण है कि वह पति की प्रसन्नता के लिए अपना वैभव त्यागने में तत्परा रहती है। 'चरन गहे अकुलाई' से 'ऐहि प्रति पालउँ सबु परिवारू' में व्यक्त अपनी नौकोपार्जन वृत्ति में संतुष्ट केवट 'मनिमुदरी' द्वारा प्राप्तव्य वैभव में अपनी आकुलता 'चरन गहे' से यह प्रकट कर रहा है कि प्रभु के चरणकमल के आश्रय के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं चाहता इससे भक्त केवट की निष्कामता प्रकट है।

सीताजी की 'मनिमुदरी'

जिस प्रकार क्षत्रियत्व के पालनधर्म का अभिन्न चिह्न धनुष्यवाण को प्रभु ने धारण किया है उसी प्रकार सीताजो ने पातिव्रत्य धर्म के अन्तर्गत सधवा के अभिन्न अलंकार के रूप में मुदरी व चूड़ामणि आदि आभूषणों को धारण कर रखा है। प्रभु के उपयोग में आनेवाली स्वनामांकित मुद्रिका की चर्चा वर्षाशिन के प्रसंग में की गयी है। लगता है कि जैसे वह मुद्रिका साकेतलोक की वस्तु होगी। उसकी दिव्यता सुन्दर कांड में सीताजी द्वारा वर्णित है वैसी ही सीताजी के 'मनिमुदरी' को दिव्यता समझनी होगी। अनुसूयाजी की उक्ति 'अमित दानि भर्ता वैदेही' के अनुकूल पति के गौरव को प्रकट करते हुए सीताजी का पातिव्रत्यधर्म प्रयुक्त यह सहर्ष दान है। केवट को देने के लिएं सीताजी ने जो मुद्रिका हाथ में ली थी वह पुनः सीताजी के हाथ में ही रह गयी।

संगति : स्ववृत्ति में सतत रहते हुए नौकापार्जन से प्रभु चरणोदक की प्राप्ति को केवट परम लाभ मानकर वह अब कोई मजदूरी की आकांक्षा नहीं रखता है।

चौ० : नाथ ! आजु मैं काह न पावा ?। मिटे दोष दुख-दारिद-दाबा ॥ ५ ॥
बहुत काल मैं कीन्हीं मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी ॥ ६ ॥

भावार्थ : हे नाथ ! आज मैंने क्या नहीं पाया ? मेरा दोष, दुःख और दारिद्र्य नष्ट हो गया। बहुत समय से मैं यह नौकापार्जन रूप मजदूरी करता आ रहा हूँ। आज विधाता ने भला संयोग बनाया कि भरपूर दे दिया।

'मिटे दोष' व केवट की कृतार्थता

शा० व्या : 'मिटे दोष' से केवट का दुःखाभाव, दारिद्र्याभाव एवं चिन्ताभाव दिखाया है, जैसा 'सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरिसरन न एकउ बाधा' से भक्त की सुखानुभूति कही गयी है। अरण्यकाण्ड में 'सरभंग मिलन' के प्रसंग में कहा 'जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा' से एक ऋषि के साधन बल के समर्पण का जो महत्त्व है वही केवट के 'न उत्तराई चहौं' से समर्पित शास्त्रोपदिष्ट वृत्ति के दीर्घकालिक अनुष्ठान का है जिसको 'बहुत काल मैं कीन्ह मजूरी' से व्यक्त किया है। 'बहुत काल' से धर्मपालन में केवट का धैर्य प्रकट है।

'बिधि बनि भलि' का भाव

पूर्व में कहा गया है कि शास्त्र का अन्तिम ध्येय प्रभु प्राप्ति है जिस शास्त्रोक्त विधि के अनुगमन में केवट अभी तक नौकोपार्जन करता आया है, उस विधि की पूर्णता के फलस्वरूप उसको आज प्रभु-पादोदक की प्राप्ति हुई है। 'दीन्ह भूरी' से उपार्जनवृत्ति में कृतकृत्यता की पर्याप्ति है। 'बिधि भलि' से सूचित किया है कि जीव के हित में शास्त्रविधि का पालन जीविकोपार्जन के अतिरिक्त परम श्रेयस् तक पहुँचाने वाला है।

संगति : भक्त की निष्कामता प्रकट हो रही है।

चौ० : अब कछु नाथ ! न चाहिअ मोरे। दीनदयाल ! अनुग्रह तोरे ॥ ७ ॥

भावार्थ : हे दीन दयालो ! नाथ ! आपकी कृपा के अतिरिक्त अब मुझको कुछ नहीं चाहिए।

अब का भाव

शा० व्या० : 'अब' से व्यक्त है कि नौकापार्जनवृत्ति में जीविका की जो आकांक्षा थी, वह भी 'आजु दीन्ह बिधि बनि भूलि भूरी' के अनुसार प्रभु का चरणामृत प्राप्त करके पार उतार कर पूरी हो गयी। अब कोई चाह या इच्छा शेष नहीं है। दीनों पर दया करनेवाले प्रभु के अनुग्रह में केवट अपनी निराकांक्षता मानता है। केवट की इस उक्ति से ग्रन्थकार का आशय है कि शास्त्र का अनुगमन करते हुए भगवान् की शरण में रहने से भगवदनुग्रह की प्राप्ति निश्चित है। 'जेहि दीन पिआरे' वेद पुकारे से स्पष्ट है कि शास्त्रादेश (प्रभु के विधान) में रहने वाला ही दीन है। ऐसा दीन शास्त्रसेवक ही सब ओर से विषयतृष्णा से शून्य होकर भगवदनुग्रह का पात्र होता है।

सेवक की कामना केवल भगवदनुग्रह में

जिस प्रकार नौकोपार्जन रूपस्ववृत्ति से इतर जीविका को केवट 'अउर कबारू' समझता है उसी प्रकार भगवदनुग्रह को छोड़कर दूसरी वस्तु के लाभ को 'कछु' अर्थात् तुच्छ मानता है। इस प्रकार केवट की शास्त्रनिष्ठा एवं निश्छल भगवत्प्रीति प्रकट है। सेवक की यही शुचिता है जिसको गुरु वसिष्ठजी ने 'सोचनीय सबही विधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई' से समझाया है।

संगति : तीनों मूर्तियों के सकुशल प्रत्यागमन में केवट की शुभकामना व्यक्त हो रही है।

चौ० : फिरती बार मोहिं जो देवा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेवा ॥ ८ ॥

भावार्थ : लौटते समय आप मुझे जो देंगे, उसको मैं प्रसाद मानकर सहर्ष शिरोधार्य करूँगा।

केवट का मंगलाशिष्

शा० व्या० : 'फिरती बार' से गंगाजी के आशीर्वाद के अनुरूप 'प्राननाथ देवर सहित कुसल कोसला आइ' में केवट का मंगलाशिष् व्यक्त है। जिस शास्त्रमर्यादा में प्रभु को ब्राह्मणों, भरद्वाज वाल्मीकि आदि ऋषियों का आशीर्वाद प्राप्त है, उसी शास्त्रमर्यादा में एक शुचि सेवक के मंगला-शासन का महत्व है।

'फिरती बार' का भाव

मनु से कहे 'मोरे कछु अदेय नहिं' के अनुसार महादानी प्रभु का तत्काल 'एवमस्तु' प्रकट है। 'फिरती बार' के लिए प्रभुप्रसाद का देय बकाया नहीं रखना चाहते, अतः अग्रिम दोहे में केवट को भक्ति का वर देकर बिदा करेंगे। अब 'सो प्रसाद मैं सिरधरि लेवा' की प्रसक्ति 'फिरती बार' की अपेक्षा नहीं रह

निमित्त की व्याख्या

गयी। 'एहि प्रतिपालउ' व 'न उतराइ चहौं' का समन्वय करते हुए कहना है कि केवट को मजूरी रूप में देय तभी स्वीकार होगा जब प्रभु फिरती बार नौका द्वारा पार उतरेंगे किन्तु पुष्पक यान से लौटने के कारण नौका के उपयोग का प्रसंग निमित्त नहीं आवेगा अतः नैमित्तिक पुरस्कार भी अदेय होगा। निमित्त की व्याख्या में इस प्रकार है "स्वान्वय-व्यतिरेकानुविधायि-अन्वय-व्यतिरेकप्रतियोग्यवश्यानुष्ठान-कत्वं" इस मीमांसासिद्धान्त (निमिते सति नैमित्तिकं अनुष्ठियते) के अनुसार फिरती बार में नौका संतरणनिमित्ताभाव होने से जीविकोपार्जनरूप नैमित्तिक उतराई का अभाव अर्थप्राप्त है। अतएव फिरती बार में केवटमिलन का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसके उदाहरण में चौ० ८ छं० ७१ की व्याख्या में उर्मिलामिलन का उल्लेख न करने के संबंध में सेव्यत्वासमानकालीन सेवकत्वव्रत में स्थित लक्ष्मणजी में सेव्यत्वनिमित्ताभाव स्मरणीय है।

अथवा फिरती बार का अन्वय केवट के पक्ष में करने से सेवकत्वभाव में उसका यह अर्थ होगा कि बालिकी उक्ति 'जेहि जो निज जनमौं कर्मबस' या भरतजी की उक्ति 'जनम-जनम रति रामपद' के अनुसार केवट को जिस योनि में फिरना पड़े उसमें प्रभु के विधान से देय प्रसाद को वह सहर्ष स्वीकार करेगा।

संगति : निष्कामता की परीक्षा में उत्तीर्ण केवट को प्रभु भक्ति प्रदान कर रहे हैं।

दो० : बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥ १०२॥

भावार्थ : प्रभु, लक्ष्मणजी एवं सीताजी तीनों ने मिलकर बहुत प्रयत्न किया, पर केवट कुछ नहीं लेता है तब करुणासागर प्रभु ने शुद्ध भक्ति का वर देकर केवट को बिदा कर दिया।

'नहि कछु केवट लेइ' का तात्पर्य

शा० व्या० : तीनों ने मिलकर केवट को कुछ देने का प्रयत्न नीतिसिद्धान्तानुसार सामप्रयोग-समन्वित दान कहा जायगा। उपरोक्त चौ० ७ में 'अब कछु न चाहिअ मोरें' में 'कछु' के विषय में केवट का भाव कहा गया है उसको स्मरण रखकर 'नहिं कछु केवट लेइ' का अर्थ वही समझना चाहिए जो उत्तर काण्ड में कागभूशुण्डि को वर देने में 'अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि। ग्यान विवेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना' से व्यक्त है। अथवा जिस प्रकार मनु 'बिधि हरिहर' द्वारा 'माँगहु बर बहु भाँति लुभाए' से अपनी परम धीरता में स्थिर रहे उसी प्रकार अर्थ और भय उपधा-शुद्धि की परीक्षा में 'बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय' द्वारा केवट की निष्कामता एवं 'दीन दयाल अनुग्रह तोरें' की निष्ठा में केवटभक्ति प्रकट है।

करुणायतन आदि का भाव

प्रभु के 'करुणायतन' करुणानिधान नाम का सार्थक्य ऐसे ही अवसर पर प्रकट होता है। 'सोइ सेबक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानें जोई' की योग्यता रखनेवाले केवट की अहैतुकी अव्यवहिता भक्ति को देखकर प्रभु ने उसको विमल भक्ति का वरप्रदान किया। विमल भक्ति वही है जिसको शंकर जी ने अनपायिनी अहैतुकी अव्यवहिता कहा है तथा सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, जटायु आदि के प्रसंग में अविरल भक्ति कही गयी है।

संगति : केवट को बिदा करने के बाद प्रभु अपना प्रातः कालीन कर्तव्य पूर्ण कर रहें हैं जो कि उनके नित्यक्रम के अन्तर्गत है।

चौ० : तब मज्जनु करि रघुकुलनाथा । पूजि पारथिव नायउ माथा ॥ १ ॥

भावार्थ : तब रघुपति श्रीराम ने गंगाजी में स्नान किया और पार्थिव पूजा करके प्रणाम किया ।

पूजांगस्नानादि कार्य

शा० व्या० : पूजांग शुचिता के लिए स्नानविधि शास्त्रसम्मत है । चौ० ६ दो० ८५ में देवमाया' की व्याख्या के अनुसार शिवजी की माया की उपकृति में 'नायउ माथा' से शिवजी को नमस्कार करना स्फुट ही है जो वनवास-प्रतिबन्धक के निरास में सहेंतुक कहा जायगा । ग्रन्थ संगति की दृष्टि से 'नायउ माथा' से गंगाजी को प्रणाम करना भी संगत कहा जायगा ।

संगतिः चौ०४ दो०८७ में प्रभु द्वारा वर्णित (गंग सकल मुद मंगल मूला । सब सुख करनि हरनि सब सूला) गंगाजी की 'बिबुध नदी महिमा अधिकाई' से संगत व गंगाजी की अपौरुषेय वाणी से प्रमाणित सती कौसल्याजा के आशिष वचन (अचल होउ अहिवातु तुम्हारा । जब लगि गंग-जमुनजलधारा) की सफलता को प्रकाशित करने के लिए अग्रिम ग्रन्थ प्रस्तुत है । अथवा गौरी गणेश पूजा संपन्न कर रात्रि में व्रतस्थ राजाश्री कैकेयी जी की अनुत्सुकता को देखकर लौटे नहीं किन्तु कामप्रताप के अधीनस्थ हो वे कोपभवन में गये अतः राजवचन की प्रामाणिकता में सन्देह हो सकता है उसका निरास करने के लिए आग्रम ग्रन्थ प्रस्तुत है । अथवा वनवास रूप वर याचना में पुरुषसम्बन्ध होने से पितृवचन में प्रामाण्य निर्णय नहीं हो सकता । अतः अपौरुषेय वाणो के द्वारा पितृमातृ वचन की प्रमाणता को सिद्ध करने के लिए अग्रिम ग्रन्थ हैं । अथवा श्रीरामचरित में वैदिकत्व सिद्ध करने के लिए अग्रिम ग्रन्थ है ।

चौ० : सियँ सुरसरिहि कहेउ कर जोरी । मातु ! मनोरथ पुरउबि मोरी ॥ २ ॥
पतिदेवरसंग कुसल बहोरी । आइ करौं जेहि पूजा तोरी ॥ ३ ॥

भावार्थ : हाथ जोड़कर सीताजी ने गंगाजी से प्रार्थना करते हुए कहा "हे मातः मेरा मनोरथ आप पूर्ण करें, जिससे पति और देवर के साथ सकुशल लौटकर मैं आपकी पूजा करूँ ।"

शा० व्या० : नीतिमान् व्यक्ति के प्रीति में आकृष्ट होकर प्रकृति, देवगण, इहलोकवासी सभी सेवा के लिए उद्यत रहते हैं जैसा श्रीराम के चरित्र में स्फुट है । धर्मनिष्ठ नीत्यनुयायी सुपात्र को देने के लिए देवता सदा उत्सुक रहते हैं । नीतिमान् श्रीराम के अनुगमन में पातिव्रत्यधर्माचरण में प्रवृत्ता सीताजी को पूजा-याचना के निमित्त से उपस्थिता देखकर गंगाजी प्रसन्ना हो गयी ।

गंगाजी की सम्मानना

'पति देवर संग कुसल बहोरी' से व्यक्त पतिव्रता सीताजी के सत्य संकल्प की पूर्णता में 'आइ करौं पूजा तोरी को गगाजी अपना सम्मान मानती है । पातिव्रत्य के बल पर सीताजी के उक्त मनोरथ की सफलता तो स्वतः सिद्ध है ही ।

स्मर्तव्य है कि 'आइ करौं जेहि पूजा तोरी' के अनुसार लंका से लौटते समय सीताजी ने गंगाजी की पूजा की है (लंकाकाण्ड चौ० ७-८ दो० १२१)।[१]

---

[१] तब सीताँ पूजी सुरसरि । बहु प्रकार पुनि चरनन्हि परी ॥
दीन्ह असीस हरषि मन गंगा । सुन्दरि ! तव अहिवात अभंगा ॥

संगति : चौ० ५ दो० १०१ में 'मोह मति करषी' के फलस्वरूप 'देवसरि हरषी' से गंगाजी की प्रसन्नता प्रकट हो चुकी है। उसको व्यक्त करने के पूर्व गंगाजी के वचन की अपौरुषेयता समझा रहे हैं।

चौ० : सुनि सिय विनय प्रेमरस सानी। भइ तब बिमल बारि बर बानी॥ ४॥

भावार्थ : सीताजी की प्रेमरस से सनी विनती को सुनकर गंगाजी के निर्मल जल से दिव्य वाणी निकली।

दिव्यवाणी का प्राकट्य

शा० व्या० : 'प्रेमरस सानी' से सीताजी की प्रार्थना में धर्म नीति एवं शास्त्रमर्यादित विनय दिखाया गया है। ऐसे वरयाचक के सामने देवता विनयान्वित होकर प्रसन्नता में अपनी दिव्यवाणी को प्रकट करते हैं। सीताजी इस तत्व-ज्ञान से परिचित हैं जैसा पुष्पवाटिका में गिरिजापूजन के प्रसंग पर 'विनय प्रेम बस भइ भवानी' की वाणी प्रकट हुई थी। 'पूजि पारथिव' से स्पष्ट हो चुका है कि श्रीराम पार्थिवपूजन में संलग्न हैं, लक्ष्मणजी पहरेदारी पर हैं सीताजी की यह व्यक्तिगत प्रार्थना है। भौतिक देवशरीर से निकली दिव्य वाणी या संकेत शुचिता से पूर्ण उपासक के उद्देश्य से ही प्रकट होती है जिससे उपासक को मनोरथसिद्धि ज्ञात हो। प्रभु के लिए कुछ अशक्य नहीं है। यह देवता के तेजस् का प्रभाव है कि पंचमहाभूतों की तन्मात्राएँ संघटित होकर अलौकिक कार्य का संपादन करती हैं, तदनुरूप 'बिमलबारि बर बानी' का प्राकट्य यहाँ कहा गया है।

संगति : प्रथमतः पातिव्रत्य से गौरबान्वित सीताजी की योग्यता को गंगाजी की वैदिक वाणी प्रमाणित कर रहीं हैं।

चौ० : सुनु रघुवीरप्रिया ! बैदेही !। तव प्रभाउ जग बिदित न केही ?॥ ५॥
लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥ ६॥

भावार्थ : हे वैदेहि ! आप पति श्रीरघुवीर की प्रियपात्रा हो, आपका प्रभाव संसार में कौन नहीं जानता ? आपकी कृपादृष्टि हो जाय तो वह लोकपाल तक बन सकता है। सब सिद्धियाँ हाथ जोड़कर आपकी सेवा में उपस्थित रहती हैं।

पतिव्रता का प्रभाव

शा० व्या : 'रघुवीर' से धैर्य, सत्व, शौर्य, उत्साह, मति, क्रोध, तर्कशक्ति आदि नीतिसंगत गुण प्रकट हैं। सत्यसंध पिताश्री के वचनको प्रमाण मानकर वनवासात्मक धर्म में प्रवृत्त पति की अनुगामिनी सीताजी को 'रघुवीर प्रिया' कहनेका भाव है कि वह पातिब्रत्यधर्म से स्वयं प्रेरिता होकर कामुकता ईर्ष्या या विषय-अभिलाषा से रहित हो वनवास में केवल पतिप्रेम की आकांक्षणी है उनको 'भ्रम श्रम दुःख की अनुभूति नहीं है। 'वैदेही' नामको सार्थक करते हुए सीताजी ने पतिव्रता का जो नीत्युचित चरित्र उपस्थापित किया है, उसका यशस् जगत् में व्याप्त हो गया है। यद्यपि 'जग विदित न केही' में अहष्ट रूप से सीताजी के प्रभाव में ही सृष्टयादि का मूल उद्भवस्थिति-संहार-कारिणीत्व क्लेशहारिणींत्व सर्वश्रेयस्करीत्व है, तथापि ग्रन्थकार का उद्देश्य रघुबीरप्रिया सीताजी के दृष्ट नीत्युचित प्रभाव को दिखाना है जो सती अनुसूयाजी ने कहे पातिब्रत्य-माहात्म्य ('सुनु सीता ! तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं तोहिं प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित') से स्फुट है।

पुराणोंमें वर्णित कथाओं से पतिव्रताका जगद्विदित प्रभाव ज्ञातव्य है। जैसे निर्धन कष्टसहिष्णु होने

पर भी पतिव्रता महामान्या एवं पूजिता मानी गयी है। निग्रहानुग्रह की सामर्थ्य होते हुए भी पतिव्रता अपने प्रभाव से पति को वश में नहीं रखना चाहती। वह पूर्ण निष्कामा होकर अपने सामर्थ्य का स्वतन्त्र प्रयोग न करके पति के नीति-धर्मानुष्ठान में अंगभूता बनती है।

लोकप आदि का भाव

लोकप में लोकस्वामित्व नहीं समझना चाहिए, बल्कि विनय से सम्पन्न नीति मर्यादा में लोक पालनाधिकार योग्य मानना चाहिये। 'बिलोकत तोरे' का तात्पर्य है कि पतिव्रता सीताजी संकल्प करें तो लोकपाल बना सकती है।

प्रश्न–है कि न्यायमत से 'यं यं सीता पश्यति सः स लोकपालो भवति' ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि इसमें व्यभिचार दोष स्पष्ट है सीताजी ने असंख्य जीवों-पदार्थों को देखा है तो क्या वे सब लोकपाल हो गये ?

उत्तर–सीताजी अनुग्रह करती हैं तो अनुग्राह्य व्यक्ति लोकपाल होगा ही यही व्याप्ति का स्वरूप है निष्कर्ष यह है कि 'पति देवर संग कुसल बहोरी' के मनोरथ से 'लोकप होहिं······सब सिधिकर जोरे' से सिद्धप्रभाववती के पति का लंकाविजय करके होकर लौटना निश्चित है।

संगति : पातिव्रत्य के प्रभाव से प्राप्तसामर्थ्या सीताजी की मनोरथसिद्धि के लिए प्रार्थना करना कार्य (फल) पूर्ववृत्ति मात्र है। फलतः गंगाजी की प्रार्थना करने में सीताजी विनय मात्र प्रकट कर रहीहैं।

चौ० : तुम्ह जो हमहि बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्ह मोहि दीन्हि बड़ाई॥ ७॥
तदपि देवि! मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥ ८॥

भावार्थ : आपने हमको जो अत्यन्त विनय पूर्वक प्रार्थना सुनायी है, वह आपकी कृपा है जो कि हमको बड़ाई दिया है। ऐसा होने पर भी हे देवि! मैं अपनी वाणी को सफल करने के लिए आशीर्वाद देती हूँ।

प्रार्थना में मनोरथसिद्धि पूर्ववृत्तित्व

शा० व्या० : यहाँ ध्यान देना है कि प्रार्थना से मनोरथसिद्धि नहीं है, बल्कि प्रार्थना के पीछे धर्म एवं शास्त्रवचन का बल फलसिद्धि में कारण है। मीमांसकों के मतानुसार जैसे अग्निहोत्र सोमयाग के विहित होते हुए भी अग्निहोत्र सोमयाग का कारण नहीं है वैसे ही प्रार्थना और फलसिद्धि में पौर्वापर्य समझा चाहिये। लोक में मनौती की परंपराको देखते हुए ग्रंथकार धार्मिकों को सचेत करना चाहते हैं कि केवल प्रार्थना या मनौती में अन्धविश्वास न रखकर गंगाजी की उक्ति के अनुसार धर्म एवं नीति के अनुसरण से प्राप्त बल को मनोरथ सिद्धि का कारक समझें उसी प्रकार केवट के 'प्रेम लपेटे अटपटे बैन' द्वारा पादप्रक्षालन की प्रार्थना सुनकर 'चितइ जानकी लखन तन' के संकेत से प्रभु ने ज्ञात कराया है कि धर्मानुष्ठान में शास्त्र की प्रतिष्ठा को रखते हुए केवट ने जो प्रार्थना की उसी कारण वह फल सिद्धि का अधिकारी है।

सीताजी ने प्रार्थना द्वारा मनोरथसिद्धि का जो क्रम दिखाया है।[1] उससे स्पष्ट है कि वचनप्रमाण

---

१. स्वयंवर के पूर्व गिरिजापूजन में सीताजी की प्रार्थना के उत्तर में पार्वतीजी का बचन–
'सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी। नारद बचन सदा सुचि साचा॥
स्वयंवर के अवसर पर सीताजी की प्रार्थना 'जो भगवानु सकल उरबासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी'।
बारात के सम्मान के अवसर पर–'हृदयँ सुमिरि सब सिद्धि बोलाईं। भूप पहुनई करन पठाईं'॥

पर विश्वास रखकर शास्त्रोक्त धर्म का पालन करनेवाले को फलसिद्धि अवश्यभाविनी है, इसकी पुष्टि गंगाजी के अपौरुषेय वाणी से 'सफल होन हित निज बागीसा' से स्फुट है। इस प्रार्थना-परंपरा में 'विनय प्रेम बस भई भवानी' से प्रतिष्ठापित सीताजी के विनयको गंगाजी द्वारा बड़ि विनय' से पुष्ट करते हुए ग्रन्थकार प्रार्थना व विनय नीतिरूपधर्म का महत्व दर्शा रहे हैं।

गंगाजी की प्रतिष्ठा

सीताजी की कामना ('पति देवर संग कुसल बहोरी') की सफलता के लिए गंगाजी के आशीर्वाद को सहयोगी बनाने में सीताजी ने जो विनय प्रकट किया है, उसको गंगाजी 'मोहि दीन्हि बड़ाई' से अपने बड़ाई की स्थापना में सीताजी की कृपा मानती हैं। किंबहुना सीताजी की कृपा से जो बड़ाई मिली है उससे भविष्यत् में धर्मोपासकों की प्रार्थना व याचकों की मनोरथसिद्धि में गंगाजी के आशीर्वाद की प्रतिष्ठा बनी रहे।

संगति : मनोरथपूर्ति के लिए की गयी प्रार्थना में उक्त संगति में किये निर्देश के अनुसार शास्त्र-प्रितष्ठा को दिखाते हुए चौ० ३-४ दो० ३६ में कहे सत्यसंध राजा दशरथ के पौरुषेय वचन प्रामाण्य को गंगाजी अपने अपौरुषेय वचन प्रमाण से पुष्ट करते हुए आशीर्वाद दे रही हैं।

दो० : प्राणनाथ—देवरसहित कोसला आइ।
पूजिहि सब मनकामना सुजस रहिहि जग छाइ ॥ १०३ ॥

भावार्थ : गंगाजी आशीर्वाद दे रही हैं "तुम्हारी सब मनःकामना पूरी होगी। प्राणपति श्रीराम और देवर लक्ष्मणजी के साथ सकुशल तुम अयोध्या लौटकर आओगी। ससार में सुयशस् का विस्तार होता रहेगा।"

'सुरसरि अन्हवाइ' की सार्थकता

शा० व्या : सुमन्त्र द्वारा कहे राजाश्री के सन्देश में (चौ० ७ दो० ९४) 'बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई' का प्रयोजन यहाँ सिद्ध कर रहे हैं, जिस प्रकार दो० ८१ में राजाश्री के वचन ('देखराइ बनु) का प्रयोजन प्रभुने कौसल्याजी से कहे 'काननराजू' से ध्वनित किया था। सत्यसंध राजाश्री के वचन को नीतिसंगत बनाते हुए प्रभुने 'गंग सकल मुदमंगल मूला। सब सुखकरनि हरनि सब सूला। (चौ० ४ से ६ दो० ८७) में गंगाजी की जो 'महिमा अधिकाई' सुनायी थी उसका सार्थक्य गंगाजी के उक्त आशिष्-वचन से प्रकट हो रहा है। 'सुरसरि व बिबुधनदी' से सुरकार्य में गंगाजीका योगदान भी राजाश्री के सुनाये सुरनदीस्नानोपदेश के सार्थक्य का द्योतक है। अथवा सूर्यवंश के पूर्वपुरुष राजा भगीरथ की तपस्या के फल से गंगाजी का अवतरण हुआ है, उस संबध से (चौ०८ दो० १५? में) श्रीराम के कहे सन्देश में 'बन मग मंगल कुसल हमारे' की सिद्धि में 'सुरसरि अन्हवाई' के यथा-अपेक्षित प्रयोजन में गंगाजी की प्रसन्नता को समझकर सचिव सुमन्त्र को आश्वस्त करना 'सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई' का सार्थक्य ज्ञात हो रहा है।

सुजस जग छाई का भाव

राजाश्री के वचन को 'होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई' का प्रामाण्य 'सुजस रहिहि जग छाइ' से गंगाजीने समर्थित किया है। सीताजी के सम्बन्ध से 'सुजस जग छाइ' का स्वरूप अनुसूयाजी की उक्ति 'सुनि सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं' से स्पष्ट है। 'सुजस रहिहि जग छाइ का यह भी भाव है कि

सीताजी के मनोरथ पूर्ति में गंगाजी के वचन की सफलता से जगत् में मनोरथसिद्ध्यार्थं गंगापूजन की प्रतिष्ठा भी बनी रहेगी।

संगति : कवि गङ्गाजी में वाणी को मंगलमूलता एवं सीताजी को प्रसन्नता को व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० : गंगबचन सुनि मंगलमूला। मुदित सीय सुरसरि अनुकूला॥ १॥

भावार्थ : गंगाजी की मंगलमूल वाणी की अनुकूलता से सीताजी हर्षसमन्विता हो गयी।

मुदमंगलसूल आदि का भाव

शा० व्या० : कौसल्या जी से कहे प्रभु के वचन ('जेहि मुदमंगल कानन जाता') में ध्वनित 'मुद मंगल' से वनवास की सफलता का आधार पितृवचन ही है जिसको कवि गंगाजी के अपौरुषेय वचनप्रमाण से पुष्ट करा रहे हैं। 'मुदित सीय सुरसरि अनुकूला' से मुद की प्रसक्ति स्फुट है।

पातिव्रत्य धर्मानुष्ठान में सीताजी के नीतिसंगत मनोरथ (पति देवर संगत कुसल बहोरी) में 'सुरसरि अनुकूला' से दैवानुकूलता को स्फुट किया है। चौ० ३ दो० २५ में कहे 'काम प्रताप बड़ाई' की प्रसक्ति में कल्पित दोष के परिहारार्थ राजा के पौरुषेय वचनप्रवर्तना हेतु के प्रवृत्ति (चौ० ३-४ दो० ३६) की सफलता को गंगाजी के अपौरुषेय वचनप्रमाण से निर्बाध बनाने के लिए 'गंगबचन मंगल मूला' का उल्लेख महत्व रखता है जिस प्रकार केवट प्रसंग में वार्ता विद्या की प्रतिष्ठा पर 'बरसि सुमन सुर सकल सिहाही' से देवों की प्रसन्नता प्रकट की गयी है उसी प्रकार शास्त्र प्रतिष्ठा में 'सुरसरि अनुकूला' का योग है।

संगति : गंगाजी के वचन के बल पर मंगल की कल्पना में प्रभु गुह को लौटा रहे हैं। साथ ही सेवकत्वधर्म में गुह भी अपनी निष्ठा को अग्रिम ग्रन्थ में व्यक्त कर रहें हैं।

चौ० : तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुख भा उर दाहू॥ २॥

भावार्थ : तब प्रभु ने गुह से घर लौट जाने के लिए कहा। इतना सुनते ही गुह का मुँह सूख गया और हृदय में संताप होने लगा।

गुह के सेवकत्व की यथार्थता का प्रकाशन

शा० व्या० : 'तब' से प्रभु के आगे चलने का उपक्रम कहा गया है। निषादराज गुह वन का राजा है, अवध राज्य की सुरक्षा में स्थित है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए गुह को साथ में ले जाना नीतिसंगत न समझकर प्रभु ने उसको अपने घर जाने को कहा। इसका विशेष विचार दो० १११ की अग्रिम व्याख्या में द्रष्टव्य होगा। स्वामी की सेवा से अलग होने में सेवक की दुःखानुभूति को 'सूख मुख भा उर दाहू' के अनुभाव से व्यक्त करते हुए गुह के सेवकत्व भाव की यथार्थता को प्रकट किया है।

गुह को संग लेने में गंगाजी के वचन का अप्रतिभूत्व

'तब' से संकेत है कि सीताजी की प्रार्थना में 'पति देवर संग कुसल बहोरी' कहने पर गंगाजी के वचन में 'प्राणनाथ देवर सहित' का पुनः उल्लेख करना श्रीराम, सीताजी एवं लक्ष्मणजी के अतिरिक्त अन्य किसी के संग लेने की व्यावृत्ति का (साथ में न रखना) द्योतक है। इसलिए गुह की कुशलता का प्रतिभुत्व गंगाजी के अपौरुषेय वचनप्रमाण से पुष्ट न होने से श्रीराम ने गुह को संग ले जाना ठीक नहीं समझा।

अपने स्वतन्त्र प्रतिभूत्व को गौण रखकर शास्त्र की प्रतिष्ठा में वचनप्रमाण का प्रतिभूत्व रखना रामचरित्र की मर्यादाप्रतिष्ठापन की विशेषता है जो शास्त्रानुगमन में लोकशिक्षार्थ प्रकट है।

संगति : अयोध्यापति के साथ मित्रता का सम्बन्ध होने से राजकुमार के वनगमन में मार्गदर्शन एवं निवासव्यवस्था में सहायता करना मित्रराष्ट्र के नाते अपना नीत्युचित कर्तव्य समझकर गुह बोल रहा है।

चौ० : दीनबचन गुह कह कर जोरी। बिनय सुनहु रघुकुलमनि ! मोरी ॥ ३ ॥
नाथ ! साथ रहि पंथु देखाई। करि दिन चारि चरनसेवकाई ॥ ४ ॥
जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई ॥ ५ ॥
तब मोहि कहँ जसि देव ! रजाई। सोइ करिहउँ रघुबीरदोहाई ॥ ६ ॥

भावार्थ : हाथ जोड़कर गुह दीन वाणी में बोला "हे रघुकुलमणे ! मेरी प्रार्थना सुन लीजिये। प्रभु के साथ रहकर वन का रास्ता दिखाते हुए चार दिन चरणों की सेवा करते हुए चलूँगा जिस वन में रघुनाथ जी निवास करने का निश्चय करेंगे वहाँ मैं सुन्दर पर्णकुटी बना दूंगा। रघुवीर की दुहाई देकर (शपथ पूर्वक) कहता हूँ कि तब आप मुझे जैसी आज्ञा देंगे वैसा मैं करूँगा।

सेवा लेने को प्रार्थना

शा० व्या० : रघुकुल से सतत मित्रतासंबंध रखनेवाले निषादराज को राजकुमार श्रीराम के यथार्थ गुणों का परिचय हो गया है, इसलिए 'रघुकुलमनि' संबोधन करते हुए श्रीराम के सामने विनयभाव में दीनवचन बोल रहा है। लक्ष्मणजी के द्वारा कहे श्रीराम के प्रभुत्वप्रतिपादक संवाद में "सखा परम परमारथु एहू। मन-क्रम-बचन-रामपद नेहू" से उत्साहित होकर गुह प्रभु से सेवा का अवसरप्रदान करने की प्रार्थना कर रहा है।

'दिन चारि' कहने का भाव

प्रभु को जिस वन में जाकर रहना अभीष्ट होगा, वहाँ पुर्णकुटी बनानी है—इसमें जितने दिन का समय लगेगा उस दृष्टि से 'दिन चारि' कहने का सामान्यभाव कुछ दिन है। फिर भी शुचि हृदय से निकली सेवक की वाणी को सफल करने के लिए हो सकता है कि प्रभु चौथे दिन चित्रकूट चले हों अथवा वर्णन के अनुसार दिनों की गणना करते हुए चार दिन का हिसाब इस प्रकार लगाया जा सकता है, चौ० ४ दो० १०४ 'दिन चारि' की संगति इस प्रकार कही जा सकती है—प्रथम दिवस श्रृंगवेरपुर की सेवा, दूसरे दिन 'विटपतरबासू' में सेवा, तीसरे दिन भरद्वाज-आश्रम में और चौथे दिन यमुना-तीर तक जहाँ से गुह को प्रभु ने बिदा किया (दो० १११)।

'परनकुटी मैं करबि सुहाई' की सेवा लेना इष्ट नहीं है जैसा दो० ११२ की व्याख्या में कहा जायगा।

जिस प्रकार केवट ने छंद १०० में अपनी प्रतिज्ञा की सत्यता में 'राम राउरि आन दसरथ सपथ' कहा उसी प्रकार प्रभु के आज्ञापालन में 'सोइ करिहउँ' की प्रतिज्ञा की सत्यता को गुह ने 'रघुबीरदोहाई' से व्यक्त किया है। चौ० ४ दो० ९६ की व्याख्या में कहे लक्ष्मणजी के अभिनय से स्फुट सेवा मर्यादा गुह की उक्ति में व्यक्त है। सेवा का मूल तत्व भरतजी के शब्दों में 'अज्ञा सम न सुसाहिब सेवा' से स्फुट है।

'पंथु देखाइ' में गुह के मार्गदर्शन का औचित्य

राजनीति की दृष्टि से गुह के मार्गदर्शन का औचित्य उपरोक्त संगति में स्पष्ट किया गया है। तम प्रधान शूद्रशरीर में गुह के क्रोधजव्यसन का प्राकट्य दो० ९१ में कैकेयीजी के प्रति रोषोद्गार से हुआ है। राजनीति में इसको गुह का 'अपनय' कहा जायगा। गुह के अपनय को दूर करने में 'ग्यान बिराग भगति-रससानी मृदु मधुर वाणी' का निरूपण लक्ष्मण-संवाद में किया गया है। गुह अच्छी तरह समझ गया है कि दोनों राजकुमार नीत्यनुगामी 'नय' मार्ग के अभिलाषी हैं। उस ('नय पथ') के विचार में सन्त विद्वान् ही अधिकृत हैं जैसा चौ० १ दो० १०९ की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। अतः प्रभु के मार्गदर्शन की इतिकर्तव्यता में गुह के 'पंथु देखाइ' का उपयोग भरद्वाज आश्रम तक पहुँचाने में है। तदनन्तर मुनि-द्वारा नियुक्त 'बटु चारि' का सहयोग कहा जायगा।

नीतिविद्या के प्रतिष्ठा में सेव्य-सेवक की मर्यादा

नीति का सिद्धान्त है कि राजशास्त्र के अनुष्ठाता का यशस्सौरभ दिगन्तव्यापी रहता है। दूरदेशवासी स्वयं प्रीतिमान् होकर नीतिविद् की सेवा में तत्पर हो उसके निवास, सुख सुविधाओं का आयोजन करने में प्रसन्न होते हैं जैसा चित्रकूट में दो० १३३ से १३६ के अन्तर्गत वर्णित है। अन्तःकरण में सुख सुविधा की अप्राप्ति या न्यूनता की शंका से नीतिमान् को क्षोभ नहीं होता वह समभाव में सदा स्वस्थ-प्रकृतिक रहता है अतः मार्गदर्शन एवं निवासादि की आकांक्षा से प्रस्तावित गुह की सेवा प्राप्त करने के उद्देश्य से गुह को संग में लेना नीतिशास्त्र की प्रतिष्ठा के विरुद्ध होगा। भक्तिपक्ष से सेवक की आकांक्षा-पूर्ति नीतिमर्यादा में जहाँ तक अपेक्षित है वहाँ तक 'संग लीन्ह' से स्फुट है अर्थात् चौ० १ दो० १०५ में 'बिटपतर वासू' में गुह को 'चरन सेवकाई' का अवसर देना एवं भरद्वाज-आश्रम से आगे चलने पर गुह को लौटा देना (दो० १११)।

संगति : गुह के सहज स्नेह की प्रतिष्ठा दिखा रहे हैं।

चौ० : सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुहहृदयँ हुलासू ॥ ७ ॥

भावार्थ : श्रीराम ने गुह का सहज प्रेम देखा तो उसको साथ ले लिया, इससे गुह का हृदय बड़ा हर्षोल्लसित हुआ।

'सहज सनेह आदि का भाव

शा० व्या० : चौ० ४ दो० ८८ में 'सहजसनेहबिबस रघुराई' की व्याख्या में 'सहज सनेह' नीति संगत मैत्रभाव से सम्बन्धित कहा गया है। यहाँ 'सहज सनेह' श्रीराम के प्रभुत्व परिचायक लक्ष्मणजी के उपदेश से स्फुट गुह की सेवाभक्ति का द्योतक है जिसको 'राम लखि' से व्यक्त किया गया है। ऐसे विश्वस्त मित्र को साथ में रखने का विधान राजशास्त्र से सम्मत है। 'हृदय हुलासू' से गुह की प्रीति का स्वाभाविक अनुभाव प्रकट है। 'संग लीन्ह' से प्रभु ने अपने स्वतन्त्र कर्तृत्व से गुह को तापस-मिलन में कृतार्थ करने के लिए साथ लिया है। उसकी नीति व धार्मिक शुचिता को स्थापित कराकर अयोध्याराज्य के रक्षण में उसे नियुक्त करना है।

संगति : गुह को अकेले प्रभुसंग में जाना है, इसलिए अपने परिवार को वह बिदा कर रहा है।

चौ० : पुनि गुहँ ग्याति बोलि सब लीन्हे। करि परितोषु बिदा तब किन्हें ॥ ८ ॥

भावार्थ : इसके बाद गुह ने अपने सब परिजनों को बुला लिया और पूर्ण आश्वस्त करके उनको बिदा कर दिया।

गुहजनों का परितोष

शा० व्या० : 'करि परितोषु' से निषादराज ने परिजनों को आश्वासन दिया कि श्री सीतारामजी की सुरक्षा में तत्पर धनुर्व्रत धारण करनेवाले लक्ष्मणजी के रहते कोई भय नहीं है। अतः सुरक्षाहेतु उनके संग चलने की अपेक्षा नहीं है। गुह निषादों का राजा है राजा को अपने विश्वस्त परिकरों के साथ चलने का विधान है तीनों मूर्तियों के साथ निषादराज का अकेले जाना परिजनों को आपत्तिजनक हो सकता है किंतु श्रीराम के प्रभुत्व को जानते हुए गुह को कोई भ्रम नहीं है इत्यादि बातों को समझाकर निषादराज ने अपने साथियों का सम्मान करते हुए उनको घर लौटा दिया।

संगति : आगे कहे ' विटपतर बासू" के बाद वननिमित्तक कार्यारंभ में मंगलाचरण के रूप में 'वन गवनु कीन्ह' के अवसर पर इष्टदेव का स्मरण कहा जा रहा है।

दो० : तब गनपति-सिव-सुमिरि प्रभु नाइ सुरसरिहि माथ।
सखा-अनुज-सियसहित बन गवनु कीन्ह रघुनाथ ॥ १०४ ॥

भावार्थ : तब गणेशजी व शिव जी का स्मरण करके प्रभु ने गंगाजी को नमस्कार किया। सखा गुह, भाई लक्ष्मणजी एवं प्रिया सीताजी के साथ रघुनाथजी वन में चले।

गणपति आदि की प्रार्थना

शा० व्या० : प्रत्येक शुभकार्य के आरम्भ में गणेश जी का स्मरण पूजन शास्त्रसिद्ध है। ग्रन्थकार की उक्ति 'प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ' से गणेश जी की प्रथम पूज्यता प्रकट है। सूर्यकुल के इष्टदेव शिवजी हैं रथ के संग अयोध्यावासियों के चलने से वनगमन में जो बाधा हुई थी, उसके निरास में चौ० ६ दो० ८५ में कहे 'देव माया' की व्याख्या में शिवजी द्वारा विघ्ननिवारण की चर्चा की गयी है। प्रस्तुत में अयोध्या लौटाने में सुमन्त्र की असमर्थता एवं असहायावस्था से उत्पन्न समस्या का समाधान अपेक्षित है जैसा आगे दो० १४२-१४३ के अन्तर्गत किये वर्णन से स्पष्ट होगा इसमें सहायक 'सुमिरि सिव' का सार्थक्य है। राजा के वचनप्रमाण के आधार पर वनगमन में श्रीराम प्रवृत्त हुए हैं उक्त वचनप्रमाण की पुष्टि में श्रुत गंगाजी की वाणी के प्रति कृतज्ञताप्रकाशन प्रभु के 'नाइ सुरसरिहि माथ' से प्रकट है। 'वन गवनु कीन्ह' से वरदृप्त रावण के प्रतिरोध में श्रीराम के स्वतन्त्र कर्तृत्व में दर्पाभाव उक्त मंगलाचरण से स्फुट है।

वनगमम कार्य में सीताजी, लक्ष्मणजी एवं गुह के सम्मिलित योगदान को 'सखा-अनुज-प्रियसहित' से स्फुट किया है। यहाँ से तीनों को वन में ले जाने में प्रभु का स्वतन्त्र कर्तृत्व है।

भरद्वाज-आश्रम ब्रह्मारण्यसीमा में है उसके आगे धर्मारण्य-सोमारण्य में ऋषि-मुनियों का निवास है वहाँ प्रभु के आकांक्षित 'मुनिगन मिलन बिसेषि वन' का प्रसंग उपस्थित होगा। सन्तों महात्माओं के प्रति कोई त्रुटिपूर्ण कार्य न हो उस हेतु से बुद्धिमोह निरासार्थ तदंगभूत मंगलाचरण में गणेशजी एवं शिवजी के साथ प्रत्यक्ष उपस्थित गंगाजी को देवीरूप में नमस्कार किया है।

संगति : वनगमन में प्रभु के तीसरे दिन का निवास कहा जा रहा है।

चौ० : तेहि दिन भयउ बिटपतरबासू । लखन सखा सब कीन्ह सुपासू ।। १ ।।

भावार्थ : उस दिन प्रभु का निवास पेड़ के नीचे हुआ । लक्ष्मणजी के साथ सखा गुह ने ठहरने की सब सुविधा बना दी ।

'बिटपतर बासू' का प्रयोजन

शा० व्या० : 'सखा सब कीन्ह सुपासू' से लक्ष्मणजी के निरीक्षण में गुह के कर्तृत्व की प्रधानता समझनी होगी जो पूर्व चौ० २ से ५ दो० १०४ में ('नाथ साथ रहि पंथु देखाई। करि दिन चारि चरन सेवकाई। परन कुटी मैं करबि सुहाई') व्यक्त गुह की आकांक्षा से सम्मत है अतः उसका कीर्तन है। उपरोक्त 'सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदयँ हुलासू' में गुह के निरुपाधिक सहज सनेह की मर्यादा को रखने के लिए प्रभु ने गुह के 'हृदय हुलासू' के सन्तोषार्थं 'चरनसेवकाई' का अवसर दिया है। तीर्थं में पहुँच कर 'चरन सेवकाई' लेना तीर्थं की मर्यादा के विरुद्ध होगा, इस दृष्टि से तीर्थसीमा से दूर 'बिटपतर बासू' सप्रयोजन कहा जा सकता है। वस्तुतः 'बिटपतर बासू' का मुख्य प्रयोजन गुह को वापस भेजकर सुमन्त्र को घोड़ों सहित स्वस्थ कराकर अयोध्या की ओर भेजना है जैसा आगे चौ० ५ दो० १४२ से चौ० २ दो० १४४ तक के वर्णन से स्पष्ट होगा। गंगा पार करने पर प्रभु ने दूर से दो० ९९ में कही सुमन्त्रसहित घोड़ों की दयनीय अवस्था को देखा है, उसको उपेक्षित करके आगे बढ़ जाना पालनात्मक धर्म के विरुद्ध होगा। दो० १०४ में प्रभु के मंगलाचरण के उद्देश्य में विघ्ननिवारण की जो चर्चा की गयी है उसके अनुसार वनगमनकार्य में प्रतिबन्धक उक्त विघ्न को निरस्त करने के लिए प्रभु को 'बिटपतर बासू' करना पड़ा, अन्यथा उसी दिन भरद्वाज-आश्रम में पहुँचना सम्भव था। 'तेहि दिन भयउ' से स्फुट होता है कि दिन भर का वास हुआ क्योंकि गुह को गंगाजी के इस पार सुमन्त्र के पास आना, रथ पर बैठाकर अयोध्या भेजना फिर प्रभु के पास लौटकर आना है। गुह की उक्त कर्तव्यता 'सखा सब सुपासू' में सन्निहित समझनी चाहिए।

संगति : वनवास विधि में वनगमनमार्ग एवं वननिवास की आकांक्षापूर्ति के लिए तन्निमित्तक इतिकर्तव्यता का निर्देश विद्वान् मुनियों से प्राप्त करना है, इस उद्देश्य से भरद्वाज एवं बाल्मीकिमिलन का प्रसंग कहते हुए प्रभु को चित्रकूट निवास में स्थिर कराना ग्रन्थकार को अभीष्ट है उसी को प्रस्तुत कर रहे हैं। ध्यातव्य है कि बीच में गुह द्वारा सुमन्त्र को अयोध्या लौटाने का प्रसंग कहने में ग्रन्थकार का कौशल है कि ग्रन्थ को अनावश्यक विस्तार से बचाने के लिए उसका वर्णन यहाँ न करके पाठकों की आकांक्षा का उद्दीपन कराते उक्त प्रसंग का वर्णन आगे चौ० ५ दो० १४२ से करते हुए राजा के दुखान्त चरित्र से जोड़ेंगे।

संगति : अभी वनप्रस्थान में चौथे दिन का चरित्र कहा जा रहा है।

चौ० : प्रात प्रातकृत करि रघुराई । तीरथराजु दीख प्रभु जाई ।। २ ।।

भावार्थ : सबेरा होने पर रघुनाथजी ने प्रातःकालीन क्रिया को सम्पन्न किया। आगे जाकर प्रभु को तीर्थराज प्रयाग दिखायी पड़ा।

शा० व्या० : श्रीराम के राजप्रतिष्ठापक गुणों के प्रकाशन के गान की प्रस्तावना में प्रयाग को भी तीरथराज कह रहे हैं व तीर्थराज के गुणों को वर्णित कर रहे हैं। इसी प्रकार 'विवेक भुआल' के साम्राज्य का वर्णन चित्रकूट में करते हुए कवि श्रीराम के सार्वभौम प्रभुत्व को प्रतिष्ठापित करेंगे।

संगति : तीर्थराज के सौन्दर्य एवं महत्व का वर्णन कवि कर रहे हैं।

चौ० : सचिव-सत्य श्रद्धा-प्रियनारी। माधवसरिस मीतु हितकारी॥ ३॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्यप्रदेश देस अति चारू॥ ४॥

भावार्थ : तीर्थराज का मन्त्री सत्य है, प्रिय नारी श्रद्धा है, हितकारी मित्र के समान माधव देवता हैं। उनके भण्डार में चारों पदार्थ भरे हैं। पुण्यप्रदेश में अत्यन्त सुन्दर स्थान है।

शा० व्या : 'तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम्' के अर्थ को ध्यान में रखकर तीर्थराज के माहात्म्य का आध्यात्मिक अध्ययन विचारवानों के लिए मननीय विषय है।

'सचिव सत्य व श्रद्धा' का तात्पर्य

सत्य को तीर्थराज का मन्त्री कहा है। सत्य त्रिकालाबाधित तत्व है, अथवा शास्त्र, नीति, तर्क आदि से प्रमाणत्रयसिद्ध अर्थ सत्य है। वाक्चातुर्य से शंकाएँ उपस्थापित कर सत्य को व्यभिचरित करना मन्त्रसिद्धिको विनष्ट करना है। सत्य पर ही सम्पूर्ण स्वमण्डलीय राजकार्य आधारित है। 'सत्यमेव जयते' के अनुसार सत्य का आश्रय लेनेवाले राजा को सफलता मिलना निश्चित है जैसा 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए' से व्यक्त है। सत्य के साथ श्रद्धा की अभिन्नता राजा के लिए पाणिगृहीता स्त्री के समान है अर्थात् सत्य पर विश्वास बनाये रखने के लिए श्रद्धा को सदा अपनाये रखना चाहिये जैसा बालकाण्ड के मंगलाचरण में भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' कहा है।

मित्रसंपत्ति का फल

सत्यश्रद्धा से युक्त राजा को मित्रसंपत्ति की प्राप्ति कार्यसिद्धि के नैयत्य में अपेक्षित है। सन्मित्रों के सहयोग से दुष्कर कार्य भी सुकर हो जाते हैं।[1] वेणीमाधव देवता को तीर्थराज का मित्र कहा है। 'मा' से सत्वस्वरूपा महालक्ष्मी तथा 'धव' से धारण करने वाले 'माधव' सत् हैं अर्थात् हितकारी मित्र सत्वगुण से सम्पन्न होना चाहिए किष्किन्धा काण्ड में प्रभु के कहे सन्मित्र का लक्षण स्मर्तव्य है।

सात्विक मित्रों की सहायता से सत्यश्रद्धावान् राजा को सब प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि प्राप्त है जिसको 'चारि पदारथ भरा भँडारू' से व्यक्त किया है।

पुण्यप्रदेश

पुण्य प्रदेश वही है जहाँ सन्त महात्मा सुलभ होते हैं। सन्तों के संग और उपदेश से वहाँ के देशवासी भी पुण्यमय होते हैं। राजाओं को राजधानी को तीर्थों के सान्निध्य में रखने का यही लाभ है। पुण्य प्रदेश में सत्पथप्रदर्शक कथाएँ निरन्तर सुनने को मिलती हैं जिससे धर्म विवेक भक्ति का पोषण होता रहता है। 'देश अति चारू' से प्रयाग का प्राकृतिक सौन्दर्य पुण्य नदियों की सीमा आदि विवक्षित है। राजशास्त्र में कहे 'ब्रह्मारण्य सोमारण्य' आदि के सम्बन्ध से पुण्यप्रदेश को महिमा कही गयी है।

संगति : 'पुण्य प्रदेश देस अति चारू' का स्वरूप दिखाया जा रहा है।

चौ० : छेत्रु अगम गढु गाढ़ सुहावा। सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥ ५॥
सेन सकलतीरथ बरबीरा। कलुष-अनीकदलन रनधीरा॥ ६॥

---

१. 'मित्रवान् साधयेत्यर्थान् दुष्करानप्यनादरात्'। (नीतिसार प्रकृतिकर्म)

भावार्थ : प्रयाग क्षेत्र ऐसा स्थिर दृढ़ सुन्दर किला है जो अगम्य है, जिसमें शत्रु स्वप्न में भी प्रवेश नहीं कर पा सकते। सम्पूर्ण तीर्थ श्रेष्ठ योद्धाओं की सेना के समान उपस्थित हैं जो पाप रूप शत्रुओं की सेना को नष्ट करने में लड़ाई में पीछे नहीं हटने वाले हैं।

पापदलन

शा० व्या० : तीर्थराज प्रयाग में पापरूप शत्रुओं का प्रवेश स्वप्न में भी नहीं है, इसलिए प्रयाग तीर्थ अगम्य किले से उपमित किया गया है। तीर्थराज प्रयाग में सब तीर्थों का वास है। तीर्थरूप श्रेष्ठ योद्धाओं की सेना उस किले की रक्षा में सावधान हैं। यदि 'कलुष अनीक अर्थात् पापों की सेना उस पर आक्रमण करती है तो उक्त वीरों की सेना उनसे लड़ने में अडिग रहकर पापगण का नाश कर डालती हैं। इस सम्बन्ध में चौ० २ दो० २५ की व्याख्या में 'शुचि स्थल में राक्षसों का प्रवेश नहीं शीर्षक के अन्तर्गत कहा विषय ध्यातव्य है।

तीर्थ

शास्त्रों में तीर्थ उसे कहा गया है जिसकी सहायता से पार होना सुगम है। तीर्थ में पवित्र करने की शक्ति है। इसीलिए योद्धाओं के लिए युद्ध धारा में प्राणत्याग द्वारा सूर्यमण्डल का भेदन कहा गया है। केवल सत्य और श्रद्धा से तीर्थ की शुचिता बनाये रखना सेवकों का कर्तव्य है अन्यथा तीर्थ निस्तेजस्क हो शरीरमात्र से उर्वरित रहते है।

संगति : अब तीर्थराज प्रयाग की प्राकृतिक शोभा को दिखाते राजोपपन्न सामग्री सिंहासन, छत्र चँवर का वर्णन कर रहे हैं।

चौ० : संगमु सिंहासनु सुठि सोहा। छत्रु अखयबटु मुनिमनु मोहा ॥ ७ ॥
चँवर जमुन अरु गंगतरंगा। देखि होहिं दुःख-दारिदभंगा ॥ ८ ॥

भारार्थ : त्रिवेणी का संगम तीर्थराज के सुन्दर सिंहासन रूप में शोभित है। मुनियों के मनस् को हरण करनेवाला अक्षयवट छत्र रूप में है। गंगा-यमुना की लहरें मानो चँवर डुलों रही हैं। ऐसे तीर्थराज का दर्शन करने से दुःख और दरिद्रता का नाश हो जाता है।

सिंहासन आदि का भाव

शा० व्या० : राजशास्त्र के अनुसार विद्वत्संगति में रहनेवाला साधुसेवी ही राजसिंहासन पर आरूढ़ होने योग्य है।[1] तीर्थराज में साधु-सन्तों का समागम पुराणप्रसिद्ध है जैसा बालकाण्ड में दो० ४४ के अन्तर्गत वर्णन किया गया है।[2] मुनियों द्वारा आकांक्षित अक्षयवट की छत्रछाया का महत्व' बटु विस्वास अचल निज धरमा तीरथराज समाज सुकरमा' से स्पष्ट है।

'दुःख दरिद भंगा' में गंगा-यमुनाजी की महत्ता 'राम भक्ति जहँ सुरसरिधारा बिधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रविनंदनि बरनी' से स्पष्ट है।

---

१. वृद्धोपसेवी नृपतिः सतां भवति सम्मतः। नीतिसार स० ?

२. माघ मकरगत रबि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई ॥
देव दनुज किंनर नर श्रेणी। सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी ॥
पूजहिं माधवपदजलजाता। परसि अखयबटु हरषहिं गाता ॥
तहाँ होइ मुनिरिषय समाजा। ब्रह्म निरूपन धरमविधि बरनहिं तत्व विभाग ॥
कहहिं भगति भगवन्त के संजुत ग्यान-विराग ॥

सत्य-श्रद्धा से संपन्न राजा का भगवदभक्तिभाव 'चँवर गंगतरंगा' से प्रकाशित है। शास्त्रोक्त विधि-निषेधमय कर्मशीलता 'चँवर जमुन तरंगा' से प्रदर्शित है। सत्यशील राजा की सात्विक बुद्धि में सत्तर्कपरिपूत निर्णय होना तथा शास्त्रविधि में विश्वास रखकर धर्माचरण करना 'छत्रु अखयवटु' से ध्वनित है। ऐसे राजा की छत्रछाया में दुःख दरिद्र का हरण होना नीतिसिद्ध है।

संगति : तीर्थराज का प्रभाव तथा उसकी सेवा का फल बता रहे हैं।

दो० : सेवहिं सुकृती साधु सुचि पावहिं सब मनकाम।
बंदी बेद-पुरानगन कहहिं बिमल गुनग्राम ॥ १०५ ॥

भावार्थ : सुकर्म करनेवाले, साधु एवं शुचिजन तीर्थराज के सेवक हैं। उनकी सेवा करते हुए वे अपने अभीप्सित अर्थ की प्राप्ति करते हैं। राजा के यशस् का गुणगान करने वाले मागध सूत-भाट के रूप में वेद पुराण बंदीगण हैं जो तीर्थराज के उज्वल गुणगणों को निरन्तर कहते रहते हैं।

सुकृती आदि का अर्थ

शा० व्या० : 'सुकृती' से पुण्यफलदायक शास्त्रोक्त कर्म का अनुष्ठान करनेवाले, 'साधु' से यथार्थ धर्मोपासक एवं 'सुचि' से सर्वोपधाशुद्ध अन्तःकरण वाले सन्त महात्मा विवक्षित हैं। तीर्थराज की उपासना से ये सब अपनी वृत्ति एवं अधिकार के अनुरूप मनःकामना की सिद्धि प्राप्त करते हैं। 'सेवहिं' से उपासकों की धीरता दिखायी है धीरता में ही फलसिद्धि होती है। धृतिमान् सन्तों व धर्मोपासकों की उत्तम ख्याति को वेद पुराणों ने गाया है, उदाहरणार्थ धर्मात्मा राजाओं एवं भगवदुपासकों का पुराणप्रसिद्ध चरित्र तथा वेद में उल्लिखित ऋषि मुनियों के नाम। प्रस्तुत में 'सुकृती' से अयोध्यावासी 'साधु' भरद्वाज आदि ऋषि एवं अन्य जन तापस मुनि सिद्ध उदासी तथा 'सुचि' से सर्वोपधाशुद्ध भरतजी की ओर संकेत समझना चाहिये। जिस प्रकार तीर्थराज के सेवन से भरद्वाजजी एवं प्रयागवासियों को प्रभुदर्शन मिला उसी प्रकार प्रयाग में पहुँच कर भरतजी एवं भरतसमाज प्रभुदर्शन रूप मनोरथ की प्राप्ति में आश्वस्त होंगे। देवताओं द्वारा पुष्प वर्षा तथा 'दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं' से भरतजी के 'विमल गुन ग्राम' का वर्णन होगा।

संगति : प्रयाग का प्रभाव प्रभु को प्रसन्न करने वाला है।

चौ० : को कहि सकइ प्रयागप्रभाऊ ? । कलुषपुंजकुंजर मृगराऊ ॥ १ ॥
अस तीरथपति देखि सुहावा । सुखसागर रघुबर सुखु पावा ॥ २ ॥

भावार्थ : प्रयाग का प्रभाव कौन वर्णन कर सकता है ? वह पापों के समूह रूप हाथी को मारने में सिंह के समान है। उक्त महिमा से सुशोभित तीर्थराज को देखकर सुख के समुद्र रघुनाथजी को बड़ा सुख हुआ।

तीर्थपति व सुहावा

शा० व्या० : पुण्यप्रदेश पवित्र तीर्थस्थल में निवास और उपासना करनेवाले सेवक के संचित पापों का नाश शीघ्र हो जाता है अदृष्ट की अतिशयित सिद्धि उपलब्ध होती है। शुचिता के प्रभाव से उपासकों के शरीर में भगवत्कला के रूप में जो तेजस् प्रविष्ट होता है उससे अभिभूत होकर पापरूप विरुद्ध शक्तियाँ

बलहीन हो जाती हैं जैसा इतिहास में कहा दीर्घकालपर्यन्त मिथिला का घेराव करने वाले शत्रुओं का पराभव। गंगा-यमुना के साथ सरस्वती का संगम विश्वासरूप अक्षयवट की छत्रछाया (सत्यश्रद्धा) और वेणीमाधव के समान मित्र से समन्वित प्रयाग तीर्थंका स्वरूप 'तीरथपति' है। 'सुहावा' से व्यक्त किया गया है कि प्रभु ने प्रयाग की उक्त महिमा को प्रकट रूप में देखा। शुचि महात्माओं को देवता-तीर्थ अपने तेजस्स्वरूप में दिखायी पड़ते हैं।

सुखसागर

प्रश्न : 'बिसमय हरष रहित रघुराऊ' को सुख-दुःख का स्पर्श कैसा ?

उ० : 'मानत सुखु सेवक सेवकाई' के सेवकों के प्रति होनेवाली सेवा को देखकर सुखसागर प्रभु को सुख होता है। उसकी उपपत्ति सेवक भरतजी के समाधान में भरद्वाज-भरत मिलन प्रसंग में स्फुट होगी। उसी न्याय से तीर्थंराज को देखकर प्रभु को सुख हो रहा है तो प्रयाग वासियों को 'पावहिं सब मन काम' के अनुसार सुख होना ही चाहिये।

प्रयाग की महिमा का अस्तित्व

प्रयाग तीर्थं की उक्त महिमा क्या आज भी प्रकट मानी जायगी? इत्यादि प्रश्नों के समाधान में कहना है कि 'देखि होहिं दुख दारिद भंगा' का हेतु 'सेवहिं सुकृती साधु सुचि' है। निष्कर्ष यह है कि 'पावहिं सब मनकाम' तब तक पूर्ण न होगा जब तक शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन होगा व शुचिता नहीं रहेगी। अशुचिता का परिणाम मन्दाग्नि ओजोहीनता है। अशुचि व्यक्तियों में अपस्मार, उन्माद, आयुर्हीनता आदि व्याधिओं का फैलना निश्चित है ऐसे व्यक्तियों के निवास से पुण्य क्षेत्र का तेजस् नष्ट होकर केवल स्थलरूप में आदरणीय रह जाता है जैसे स्वयंभू या सिद्ध स्थापित शिवलिंग या देवमूर्ति है यही स्थिति वेद विप्र आदि की है विद्याएं भी अशुचिता के कारण निस्तेजक हैं। त्रेतायुग में वहाँ के निवासियों की शुचिता से प्रयाग का तेजस् प्रकट था जिसको 'तीरथ पति सुहावा' से स्वष्ट किया है। वर्तमान काल में भी शुचितासंपन्न उपासकों के लिए तीर्थंराज अपने तेजस्वितास्वरूप में दृष्टिगोचर होते हैं और उनके अभीष्ट की सिद्धि करते हैं कहा जाता है कि श्रीराम कृष्ण परमहंस को दूर से ही काशी देदीप्यमाना रत्नमयी दिखायी पड़ी।

संगति : स्वयं हर्षित होते हुए प्रभु तीर्थंराज की महिमा को सुनाते प्रणाम कर रहे हैं।

चौ० : कहि सिय लखनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई ॥ ३ ॥
करि प्रनामु देखत बन-बागा। कहत महातम अति अनुरागा ॥ ४ ॥

भावार्थ : प्रभु ने अपने श्रीमुख से तीर्थंराज के यशस् को लक्ष्मणजी, सीताजी और गुह को सुनाया। तीर्थंराज को प्रणाम करके वहाँ के वन-बागों को देखते हुए प्रभु अत्यन्त प्रेम में भरकर उसके माहात्म्य को कहते जा रहे हैं।

माहात्म्य में सीतादिनाम कीर्तन

शा० व्या : तीर्थयात्रा में जाते हुए तीर्थ का दर्शन होने पर उसके माहात्म्य को कहना-सुनना तीर्थधर्म है। तीर्थविधि का पालन करते हुए प्रभु के श्रीमुख से अपना माहात्म्य सुनकर तीर्थंराज अपनी बड़ाई मानते होंगे जैसा गंगाजी ने सीताजी से कहा था। (कृपा कीन्ह मोहि दीन्ह बड़ाई) 'कहत महातम',

के व्याज से प्रभु के 'अति अनुरागा' का प्रयोजन 'सिय लखनहि सखहि सुनाई' से तीनों के सन्तोषार्थ है—जिसका उद्देश्य भरतजी के समाधान में है जैसा चौ० ५ दो० २१० की व्याख्या में 'रामदर्शन व भरतदर्शन में कार्यकारणभाव' के अन्तर्गत कहा गया है। भरतजी के प्रति प्रभु के अनुराग की अभिव्यक्ति से श्रोताओं को प्राप्त समाधान अन्यत्र द्रष्टव्य है।[1]

संगति : प्रभु अब त्रिवेणी के पास पहुँच रहे हैं।

चौ० : एहि बिधि आइ बिलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी ॥ ५ ॥

भावार्थ : इस प्रकार गाते हुए प्रभु ने त्रिवेणी का दर्शन किया--जो सब प्रकार के सुमंगलों को देने वाली है।

एहि विधि का निष्कर्ष

शा० व्या० : 'एहि बिधि' से तीर्थ दर्शन और तीर्थ स्नान-पूजन आदि विवक्षित हैं, उसके अन्तर्गत साधु-सन्त का दर्शन भी है। बालकाण्ड दो० २ के अन्तर्गत 'हरिहरकथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुदमंगल देनी' की एक वाक्यता में सुमिरत सकल सुमंगल देनी' का अर्थ स्पष्ट है।

संगति : अपने अनुष्ठान से तीर्थ में कर्तव्य समझा रहे हैं।

चौ० : मुदित नहाइ कीन्हि सिवसेवा। पूजि जथाविधि तीरथदेवा ॥ ६ ॥

भावार्थ : प्रसन्नतापूर्वक त्रिवेणी में स्नान करके प्रभु ने शिवजी का पूजन किया। फिर विधि के अनुसार तीर्थदेव का पूजन किया।

शिव पूजा

शा० व्या० : संगमेश्वर के रूप में उपस्थित इष्टदेव शिवजी का पूजन प्रभु के नित्य नियम के अनुसार है अथवा पार्थिवपूजन आदि कर्म वेक्षित है। तीर्थ में जाकर उस तीर्थ की देवता के भी पूजन का विधान है अतः पूजन के अंतर्गत त्रिवेणी का पूजन भी समझना चाहिये। पूजन का उद्देश्य उनकी प्रसन्नता में वनवास कार्य की सुमंगलता है।

संगति : तीर्थ एवं वहाँ के निवासी साधुसन्त में परस्पर पोष्य-पोषक भाव रहता है सन्त के हृदय में प्रभु का वास होने से वह प्रभु की चलमूर्ति है। उन साधुओं का समागम किये विना यथाविधि तीर्थ-स्नान-दार्शन की पूर्णता नहीं मानी जाती अतः तीर्थविधि की प्रतिष्ठा रखते हुए प्रभु पूर्व में कहे गन्तव्य मार्ग के निर्णय की आकांक्षा से भरद्वाज ऋषि के समीप जा रहे हैं।

चौ० : तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए। करत दंडवत मुनि उर लाए ॥ ७ ॥
मुनिमनमोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंदरासि जनु पाई ॥ ८ ॥

भावार्थ : इसके बाद प्रभु भरद्वाजजी के पास आए। प्रणाम करते हुए प्रभु को देखते ही मुनिने

---

१. राम सियतन सगुन जनाएँ। भरत सरिस प्रिय को जग माहीं। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी। (चौ० ४-७ दो० ७)
सुमिरि भरत सनेहु सीलु सेवकाई। कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। (चौ० ४-५ दो० १४१)

हृदयसे लगा लिया। उस समय मुनि के मानस् में जो हर्ष हुआ, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, मानो ब्रह्मानंद के खजाने को समेटकर मुनि ने पा लिया हो।

भरद्वाज-आश्रम में आने का नैतिक उद्देश्य

'काननराजू' के संबध से नीतिका विचार करते हुए श्रीराम का मुनि को नमस्कार करना सामप्रयोग कहा जायगा तथा अयोध्याराज्य की सीमा के निकटवर्ती भरद्वाजमुप्रमुख ऋषि मण्डल के पास आने का राजनीतिक उद्देश्य यह है कि विनयशील आत्मगुण संपन्न निर्दोष राजकुमार के आकस्मिक राज्यनिष्कासन से तपस्वी ऋषियों के मनस् में क्षोभ तो नहीं है? क्योंकि तपोवनस्थ मुनियों का क्षोभ दूरस्थ देशवासियों में व्यास होकर राज्यविनाश का कारण हो सकता है।

भरद्वाज मुनि को श्रीराम के प्रभुत्व को सुखानुभूति

श्रीराम का आलिंगन करते ही भरद्वाज मुनिको श्रीराम का प्रभुत्व प्रतिभात हो रहा है, वे ब्रह्मानन्द का अनुभव कर रहे हैं जैसे राजा जनक को ('इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा') श्रीराम के प्रभुत्व की अनुभूति हुई। इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य विषय यह है कि जब तक रजोगुण-तमोगुण रहता है तब तक भेदबुद्धि के रहते रस का संचार नहीं होने पाता अथवा ब्रह्मानंद की अनुभूति नहीं होती भेदधी के तिरोधान होनेपर सत्वगुण के आविर्भाव में विश्रान्तिसुख मिलता है। एवं च ब्रह्मैकनिष्ठ रसिकों को जो सुख मिलता है वही सुख पूर्ण सात्विक भाव में अभ्यस्त भगदुपासक मुनियों को सगुण-स्वरूप ईश्वर के दर्शन से प्राप्त होता है।

'ब्रह्मानंदरासि'

रसात्मक ब्रह्मानंद सामग्री, वेदान्त वेद्य ब्रह्मानुभव-सामग्री, रजस्तमःप्रयुक्तभेदधीविगलनपूर्वक योग सामग्री इन तीनों को ब्रह्मानंदरासि सामग्री कहा जा सकता है। अतः भक्तिपक्ष से स्नेहरूप पर ब्रह्म का सगुण-रूप में (रामरूप) में उपस्थित होना भी 'ब्रह्मानंदरासि पाई' है। अथवा ऋषियों का साध्य 'सत्यं ज्ञानमानन्दं' मूर्त सुख सागर के रूप में विद्यमान है।

संगति : श्रीराम के आलिंगन की आनन्दानुभूति से जब भरद्वाजजी का मानस बाहर हुआ तब नमस्कार के उत्तर में शास्त्रादेशानुसार आशीर्वाद की सुधि हुई।

दो० : दीन्ह असीस मुनीस उर अति अनंदु अस जानि।
लोचनगोचर सुकृतफल मनहुँ किए बिधि आनि॥ १०६॥

भावार्थ : तत्काल आशीर्वाद देते हुए मुनि ने हृदय में अत्यन्त आनन्द का अनुभव किया और ऐसा समझा कि विधाता ने उनके सम्पूर्ण पुण्य का फल रामदर्शन के रूप में उपस्थापित करके प्रभु को दर्शनीय कर दिया।

रामदर्शनसुख व सुकृत

शा० व्या० : 'ब्रह्मानंदरासि जनु पाई' में 'उर अति अनंदु' की स्थिति से आनन्दांश के आवरणभंग बाहर होनेपर (प्रभु का दर्शन नेत्रों से हुआ—यह पुण्यसंचय का फल है। स्वधर्म में शास्त्रोक्त विधान के अनुष्ठान से) जो विध्यात्मक कर्म हुए है वे ही सुकृत हैं। 'विधि आनि' से शास्त्रविधि की महत्ता

को मुनि ने समझा है जैसा गुह और केवट के प्रसंग में कहा गया है। प्रभुदर्शन में कारणभूत सामग्री का विचार मानव की शक्ति से परे है, इसलिए विधि का ही बल समझना होगा। 'मनहुँ' से मुनि की उत्प्रेक्षा का कारण है कि प्रभुप्रसाद का अधिकारी कौन है, ? इसको विधाता ही जानते हैं ज्ञातव्य इतना है कि प्रभु के आदेश (शास्त्र विधान) में रहकर सुकृत (लोकसंग्राहक सदाचार) सभी के लिए कर्तव्य है सुकृत से शास्त्रविधि-पालन, पुण्यात्मक कर्म, सदाचार आदि सभी विवक्षित हैं।

संगति : सदाचार के अन्तर्गत अभ्यागत से कुशलप्रश्न विहित है। उसको मुनि अपना रहे हैं।

चौ० : कुशल प्रस्न करि आसन दीन्हे। पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हे ॥ १ ॥

भावार्थ : मुनि ने कुशल पूछने के बाद बैठने को आसन दिया और प्रेमपूर्वक प्रभु की पूजा को संपन्न किया।

अभ्यागत का स्वागत

शा० व्या० : शास्त्रोक्त सदाचार के अनुसार प्रत्येक वर्ण के लिए कुशल पूछने के अलग शब्दों के प्रयोग का विधान है जैसे ब्राह्मण के लिए कुशल क्षत्रिय के लिए अनामय आदि उसको ग्रन्थकार ने कुशल-शब्द में अनूदित किया है। मधुपर्कादि से स्वागत करने के बाद पूजन विधि के अनुसार मुनि ने पूजा की उसमें प्रेम को प्रधानता है।

केवटप्रसंग में स्पष्ट किया गया है कि स्वधर्म पालन के फलरूप में प्रभु दर्शन सबको एक समान है, उसमें ऊँच-नीच वर्ण का पक्षपात नहीं है, उसमें अपेक्षित इतना ही है धर्मावलम्बी को अपने के प्रति असूयाभाव नहीं होना चाहिये—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' में विश्वास रखना चाहिये।

संगति : कंद मूलादि का समर्पण पूजा विधि में सदाचारप्रयुक्त आतिथ्य सत्कार है जिसका पालन मुनि कर रहे हैं।

चौ० : कंद मूल फल अंकुर नीके। दिए आनि मुनि मनहुँ अमीके ॥ २ ॥
सीय लखन जन सहित सुहाए। अति रुचि राम मूल फल खाए ॥ ३ ॥

भावार्थ : मुनि ने अच्छे-अच्छे कंद मूल फल अंकुर से संयुक्त भोग प्रभु को लाकर दिया मानो वे अमृत से सने हों। श्रीराम ने बड़ी रुचि से फल मूलादि का भोजन सीताजी, लक्ष्मणजी व गुह के साथ किया।

मुनियोग्य आहार

शा० व्या० : वन्य अकृष्य भूमि में उत्पन्न होनेवाले फल मूल कंद तृण अंकुर आदि मुनियोग्य आहार कहा गया है।[1] 'नीके' से शास्त्रोक्त शुचिता के साथ आयुर्वेदशास्त्रसम्मत त्रिदोषनाशक पदार्थ विवक्षित हैं। 'दिए आनि' से स्वयं लाकर देने में श्रेष्ठ अतिथि के प्रति मुनि का आदरभाव व्यक्त है। मुनि की प्रीति से संपृक्त होने से अर्पित भोग को 'मनहु अमीकै' कहा गया है। मुनि द्वारा समर्पित 'कंदमूल फल अंकुर' में केवल 'मूल फल खाए' के उल्लेख का तात्पर्य अनुगत सेवकों की रुचि का ध्यान रखते हुए अनुकूल पदार्थों का ग्रहण करना है।

चौ० ५ दो० ८८ में प्रभुमिलन के प्रसंग में 'नाथ कुसल पद पंकज देखे। भयउँ भावभजन जन

---

१. दैवोपपन्नेनाऽयाचितविधिना प्राप्तेन नीवारादिना। तदभावे उत्पन्नेन फलशाकादिना। (श्रीमद्भागवत)

लेखे' से गुह ने अपने को 'जन' कहकर निवेदित किया था। 'विटप बासू' में चरन सेवकाई प्रदान करके प्रभु ने 'जन' का सेवकत्व प्रतिष्ठापित किया है, अतः कवि यहाँ गुह को जन कह रहे हैं जो भरद्वाज ऋषि द्वारा दो०१०९ में कही 'जन' की परिभाषा से संगत कर्मणा वाचा मनसा छलत्याग पूर्वक सेवकत्व है।

संगति : आतिथ्य सत्कार एवं पूजन के अनन्तर भरद्वाज मुनि प्रभु की स्तुति कर रहे हैं।

चौ० : भए बिगत श्रम रामु सुखारे। भरद्वाज मृदु बचन उचारे ॥
आजु सुफल तपु तीरथु त्यागू। अजु सुफल जप जोग बिरागू ॥
सफल सकल सुभ साधन साजू। राम ! तुम्हहि अवलोकत आजू ॥ ६ ॥

भावार्थ : श्रम परिहार के बाद श्रीराम सुखासीन हुए तब भरद्वाज जी मधुर वाणी में बोले—"हे रामजी ! आज आप का दर्शन नेत्रों से पाकर मैं अपने तपस्, तीर्थ सेवन, त्याग, जप, योग साधन, वैराग्य आदि सम्पूर्ण शुभ साधनों की सफलता आज ही मानता हूँ।"

जप तपस् आदि की व्याख्या

शा० व्या : तपस्–वैधक्लेशसहन अथवा अनशन को तपस् कहा है।
तीर्थ–'तरति यं प्राप्य के अनुसार जिसके भरोसे पार होना है वही तीर्थ है।
त्याग–दानशीलता अथवा प्रभु-आदेश के विपरीत कार्य से विरत रहना त्याग है।
जप–मन्त्रार्थ के साथ मूर्ति का ध्यान करते हुए मन्त्र का उपांशु उच्चारण जप है।
योग–'धारकेण प्रयत्नेन धार्यमाणस्य मनसः तत्ववुभुत्साविशिष्टेनात्मनासह संयोगः' अथवा भगवान के साथ सेव्य सेवकभावसंबंध योग है।
विराग-विषयसंसर्ग से पृथक् रहने में सुखानुभूति होना वैराग्य है।
शुभ साधन–शास्त्रनिर्दिष्ट कर्तव्यों की मर्यादा में रहने का अभ्यास है।

मुनि के व्रत की पूर्णता

भरद्वाज मुनि ने उपर्युक्त साधनों का व्रत लेकर प्रभु की सेवा की है। 'सुफल' कहकर मुनि उपर्युक्त साधनों का उद्देश्य प्रभुदर्शन में बता रहे हैं। ग्रन्थकारों ने भी अन्यत्र इच्छोद्देश्य की प्राप्ति को फल कहा है। बारंबार 'आजु' कहने का तात्पर्य है कि उक्त साधनों को आज तक करते मुनि को विश्राम नहीं मिला है आज प्रभु का दर्शन पाकर साधनों की सफलता में विश्रान्ति मिली है जैसा 'तापस तप फल पाइ जिमि सुखी सिराने नेमु' अथवा 'जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि' अथवा 'रामकृपा बिनु सपनेहु जीव न लेह विश्राम' से ग्रन्थकार ने अन्यत्र व्यक्त किया है।

वैदिक मर्यादा के चातुर्वण्य में पारस्परिक विरोध नहीं

वैदिक मर्यादापालन में पारस्परिक विरोध का अवसर नहीं है। प्रभु के आदेश (शास्त्रानुशासन) में तत्पर नीच वर्ण केवट और उच्चावर्ण भरद्वाज मुनि दोनों को प्रभुदर्शन की प्राप्ति है—यही भक्ति का स्वातन्त्र्य है। मायिक मल से छूटकर जब तक सेवक ईश्वर भाव को प्राप्त नहीं होता तब तक वैदिक मर्यादा में रहना प्रभु कृपा का साधक है। केवट से प्रभु का 'सोई करु' कहना उसकी मनोरथपूर्ति में सर्वाधिकार देना है जो प्रभु की सविशेष कृपा कही जाती है। निष्कर्ष यह है कि वैदिक धर्म में शूद्र का महत्व उपेक्षणीय नहीं है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् पद्भ्यां शूद्रो अजायत' से ब्राह्मण की श्रेष्ठता अथवा

शूद्र की नीचता दिखाना उद्देश्य नहीं है अपितु प्रत्येक का कार्यविभाग विवक्षित है। जिस प्रकार ऋग्वेद से शूद्र की उत्पत्ति और सामवेद से ब्राह्मण की उत्पत्ति कहीं गयी है तो उसका यह आशय नहीं है कि कोइ श्रेष्ठ या नीच कलह कहकर हो।

मुनिवृत्ति व असुरवृत्ति में अन्तर

भरद्वाज मुनि की उक्ति से मुनियों की वृत्ति और राक्षसों की वृत्ति में अन्तर विचारणीय है। मुनि अपने साधन का सुफल प्रभुदर्शन में पाकर वैदिक मर्यादापालन में ही विश्राम लेते हैं। राक्षस या असुर अपने तपस् के फलस्रूप देवता का दर्शन पाकर भी सुखी नहीं होते, वे तपआदि साधनों की सफलता के बल पर सम्पूर्ण जागतिक सुख सम्पत्ति के भोग में लीन होकर उच्छृंखलतावश वैदिक मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, यही उनके सुखान्त का कारण है।

लाभ अवधि-सुख अवधि

सुख-दुःख अन्यतर साक्षात्कार भोग है। यहाँ लाभ से सुखोपलब्धि विवक्षित है। विषयसंसर्ग में होनेवाला सुख विषय के गुणतारतम्य से सुख उसकी मात्रा की न्यूनाधिकता से छोटा-बड़ा कहा जाता है जैसे राजसुख, देवसुख इत्यादि। सुख की अन्तिम सीमा ईश्वरदर्शन है जिसको मुनि 'लाभ अवधि सुखअवधि' कह रहे हैं। तपआदि फल से प्राप्त अदृष्ट सिद्धि प्रभु के दर्शन में जैसा मनु ने कहा है। ('सेवत सुलभ सकल सुखदायक। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं। देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' (चौ० २ से ६ दो० १४६ बा० का०)। 'आस सब पूजी' से वैषयिक वासना की निःशेषता दिखायी है। ध्यातव्य है कि पूर्ण शुचिता में ही प्रभुदर्शन सम्भव है। शास्त्रमतानुसार शौच का उद्देश्य या ध्येय (विषयों के प्रति जुगुप्सा घृणा) उत्पन्न कराकर शम की ओर ले जाना है।

संगति : भक्ति के प्रतिबन्धक तत्त्वों का निरास प्रभुकृपा के आश्रय से होता है, इसलिए भरद्वाज मुनि प्रभु के चरणों में अनुराग की प्रार्थना कर रहे हैं।

चौ० ; अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पदसरसिज सहज सनेहू ॥ ८ ॥

भावार्थ : अब कृपा करके आप यही वर दीजिये कि आपके चरण-कमलों में सहज प्रीति बनी रहे।

शा० व्या० : प्रभु दर्शन की उत्कट (वर याचना) इच्छा को मुनि की प्रयत्नपूर्वक बनाये रखना योगस्थ धारणा के समान है। विषयसिद्धि के बाद विषयान्तर में बुद्धि होना जीव के लिए सहज है जैसा श्रीमद्भागवत में कहा है "नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः। रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैः ह्रियमाण-मितस्ततः।" अतः विषयसंसर्ग से भक्ति के सदुष्ट होने का भय है। इसलिए शरणागत भक्तों की रक्षा के लिए प्रभु भक्ति के बाधक विघ्नोंका निरास करने में सचेष्ट रहते हैं। 'आजु सुफल' भरद्वाज मुनि ने सम्पूर्ण साधनों की अदृष्टसिद्धि में जो प्रभुदर्शन प्राप्त किया है, उसको निर्बाध बनाये रखने के लिए प्रभुपदरति की याचना करते हुए वर माँग रहे हैं।

'अब' से प्रभुदर्शनरूप इष्टसिद्धि की स्थिति बतायी है। 'बर एहू' से मुनि की वर याचना में भक्ति सिद्धान्त का सकेत स्फुट है जिसका स्पष्टीकरण ऊपर कहा गया है। प्रभु से बरयाचना में इसी सिद्धान्त का अनुकरण अरण्यकाण्ड में मुनियों की प्रार्थना में द्रष्टव्य है, यथा—'पदाब्ज भक्ति देहि मे।' 'त्रातु सदा सदा नो भवखगबाजः' 'चरन सरोरुह प्रीति अभंगा' आदि।

सम्मतियाँ

॥ श्री गुरुः शरणम् ॥

काशी के सुप्रसिद्ध पौराणिक शास्त्ररत्नाकर पं० प्र० श्रीविश्वनाथशास्त्री दातार महोदय द्वारा निर्मित श्री रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड की व्याख्या को मैंने आंशिक रूप से देखा। श्री शास्त्रीजी ने शास्त्रीय प्रमेयों से सर्वसाधारण को अवगत कराने के लिए गत दस वर्षों से सतत परिश्रम कर इस व्याख्या का प्रणयन किया है। यह व्याख्या पूर्व की समस्त व्याख्याओं से अपना वैलक्षण्य रखती है। व्याख्या में मुख्य रूप से नीतिशास्त्रसमन्वित भक्ति के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

भगवत्कृपा से अब यह व्याख्या प्रकाशित हो रही है। इसका परिशीलन कर जिज्ञासु सज्जन अवश्य लाभ उठावें ऐसी मेरी नम्र प्रार्थना है। श्री दातारजी इसी प्रकार विद्याक्षेत्र में उन्नति करते हुए सबको मार्गदर्शन करते रहें यही मेरी शुभ कामना है।

ज्ये० कृ० ५ रविवार सं० २०४१ विनीत—गणेश्वर द्रविड

[२]

काशी के प्रखरशास्त्रज्ञ, पौराणिक एवं भारतीय राजशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार की 'श्रीराम चरितमानस' शास्त्रीय टीका शास्त्रीय पद्धति से 'मानस' के भावोद्घाटन की बड़ी आवश्यकता की पूर्ति है।

'भगवान् श्रीराम' के 'मानव-अवतार' का ध्येय यही था कि प्रत्येक वर्ग के लोगों में 'वेद—शास्त्रानुमोदित' मानवोचित भावों को स्थापित करें। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी इसीलिए 'नानापुराण निगमागम सम्मत' 'श्री रामचरित मानस' की रचना की है। शास्त्रीजी की टीका से आत्मसन्तोष होगा।

अपनी व्याख्या में श्री दातारजी ने 'चरित्र' के माप-दण्ड के लिए शास्त्रों का सहारा लिया है। आप धर्म-शास्त्र व नीति-शास्त्र को प्रमुख रूप से रखकर जो विवेचन में प्रवृत्त हुए वह ठीक है। क्योंकि चरित्र की शिक्षा इन्हीं शास्त्रों के द्वारा मिलती है। वेदप्रतिपादित वर्णाश्रमधर्म की पुष्टि से ही मनुष्य में उत्तम चरित्र का उत्थान होता है। मानव के मानस में बैठने वाला 'धर्म' ही 'श्री रामचरित मानस है। इसकी शास्त्रीय व्याख्या मननीय है। 'श्री रामचरित' को भगवान् विश्वनाथ ने अपने मानस में भर रखा है ऐसे रामचरितमानस की शास्त्रीय व्याख्या का कार्य गुरुतर है। शास्त्रीय व्याख्या में यत्र-तत्र जो शास्त्रीय उदाहरण दिये हैं उनका सन्दर्भ संकेत यदि दिया जाय तो उत्तम होगा।

भगवान् विश्वनाथ तथा मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम से प्रार्थना है कि सम्पूर्ण रामचरित मानस की शास्त्रीय व्याख्या को प्रकाशित करने में श्री दातार शास्त्री समर्थ हों।

श्रावण शुक्ल एकादशी संवत् २०४१ (पं० शिवनारायण व्यास)

[३]

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने अनन्त कोटि (राम अनन्त अनन्त गुनानी) परमोत्कृष्ट रघुनाथ-गाथा स्वरूपिणी देवनदी-कविता लोकोपकारार्थ प्रवाहित कर 'स्वान्तस्तमः शान्तये 'नित्यचैतन्य अखण्ड ज्योति का तादात्म्य सुलभ किया। उन परमार्थवादी सन्तश्रेष्ठ के पुनीत चरणों में नमन करते हुए पण्डित-प्रवर श्री विश्वनाथ शास्त्री दातारजी महाराज द्वारा प्रस्तुत अयोध्याकाण्ड की शास्त्रीय व्याख्या (तीन खंडों में) मननीय है। उनके तप, मनोयोग एवं साधनायुत अविरल श्रम का फल है कि उक्त टीका के दो भाग ग्रन्थरूप में दर्शनीय है। यह शास्त्रीय व्याख्या श्रेष्ठजनोचित कर्तव्यसंपादन का उज्ज्वल आलोक है जैसा 'स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते' से स्पष्ट है। कृपालु गुरुजन शास्त्रवाक्यों को जिस रूप में व्यक्त करते है, उनका कृपानिसृत प्रसाद लोक व्याप्त होता है। निस्सन्देह शास्त्रीजीकी उत्कृष्ट तपस्या परमार्थनिरूपण में सहायक होगी। अतः धर्मप्रेमियों एवं भगवदुपासकों के लिए यह दर्शनीय ग्रन्थ है।

संशयनिवृत्ति तथा पारमार्थिक पथनिरूपण में श्रीमद्रामचरित मानस का अनुपम सौष्ठव है। विहिताविहित का परिमार्जित क्रियान्वयन इस ग्रन्थमणिका वैशिष्टय है। इस ग्रन्थ में राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक, सामाजिक कर्तव्याकर्तव्य का विवेक एवं उनका क्रियान्वयन शासक और शासित उभयपक्ष के श्रेष्ठजनों पर आगम अनुमान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण त्रय के योग से निर्भर है। श्रुति-पालक मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी ने जो राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, पारिवारिक सदाचरण किया है, उन्हीं का गुणगान श्रुतियों ने किया है जिसका सुखान्त 'प्रजा सहित रघुबंशमनि गवने निज धाम' से स्फुट है। लौकिक अम्युदय के साथ निःश्रेयस् कल्याण की सफल साधना में भक्ति के अंगभूत विद्याओं के बल से प्रतिबन्धक विघ्नों के निरास में किस प्रकार सक्षमता होती है, उसका यथोचित प्रकाश शास्त्रीय व्याख्या में बड़े सुन्दर ढंग से विवेचित है।

मानसकार ने उत्तरकाण्ड व ग्रन्थ की समाप्ति करते हुए ("राम कथा के तेइ अधिकारी") जो पात्रता निरूपित की है, उसी के अनुसार प्रस्तुत शास्त्रीय व्याख्या के अनुशीलन में व्याख्या को बुद्धिगम्य बनावेंगे तो पाठकों के लिए रंजन का विषय होगा, इसमें सन्देह नहीं।

बनवारीलाल दूबे
प्रह्लाद घाट, वाराणसी।
२६-७-८४